[illegible] ॥१॥

॥ भूमिका ॥

सर्व सज्जनों को विदित हो कि यद्यपि श्रीमद्वेदव्यास बादरायण, पाणिनि, कणभुजादि अनेक आचार्य हुए हैं परन्तु महामुनि विद्यारण्य सरस्वती के सदृश वेद वेदांग वेत्ता कोई भी न हुआ क्योंकि इन्होंने पञ्चदशी आदि वेदांत के अनेक ग्रन्थ रचे हैं। इस पञ्चदशी में १५ प्रकरण हैं, इसीलिये इस ग्रन्थ का नाम पञ्चदशी है। परन्तु यह ग्रन्थ विना संस्कृत विद्या के समझ में आना कठिन था इसी लिये इसकी सरल-सुगम भाषा नहीं बनी थी, इस अभाव को दूर करने तथा सर्व साधारण मनुष्यों को पठन द्वारा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति कराने के कारण मेरठ निवासी ला० हरगोविन्द प्रसाद जी की पुत्री तथा संभल निवासी स्वर्गवासी ला० बाबूराम रस्तोगी वकील की धर्मपत्नी रामावती देवी ने इस ग्रन्थ की स्वबुद्धि अनुसार सरल भाषा टीका करा कर सर्व सज्जनों के लाभार्थ प्रकाशित की है; जिससे पण्डितगण देख विचार कर लाभ उठावें।

क्षमाकांक्षी

पं० विहारीलाल शर्मा शास्त्री,

खारीकुवां, मेरठ शहर।

❀ पंचदशी पूर्वार्ध प्रकरण सूची ❀

पंचदशी उत्तरार्ध प्रकरण सूची।

———:०:———

॥ श्रीः ॥

पञ्चदशी

भाषा टीका सहित

❋ प्रत्यक् तत्वविवेक प्रकरणम् ❋

श्रीगणेशाय नमः

नत्वा श्री गुरु विप्ररूप चरणौ ध्यात्वा हृदिस्वङ्गुरुम् ।
ब्रह्माणं हरिमीश्वरं गणपतिं व्वाणीम्प शम्भास्करम् ॥
व्यासं शङ्करमद्वितीयमनिशं सर्व्वेश्वरी कालिकाम ।
कुर्म्मो पञ्चदशी सटीक मधुना भाषा निबन्ध वयम् ॥१॥

नमः श्री शङ्करानन्द गुरु पादाम्बुजन्मने ।
सविलास महा मोह ग्राह ग्रासैक कर्म्मणे ॥१॥

नत्वा श्री भारती तीर्थं व्विद्यारण्य ममहा मुनिम् ।
प्रत्यक् तत्त्व विवेकस्य भाषा टीका वितन्यते ॥ १ ॥

❋ अथ अनुबन्ध चतुष्टय वर्णनम् ❋

अर्थ–प्रत्येक ग्रन्थ में अनुबन्ध चतुष्टय होते हैं, इस ग्रन्थ में जो अनुबन्ध चतुष्टय हैं, उन का वर्णन करते हैं । अधिकारी, १ विषय, २ सम्बन्ध, ३ प्रयोजन, ४ साधन, ॥ चतुष्टय सम्पन्नजीव अधिकारी ॥

साधन चतुष्टयस्वरूपवर्णनम् ।

विवेक, १ वैराग्य, २ षट् सम्पति, ३ मोक्षेच्छा ४ । नित्य क्या है और अनित्य क्या है । इस विचार का नाम विवेक है, जो कर्म उपासना का फल है धन, पुत्र, स्त्री, स्वर्ग, ब्रह्मलोकपर्यन्त सो सब अनित्य हैं क्योंकि ये सब नाशवंत हैं और जिस का नाश नहीं सो नित्य है ॥ १ ॥

निष्कामकर्म करना अर्थात् इस लोक और परलोक स्वर्ग आदि लोकों के भोगों की इच्छा से रहित होना इस का नाम वैराग्य है ॥ २ ॥

षट् सम्पत्ति–१ शम, २ दम ३ तितिक्षा, ४ उपरति, ५ श्रद्धा, ६ समाधानता । मन की वासनाओं को दूर करना अर्थात् सांसारिक पदार्थों से हटा कर मन को परमात्मा में लगाना इसका नाम शम है ॥१॥ और इन्द्रियों को जीतना इसका नाम दम है।२।और लौकिककर्म आजीविका आदि और वैदिककर्म अग्नि होत्रादि इन करमों के फल के त्याग को उपरति कहते हैं अर्थात् शरीर आदि के निर्वाह मात्र आजीविका आदि कर्म करने इन में अधिक प्रीति न रखनी और अग्नि होत्रादि कर्म करने उनके फल की चाहना नही करनी और शीत, उष्ण, मान अपमान आदि दुखों के सहन करने को तितिक्षा कहते हैं ॥४॥ गुरु और वेदान्त के वाक्यों में विश्वास करना अर्थात् जो गुरू जी कहते हैं और जो वेदान्त में लिखा है सब सत्य है ऐसा मनमें निश्चय रखना इसका नाम श्रद्धा है।

गुरु और वेदान्त के वाक्यों को आलस्य को छोड़, चित्त लगा कर सुनना इस का नाम समाधानता है ॥ ६ ॥ ३ ॥ और परमेश्वर से नित्य प्रार्थना करनी कि मेरो जन्म मरण कब छूटेगा । नित्य ऐसी इच्छा के रखने को मोक्षेच्छा कहते हैं ॥ ४ ॥ इन साधन चतुष्टय करके सम्पन्न जो जीव सो वेदान्त का अधिकारी है । यह प्रथम अनुबन्ध हैं ॥ १ ॥ दूसरा अनुबन्ध विषय है, सो वेदान्त का विषय जीव ब्रह्म की एकता है जो जिससे जाना जाय वह उस का विषय है। जैसे नेत्रों से शुक्ल, नील आदि रूप का ज्ञान होता है सो रूप नेत्रों का विषय है और कर्णों से अच्छे बुरे शब्द का ज्ञान होता है सो शब्द कानों का विषय है। तैसे ही जीव और ब्रह्म की एकता वेदान्त से जानी जाती है सो जीव ब्रह्म की एकता वेदान्त का विषय है। यह दूसरा अनुबन्ध है ॥ २ ॥

और प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सम्बन्ध तीसरा अनुबन्ध है ! वेदान्त प्रतिपादक है और जीव ब्रह्म की एकता प्रतिपाद्य है ॥३॥ चौथा अनुबन्ध प्रयोजन है सो प्रयोजन वेदान्त का दो प्रकार का है एक परमानन्द की प्राप्ति २ दूसरे सर्व दुःखों का नाश ॥ ४ ॥ १॥

तत्पादाम्बुरुह द्वन्द्व सेवा निर्म्मल चेतसाम् ।
सुख बोधाय तत्वस्य विवेकोयं विधीयते ॥ २ ॥

अर्थ—गुरु के चरण कमलों की सेवा से शुद्ध हुआ है अन्तःकरण जिन का अर्थात् रागद्वेष ईर्षा दम्भरूप से रहित है चित्त जिनका ऐसे जनों को सुख पूर्वक ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये प्रत्येक् तत्त्व विवेक का अर्थ करते हैं। जो साक्षी और चैतन्य है और सब के अन्तःकरण की वृत्तियों को प्रकाशित करता है। अथवा असत् जड़ दुःख रूप जो जगत् है तिस जगत् से भिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप स्वयम्प्रकाश है उस परमात्मा का नाम प्रत्यक् है। प्रत्यक् का जो तत्व है वास्तव शुद्ध अद्वैत रूप उस शुद्ध स्वरूप का जो विवेक है अर्थात् मिथ्याभूत पंच कोशों से पृथक् करना उस को निरूपण करते हैं। यहां तक मंगलाचरण और प्रत्यक्‌ तत्व विवेकके करने की प्रतिज्ञा पूरी हुई॥२॥

अब जीव ब्रह्म की एकता रूप जो वेदान्तों का विषय है उस की संभावना के लिये जीव की सच्चिदानन्द रूपता वर्णन करते हैं॥

शब्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्याज्जागरे पृथक्।
ततो विभक्ता तत्संविदैक रूप्यान्नभिद्यते॥३॥

अर्थ—जीव की जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तीन अवस्था हैं। उन तीन अवस्थाओं में चैतन्य की एकता वर्णन करते हैं। जो घट पट आदि पदार्थों को जानने वाली अनुभव सत्ता है उसे चैतन्य कहते हैं, सो अनुभव सत्ता एक रूप है जैसे जाग्रत अवस्था में घट पट आदि का भेद है। परस्पर विलक्षण धर्म्माकार होने से घट जल धारण धर्म्म वाला है और पट शीत उष्ण निवारण धर्म वाला है तिस से दोनों भिन्न २ हैं। और तिन का अनुभव एक है पृथक् नहीं। और अनुभव में जो भेद प्रतीति होती है यह घट अनुभव है, यह पट अनुभव है, सो अनुभव में भेद प्रतीति घट पट की उपाधि के भेद से होती है। जैसे घटाकाश मठाकाश यह जो आकाश में भेद प्रतीति है सो उपाधि घट मठ के भेद से होती है, वास्तव आकाश में भेद नहीं। घट मठ रूप उपाधि के त्यागे से आकाश २ ऐसे एक रूप आकाश की प्रतीति होती है, तैसे ही घट मठ रूप उपाधि के त्यागे से अनुभव २ ऐसे एक रूप अनुभव की प्रतीति होती है, क्योंकि जो अनुभव घट का है सो ही अनुभव पटका है। इस प्रकार जाग्रत् में अनुभव एक रूप है॥ ३॥

तथा स्वप्नेऽत्र वेद्यं तु न स्थिरं जागरे स्थिरम् ।
तद्भेदोऽतस्तयोः संविदेकरूपा न भिद्यते ॥४॥

अर्थ—तिसी प्रकार स्वप्न में जो अनुभव होता है वह भी एक रूप है क्यों कि स्वप्न में पदार्थों का परस्पर भेद है,अनुभव का भेद नहीं शंका–जैसे जाग्रत में पदार्थों का भेद है और अनुभव की एकता है तैसे ही स्वप्न में भी पदार्थों का भेद है और अनुभव की एकता हुई तो जाग्रत् और स्वप्न में कुछ भेद न हुआ। उत्तर–स्वप्न के पदार्थ स्थिर नहीं उनको संकल्प मात्र रूप होने से और जाग्रत् अवस्था में जो पदार्थ दीखते हैं वा प्राप्त होते हैं वे स्थिर हैं क्योंकि वे पदार्थ वर्षों तक वैसे ही दिखाई देते हैं इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्न का भेद जानो और जाग्रत् औह स्वप्न का जो अनुभव है उस का भेद नहीं ॥ ४ ॥

सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमोबोधो भवेत्स्मृतिः ।
साचाऽवबुद्धविषयाऽवबुद्धं तत्तदा तमः ॥५॥

अर्थ—तैसे ही सुषुप्ति के अनुभव का भी जाग्रत और स्वप्न के अनुभव से भेद नही । शंका-सुषुप्ति में तो अनुभव ही नहीं होता । क्यों कि सब ही मनुष्य मात्र कहते हैं कि मैं ऐसा सोया मुझको कुछ ख़बर न रही, फिर आप कैसे कहते हैं कि जाग्रत् और स्वप्न के अनुभव से सुषुप्ति के अनुभव का अभेद है । उत्तर–ऐसा मैं सोया कि मेरे को कुछ ख़बर न रही । यह जो कथन है सो सुषुप्ति में जो अज्ञान है उसके अनुभव विना नहीं बनता । जैसे गङ्गाजी के जल में कोई गोता मार कर उस जल के नीचे अधिक शीतलता का अनुभव कर जल से बाहर निकल यह कहता है कि मुझको इस जल के भीतर गोता मारने से बड़ी शीतलता मालूम हुई । जो गुपची मारने हारा पुरुष शीतलता का अनुभव न करता तो जल से बाहर निकल कर कैसे कहता कि मैं ने शीतलता का अनुभव किया है । तैसे ही सुषुप्ति में न जानने का अनुभव न करता तो उठ कर ऐसे न कहता कि मुझको शयन समय में कुछ मालूम न रहा । यह कथन इस बात को जनाता है कि सुषुप्ति अवस्था में इसने बे ख़बरी का अनुभव किया है बेख़बरी नाम अज्ञान का है । शंका-सुषुप्ति में इस ने बे–ख़बरी का अनुभव कुछ न किया उठकर इसने बेख़बरी का अनुभव किया है

तिससे वेखवरी का जो कहना है सो स्मृति ज्ञान करके नहीं। उत्तर—सुपुप्ति से उठकर वेखवरी का अनुभव नहीं बनता। क्योंकि, जो प्रत्यक्ष कर जिस वस्तु का अनुभव करता है उस वस्तुके साथ इंद्रियोंका सम्बन्ध उस वस्तु का अनुभव का कारण है जैसे घट के संग नेत्र आदि का सम्बन्ध घट की प्रत्यक्षता का कारण है तैसे सुपुप्ति काल के अज्ञान के साथ जो इन्द्रियों का संवन्ध हो तो सुपुप्ति काल के अज्ञान का अनुभव हो। सो जागे से सुपुप्ति काल के अज्ञान का नाश हो जाता है तिससे उसके साथ संवन्ध कैसे हो सकता है। और नष्ट के साथ भी जो इन्द्रियों का सम्बन्ध हो, तो मरे पर पिता आदि का भी पाँच वा दश वर्षों से पीछे नेत्रों के साथ सम्बन्ध कर उनकी प्रत्यक्षता हो सो मरने के बाद तो उन पिता आदि की प्रत्यक्षता नहीं होती अर्थात् वे किसी समय भी नेत्रों के सन्मुख नहीं आते, तिससे प्रत्यक्ष अनुभव का विषय अज्ञान नहीं होता। और अनुमितिरूप अनुभव काभी विषय सुपुप्ति काल का अज्ञान नहींहो सकता। क्योंकि जो अनुमिति व्याप्ति और लिंग के आधीन होती है। लिंग नाम हेतु का है। जैसे पर्वत अग्नि वाला है, धूँए से। यहां जो अग्नि की अनुमिति है सो धूम और अग्नि की व्याप्तिके आधीनहै। जहां धूम वहां अग्नि है। यह जो धूम अग्नि का नियम से एकट्ठा रहना है तिस का नाम व्याप्ति है। सो धूम रूप लिंग के आधीन है अग्नि की अनुमिति। अनुमान से जो अनुभव हो उसे अनुमिति कहते हैं। तैसे जो यहां सुपुप्ति काल के अज्ञान की अनुमिति होती तो कोई हेतु भी होता और उस हेतु की व्याप्तिभी होती। सो यहां न हेतु है और न कोई व्याप्ति है तिस से उठ कर सुपुप्ति के अज्ञान का अनुमिति रूप अनुभव नहीं हो सकता। इस कारण मालूम हुआ कि जो उठ कर अज्ञान का स्मरण करता है उस स्मरण का (कारण) जो अनुभव है सो सुपुप्ति में सिद्ध हुआ ॥ ५ ॥

स बोधो विषयाद्भिन्नो न बोधा त्स्वप्न बोधवत्।
एवं स्थान त्रयेऽप्येका संवित्त द्वद्दिनान्तरे ॥ ६ ॥

अर्थ—वह बोध अज्ञान से भिन्न है। और जाग्रत् और स्वप्न के अनुभव से भिन्न नहीं इसी प्रकार एक दिन में जो तीन अवस्था होती हैं जाग्रत् स्वप्न सुपुप्ति इन अवस्थाओं में अनुभव एक है तैसे ही दूसरे दिन में जो अनुभव होता है सो अनुभव प्रथम दिन के अनुभव से अभिन्न है ॥ ६ ॥

मासाऽब्द युग कल्पेषु गता ऽऽगम्येष्वनेकधा ।
नोदेति नास्त मेत्येका संविदेषा स्वयं प्रभा ॥७॥

अर्थ–इसी तरह प्रथम मास में जो अनुभव था सो अगले महीने के अनुभव से भिन्न नहीं । इसी प्रकार प्रथम वर्ष में जो अनुभव है उस अनुभव का दूसरे वर्ष के अनुभव से भेद नहीं । ऐसे ही सत्युग में जो अनुभव था वह ही त्रेता द्वापर कलियुग में अनुभव है । ऐसे ही ब्रह्म कल्प में जो अनुभव था सोई वराह आदि कल्पों में जानना । तिस कारण अनुभव न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है अर्थात् अनुभव नित्य है । शंका-यह बात प्रसिद्ध है कि घट का अनुभव नष्ट हुआ और पट का अनुभव उत्पन्न हुआ फिर आप कैसे कहते हो कि अनुभव नित्य है ।

उत्तर–क्यों जी अनुभव की उत्पत्ति और नाश का कोई साक्षी है क्या नहीं । जो कहो साक्षी कोई नहीं तो साक्षी के बिना अनुभव की उत्पत्ति और नाश कैसे सिद्ध होवे ! और जो कहो कि अनुभव की उत्पत्ति और नाश का साक्षी है तो वह साक्षी कौन है अनुभव ही साक्षी है वा घट पट आदि साक्षी हैं । जो कहो अनुभव साक्षी है तो जिस अनुभव की उत्पत्ति विनाश ग्रहण करना है सोई अनुभव साक्षी है या उस अनुभव से भिन्न जो अनुभव है सो साक्षी है । जो कहो सोई अनुभव साक्षी है तो जिस का नाश होता है वह साक्षी नहीं हुआ करता । क्योंकि नाश का साक्षी कौन होता है जो नाश से पीछे रहता है और दूसरा अनुभव तो अभी तक उत्पन्न ही नहीं हुआ जो वह प्रथम अनुभव के नाश का साक्षी हो और अनुभव के विषय जो घट पट आदि हैं सो अनुभव के नाश और उत्पति के साक्षी नहीं हो सकते क्योंकि जड़ होने से । तिस से अनुभव उत्पत्ति और विनाश से रहित है और स्वयं प्रकाश है । अपने प्रकाश होने में दूसरे की इच्छा नहीं करता । जैसे सूर्य अपने प्रकाश करने में दीप आदि की इच्छा नहीं करता । तिस से अनुभव स्वयं प्रकाश और नित्य अर्थात् सत्य है । अनुभव चैतन्य को कहते हैं ।

इय मात्मा परानंदः परप्रेमास्पदंयतः ।
मान भूवंहि भूयास मिति प्रेमाऽऽत्मनीक्ष्यते ॥ ८ ॥

अर्थ-सो यह सत्य अनुभव आत्म रूप हैं सो आत्मा परमानंद स्वरूप है। जिस से यह आत्मा परम प्रेम का स्थान है, इस कारण कदाऽपि मेरा असत्व न हो, सदा ही मेरा सत्त्व होवे इस प्रकार आत्मा में प्रेम दीखता है इस से आत्मा परमानंद स्वरूप है ॥ ८ ॥

तत्प्रेमा त्मार्थ मन्यत्र नैव मन्यार्थ मात्मनि।
अत स्तत्परम तेन परमानंदतात्मनः ॥ ९ ॥

अर्थ-और पदार्थों में जो प्रेम होता है सो आत्मा के सम्बन्ध से होता है। जैसे गुड़ के सम्बन्ध से चावल मीठे होते हैं स्वरूप से चावल मीठे नहीं है। तैसे पुत्र आदि में जो प्रेम होता है सो आत्मा के सम्बन्ध से होता है स्वरूप से पुत्र आदि में प्रेम नहीं। तिससे जिस आत्मा के सम्बन्ध से पुत्र आदि में प्रेम है सो आत्मा परम प्रेम का आश्रय है इसी से परमानंद रूप है । ६ ॥

इत्थं सच्चित्परानंद आत्म युक्त्या तथा विधम्।
परं ब्रह्म तयोश्चै क्यं श्रुत्यंतेषूपदिश्यते ॥१०॥

अर्थ-इस प्रकार आत्मा की सच्चिदानन्द रूपता निश्चय की है और ब्रह्म की सच्चिदानन्द रूपता तथा ब्रह्म और जीव की एकता उपनिषदों में वर्णन की है ॥ १० ॥

अभाने न परं प्रेम भाने न विषये स्पृहा।
अतो भानेष्य भाताऽसौ परमानन्दता ऽऽत्मनः ॥११॥

शंका-आत्मा परमानन्द रूप है यह कथन नहीं बनता क्योंकि आत्मा की परमानन्द रूपता भान होती है वा नहीं। जो भासती है तो विषयों में इच्छा न होनी चाहिये। क्योंकि परमानन्द के प्राप्त होने से तुच्छ विषयों में प्रीति नहीं बनती। जैसे अमृत से तृप्ति होने पर और भक्ष्य भोज्य आदि पदार्थों की इच्छा नहीं रहती। और जो कहो कि आत्मा की परमानन्द रूपता नहीं भासती इस से विषयों में इच्छा होती है। जैसे किसी के घर में धन दबा पड़ा है और उस पुरुष को उस दबे हुए धन की खबर नहीं है तो वह स्वल्प धन के लिये अधिक उद्योग वा दीनता करता है। तैसे आत्मा की परमानन्द रूपता

तो है पर, इसको नहीं भान होती तिस से तुच्छ विषयों में दीन होता है, तो आत्मा में प्रेम न होना चाहिये क्योंकि प्रेम तो वस्तु की सुन्दरता जानने के बाद होना उचित है। सो आत्मा में प्रेम न होना उचित है। सो आत्मा की परमानन्द रूपता तो जानी ही नहीं प्रेम कैसे हो सकता है। जब आत्मा में प्रेम ही न हुआ तो परम प्रेम किस तरह से हो। तिस कारण आत्मा परमानंद रूप नहीं ॥

उत्तर—आत्मा की परमानन्द रूपता समान से भान होती है और विशेषता करके नहीं। जिस से विशेषता करके नहीं भान होती इसी से विषयों में इच्छा होती है। आत्मा की परमानंद रूपता समानता से भान होती है इसी से आत्मा में परम प्रेम होना उचित है तिस से आत्मा परमानन्द रूपता भान होती भी है और नहीं भी होती ये दोनों बात सिद्ध हुईं ॥ ११ ॥

अध्येतृ वर्ग मध्यस्थ पुत्राध्ययन शब्दवत् ।
भानेष्य भानं भानस्य प्रति बंधेन युज्यते ॥१२॥

दृष्टान्त—जैसे किसी शाला के भीतर बहुत लडके पढ़ते हैं, उन पढ़ने वाले लड़कों के मध्य में जिस २ के पुत्र पढ़ते हैं वह २ पिता अपने २ लड़के के पठन शब्द को विशेष कर अर्थात् ठीक २ नहीं सुन सकता किन्तु समान्यता से सुन सकता है। क्यों कि वह शाला से बाहर खड़ा है। इसी तरह आत्मा की आनन्द रूपता समानता से भान होती है और विशेषता से नहीं भान होती। क्योंकि इस जीव और आत्मा के बीच में उस शाला की भींत अर्थात् दीवार के और बालकों के साथ उस लड़के का पठन रूपी माया लगी हुई है बीच में किसी चीज़ के होने को प्रतिवन्धक कहते हैं ॥ १२ ॥

प्रति बंधोऽस्ति भातीति, व्यवहारो ऽहे वस्तुनि ।
तन्निरस्य विरुद्धस्य, तस्यो त्पादनमुच्यते ॥१३॥

अर्थ—प्रतिबंध किस को कहते हैं। जो वस्तु देखनेके लायक है और देखी न जाय उस वस्तु के न देखने का जो कारण है उस कारण को प्रतिवन्ध कहते हैं ॥ १३ ॥

तस्यहेतुः समानाभिहारः पुत्रध्वनि श्रुतौ ॥
इहाऽनादि रविद्यैव व्यामोहै कनिबंधनम् ।

जैसे पुत्र के शब्द को विशेष कर न सुनने में प्रतिबंध का कारण और बालकों के साथ मिलकर पढ़ना है। तैसे आत्मा की आनन्द रूपता के विशेष कर न जानने में प्रतिबंध का कारण अविद्या है। उस अविद्या ने विपरीत ज्ञान कर रक्खा है। विपरीत ज्ञान क्या है कि दुःखरूप विषयों की सुख रूपता प्रतीत होनी और सुखरूप आत्मा की परमानन्दता प्रतीत न होनी॥ १४॥

चिदानन्दमय ब्रह्म प्रतिबिंब समन्विता ।
तमोरजः सत्व गुणा प्रकृतिर्द्विविधाचसा ॥१५॥

उस अविद्या का क्या रूप है, सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म के प्रतिबिंब करके सहित सत्व, रज, तम इन तीन गुणवाली जो प्रकृति है। उसके दो रूप हैं, एक माया, दूसरी अविद्या। जैसे नाज एक है और पिसकर उसका आटा पृथक् और छानस पृथक् दो रूप हो जाते हैं। सार प्रधान अन्न आटा और असार प्रधान छानस होता है ॥१५॥

सत्व शुद्धय विशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च तेमते ।
माया बिंबोवशी कृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वर ॥१६॥

तैसे सत्व प्रधान प्रकृति माया रूप है और रज, तम, प्रधानप्रकृति अविद्या रूप है। माया में जो चैतन्य का प्रतिबिंब है सो सर्वज्ञ और ईश्वर है। क्योंकि उसके वशीभूत माया है॥ १६ ॥

अविद्या वशगस्त्वन्यस्त द्वैचित्र्यादनें कधा ।
सा कारण शरीरंस्यात् प्राज्ञस्तत्राऽभिमानवान् ॥१७॥

अर्थ—और अविद्या में जो चैतन्य का प्रतिबिंब है सो जीव है और अल्पज्ञ है, क्योंकि वह जीव अविद्या के आधीन है, अविद्या कारण शरीर को कहते हैं उस कारण शरीर का अभिमानी जो जीव है उसका नाम प्राज्ञ है॥ १७॥

तमः प्रधान प्रकृते स्तद्भोगायेश्वरा ज्ञया ।
वियत्पवन तेजोऽम्बुभुवो भूतानि जज्ञिरे ॥ १८ ॥

अर्थ—दूसरा सूक्ष्म शरीर है सो सतरह १७ तत्वों से बनता है। वे सतरह

१७ तत्व अपंची कृत पंच महा भूतों से उत्पन्न होते हैं। और पंच महा भूत आकाश, पवन, तेज, जल, पृथवी। इन पंच महा भूतों की उत्पत्ति जीवों को सुख दुःख भोगने के लिये ईश्वर की आज्ञा से तमोगुण प्रधान प्रकृति से होती है ॥ १८ ॥

सत्वांशैः पंचभिस्तेषां क्रमाद्धीन्द्रिय पंचकम्।
श्रोत्रत्वगक्षि रसन घ्राणाख्यमुपजायते ॥१९॥

अर्थ-आकाश के सतोगुण अंश से श्रोत्र इन्द्रिय पैदा होती है। पवन के सतोगुण अंश से त्वचा इन्द्रिय पैदा होती है। तेज के सतो गुण अंश से नेत्र इन्द्रिय पैदा होती है। जल के सतोगुण अंश से रसना इंद्रिय पैदा होती है। पृथिवी के सतो गुण अंश से घ्राण अर्थात् नासिका इन्द्रिय पैदा होती है। इन ही पांचों का नाम ज्ञानेंद्रिय है ॥ १९ ॥

तै रंतः करणं सर्वैर्वृत्ति भेदेन तद्द्विधा।
मनो विमर्श रूपं स्यात् बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका ॥२०

अर्थ-और मिले हुए इन पाचों भूतों के सतोगुण अंश से अन्तः करण पैदा होता है। सो अन्तः करण संकल्प विकल्परूप वृत्ति करके मन कहाता है। और निश्चय रूप वृत्ति से बुद्धि कहाता है ॥ २० ॥

रजोऽशैः पंचभिस्तेषां क्रमात्कर्मेंद्रियाणि तु।
वाक्पाणि पाद पायू पस्था भिधानानि जज्ञिरे ॥२१॥

अर्थ-इन पंचभूतों के रजोगुण अंश से पांच कर्मेन्द्रिय पैदा होती हैं। आकाश के रजोगुण अंश से वाणी-इन्द्रिय और पवन के रजोगुण अंश से हाथ इन्द्रिय और तेज के रजोगुण अंश से पैर। जल के रजोगुण अंश से शिश्न अर्थात् मूत्रेन्द्रिय। पृथवी के रजोगुण अंश से गुदा इन्द्रिय उत्पन्न होती है ॥ २१ ॥

तैः सर्वैः सहितः प्राणो वृत्ति भेदात्स पंचधा।
प्राणो पानः समानश्चो दानव्यानौ चते पुनः ॥२२॥

अर्थ-इन पंच भूतों के मिले हुए रजो गुण अंश से पांच प्राण पैदा

होते हैं। उनके नाम प्राण १ अपान २ समान ३ उदान ४ व्यान ५ ॥२२॥

बुद्धि कर्मेन्द्रियप्राण पंचकै र्मनसा धिया।
शरीरं सप्त दशभिः सूक्ष्म तल्लिंग मुच्यते ॥२३॥

अर्थ-पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और पांच प्राण, मन और बुद्धि इन सतरह १७ तत्वों से सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है और इसे लिंग शरीर भी कहते हैं ॥ २३ ॥

प्राज्ञ स्तत्राऽभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते।
हिरण्यगर्भतामीश स्तयोर्व्यष्टि समष्टिता ॥ २४ ॥

अर्थ-सो यह सूक्ष्म शरीर दो प्रकार का है। एक समष्टि और दूसरा व्यष्टि। समष्टि सूक्ष्म शरीर का अभिमानी ईश्वर हिरण्यगर्भ कहाता है और व्यष्टि सूक्ष्म शरीर का अभिमानी प्राज्ञ नामा जीव तैजस इस नाम को प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्म तादात्म्य वेदनात्।
तदभावात्ततोऽन्येतु कथ्यंते व्यष्टि संज्ञया ॥२५॥

अर्थ-जो समष्टि है सो सब में आत्म तादात्म्य भाव मानता है। इसी से उसको सब का ईश्वर कहते हैं और जो व्यष्टि है उसको सब में आत्म तादात्म्य अभिमान नहीं होता। इसी कारण व्यष्टि नाम जीवों का है। ऐसे व्यष्टि और समष्टि का भेद जानना ॥ २५ ॥

तद्भोगाय पुनर्भोग्य भोगायतन जन्मने।
पची करोति भगवान् प्रत्येकं वियदादिकम् ॥२६॥

अर्थ-इस प्रकार लिंग शरीर पैदा होने पर भी जीवों को सुख दुःख का अनुभव बिनास्थूल शरीर और स्थूल पदार्थों के नहीं हो सकता। इस लिये जीवों को सुख दुःख भोगने के वास्ते और पदार्थों के भोगों का स्थान जो स्थूलशरीर है उसकी उत्पत्ति के लिये परमेश्वर ने अपंची कृत महाभूतों का पंची करण किया ॥ २६ ॥

द्विधा विधाय चै कैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्व स्वेतर द्वितीयाँ शै र्योजना त्पंच पंचते ॥२७॥

अर्थ–अब पंची करण का वर्णन करते हैं। एक पृथवी के प्रथम दो भाग करने। उन दो भागों में से एक भाग के चार भाग करने। इसी तरह जल तेज पवन आकाश इन के भी पृथक २ दो २ भाग करने और उन दो २ भागों में से एक २ भाग के चार २ टुकड़े करने फिर पृथवी के अर्धे भाग के जो चार भाग हैं उनको जल तेज पवन आकाश इन चारों के अर्ध २ भाग में मिला देने। ऐसे ही जल आदि के एक अर्ध भाग के जो चार २ भाग हैं उनको पृथवी आदि के अर्ध २ भाग में मिला देना इसी का नाम पंची करण है ॥ २७ ॥

तेरंडस्तत्र भुवनं भोग्य भोगा श्रयोद्भवः ।
हिरण्यगर्भः स्थूलेऽस्मिन् देहे वैश्वानरो भवेत् ॥२८॥

अर्थ–फिर इन ही पंची कृत पंच महा भूतों से ब्रह्मांड पैदा हुआ और उस ब्रह्मांड में १४ चतुर्दश लोक उत्पन्न हुए। अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल, पाताल, भूः, भुवः स्वः महः जनः, तपः, सत्य,। इन लोकों में जो २ जिस २ लोक के लायक हैं वे २ शरीर उत्पन्न हुए। और उन शरीराभिमानी जीवों के लिये भोगने योग्य अन्न आदि उत्पन्न हुए। इस स्थूल शरीर में तादात्म्याभिमान से समष्टि रूप हिरण्य गर्भ विराट रूपता को प्राप्त हुआ।

तैजसा विश्वतां याता देवतिर्यङ् नरादयः ।
ते पराग्दर्शिनः प्रत्यक् तत्व वोध विवर्जिताः ॥२९॥

अर्थ–और व्यष्टि रूप स्थूल शरीर में तादात्म्याभिमान से तैजस नाम जो जीव है सो विश्व नाम को प्राप्त हुआ सो विश्वनाम जीव के देवता, मनुष्य, पशु, पत्ती, आदि अनेक रूप हुए और वह विश्वनाम जीव शरीर में तादात्म्याभिमान से आत्म ज्ञान करके रहित हुआ। और वहिर्भूत शब्दादि विषयों में उस जीव का परिचय हुआ ॥ २९ ॥

कुर्वंते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुंजते ।
नद्यांकीटा इवावर्ता दावर्तांतर माशु ते ।
व्रजंतो जन्मनो जन्म लभंते नैव निर्वृतिम् ॥३०॥

अर्थ-सो जीव सुख भोगने के लिये बहुत से कर्म करते हैं। और देव आदि शरीरों से उस २ कर्म के फल को भोगते हैं। आगे को कर्म करने के लिये, ये जीव जन्म जन्मांतर को प्राप्त होते हैं सुख को नहीं प्राप्त होते। जैसे नदी के प्रवाह में प्राप्त कीड़े लहरों में वारंवार गोते खाते हैं। एक लहर से निकल दूसरी लहर में डूबते हैं दूसरी लहर से निकल तीसरी लहर में डूबते हैं। ऐसे ही उन के दुःखों का अन्त नहीं होता नित्य गोते खाते रहते हैं तैसे ही जीवों को (८४) लक्ष योनियों में अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं उन दुःखों का अन्त नहीं ॥३०॥

सत्कर्म परिपाकात्ते करुणा निधितोद्धृताः ।
प्राप्य तीर तरुच्छायां विश्राम्यंति यथा सुखम् ॥३१॥

इस प्रकार अविद्या करके आत्मा की परमानन्द रूपता विशेष कर न भान होने से जीव को अनेक जन्म और अनेक दुःखों की प्राप्ति वर्णन करी। अब आगे जन्म और दुखों के दूर करने का उपाय वर्णन करते हैं। जैसे नदी के प्रवाह में गोते खाते हुए जो जीव हैं, तिनके उत्तम कर्मों के प्राप्त होने पर किसी दयावान् की दृष्टि में वे आजाते हैं तब उनके दुःख को देख उस दयालु मनुष्य का मन द्रवी भूत होता है। वह दयावान उन को जल से बाहर निकाल लेता है। तब वे नदी के प्रवाह से बाहर निकले हुए नदी के किनारे पर वृक्षों की छाया में सुख पाते हैं ॥ ३१ ॥

उपदेश मवाप्यैव माचार्य्या त्तत्व दर्शिनः ।
पंच कोश विवेकेन लभंते निर्वृतिं पराम् ॥३२॥

अर्थ-तैसे इन दुखियारे जीवों के जन्म जन्मांतर के पुण्य कर्म जब प्रकट होते हैं। तब कोई ज्ञानवान् गुरु कृपा करके इस जीव को उपदेश करते हैं कि तू पंच कोशों से पृथक् है। तब यह जीव पंच कोशों के विवेक से परमानन्द को प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

अन्नं प्राणो मनो बुद्धि रानंदश्चेति पंचते ।
कोशास्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत् ॥३३

अर्थ–उन पंच कोशों के नाम, अन्नमय १—प्राणमय २—मनो मय ३—विज्ञानमय ४–आनन्द मय ५–ये पंचकोश हैं । तिन कोशों से आच्छादित हुआ यह परमानन्दरूप आत्मा अपने परानन्दरूप को भूल कर जन्म मरण आदि दुःखों को प्राप्त होता है । जब पंच कोशों का विचार करता है तब परमानन्दरूप आत्मा को जानकर जन्म मरण आदि दुःखों से रहित हो जाता है ॥ ३३ ॥

स्यात्पंचीकृत भूतेभ्यो देहः स्थूलोऽन्न संज्ञकः ।
लिंगे तु राजसैः प्राणैः प्राण कर्मेंद्रियैः सह ॥३४॥

अर्थ–पंची कृत पंच भूतों से पैदा हुआ जो स्थूलशरीर है, सो अन्नमय कोश है । और सूक्ष्म शरीर तीन कोशोंका नाम है । प्राणमय, मनोमय, विज्ञान मय, पंच प्राण और पंचकर्मेंद्रिय इन दोनों का मिल कर प्राणमय कोश होता है । सो यह प्राण मय कोश अपची कृत पंच भूतों के रजो गुण अंश से पैदा होता है ॥ ३४ ॥

सात्विकैर्धीन्द्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः
तैरेव साकं विज्ञानमयो धीर्निश्चयात्मिका ॥ ३५ ॥

अर्थ–पंचज्ञानेन्द्रिय और मन इन दोनों का नाम मनोमय कोश है । सो इस की उत्पति अपंचीकृत पंच भूतों के सात्विक अंश से होती है और पंच ज्ञानेंद्रिय और बुद्धि इन दोनों का मिल कर विज्ञानमय कोश होता है । और इस की उत्पत्ति भी पंच भूतों के सात्विक अंश से होती है ॥ ३५ ॥

कारणे सत्व मानन्द मयो मोदादि वृत्तिभिः ।
तत्तत्कोशैस्तु तादात्म्या दात्मा तत्तन्मयो भवेत् ॥३६

अर्थ–कारण शरीर का नाम आनन्दमय कोश है । सो आनन्द मय कोश पिय, मोद, प्रमोद वृत्तियों करके सहित मलिन सत्व प्रधान अविद्या का

नाम है। मन इच्छित पदार्थों के देखने से पैदा हुआ जो सुख उस का नाम प्रिय वृति है और इष्ट पदार्थों के मिलने से जो सुख होता है उस सुख का नाम मोदवृत्ति है। और मनोभिलषित पदार्थों के खाने पहरने से जो आनन्द होता है उस आनन्द का नाम प्रमोदवृत्ति है। इन पंच कोशों के साथ मिलकर आत्मा पंच कोश रूप हो जाता है। जैसे जल लाल काले चिट्टे हरे पीले पदार्थों के साथ मिलकर लाल, काला, चिट्टा, हरा, पीला हो जाता है।।३६॥

अन्वय व्यतिरे काभ्यां पंच कोश विवेकतः।
स्वात्मानं तत उद्धृत्य परंब्रह्म प्रपद्यते ॥ ३७ ॥

शंका–पंचकोशों के साथ मिल कर पंचकोशरूप जो आत्मा है उस आत्मा का पंचकोशों से त्याग कैसे हो। जैसे कुसुभ आदि से रंगे हुए जल का शुद्ध होना कठिन है।

उत्तर–जैसे गेरू आदि से मिल कर लाल हुआ जो जल है, उस लाल जल को निर्मली बूटी के सम्बन्ध से शुद्ध करते हैं। तैसे ही पंच कोशों के साथ मिलकर पंचकोशरूप जो आत्मा है सो विवेक करके शुद्धब्रह्मरूप होता है ॥३७॥

अभाने स्थूल देहस्य स्वप्ने यद्भानमात्मनः।
सोऽन्वयो व्यतिरेक स्तद्भानेऽन्यानव भासनम्।३८।

अर्थ–वह विवेक कौनसा है! जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा का अन्वय है और इन तीनों अवस्थाओं का परस्पर व्यतिरेक है। इस विचार का नाम विवेक है। यह जो अन्नमय कोश स्थूल शरीर है सो जाग्रत अवस्था में भान होता है और स्वप्नावस्था में नहीं भान होता। क्योंकि यह तो स्थूल शरीर पर्य्यंक पर पड़ा रहता है और जो जाग्रत अवस्था में और पुरुष हैं वे इस के शरीर को अपने पास सोता हुआ देखते हैं और आत्मा स्वप्ने में भी वही है जो जाग्रत अवस्था में था, तिस कारण आत्मा का स्वप्ने में अन्वय है और स्थूल शरीर का स्वप्ने में व्यतिरेक है ॥ ३८ ॥

लिंगा भाने सुषुप्तौ स्या दात्मनो भान मन्वयः।
व्यतिरेकस्तु तद्भाने लिंगस्याभान मुच्यते ॥३९॥

अन्नं प्राणो मनो बुद्धि रानंदश्चेति पंचते ।
कोशास्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत् ॥३३

अर्थ-उन पंच कोशों के नाम, अन्नमय १—प्राणमय २—मनो मय३—विज्ञानमय ४—आनन्द मय ५—ये पंचकोश हैं । जिन कोशों से आच्छादित हुआ यह परमानन्दरूप आत्मा अपने परानन्दरूप को भूल कर जन्म मरण आदि दुःखों को प्राप्त होता है । जब पंच कोशों का विचार करता है तब परमानन्दरूप आत्मा को जानकर जन्म मरण आदि दुःखों से रहित हो जाता है ॥ ३३ ॥

स्यात्पंचीकृत भूतेभ्यो देहः स्थूलोऽन्न संज्ञकः ।
लिंगे तु राजसैः प्राणैः प्राण कर्मेंद्रियैः सह ॥३४॥

अर्थ-पंची कृत पंच भूतों से पैदा हुआ जो स्थूलशरीर है, सो अन्नमय कोश है। और सूक्ष्म शरीर तीन कोशोंका नाम है। प्राणमय, मनोमय, विज्ञान मय, पंच प्राण और पंचकर्मेंद्रिय इन दोनों का मिल कर प्राणमय कोश होता है। सो यह प्राण मय कोश अपची कृत पंच भूतों के रजो गुण अंश से पैदा होता है ॥ ३४ ॥

सात्विकैर्धीन्द्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः
तैरेव साकं विज्ञानमयो धीर्निश्चयात्मिका ॥ ३५ ॥

अर्थ-पंचज्ञानेन्द्रिय और मन इन दोनों का नाम मनोमय कोश है । सो इस की उत्पति अपंचीकृत पंच भूतों के सात्विक अंश से होती है और पंच ज्ञानेंद्रिय और बुद्धि इन दोनों का मिल कर विज्ञानमय कोश होता है । और इस की उत्पत्ति भी पंच भूतों के सात्विक अंश से होती है ॥ ३५ ॥

कारणे सत्व मानन्द मयो मोदादि वृत्तिभिः ।
तत्तत्कोशैस्तु तादात्म्या दात्मा तत्तन्मयो भवेत् ॥३६

अर्थ-कारण शरीर का नाम आनन्दमय कोश है । सो आनन्द मय कोश प्रिय, मोद, प्रमोद वृत्तियों करके सहित मलिन सत्व प्रधान अविद्या का

नाम है। मन इच्छित पदार्थों के देखने से पैदा हुआ जो सुख उस का नाम प्रिय वृत्ति है और इष्ट पदार्थों के मिलने से जो सुख होता है उस सुख का नाम मोदवृत्ति है। और मनोभिलषित पदार्थों के खाने पहरने से जो आनन्द होता है उस आनन्द का नाम प्रमोदवृत्ति है। इन पंच कोशों के साथ मिलकर आत्मा पंच कोश रूप हो जाता है। जैसे जल लाल काले चिट्टे हरे पीले पदार्थों के साथ मिलकर लाल, काला, चिट्टा, हरा, पीला हो जाता है।।३६।।

अन्वय व्यतिरे काभ्यां पंच कोश विवेकतः।

स्वात्मानं तत उद्धृत्य परंब्रह्म प्रपद्यते ॥ ३७ ॥

शंका–पंचकोशों के साथ मिल कर पंचकोशरूप जो आत्मा है उस आत्मा का पंचकोशों से त्याग कैसे हो। जैसे कुसुभ आदि से रंगे हुए जल का शुद्ध होना कठिन है।

उत्तर–जैसे गेरू आदि से मिल कर लाल हुआ जो जल है, उस लाल जल को निर्मली बूटी के सम्बन्ध से शुद्ध करते हैं। तैसे ही पंच कोशों के साथ मिलकर पंचकोशरूप जो आत्मा है सो विवेक करके शुद्धब्रह्मरूप होता है ॥३७ ॥

अभाने स्थूल देहस्य स्वप्ने यद्भानमात्मनः।

सोऽन्वयो व्यतिरेक स्तद्भानेऽन्यानव भासनम्।३८।

अर्थ–वह विवेक कौनसा है! जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा का अन्वय है और इन तीनों अवस्थाओं का परस्पर व्यतिरेक है। इस विचार का नाम विवेक है। यह जो अन्नमय कोश स्थूल शरीर है सो जाग्रत अवस्था में भान होता है और स्वप्नावस्था में नहीं भान होता। क्योंकि यह तो स्थूल शरीर पर्य्यंक पर पड़ा रहता है और जो जाग्रत अवस्था में और पुरूष हैं वे इस के शरीर को अपने पास सोता हुआ देखते हैं और आत्मा स्वप्ने में भी वही है जो जाग्रत अवस्था में था, तिस कारण आत्मा का स्वप्ने में अन्वय है और स्थूल शरीर का स्वप्ने में व्यतिरेक है ॥ ३८ ॥

लिंगा भाने सुषुप्तौ स्या दात्मनो भान मन्वयः।

व्यतिरेकस्तु तद्भाने लिंगस्याभान मुच्यते ॥३९॥

अर्थ–ऐसे ही स्वप्ने में जो लिंग शरीर है उसका सुषुप्ति में अभाव है और जो आत्मा स्वप्ने में स्वप्न का प्रकाश करने वाला है सोई आत्मा सुषुप्ति में सुषुप्ति का प्रकाश करता है और जो आत्मा सुषुप्ति का प्रकाश न करता तो इस जगत् में कैसे सुषुप्ति का प्रसिद्ध होता। तिससे सुषुप्ति में आत्मा का अन्वय है और सुषुप्ति में सूक्ष्म शरीर का व्यतिरेक है॥ ३९॥

तद्विवेका द्विविक्ताः स्युः कोशाः प्राणा मनोधियः॥
ते हि तत्र गुणावस्था भेदमात्रात्पृथक् कृताः॥ ४०॥

प्रश्न–पंच कोशों के विवेक को छोड़ तीन शरीरों का विवेक करना प्रसंग से असंगत है।

उत्तर–प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, इन तीन कोशों का नाम सूक्ष्म शरीर है, उस सूक्ष्म शरीर के विवेक करने से तीन कोशों का विवेक होजाता है, इसी से सूक्ष्म शरीर का विवेक करना प्रसंग से असंगत नहीं।

गुणों की राजसी सात्विक अवस्था भेद करके एक सूक्ष्म शरीर में तीन कोशों का वर्णन किया है। वास्तव में तीनों कोश सूक्ष्म शरीररूप हैं॥ ४०॥

सुषुप्त्य भाने भानं तु समाधावात्मनोऽन्वयः॥
व्यतिरेक स्त्वात्मभाने सुषुप्त्यनव भासनम्॥ ४१॥

अर्थ–जैसे सुषुप्ति में आत्मा का अन्वय है और सूक्ष्म शरीर का व्यतिरेक है तैसे ही समाधि में आत्मा का अन्वय है और कारण शरीर है जो आनन्दमयकोश है, तिसका समाधि अवस्था में व्यतिरेक है। इस प्रकार अन्नमय आदि पंचकोशरूप जो तीन शरीर हैं उन से आत्मा भिन्न है। जैसे अनेक मोती, मूंगा आदि जिस तागे में पिरोए हुए हैं वह तागा उन मोती, मूंगा आदि से भिन्न है। जैसे एक अधिष्ठान रस्सी में कभी प्रतीत होने से और कभी न प्रतीत होने से सर्प का भ्रम मिथ्या है। तैसे ही किसी अवस्था में प्रतीत होने से और किसी अवस्था में न प्रतीत होने से पंच कोश भी मिथ्या हैं और आत्मा सत्य है। क्योंकि यह आत्मा सब अवस्थाओं में प्रतीत होता है॥४१॥

यथामुंजादिषीकैव मात्मा युक्त्या समुद्धृतः।
शरीर त्रितया द्धीरैः परं ब्रह्मैव जायते॥४२॥

अर्थ—जैसे मुंज से अर्थात् धान नामक तृण विशेष से चावल अलहदा साथ युक्ति के कर लेते हैं। तैसे धीर्यवान् ब्रह्मचर्य्यादि साधन करके संपन्न जो जिज्ञासु जन हैं उन्होंने आत्मा को पंच कोशों से भिन्न किया है। पंचकोशों से भिन्न जो आत्मा है सो ब्रह्मरूप है। क्योंकि जो ब्रह्म का सच्चिदानन्दरूप लक्षण है सोई सच्चिदानन्दरूप लक्षण आत्मा का है तिससे आत्मा और ब्रह्म की एकता है कुछ भेद नहीं ॥४२॥

परा परात्मनोरेवं युक्त्या संभावितैकता।
तत्व मस्यादि वाक्यैः सा भाग त्यागेन लक्ष्यते ॥४३॥

अर्थ-इस प्रकार जिज्ञासु जनों को गुरुवों ने जीव ब्रह्म की एकता भी युक्तियों के द्वारा बताई और उस एकता की संभावना करवाई सो जीव ब्रह्म की एकता तत्वमसि इत्यादि वाक्यों ने भाग त्याग लक्षण से जनाई है। जैसे काशी के बीच माघ के महीने में देखा हुआ जो पुरुष है और पीछे उसी पुरुष को कुरुक्षेत्र के बीच वैशाख के महीने में देखा, तब उसको देख कर कहा कि "सोयं पुरुष" इस वाक्य में 'सः' शब्द का अर्थ काशी देश और माघ मास विशिष्ट पुरुष है और कुरुक्षेत्रदेश और वैशाखमास विशिष्ट पुरुष यह अयं शब्द का अर्थ है। इन के बीच से एक भाग जो काशीदेश और माघमास कुरुक्षेत्रदेश और वैशाखमास है उस का त्याग करके एक भाग जो पुरुष है उसकी एकता भी त्याग लक्षण करके जानी जाती है ॥ ४३ ॥

जगतो यदुपादानं मायामादायतामसीम्।
निमित्तं शुद्ध सत्वां ता मुच्यते ब्रह्म तद्गिरा ॥४४॥

अर्थ-किस प्रकार जगत् का अभिन्न निमित्त उपादानकारण ब्रह्म है॥
उत्तर-तमोगुण प्रधान जो माया है उसके साथ मिल कर ब्रह्म जगत् रूपता को प्राप्त होता है और शुद्ध सत्वरूप माया के साथ मिल कर ब्रह्म जगत् का कर्त्ता होता है सो ब्रह्म ही जगत् रूपता को प्राप्त होने से उपादान कारण है और कर्त्तृ रूप होने से निमित्त कारण है। जैसे एक ही ऊर्णनाभि अर्थात् मकड़ी अपने मुख से निकाली हुई तंतु अर्थात् जाले का आप ही उपादान कारण और निमित्तकारण है। सो ब्रह्म तत् पद का वाच्य अर्थ है ॥४४॥

यदा मलिन सत्वांतां काम कर्मादि दूषिताम् ।
आदत्ते तत्परं ब्रह्म त्वं पदेन तदोच्यते ॥४५॥

अर्थ–जब काम कर्म आदि से दूषित मलिन सत्व प्रधान जो माया है, जिसका दूसरा नाम अविद्या है उस अविद्यारूप उपाधि को ग्रहण करता है तब परब्रह्म जीव नाम को प्राप्त होता है सो जीव त्वंपद का वाच्य अर्थ है ॥४५॥

त्रितयीमपि ता मुक्त्वा परस्परविरोधिनीम् ।
अखंडं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते ॥४६॥

अर्थ–परस्पर विलक्षण और परस्पर विरोध वाली जो तीन प्रकार की माया है, तमोगुण प्रधान १ और शुद्ध सत्व प्रधान २ और मलिन सत्व प्रधान ३ उसको त्याग कर अखंड सच्चिदानन्द परब्रह्म एक उस उपाधि का आश्रय दीखता है ॥ ४ ॥

सोऽयं मिथ्यादि वाक्येषु विरोधात्तदिदं तपोः ।
त्यागेन भागयोरेक आश्रयो लक्ष्यते यथा ॥ ४७ ॥

अर्थ–जैसे सोऽयं पुरुष इस वाक्य में उपाधि जो देश काल है उसको त्याग तिस उपाधि का आश्रय एक पुरुष दीखता है ॥ ४७ ॥

माया विद्ये विहायैव मुपाधी पर जीवयोः ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते ॥ ४८॥

अर्थ–ऐसे ही जीव ईश्वर की अविद्या और माया जो उपाधि हैं उपाधि को त्याग अखंड सच्चिदानन्द परब्रह्म ही दीखता है ॥ ४८ ॥

सविकल्पस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य स्याद्वस्तुता ।
निर्विकल्पस्य लक्ष्य त्वं न दृष्टं न च संभवि ॥ ४९॥

शंका–महावाक्य से लखा हुआ जो अखंड सच्चिदानन्दब्रह्म है सो सविकल्प है वा निर्विकल्प है। प्रथम तो पक्ष ही नहीं बनता क्योंकि जो सविकल्प वस्तु अर्थात् नाम जाति वाली वस्तु है सो मिथ्या है और निर्विकल्प को लक्ष्यता नहीं बनती क्योंकि जो लक्ष्यता धर्म वाला है उसको निर्विकल्पता

नहीं और जो कहो कि उस में लक्ष्यता रूप धर्म नहीं तो लक्ष्यता रूप धर्म से रहित जो है सो लक्ष्य अर्थात् वाक्य से जानने के लायक लोक में नहीं दीखता और युक्ति से भी लक्ष्य को निर्विकल्पता नहीं बनती क्योंकि लक्ष्यता धर्म वाले को निर्विकल्प कहना ऐसा है जैसे कोई कहे कि मेरी माता वंध्या है जो माता तेरी वंध्या होती तो तू कहां से पैदा होता, तेरा जन्म ही जनावता है कि तेरी माता वंध्या नहीं तैसे लक्ष्यता धर्म वाले को तो सविकल्पता होती है और निर्विकल्पता नहीं होती ॥४९॥

विकल्पो निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा भवेत् ।
आद्ये व्याहति रन्यत्रानवस्थात्मा श्रयादयः ॥५०॥

उत्तर–लक्ष्य कौन है आप का जो यह प्रश्न है सो निर्विकल्प में है वा सविकल्प विषयक है जो कहो निर्विकल्प में विकल्प है तो आप का कहा हुवा जो दोष है सो आपको ही प्राप्त होता है जैसे कोई कहे कि निर्धन के पास धन है इस कथन में जैसे वदतोव्याघात है तैसे ही निर्विकल्प में विकल्प है। इस कथन में भी वदतोव्याघात है और जो कहो कि सविकल्प में मेरा विकल्प है तो आत्म आश्रय और अन्योन्याश्रय और चक्रिका और अनवस्था रूप दोष की प्राप्ति होती है। कैसे, जो सविकल्प नाम है सो विकल्प वाले ही का नाम है तो यह सिद्ध हुआ कि विकल्प वाले में विकल्प है। जो विकल्प वाले में रहेगा सो विकल्प में भी रहेगा जैसे जो गलीचे वाले स्थान पर बैठा है सो गलीचेपर भी बैठा है ऐसे ही विकल्प में जो विकल्प है सो आधाररूप विकल्प से भिन्न है वा आधाररूप विकल्प से अभिन्न है, जो कहो अभिन्न है तो आत्माश्रय दोष हुआ क्योंकि आप ही विकल्प आधार हुआ और आप ही उस के आश्रय रहने वाला हुआ, यह बात जगत् में नहीं दीखती। जैसे अपने कंधे पर आप नहीं चढ़ सकता और जो कहो कि आधार भूत विकल्प से उस में रहने वाले विकल्प का भेद है तो आधार भूत जो विकल्प है वह भी निर्विकल्प में रहता है वा सविकल्प में रहता है? जो कहो कि निर्विकल्प में रहता है तो वदतो व्याघात दोष हुआ और जो कहो कि आधारभूत विकल्प भी सविकल्प में रहता है तो उसके आश्रय को

सविकल्प किसने किया ? प्रथम विकल्प ने किया वा तीसरे विकल्प ने किया? जो कहो प्रथम विकल्प ने आधार रूप विकल्प के आश्रय को सविकल्प किया तो आधार रूप विकल्प प्रथम विकल्पके आश्रय हुआ । इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष हुआ और जो कहो कि तीसरे विकल्प ने दूसरे विकल्प के आश्रय को सविकल्प किया तो तीसरे विकल्प के भी सविकल्प के आश्रय रहना पड़ा, तो तीसरे विकल्प के आश्रय को सविकल्प किसने किया ? उस के आश्रय को सविकल्प प्रथम विकल्प ने किया वा दूसरे विकल्प ने तीसरे विकल्पके आश्रय को सविकल्प किया अथवा चौथे विकल्प ने तीसरे विकल्प के आश्रय को सविकल्प किया ? जो कहो कि प्रथम विकल्प ने तीसरे विकल्प के आश्रय को सविकल्प किया, तो चत्रिका दोष लगेगा । क्योंकि जो प्रथम विकल्प के आश्रय को सविकल्प किया दूसरे विकल्प ने और दूसरे विकल्प के आश्रय को सविकल्प किया तीसरे विकल्प ने और तीसरे विकल्प के आश्रय को सविकल्प किया प्रथम विकल्प ने इसी का नाम चत्रिका दोष है और जो कहो कि तीसरे विकल्प के आश्रय को सविकल्प किया दूसरे विकल्प ने तो अन्योन्याश्रय दोष लगता है । जो दूसरे विकल्प के आश्रय को सविकल्प किया तीसरे विकल्प ने और तीसरे विकल्प के आश्रय को सविकल्प किया दूसरे विकल्प ने इसी का नाम अन्योन्याश्रय दोष है । और जो कहो कि चौथे विकल्प ने, तीसरे विकल्प के आश्रय को सविकल्प किया तो चौथे विकल्प को भी सविकल्प के आश्रय रहना पड़ा, और चौथे विकल्प के आश्रय को सविकल्प करने वाला पांचवां विकल्प हुआ । इसी प्रकार पांचवें विकल्प के आश्रय को सविकल्प करने वाला छठा विकल्प होगा । ऐसे ही आगे २ एक २ बढ़ता जायगा इसी का नाम अनवस्था दोष है ॥४०॥

इदं गुणक्रिया जाति द्रव्य सम्बन्ध वस्तुषु ।
समं तेनस्वरूपस्य सर्वमेतदितीष्यताम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—जितने दोषों की प्राप्ति निर्विकल्प में विकल्प है वा सविकल्प में विकल्प है । इस विचार में है तितने दोष इन पांच स्थानों में घटते हैं । वे पांच स्थान ये हैं, एक तो यह रूप रूपवाले में रहता है या रूप से रहित में रहता है । दूसरा यह क्रिया क्रिया वाले में रहती है या अक्रिय में रहती है ।

तीसरे गोत्व रूप जाति गौ में रहती है या गौ से भिन्न में रहती है। चौथे घट घटवाले में रहता है या घट से रहित में रहता है। पांचवे घट का संबन्ध घट के सम्बन्ध वाले में है या घट के सम्बन्ध से रहित में है। इस तरह तर्क करने से किसी पदार्थ की सिद्धि नहीं होती किन्तु सब पदार्थों की अनिर्वचनीयता सिद्ध होती है अर्थात् सर्वव्यवहार की निवृत्तिरूप मौनता प्राप्त होती है। मौनता से गुरु शिष्य को उपदेश नहीं कर सकता और शिष्य गुरु से प्रश्न नहीं कर सकता इन दोनों का अभाव होता है। तिस से उपदेश आदि के लिये तत्ववेत्ताओं ने संज्ञा रक्खी है। वे सब संज्ञा अखंड सच्चिदानन्द में कल्पित हैं ॥५१॥

विकल्प तदभावाभ्याम संस्पृष्टात्म वस्तुनि ।
विकल्पितत्व लक्षत्व सम्बन्धाद्यास्तु कल्पिताः ॥५२॥

अर्थ—उस अखण्ड सच्चिदानन्द परब्रह्म में विकल्प का और विकल्प के अभाव का भी अभाव है। तैसे ही लक्ष्यता का और लक्ष्यता के अभाव का भी अभाव है। जैसे उस में विकल्प आदि का कल्पितव्यवहार होता है। तैसे उस में लक्ष्य यह भी कल्पित व्यवहार है। तिसी से अखण्ड, सच्चिदानन्द, परब्रह्म तत्वमसि इस महावाक्य करके लक्षित है अर्थात् जाना हुआ है, ऐसा ब्रह्मवेत्ता कहते हैं सो कल्पना से कहते हैं। जिस से सब व्यवहार उस में कल्पित है। तिससे लक्ष्यता भी उस में कल्पित है, इसी कारण लक्ष्य सविकल्प है वा निर्विकल्प है, ऐसी शंका करनी योग्य नहीं क्योंकि लक्ष्य में सविकल्पता और निर्विकल्पता दोनों कल्पित हैं॥ ५२ ॥

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसंधानं श्रवणं भवेत् ।
युक्त्या संभावितत्वानुसंधानं मननं तु तत् ॥ ५३ ॥

अर्थ—इतने प्रकरण से क्या सिद्ध हुआ, श्रवण और मनन। महावाक्य का अर्थ जो जीव ब्रह्म की एकता है उस के बुद्धिपूर्वक श्रवण को श्रवण कहते हैं और जो गुरुमुख से सुनी हुई जीव, ब्रह्म की एकता है अनेक युक्तियों करके साथ बुद्धि के उस एकता का जो विचार है और जो गुरु कहते हैं जीव ब्रह्म की एकता सो यथार्थ है, ऐसी श्रद्धा के दृढ होने को मनन कहते हैं॥ ५३ ॥

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत् ।
एकता नत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ॥ ५४ ॥

अर्थ—अब आगे निदिध्यासन का रूप वर्णन करते हैं । श्रवण और मनन से जानने योग्य जो सच्चिदानन्द परब्रह्म है, उस में संशयरहित चित्त की वृत्ति प्रवाहाकार हो जानी इस का नाम निदिध्यासन है । ५४ ॥

ध्यातृ ध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैक गोचरम् ।
निवात दीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥ ५५ ॥

अर्थ—सो जब अतिदृढ निदिध्यासन होता है तब समाधि होती है । समाधि और निदिध्यासन में क्या भेद है । निदिध्यासन अवस्था में ध्याता, ध्यान, ध्येय यह त्रिपुटी भान होती हैं । मैं सच्चिदानन्द परब्रह्म का ध्यान करता हूं, इसी का नाम त्रिपुटी है और समाधि में अभ्यास कर त्रिपुटी से रहित हो जाता है अर्थात् मैं अखण्ड सच्चिदानन्द परब्रह्म हूं । यह वृत्ति भी उदय नहीं होती क्योंकि समाधि में अहं भाव का भी अभाव है और परब्रह्म में लगा हुआ चित्त पवन से रहित स्थान में स्थित दीये की तरह अपने चित्तभाव को त्याग कर अचल स्वयं प्रकाश परब्रह्मरूप हो जाता है, इसी का नाम समाधि है॥५५॥

वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अप्यात्म गोचराः ।
स्मरणा दनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थितात् ॥५६॥

प्रश्न—आप कहते हैं कि समाधि में सब वृत्तियों का अभाव हो जाता है इस कारण त्रिपुटीभी नहीं होती । और अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति भी नहीं रहती तो आप कैसे कहते हैं कि समाधि में अखण्डाकार वृत्ति होती है क्योंकि जो अखण्डाकार वृत्ति है वह भी एक वृत्ति है । उस अखण्डाकारवृत्ति के होने पर सब वृत्तियों का अभाव सिद्ध न हुआ ॥

उत्तर—अखण्डाकारवृत्ति तो समाधि में रहती है क्योंकि यह उठ कर समाधि से उस अखण्डानन्द को याद करता है । यह जो अखण्डानन्द की यादगीरी है समाधिकाल में सो अखण्डानन्द के अनुभव को जताती है । जिस से अखण्डानन्द का अनुभव समाधि में है तिस से अखण्डाकार का अनुभव

समाधि में रहताहै तिससे अखण्डाकारवृत्ति तो समाधि में रहती है यह सिद्ध हुआ पर वृत्ति का वृत्तिभाव नहीं रहता। जैसे जलमें नमक का अभेद हो जाताहै तैसे अखण्ड परब्रह्म में वृत्ति का अभेद हो जाता है। जैसे जल में नमक नेत्रों से नहीं दीखता पर जिह्वा से मालूम होता है। तैसे अखण्डाकारवृत्ति भी स्थूल-दृष्टि से नहीं प्रतीत होती पर सूक्ष्मदृष्टि से जानी जाती है। जो अखण्डाकार वृत्तिसमाधि में रहती है ॥ ५६ ॥

वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रयत्नात्प्रथमादपि ।
अदृष्टा स कृदभ्याससंस्कारसचिवाद्भवेत् ॥ ५७ ॥

शंका—समाधि में जो अखण्डाकारवृत्ति रहती है, सो समाधि में उत्पन्न होती है वा जाग्रत् में उत्पन्न हुई जो वृत्ति है सो समाधि में रहती है प्रथम पक्ष तो नहीं बनता क्योंकि समाधि में तो वृत्ति की उत्पत्ति का कारण प्रयत्न नहीं होता और जाग्रत् में पैदा हुई जो अखण्डाकारवृत्ति है वह भी समाधि में नहीं रहती क्योंकि जो वृत्ति क्षण २ में नष्ट हो जाती है इसी से दूसरा पक्ष भी नहीं बनता। दोनों प्रकार से समाधि में अखंडाकार वृत्ति नहीं बनती, फिर आप कैसे कहते हैं कि समाधि में अखंडाकार वृत्ति रहती है।

उत्तर—जो वृत्ति समाधि में रहती है, सो वृत्ति समाधि में उत्पन्न होती है। समाधि काल से प्रथम अखंडाकार वृत्ति का जो प्रयत्न किया है उस प्रयत्न से समाधि में अखंडाकार वृत्ति होती है सो समाधि से प्रथम काल के प्रयत्न के दो सहायक हैं, एक निष्काम पुण्य और दूसरा समाधि के अभ्यास से पैदा हुआ संस्कार ॥ ५७ ॥

यथा दीपो निवातस्थ इत्यादि भिरनेकधा ।
भगवानिम मेवार्थमर्जु नाय न्यरूपयत् ॥५८॥

अर्थ—गीता के छटे अध्याय में श्री कृष्ण भगवान् ने अर्जुन के प्रति यह समाधि का उपदेश किया है। हे अर्जुन जैसे पवन से रहित स्थान में रक्खा हुआ दीपक अचल हो जाता है तैसे आत्म अभ्यास के करने वाले जिज्ञासु का चित्त भी समाधि में ब्रह्माकार अचल हो जाता है ॥ ५८ ॥

अनाद्या विह संसारे संचिताः कर्म कोटयः ॥
अनेन विलयं यांति शुद्धो धर्मो विवर्धते ॥ ५९ ॥

प्रश्न–बिना फल के जाने समाधि का अभ्यास नहीं हो सक्ता। इस लिये समाधि का फल कहो।

उत्तर–समाधि के दो फल हैं, एक अवांतर फल है। और दूसरा परम फल है। जैसे प्रयाग के स्नान करने को कोई जाय, तो उस के जाने का परम फल प्रयाग का स्नान है। और मथुरा वृन्दावन आदि के दर्शन उस गमन रूप प्रयत्न का अवांतर फल है। तैसे समाधि का अवांतर फल दो प्रकार का है। एक तो अनंत जन्म के किये हुये करोड़ों पुण्य पाप रूप कर्मों का नाश। और दूसरा अविद्या और अविद्या के कार्य्य का नाश करने वाला जो ब्रह्म साक्षात्कारहै उसका साधन जो निष्काम शुभ धर्म है सो बढ़ता है॥ ५९॥

धर्म मेघ मिमं प्राहुः समाधिं योग वित्तमाः ॥
वर्षत्येष यतो धर्मामृत धाराः सहस्रषः ॥ ६० ॥

अर्थ–इसी कारण ब्रह्मज्ञानी इस निर्विकल्प समाधि को धर्म मेघ कहते हैं। जैसे मेघ बरसता है। तैसे निर्विकल्प समाधि भी धर्म रूप अमृत की वर्षा करती है। एक क्षणमात्र में निर्विकल्प समाधि शत अश्वमेधयज्ञ के फल को पैदा करती है॥ ६०॥

अमुना वासना जाले निःशेषं प्रविलापिते।
समूलोन्मूलिते पुण्य पापाख्ये कर्म संचये॥६१॥

अर्थ–अब समाधि का परम प्रयोजन कहते हैं। इस निर्विकल्प समाधि से ज्ञान का प्रतिबंधक अहंकार और ममता और इनके संस्कार नष्ट हो जाते हैं। और अहंकार के नाश होने से एकट्ठे किये हुए पुण्य पापों का समूह नष्ट हो जाता है जैसे वृक्ष के नाश होने पर उस वृक्ष की छाया भी नहीं रहती। तैसे समाधि में अहंकार के नाश होने से अहंकार के आश्रय जो संचित पुण्य पाप रूप कर्म हैं वे नष्ट होजाते हैं और वासना अहंता ममता और पुण्य पाप रूप कर्म ये सब नष्ट हो जाते हैं॥ ६१॥

वाक्यमप्रतिबद्धं सत्प्राक् परोक्षावभासिते।
करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥ ६२ ॥

अर्थ—प्रतिबंध का कारण अहंता आदि जो पंच हैं इनके नाश होने पर क्या होता हैं कि प्रतिबंध से रहित हुआ महावाक्य जीवब्रह्म के अभेद को अपरोक्ष कर दिखला देता है। जैसे नेत्रों से आमले के फल को हाथ में लेकर ठीक २ देख लेते हैं और समाधि से प्रथम प्रतिबद्ध हुआ महावाक्य परोक्ष ज्ञान पैदा करता है। जैसे नख मन्त्र आदि से प्रतिबद्ध अग्नि किसी चीज़ को नहीं जला सकता? और सन्मुख पड़ा हुआ अपने स्वरूप से नज़र आता है। जब अग्नि का प्रतिबंध दूरकर दिया जाता है तब अग्नि दाह करता है। तैसे अहंता ममता वासना सकामपुण्य और पाप इन पांचों से प्रतिबद्ध हुआ महावाक्य अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता। और समाधि से अहंता आदि प्रतिबंध का नाश होने पर महावाक्य अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है। इस से अपरोक्ष ज्ञान के लिये जिज्ञासुजनों को समाधि के अभ्यास का प्रयत्न करना उचित है॥ ६२॥

परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम्।
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वन्हिवत् ॥ ६३ ॥

शंका—परोक्ष ज्ञान का क्या फल हैं, और अपरोक्ष ज्ञान का क्या फल है।

उत्तर—जिस दिन श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से महावाक्य सुना उसी दिन से लेकर आगे के पाप कर्मों का स्पर्श नहीं होता अर्थात् अगले सब पाप कर्म नष्ट हो-जाते हैं, क्यों कि ज्ञान अभ्यास में लगा हुआ जो जिज्ञासु है उसकी रुचि पाप कर्मों में नहीं रहती। अकस्मात् मार्ग में चलते हुए चरणों के तले जो कोई कीट पतंग मरजाता है उसका पाप ज्ञान अभ्यास के बलसे उस जिज्ञासु को नहीं लगता जैसे किसी पुरुष ने मोम जामा ओढ़ रक्खा है उस पुरुषको मंद २ बूंदों की धारा नहीं स्पर्शकरती॥६३॥

अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम्।
संसारकारणाज्ञानतमसश्चंडभास्करः ॥ ६४ ॥

अब अपरोक्ष ज्ञान का फल कहते हैं। अपरोक्ष ज्ञान जन्म मरण का कारण जो अज्ञान है उसका नाश करता है। जैसे मध्यान्ह का सूर्य अंधकारका नाश करता है॥६४॥

इत्थं तत्वविवेकं विधाय विधिवन्मनः समाधाय।
विगलितसंसृतिबंधः प्राप्नोति परंपदं नरो न चिरात् ॥६५॥

इस प्रकार प्रत्यक्तत्व विवेक का कथन किया उसमें बारं बार विचार से मन लगाय पंच कोशों से भिन्न अपने आपको जानकर जन्म मरण रूप बंधन से रहित हुआ मनुष्य इसी जन्म में शीघ्र ही सच्चिदानंद परब्रह्म रूप हो जाता है, तिससे तत्वविवेक का विचार बारंबार करना उचित है॥ ६५॥

इति श्री विद्यारण्यमुनीश्वरविरचितः प्रत्यक्तत्वविवेकः समाप्तः

पञ्चदशी

अथ महाभूत विवेक प्रकरणम्

* श्रीगणेशायनमः *

सदद्वैतं श्रुतं यत्तत्पंचभूतविवेकतः ॥
बोद्धुँ शक्यं ततो भूतपंचकं प्रविविच्यते ॥१॥

अर्थ—अथ दूसरे विवेक का प्रारम्भ। पंचभूत विवेक २ सत्यरूप अद्वितीय एक ब्रह्म जगत् का कारण है वह ब्रह्म मन और वाणी से जाना और कहा नहीं जाता इस से ब्रह्मज्ञान के लिये उस का कार्य जो पंचभूत हैं, उनका विवेक करते हैं ॥१॥

शब्दस्पर्शौ रूपरसौगंधो भूतगुणा इमे।
एकद्वित्रिचतुःपंचगुणाव्यो मादिपुक्रमात् ॥२॥

अर्थ—आकाश पवन तेज जल पृथ्वी ये पंच भूत हैं शब्द स्पर्श रूप रस गंध ये पंच भूतों के गुण हैं इन गुणों से पंच भूतों का विवेक होता है। अर्थात् आकाश में एक शब्द गुण रहता है। पवन में शब्द स्पर्श २ गुण रहते हैं। तेज में शब्दस्पर्श रूप ३ गुण रहते हैं। जल में शब्द स्पर्श रूप रस ४ गुण रहते हैं। पृथिवी में शब्द स्पर्श रूप रस गंध ५ गुण रहते हैं ॥ २ ॥

प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दो वायौ बीसीति शब्दनम्।
अनुष्णाशीतसंस्पर्शौ वन्हौ भुगु भुगु ध्वनिः ॥३॥

अर्थ—आकाश में जो शब्द गुण है सो ध्वनि रूप है और वायु में जो शब्द है सो बीसी रूप है और वायु में जो स्पर्श है सो अनुष्णाशीत रूप है अर्थात् पवन में जो स्पर्श है सो न उष्ण है न शीत है और पवन में जल के सम्बन्ध से शीतलता और तेज के संबन्ध से उष्णता प्रतीत होती है वास्तव में पवन में न शीतलता है न उष्णता है और अग्नि में भुगु २ शब्द है ॥ ३ ॥

उष्णः स्पर्शः प्रभारूपं जले बुलुबुलु ध्वनिः।
शीतः स्पर्शः शुक्लरूपं रसोमाधुर्यमीरितम् ॥४॥

अर्थ—अग्नि में उष्ण स्पर्श है और शुक्ल रूप है और जल में चुल चुल शब्द है शीतस्पर्श और शुक्ल रूप है और जल का मीठा रस है। जल का शुक्लरूप पर के प्रकाश करने में समर्थ नहीं और तेज का शुक्ल रूप पर के प्रकाश ने को समर्थ है इसी से जल और तेज के शुक्ल रूप का भेद है॥ ४ ॥

भूमौ कडकडाशब्दः काठिन्यं स्पर्श इष्यते।
नीलादिकं चित्ररूपँ मधुराम्लादिकोरसः ॥५॥

अर्थ—पृथिवी में कड़कड़ा शब्द है और कठिनतास्पर्श अर्थात् कैड़ा स्पर्श नीला लाल काला आदि अनेक प्रकार का रूप और कड़ठा मीठा आदि रस है॥ ५ ॥

सुरभीतरगंधौ द्वौ गुणाः सम्यग्विवोचिताः।
श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चेंद्रियपंचकम् ॥ ६ ॥

और सुगंध और दुर्गन्ध पृथिवी में रहती हैं पवन और जल में जो गंध की प्रतीति होती है सो पृथिवी के सम्बन्ध से होती है वास्तव में जल और पवन में गंध नहीं इस प्रकार पंच भूतों में गुणों का विवेक किया। जैसे गुणों द्वारा पंच भूत भिन्न भिन्न जाने जाते हैं तैसे कार्य द्वारा भी पंच भूतों को भिन्न २ जानना इस लिये पञ्च भूतों का कार्य पंच ज्ञानेंद्रिय कहते हैं।

श्रोत्र त्वक् नेत्र जिव्हा नासिका।
कर्णादिगोलस्थं तच्छब्दादि ग्राहकं क्रमात् ॥
सौक्ष्म्यात्कार्यानुमेयं तत्प्रायो धावेद्बहिर्मुखम् ॥७॥

उनके स्थान और व्यापार कहते हैं। आकाश से श्रोत्र इन्द्रिय पैदा होती है सो कान रूप स्थान में रहती है और शब्द विषय को ग्रहण करती है और बाहर को बहुत धावती है

कदाचित्पिहिते कर्णे श्रूयते शब्द आंतरः।
प्राणवायौ जाठराग्नौ जलपानेऽन्नभक्षणे ॥ ८ ॥

और कभी उदर में प्राण पवन से गुड़ २ शब्द होता है या जाठराग्नि से शरीर के अन्दर जो शब्द होता है उसे अहित शब्द कहते हैं यह भीतर का शब्द कानों के मूंदने पर सुनाई देता है॥ ८ ॥

व्यज्यन्ते ह्योतराः स्पर्शाः मीलने चांतरं तमः।
उद्गारे रसगंधौ चेत्यक्षाणामान्तरग्रहः॥ ६॥

अर्थ—और त्वचा इन्द्रिय पवन से पैदा होती है और सारे शरीर में रहती है इसी से सारे शरीर में शीत उष्ण की प्रतीति होती है और यह बाहर से स्पर्श विषय को बहुत ग्रहण करती है और कभी शीतल जल के पीनेसे भीतर की ठंड त्वचा ग्रहण करती है अर्थात् शीतल जल के पीने से और अन्न के खाने से जो सरदी गरमाई होती है उस भीतर की सरदी गरमी को भी त्वचा इन्द्रिय ग्रहण करती है और त्वचा इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं शीत उष्ण के लगने से इस का अनुमान किया जाता है और तेज से नेत्र इन्द्रिय पैदा होती है धीरी के अग्रभाग में रहती है रूप को ग्रहण करती है बाहर को बहुत दौड़ती है कभी पलक मूंदने पर भीतर के अन्धकार को ग्रहण करती है और यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं रूप की प्रतीति द्वारा इस का अनुमान किया जाता है रसना इन्द्रिय जल से पैदा होती है जिव्हा के अग्र भाग में रहती है रस को ग्रहण करती है बाहर को बहुत दौड़ती है कभी डकार के लेने से अन्दर के रस को ग्रहण करती है यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं रस की प्रतीति द्वारा इस का अनुमान किया जाता है। घ्राण इन्द्रिय पृथिवी से पैदा होती है नासिका के अग्रभाग में रहती है गन्ध को ग्रहण करती है बाहर को बहुत दौड़ती है कभी डकार के आने पर भीतर के गंध को ग्रहण करती है यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं गंध की प्रतीति से इस का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार पंच ज्ञानइन्द्रिय से पंच भूत भिन्न २ जानने॥ ७॥ ८॥ ६॥

इन तीन श्लोकों का अर्थ मिला कर किया गया है क्योंकि एक के अर्थ से दूसरे का सम्बन्ध है और दूसरे से तीसरे का सम्बन्ध है॥ ६॥

पंचोक्त्यादानगमनविसर्गानंदकाः क्रियाः।
कृषिवाणिज्यसेवाद्याः पंचस्वंतर्भवंति हि॥ १॥

और पंच कर्मेन्द्रियाद्वारा भी पंचभूत भिन्न २ जानने ये पंच इंद्रिय प्रत्यक्ष नहीं क्रिया के अनुमान से जाती हैं वे क्रिया पंच प्रकार की हैं एक शब्द का कथन दूसरी किसी से कोई वस्तु लेनी और किसी को कोई वस्तु देनी ३ चलना फिरना ४ स्त्री का आनंद लेना और मूत्र का त्याग करना ५मलका त्याग करना इन ५क्रियाओं से और कोई क्रिया भिन्न नहीं और जितनी क्रियाहैं खेती बणज युद्ध स्नान दानहोम सेवा आदि सब इन पाँच क्रियाओं के ही अन्तर्गत हैं॥ १०॥

वाक्पाणिपादपायूपस्थैः रचैस्तत्क्रिया जनिः ।
मुखादिगोलकेश्वास्ते यत्कर्मेन्द्रियपंचकम् ॥ ११ ॥

वे पाँच कर्मेंद्रिय कौन सी हैं वाक् हाथ पैर गुदा उपस्थ इन पंच कर्मेन्द्रियों से उक्त क्रियाओंकी उत्पत्ति होतीहै औरये पाँचो इंद्रिय मुख आदि स्थानोंमें रहतीहैं ॥११॥

मनो दशेन्द्रियाध्यक्षं हृत्पद्मगोलके स्थितम् ।
तच्चान्तः करणं बाह्येष्वस्वातन्त्र्याद्विनेन्द्रियैः ॥ १२ ॥

अर्थ—और मन दश इन्द्रियों का प्रेरक है, हृदयकमलरूप स्थान में रहता है और उस का नाम अन्तःकरण है क्योंकि जो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के बिना बाहरले किसी पदार्थ को जानने और किसी क्रिया के करने को समर्थ नहीं ॥ १२ ॥

अक्षेष्वर्थार्पितेष्वेतद्गुणदोषविचारकम् ।
सत्वं रजस्तमश्चास्य गुणा विक्रियते हि तैः ॥ १३ ॥

अर्थ—रूप आदि विषयों में नेत्र आदि पञ्च ज्ञानेन्द्रिया के लगने पर यह मन गुण, दोष का विचार करनेवाला है अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के विषयों को अच्छा या बुरा जानने वाला है क्योंकि नेत्र आदि इन्द्रिय अच्छे बुरे विषयों को नहीं बतलातीं और आत्मा सब इन्द्रियों के विषयों को प्रकट करता है। किसी के गुण, दोष नहीं बतलाता और गुण, दोष की प्रतीति तो प्रत्यक्ष हैं तिस से विषयों में गुण, दोष की प्रतीति का कारण मन है सो मन सत्व, रज, तम इन तीन गुणों करके अनेक विकारों को प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः सत्वसम्भवाः ।
कामक्रोधौ लोभयत्नावित्याद्याः रजसोत्थिताः ॥ १४ ॥

अर्थ—जब मन में सत्वगुण प्रकट होता है तब वैराग्य, क्षमा, उदारता, मैत्री, दया गम्भीरता, परमेश्वरभजन इत्यादि गुण प्रकट होते हैं और जब मन में रजोगुण प्रकट होता है तब काम, क्रोध, लोभ, यत्न, दम्भ, ईर्षा इत्यादि गुण प्रकट होते हैं ॥१४॥

आलस्यभ्रान्तितन्द्राद्या विकारास्तमसोत्थिताः ।
सात्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः ॥ १५ ॥

अर्थ—और जब मन में तमोगुण प्रकट होता है तब आलस्य, भ्रम, तन्द्रा, निद्रा

आदि दोष प्रकट होते हैं। सत्वगुण के कार्य वैराग्य से पुण्य उत्पन्न होता है और रजोगुण के कार्य-काम, क्रोध आदि से पाप उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

तामसैर्नोभयं किन्तु वृथायुः क्षपणं भवेत् ।
अत्राहं प्रत्ययीकर्तेत्येवं लोकव्यवस्थितिः ॥ १६ ॥

अर्थ—और तमोगुण के कार्य-आलस्य, भ्रम आदि से न पुण्य होता है न पाप होता है, केवल उमर व्यर्थ चली जाती है। सब ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय मन और शरीर इन में अभिमान करने वाला अहंकारकर्त्ता है। इस प्रकार जगत् की स्थिति है॥ १६ ॥

स्पष्टशब्दादियुक्तेषु भौतिकत्वमतिस्फुटम् ।
अक्षादावपि तच्छास्त्रयुक्तिभ्यामवधार्यताम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जितना यह कार्यरूप जगत् प्रतीत होता है सो सब आकाश आदि पंचभूतरूप है, जिस से आदि अन्त में पंचभूतों के बिना कुछ प्रतीत नहीं होता, तिस से पंचगुण सहित जो वस्तु प्रतीत होतीहै सो पृथ्वीरूप है और जो वस्तु चार गुणसहित प्रतीत होती है वह जलरूप है और जो वस्तु ३ गुण सहित प्रतीत होती है वह तेजरूप है। और जो वस्तु दो गुण सहित प्रतीत होती है वह पवनरूप है और जो वस्तु एक गुण सहित प्रतीत होती है वह आकाशरूप है। इस प्रकार जो पदार्थ प्रत्यक्ष दीखते हैं वे सब पंचभूतरूप हैं, यह सिद्ध हुआ और जो नेत्र आदि नहीं दीखते उन को भी युक्ति से भूतकार्यता निश्चय करी है। जैसे नेत्र तेज रूप हैं क्योंकि पंच विषयों में एक रूप की प्रकटता का कारण हैं जो रूप की प्रकटता का कारण होता है वह तेजरूप होता है। जैसे दीपक-तिस से इस युक्ति से मालूम होता है कि नेत्र एक तेजभूत का कार्य हैं। ऐसे ही रसना इन्द्रिय को जल का कार्य जानना। इसी तरह सब इन्द्रियभूत कार्य जानना और मन पंचभूतों का कार्य है क्योंकि यह पंचभूतों में गुण, दोष की कल्पना करता है, जो मन पंचभूतों का कार्य न होता तो पंचभूतों के पंचगुणों के साथ सम्बन्ध कैसे रखता ? जैसे एक भूत से पैदा हुए जो नेत्र हैं वे पंचभूतों के पंचगुणों को नहीं ग्रहण करते, किन्तु एक रूप को ही ग्रहण करते हैं तिस से नेत्र एक भूत का कार्य हैं। ऐसे ही मन भी जो एक भूत का कार्य होता तो एक विषय को ग्रहण करता और वेद भी इन्द्रिय और मन को पंचभूतों का कार्य बतलाता है। जैसे 'अन्नमयं हि सोम्यमनः आपो मयः प्राणस्तेजोमयी वाक्, इत्यादि शास्त्रं अनुमानं च विमतानि श्रोत्रादीनि भूतकार्याणि भवितुमर्हन्तिभूतान्वय व्यतिरेकानुविधायित्वात्' ॥ १७ ॥

एकादशेन्द्रियैर्युक्त्या शास्त्रेणाप्यवगम्यते ।
यावत्किञ्चिद्भवेदेतदिदं शब्दोदितं जगत् ॥१८॥

इतने कथन से क्या सिद्ध हुआ कि जो कुछ इंद्रियों से और मन से अनुमान से शास्त्र से प्रतीत होता है सो सब पंच भूतात्मक जगत् है ॥ १८ ॥

इदं सर्वं पुरा सृष्टेरेकमेवाद्वितीयकम् ।
सदेवासीन्नामरूपेनास्तामित्यारुणेर्वचः ॥ १६ ॥

यह सब जगत् अपनी उत्पत्ति से प्रथम सत् रूप ब्रह्म था ऐसे उद्दालक मुनि अपने पुत्र श्वेत केतु से कहते हैं छांदोग्य उपनिषद् में, वह सत् ब्रह्म सजातीय विजातीय स्वगत भेद से रहित है और सृष्टि से पूर्व नाम और रूप भी न थे ॥ १६ ॥

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः ।
वृक्षांतरात्सजातीयो विजातीयः शिलादितः ॥ २० ॥

शंका—स्वगत सजातीय विजातीय भेद का क्या स्वरूप है और ये कहाँ रहते हैं और ब्रह्म में क्यों नहीं रहते।

जो वस्तु की एक रूपता में प्राप्त हो उसे स्वगत भेद कहते हैं जैसे एक वृक्ष में फल पुष्प पत्र आदि का भेद है, और सजातीय भेद जैसे एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष का भेद होता है, वृक्ष रूपता करके दोनों एक है इस से वे दोनों सजातीय कहाते हैं। और विजातीय भेद विलक्षणता प्रकट करता है जैसे शिला से वृक्ष का भेद ॥ २० ॥

तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते।
ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात् ॥ २१ ॥

अर्थ—जैसे वृक्ष घट पट आदि अनात्म पदार्थों में स्वगत आदि तीन भेद रहते हैं वैसे ब्रह्म भी तीन भेद वाला है यह अज्ञानी मूढ़ पुरुषों का कथन है सो मिथ्या है, क्योंकि एकमेवाद्वितीयम् इस श्रुति के तीन पदों से ब्रह्म में स्वगत आदि भेद का निषेध किया है ॥ २१ ॥

सतो नावयवाः शंक्यास्तदंशस्यानिरूपणात् ।
नामरूपे न तस्यांशौ तयोरद्याप्यनुद्भवात् ॥२२॥

अर्थ—सद्ब्रह्म निराकार होने से उस ब्रह्म के अवयवों की कल्पना नहीं कर सकते। और सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व नाम और रूप नहीं थे इस से सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान जो ब्रह्म है उस ब्रह्म के नाम और रूप भी अंश नहीं।

नामरूपोद्भवस्यैव सृष्टित्वात्सृष्टितः पुरा ।
न तयोरुद्भवस्तस्मान्निरंशं सद्यथा वियत् ॥२३॥

अर्थ—जिस से नाम रूप की प्रकटता ही सृष्टि है, तिस से सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व नाम रूप पैदा नहीं हुए। तिस से यह सिद्ध हुआ कि आकाश की नाईं निराकार होने से ब्रह्म स्वगत भेद से रहित है॥ २३॥

सदंतरं सजातीयं न वैलक्षण्यवर्जनात् ।
नामरूपोपाधिभेदं विना नैवसतोभिदा ॥२४॥

अर्थ—ब्रह्म में स्वगत भेद न हो पर सजातीय भेद तो बनता है। उत्तर-जैसे एक वृक्ष के पास दूसरा वृक्ष वैसा ही होता है तब एक वृक्ष में दूसरे वृक्ष का सजातीय भेद होता है, तैसे एक ब्रह्म के पास दूसरा कोई ब्रह्म नहीं इस से एक ब्रह्म में सजातीय भेद नहीं बन सकता। शंका-ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है ऐसा तुम कहते हो सो सत्ता का भेद तो दीखता है, पटसत्ता से घटसत्ता भिन्न है। और ज्ञान का भी भेद दीखता है, पट ज्ञान से घट ज्ञान भिन्न है। और आनन्द का भेद भी दीखता है,

पुष्प के सूंघने से जो आनन्द होता है, उस से वस्त्र का आनन्द भिन्न है, इस कारण सत्ता का चेतनता और आनन्द का भेद सिद्ध है। और सत्ता चेतनता आनन्दता ब्रह्म में रहती हैं इस से ब्रह्म में सजातीय भेद प्रत्यक्ष हुआ। उत्तर—सत्ता चेतनता आनन्द इन में नाम रूप उपाधि के भेद से भेद प्रतीत होता है। जिस समय का हम विचार करते हैं उस समय में नाम रूप लक्षण उपाधि तो कोई उत्पन्न न थी। तिस से उपाधि से जो भेद होता है, सो भेद वास्तव नहीं। जैसे घट मठ की उपाधि से आकाश में जो घटाकाश मठाकाश यह भेद प्रतीत होता है सो भेद वास्तव नहीं। और घट मठ उपाधि के त्यागे से आकाश २ ऐसा एक रूप आकाश प्रतीत होता है, तैसे सत्ता चेतनता आनन्द इन में जो भेद प्रतीत होता है, सो भेद घट पट पुष्प वस्त्र इन की उपाधि से होता है। घट पट और पुष्प वस्त्र रूप उपाधि के त्यागे से सत्ता चेतनता और आनन्द में कोई भेद नहीं प्रतीत होता, तैसे ही सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म में सजातीय भेद नहीं॥ २४॥

विजातीयमसत्तत्तु न खल्वस्तीति गम्यते ।
नास्यातः प्रतियोगित्वं विजातीयाद्भिदा कुतः ॥२५॥

अर्थ—और उस ब्रह्म में विजातीय भेद भी नहीं क्योंकि जो सत् रूप ब्रह्म का

विजातीय असत् सत् रूप ब्रह्म है सो स्वरूप से कुछ है नहीं, इसी कारण से इस को प्रतियोगित्व भी नहीं फिर भेद कैसे हो? ॥ २५ ॥

एकमेवाद्वितीयं सत्सिद्धमत्र तु केचन ।
विह्वला असदेवेदं पुरासीदित्यवर्णयत् ॥ २६ ॥

अर्थ—जगत् की उत्पत्ति से प्रथम स्वगत सजातीय विजातीय भेद से रहित एक ब्रह्म है, यह सिद्ध हुआ। उस ब्रह्म में अज्ञानी व्याकुल हुए जगत् की उत्पत्ति से प्रथम असत् हुआ ऐसा कहते हैं ॥ २६ ॥

मग्नस्याब्धौ यथाऽक्षाणि विह्वलानि तथाऽस्य धीः ।
अखण्डैकरसं श्रुत्वा निःप्रचारा बिभेत्यतः ॥ २७ ॥

अर्थ—स्थिति से रहित अज्ञानी उस में कैसे व्याकुल होते हैं, जैसे समुद्र में डुबकी मारने वाले पुरुष का सब इन्द्रिय सहित मन व्याकुल होता है। तैसे समाधि-अवस्था में प्राप्त अखण्ड एकरस ब्रह्म को सुन कर इस अज्ञानी पुरुष की बुद्धि व्याकुल हो जाती है और उस सद्वस्तु ब्रह्म से डरती है अर्थात् वहाँ तक नहीं पहुंच सकती ॥ २७ ॥

गौडाचार्या निर्विकल्पे समाधावन्ययोगिनाम् ।
साकारब्रह्मनिष्ठानामत्यन्तं भयमूचिरे ॥ २८ ॥

अर्थ—इस बात को हमारे बड़े गौडाचार्य कहते हैं। साकार ब्रह्म का ध्यान करनेवाले अज्ञानी योगियों को निर्विकल्प समाधि में अत्यन्त भय प्राप्त होता है ॥२८॥

अस्पर्शो योगो नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥ २९ ॥

अर्थ—कौन से वाक्य से कहते हैं, इस आकांक्षा में यह ऊर्ध्व लिखित श्लोक गौडाचार्य का वार्तिक है, जो यह अस्पर्शयोग नाम वाली निर्विकल्पसमाधि साकार ब्रह्म का ध्यान करने वाले सब योगियों को बड़े दुःख से देखने के योग्य है अर्थात् दुर्लभ है। जैसे निर्जनदेश में बालक डरते हैं तैसे ही उक्त योगी भयशून्यसमाधि में भय हेतु की कल्पना करते हैं अर्थात् भय देखते हैं, जिस कारण उक्त योगी इस अस्पर्शयोग से डरते हैं वह भय का कारण निर्विकल्प समाधि में कोई नहीं ॥ २९ ॥

भगवत्पूज्यपादाश्च शुष्कतर्कपटूनमून् ।
आहुर्माध्यमिकान् भ्रान्ता न चिन्त्येऽस्मिन्सदात्मनि ॥ ३० ॥

अर्थ—जिज्ञासीजनों करके पूजने योग्य हैं चरण जिन के, ऐसे भगवान् शङ्कराचार्य भी यह कहते हैं जो मन के विचार में न आवे ऐसे सत्यरूप परमात्मा में अपरोक्षज्ञान से रहित खोटी तर्कना करनेवाले मूर्ख, अज्ञानी भ्रमको प्राप्त होते हैं॥३०॥

अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यादिमे बौद्धास्तमस्विनः ।
आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैकचक्षुषः ॥ ३१ ॥

अर्थ—अज्ञानी बौद्ध मूर्खता से श्रुति का तिरस्कार करके कहते हैं कि सृष्टि से पूर्व असत् हुआ कैसे हैं वे बौद्ध अनुमान ही है एक नेत्र जिन का जैसे मोतियाबिन्द रोग वाले पुरुष पदार्थ को यथार्थ नहीं जानते तैसे बुद्ध के शिष्य भी यथार्थ जगत् के कारण को नहीं जानते अनुमान से जो सिद्ध हो उसे मानते हैं ॥ ३१ ॥

शून्यमासीदिति ब्रूषे सद्योगं वा सदात्मताम् ।
शून्यस्य न तु तद्युक्तमुभयं व्याहतत्वतः ॥ ३२ ॥

अर्थ—तुम कहते हो कि जगत् की उत्पत्ति से पूर्व असत् हुआ, उस में हम पूछते हैं कि असत् को सत्ता का सम्बन्ध है। क्या असत् सत् रूप है ? सो शून्य को दोनों बात नहीं बनतीं २ व्याहतत्व से ॥ ३२ ॥

न युक्तस्तपसा सूर्यो नापि चासौ तमोमयः ।
सच्छून्ययोर्विरोधित्वाच्छून्यमासीत्कथं वद ॥ ३३ ॥

अर्थ—व्याहतत्वको दृष्टान्तपूर्वक मज़बूत करते हैं। जैसे सूर्य अन्धारयुक्त और अन्धकाररूप नहीं है क्योंकि सूर्य और अन्धकार का परस्पर विरोध है तैसे सत् और असत् का विरोध है तिस से जगत् की उत्पत्ति से प्रथम असत् नहीं बनता ॥ ३३ ॥

वियदादेर्नामरूपे मायया सुविकल्पिते ।
शून्यस्य नामरूपे च तथा चेज्जीव्यतां चिरम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—शंका-जैसे असत् को सत्ता सम्बन्ध नहीं बनता, तैसे निर्विकल्प ब्रह्म में आकाश आदि प्रपञ्च का भी सम्बन्ध नहीं बनता ॥

उत्तर—माया ने सत् रूप ब्रह्म में आकाश आदि के नाम रूपों की कल्पना करी है, वास्तव आकाश आदि का सद्रूप ब्रह्म में सम्बन्ध नहीं। कल्पित पदार्थों का अधिष्ठान में सम्बन्ध नहीं होता ॥

जैसे अधिष्ठान रूप सीपी में कल्पित रूप का संबंध नहीं तैसे कल्पित आकाश आदि का वास्तव सत् रूपे ब्रह्मके साथ संबंध नहीं।

शंका—जैसे आकाश आदि के नाम रूप सत् रूप ब्रह्ममें कल्पित हैं, और अधिष्ठान रूप ब्रह्म की सत्ता से आकाश आदि के नाम रूप सत् प्रतीत होते हैं, तैसे सत् रूप ब्रह्म में असत् के नाम रूप कल्पित हैं, तिस से अधिष्ठान रूप ब्रह्म की सत्ता से असत् भी सत् रूप प्रतीत होता है।

उत्तर—सत् रूप अधिष्ठान में असत् को कल्पित मानने पर हमारा सिद्धान्त सिद्ध होता है, क्यों कि कल्पित असत् जगत् का कारण नहीं बनता, जिस सत् में असत् के नाम रूप कल्पित हैं सो सत् ही जगत् का कारण है तिससे सत् में असत् के नाम रूप कल्पित हैं ऐसे कहने वाले तुझको आशीर्वाद देते हैं। कि तू बहुत कालपर्यन्त जीवे ॥ ३४ ॥

सतोऽपि नामरूपे द्वे कल्पिते चेत्तदावद।
कुर्वेति निरधिष्ठानो न भ्रमः क्वचिदीच्यते ॥३५॥

शंका—जैसे असत् के नाम रूप कल्पित हैं, तैसे सत् के भी नाम रूप कल्पित होने चाहियें, क्यों कि तुम्हारे मतमें व सत्य नाम रूप का अभाव है।

उत्तर—सत् के नाम रूप कल्पित हैं यह कहना अयुक्त है। क्योंकि हम पूछते हैं कि सत् के नाम रूप सत् में कल्पित हैं क्या असत् में अथवा जगत् में कल्पित हैं? जो कहो सत् के नाम रूप सत् में कल्पित हैं, यह कथन तो नहीं बनता, क्यों कि अपने नाम रूप अपने में कल्पित नहीं होते, और के नाम रूप और में कल्पित होते हैं, जैसे रूपे के नाम रूप सीपी में कल्पित हैं, चाँदी के नाम रूप चाँदी में कल्पित नहीं होसके तैसे सत् के नाम रूप सत् में कल्पित नहीं होसके, और जो कहो कि सत् के नामरूप असत् में कल्पित हैं, सो बात नहीं बनती, क्यों कि जो असत् आपही कुछ नहीं है तो असत् सत् के नाम रूप का अधिष्ठान कैसे हो सका है? जैसे बंध्या का किसी पुत्र की कल्पना नहीं करसका। और जगत् भी सत् के नाम रूपकी कल्पना का अधिष्ठान नहीं, क्योंकि जगत् तो सत्य से उत्पन्न हुआ है, फिर जगत् कैसे सत् के नाम रूपकी कल्पना का अधिष्ठान हो सक्ता है, जैसे पुत्र पिता के नाम रूप की कल्पना का अधिष्ठान नहीं होता॥

शंका—सत् के नाम रूप की कल्पना का अधिष्ठान कोई भी मत हो पर सत् के नाम रूप कल्पित क्यों न हों।

उत्तर—अधिष्ठान के बिना किसी की कल्पना नहीं होती, तिससे सत् के नाम रूप कल्पित नहीं ॥ ३५ ॥

सदासीदिति शब्दार्थभेदे वैगुण्यमापतेत् ।
अभेदे पुनरुक्तिः स्यान्मैवं लोके तथेक्षणात् ॥ ३६ ॥

शंका—जैसे जगत् की उत्पत्ति से पूर्व असत् हुआ यह कथन नहीं बनता, तैसे जगत् की उत्पत्ति से पूर्व सत् हुआ यह कथन भी नहीं बनता। क्यों कि जो सत् और आसीत् इन दो शब्दों का अर्थ भेद कहो तो दो सत्ता सिद्ध हुई अर्थात् अद्वैतकी हानि हुई, और जो सत् और आसीत् इन दोनोंका एक अर्थ कहो, तो पुनरुक्ति दोष होता है क्यों कि जो सत् शब्द का अर्थ है सोई आसीत् इस शब्द का अर्थ है जैसे घट शब्द और कुम्भ शब्द का एक अर्थ है।

उत्तर—सत् और आसीत् इनदोनोंके एक अर्थमें पुनरुक्ति दोष नहीं होता ॥३६॥

कर्त्तव्यं कुरुते वाक्यं ब्रूते धार्यस्य धारणम् ।
इत्यादि वासनाविष्टं प्रत्यासीत्सदि तोरणम् ॥३७॥

अर्थ—क्यों कि लोक में ऐसा कहते हैं, कम को कम करता है, इस वाक्य में जो अर्थ कमका है सोई अर्थ कम करने का है, बचन को कहता है इस में भी जो अर्थ बचन का है सोई अर्थ कहने का है, और धारण करने के लायक को धारण करता है, इस वाक्य में भी जो धारण २ ये दो शब्द हैं इनका एक अर्थ है पर इन वाक्यों में पुनरुक्ति दोष नहीं, क्यों कि लोक में सबका ऐसा ही व्यवहार है, ऐसे ही जगत् की उत्पत्ति से पूर्व सत् हुआ इस कथन में भी पुनरुक्ति दोष नहीं होता, क्यों कि पुनरुक्ति दोष के अभाव का संस्कार दृढ़ है।

कालाभावे पुरेत्युक्तिः कालवासनया युतम् ।
शिष्यं प्रत्येव तेनात्र द्वितीयं नहि शंक्यते ॥ ३८ ॥

शंका—सत्रूप अद्वितीय ब्रह्म में पूर्व कालका अभाव होने से जगत् की उत्पत्ति से पूर्व सत् हुआ यह कथन नहीं बनता।

उत्तर—सत् रूप अद्वितीय ब्रह्म में पूर्व काल तो नहीं है। पर जगत् की उत्पत्ति से पूर्व क्या हुआ? ऐसे प्रश्न कर्त्ता काल की वासना वाले शिष्य के प्रति यह उत्तर दिया कि जगत् की उत्पत्ति से पूर्व सत् हुआ।

शंका—जगत् की उत्पत्ति से पूर्व जगत् का अभाव रूप दूसरा होने से सत् की अद्वैतता नहीं बनती।

उत्तर—श्रोता के बोध के लिये वेद का कथन है और श्रोता को द्वैतवासना दृढ़ हो रही है तिस से बहुत शंका करनी उचित नहीं ॥ ३८ ॥

चोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया।
अद्वैतभाषया चोद्यं नास्ति नापि तदुत्तरम् ॥ ३९ ॥

प्रश्न का करना और उत्तर का देना ये दोनों बात कुछ एक द्वैत को लेकर होतीं हैं क्योंकि अद्वैतदृष्टि में प्रश्न उत्तर नहीं बनता ॥ ३९ ॥

तदा स्तिमितं गंभीरं न तेजो न तमस्ततम्।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते ॥४०॥

अर्थ—वास्तव में जगत् की उत्पत्ति पूर्व द्वैत नहीं, इस पर स्मृति उत्पत्ति प्रकरण में वशिष्ठजी रामचन्द्र के प्रति कहते हैं कि हे राम, जगत् की उत्पत्ति से पूर्व जो सत्रूप ब्रह्म है सो ब्रह्म नाम से रहित है इस कारण वाणी से नहीं कहा जाता, और निराकार होने से उस ब्रह्म को नेत्र देख नहीं सके। और ब्रह्म मन से परे है इस से मन करके जाना नहीं जाता। न तम है, न तेज है, न शून्य है, और निश्चल अर्थात् क्रिया से रहित है, और व्यापक है, किसी प्रकार इदन्ता करके कहा नहीं जाता ॥ ४० ॥

ननु भूम्यादिकं माभूत्परमाण्वन्तनाशतः ॥
कथन्ते वियतोऽसत्वं बुद्धिमारोहतीति चेत् ॥ ४१ ॥

शँका—जगत् की उत्पत्ति से पूर्व सत् हुआ और कुछ न था, यह बात नहीं बनती। क्यों कि आकाश भी जगत् की उत्पत्ति से पूर्व हुआ है. आकाश की असत्यता को तुम्हारी बुद्धि कैसे आश्रय करती है। जो सावयव और क्रिया वाले भूम्यादिक हुए हैं, वे सब उत्पत्ति और विनाश वाले हैं। अर्थात् असत् हैं और आकाश निराकार है और क्रिया से रहित है इस से उत्पत्ति और विनाश वाला नहीं ॥ ४१ ॥

अत्यन्त निर्जगद्व्योम यथा ते बुद्धिमाश्रितम् ॥
तथैव सन्निराकाशं कुतो नाश्रयते मतिम् ॥ ४२ ॥

उत्त—जैसे जगत् से रहित आकाश तेरी मति में निश्चय हुआ है, तैसे आकाश से रहित सत् वस्तु को तेरी बुद्धि क्यों नहीं निश्चय करती ॥ ४२ ॥

निर्जगद्व्योम दृष्टं चेत्प्रकाशतमसी विना ॥
क्व दृष्टं किं च ते पक्षे न प्रत्यक्षं वियत्खलु ॥ ४३ ॥

शंका—जगत् से रहित आकाश दीखता है. इसी से मेरी बुद्धि निश्चय करती है। और आकाश से रहित सत् नहीं दीखता इस से मेरी बुद्धि आकाश से रहित सत् को निश्चय नहीं करती।

उत्तर—जगत् से रहित आकाश दीखता है यह कथन मिथ्या है, क्यों कि जब २ आकाश दीखता है, तब २ प्रकाश सहित वा अंधकार सहित दीखता है, कभी कहीं भी प्रकाश वा अन्धकार के विना आकाश नहीं दीखता. और वास्तव तेरे मत में आकाश दीखने में नहीं आता। क्यों कि आकाश रूप से रहित है। जो रूपवाली वस्तु है सो देखने में आती है, तिस से जगत् रहित आकाश दीखता है यह कथन मिथ्या है ॥ ४३ ॥

सद्वस्तु शुद्धं त्वस्माभिर्निश्चितैरनुभूयते।
तूष्णीं स्थितौ न शून्यत्वं शून्यबुद्धेश्च वर्जनात् ॥ ४४ ॥

शंका—जैसे आकाश जगत् से रहित है इस से देखने में नहीं आता। तैसे जगत् से रहित सद्वस्तु भी देखने में नहीं आती।

उत्तर—जगत् से रहित केवल शुद्ध सत् वस्तु निर्विकल्प समाधि में हमें दीखती है।

शंका—निर्विकल्प समाधि में तो शून्यता होने से और किसी वस्तु का अनुभव ही नहीं होता।

उत्तर—निर्विकल्प समाधि में शून्यता होती है, यह तैंने कैसे जाना? निर्विकल्प समाधि में शून्यता का अनुभव तो नहीं होता। जहाँ शून्यता का अनुभव है तहाँ निर्विकल्प समाधि नहीं होती क्योंकि निर्विकल्प समाधि नाम तो सब वृत्तियों के अभाव का है। जब शून्याकार वृत्ति हो तब शून्यता का अनुभव हो। शून्याकार वृत्ति के होने पर निर्विकल्प समाधि नहीं होती ॥ ४४ ॥

सद्बुद्धिरपि चेन्नास्ति मास्त्वस्य स्वप्रभत्वतः ॥
निर्मनस्कत्वसाक्षित्वात्सन्मात्रं सुगमं नृणाम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—तुम कहते हो कि समाधि में सत् वस्तु का अनुभव होता है सो बात नहीं बनती क्योंकि सदाकार वृत्ति होने से समाधि सिद्ध न होगी, समाधि नाम तो सब वृत्तियों के अभाव का है।

उत्तर-समाधि में सत् वस्तु का भान होता है और समाधि में सदाकार वृत्ति नहीं होती, वृत्ति के बिना ही सत् वस्तु का भान होता है, क्योंकि सत् वस्तु तो स्व प्रकाश है। जो पर प्रकाश वस्तु होती है, उस को अपने प्रकाश होने के लिये वृत्ति की आवश्यकता होती है। और जो समाधि में आत्मा न प्रकट हो तो समाधि में मन के अभाव को कौन जाने और समाधि को कौन जाने ? तिससे आत्माकार वृत्ति के बिना सत् रूप आत्मा स्वप्रकाशता से प्रकट होता है ॥ ४५ ॥

मनोजृँभणराहित्ये यथा साक्षी निराकुलः ।
माया जृंभणतः पूर्वं सत्तथैव निराकुलम् ॥ ४६ ॥

अर्थ-जैसे समाधि में मन और मन की वृत्तियों को अभाव होने पर भी आत्मा प्रकट होता है, तैसे जगत् की उत्पत्ति से पूर्व माया के विस्तार का अभाव होने पर भी सत् रूप आत्मा विद्यमान है ॥ ४६ ॥

निस्तत्त्वाकार्य गम्याऽस्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत् ।
न हि शक्तिःक्वचित्कैश्चिद्बुध्यते कार्यतः पुरा ॥ ४७ ॥

अर्थ-माया का क्या लक्षण है ? माया परमात्मा से भिन्न सत्ता से रहित है और आकाश आदि कार्य द्वारा जानी जाती है। सो माया परमात्मा की शक्ति है जैसे अग्नि की शक्ति अग्नि से भिन्न सत्ता से रहित है और ज्वाला आदि रूप कार्य से जानी जाती है। जैसे अग्नि की शक्ति ज्वाला आदि कार्य से पहले किसी ने कहीं भी नहीं जानी तैसे आकाश आदि कार्य से पूर्व परमात्मा की शक्ति माया किसी ने कहीं भी नहीं जानी और आकाश आदि कार्य द्वारा जानी है ॥ ४७ ॥

न सद्वस्तु सतः शक्ति र्नहि वन्हेः स्वशक्तिता ।
सद्विलक्षणतायां तु शक्तेः किं तत्वमुच्यताम् ॥ ४८ ॥

अर्थ-सो शक्ति सत् रूप नहीं और असत् रूप भी नहीं। क्यों कि जो सत् रूप हो सो सत् की शक्ति न हो, जैसे अग्नि अग्नि की शक्ति नहीं होती। और जो असत् हो तो खरगोस के सींगों के समान हुई तो उस को आकाश आदि कार्य की कारणता न होनी चाहिये ॥ ४८ ॥

शून्यत्वमिति चेच्छून्यँ मायाकार्यमितीरितम् ।
न शून्यँ नापिसद्यादृक्तादृक्तत्वमिहेष्यताम् ॥ ४९ ॥

अर्थ-और जो शून्य रूप कहो तो यह बात भी नहीं। क्योंकि शून्य त

मायाशक्ति कार्य है, तिस से यह सिद्ध हुआ कि मायाशक्ति अनिर्वचनीय है अर्थात् यह माया सत् नहीं और न असत् है ॥ ४६ ॥

नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं किं त्वभूत्तमः ।
सद्य़ोगात्तमसः सत्वं न स्वतस्तन्निषेधनात् ॥ ५० ॥

अर्थ—और वेदवाक्य भी ऐसे कहता है । जैसे घट आदि पदार्थों का आवरण करने वाला अन्धकार होता है, तैसे परमात्मा के आवरण करने वाली मायाशक्ति है, सो माया न सत् है और न असत् है ॥

शंका—जो माया सत् नहीं तो आकाश आदि प्रपंच का कारण कैसे है ?

उत्तर—माया की सत्ता स्वतन्त्र नहीं, सत् रूप परमात्मा की सत्ता को पाकर आकाश आदि प्रपंच को रचती है। तम आसीत्तमसा गूढमग्रे यह श्रुति प्रमाण है ॥ ५० ॥

अतएव द्वितीयत्वं शून्यवन्नहि गण्यते ॥
न लोके चैत्र तच्छक्त्योर्जीवितं लिख्यते पृथक् ॥५१॥

शंका—तुम कहते हो कि जगत् की उत्पत्ति से पूर्व परमात्मा अद्वितीय है, और उसकी माया शक्ति है, इस कथन से द्वैत सिद्ध होता है ।

उत्तर—शक्ति से द्वैत नहीं होता, जैसे शून्य से द्वैत नहीं बनता । लोक में पुरुष को द्वैत भाव शक्ति से नहीं होता, जैसे पुरुष और पुरुष का जीवना दो नहीं होते ॥ ५१ ॥

शक्त्याधिक्ये जीवितं चेद्वर्धते तत्र वृद्धिकृत् ॥
न शक्तिः किंतुतत्कार्यं युद्धकृष्यादिकं तथा ॥ ५२ ॥

शंका—शक्ति के अधिक होने पर जीवना अधिक होता है इस कारण पुरुष से शक्ति भिन्न है ।

उत्तर—शक्ति नाम बल का है, सो शक्ति बहुत जीवने का कारण नहीं, जिस पुरुष में बल अधिक होता है सो अधिक युद्ध खेती आदि करता है और जिस में थोड़ी शक्ति होती है वह थोड़ा युद्ध खेती आदि करता है और जो शक्ति बहुत जीवने का कारण होती, तो बहुत बल वाले पुरुष जल्दी न मरते और थोड़े बल वाले न बहुत जीवते, सो ऐसा तो जगत् में नहीं दीखता, तिससे शक्ति बहुत जीवने का कारण नहीं ॥ ५२ ॥

सर्वथा शक्तिमात्रस्य न पृथग्गणना क्वचित् ।
शक्तिकार्यं तु नैवास्ति द्वितीयं शंक्यते कथम् ॥५३॥

अर्थ—सब तरह शक्ति वाले से शक्ति भिन्न नहीं गिनी जाती, इस से यह सिद्ध हुआ कि शक्ति से द्वैत नहीं बनता। जगत् की उत्पत्ति से पूर्वशक्ति का कार्य जगत् तो था ही नहीं इसी से जगत् की उत्पत्ति से पूर्व अद्वैत परमात्मा सिद्ध हुआ ॥५३॥

न कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः सा शक्तिः किंत्वेकदेशभाक् ।
घटशक्तिर्यथा भूमौस्निग्धमृद्येव वर्तते ॥ ५४ ॥

शंका—परमात्मा की शक्ति परमात्मा में सर्वत्र रहती है या परमात्मा के एक देश में रहती है? जो सारे रहती है तो विदेह मुक्तों करके प्राप्त होने के योग्य शुद्ध ब्रह्म का अभाव प्रसंग हुआ, और जो एक देश में रहती है तो ब्रह्म की निराकारता सिद्ध न हुई।

उत्तर—सम्पूर्ण ब्रह्म में माया शक्ति नहीं रहती; ब्रह्म के एकदेश में रहती है। जैसे पृथ्वी का एक देश चिकनी मिट्टी है उस में घट शक्ति रहती है॥ ५४ ॥

पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्ति स्वयंप्रभः ॥
इत्येकदेशवृत्तित्वं मायाया वदति श्रुतिः ॥५५॥

अर्थ—इसी अर्थ को वेद भी कहताहैं। परमात्मा के तीन पाद अपने शुद्ध स्वयं प्रकाशरूप में स्थित हैं और परमात्मा के एक पाद में सर्वभूतरूपजगत् स्थित है ॥५५॥

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
इतिकृष्णोऽर्जुनायाह जगतस्त्वेकदेशताम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—और भगवान् ने भी गीता के दशवें अध्याय में अर्जुन के प्रति कहा है कि हे अर्जुन! सब जगत् को एक अंश से धार रहा हूं, सह से मैं मुक्तों करके प्राप्त होने योग्य शुद्ध ब्रह्म हूं ॥ ५६ ॥

स भूमिं विश्वतोवृत्वाह्यत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ।
विकारावर्ति चात्रास्ति श्रुति सूत्रकृतोर्वचः ॥५७॥

अर्थ—इसी बात को व्यासजी ने सूत्रों में कहा है कि ब्रह्म जगत् का आश्रय भी है और शुद्ध है, क्योंकि जो ब्राह्मण अपनी सत्ता से जगत् को सत्य कररहा है और फिर भी दश अंगुल में स्थित है ॥ ५७ ॥

निरंशोऽप्यंशमारोप्य कृत्स्नेऽशेवेति पृच्छतः ।
तद्भाषयोत्तरं ब्रूते श्रुतिः श्रोतृहितैषिणी ॥ ५८ ॥

अर्थ—और ब्रह्म की निराकारता भी ज्यों की त्यों बनी हुई है, क्योंकि जिज्ञासु के बोध वास्ते उस ब्रह्म में कल्पना करके अंश कथन किया है, सो जैसे है तैसे सुन जब जिज्ञासु ने ऐसा प्रश्न किया, सब ब्रह्म में जगत् हैं क्या एक अंश में जगत् है? तब उस जिज्ञासु के प्रश्न के अनुसार निरंश ब्रह्म में भी अंश की कल्पना कर यह उत्तर दिया कि ब्रह्म के एक अंश में जगत् है॥ ५८॥

सत्तत्त्वमाश्रिता शक्तिः कल्पयेत्सति विक्रियाः।
वर्णाभित्तिगता भित्तौ चित्रं नाना विधं तथा॥५६॥

अर्थ—तिस से ब्रह्म में अनिर्वचनीय माया शक्ति है, सो माया शक्ति ब्रह्म के आश्रय हो कर सत् ब्रह्म में अनेक विकारों की कल्पना करती है। जैसे नील पीत आदि रंग दीवार के आश्रय हो कर दीवार में अनेक प्रकार की मूर्तियों को रचते हैं ६९

आद्यो विकार आकाशः सोऽवकाशस्वरूपवान्।
आकाशोऽस्तीति सत्तत्त्वमाकाशेप्यनुगच्छति॥ ६०॥

अर्थ—माया ने जितने विकार रचे हैं उन में प्रथम आकाश है, उस आकाश ा स्वरूप अवकाश है, और आकाश है इस कथन से आकाश में ब्रह्म की सत्ता भी प्राप्त होती है॥ ६०॥

एकस्वभावं सत्तत्त्वमाकाशो द्विस्वभावकः।
नावकाशः सति व्योम्नि स चैषोऽपि द्वयं स्थितम्॥ ६१॥

अर्थ—तिस से आकाश दो स्वभाव वाला है, एक सत्ता दूसरा अवकाश। और सत् वस्तु में अवकाश नहीं, तिस से सत् वस्तु एक स्वभाव ही है। तिसी से आकाश और सत्ता भिन्न २ हैं॥ ६१॥

यद्वा प्रतिध्वनिर्व्योम्नो गुणो नासौ सतीष्यते।
व्योम्नि द्वौ सद्ध्वनी तेन सदेकं द्विगुणं वियत्॥ ६२॥

अर्थ—अथवा आकाश का शब्द गुण है और सत् वस्तु में शब्द गुण नहीं। और आकाश में शब्द गुण रहता है और सत्ता भी है तिस से आकाश और सत् वस्तु भिन्न २ हैं॥ ६२॥

या शक्तिः कल्पयेद्व्योम सासद्व्योम्नोरभिन्नताम्।
आपाद्य धर्मधर्मित्वं व्यत्ययेनावकल्पयेत्॥ ६३॥

शंका—जो आकाश सत् से उत्पन्न हुआ हो तो आकाश की सत्ता है यह प्रतीति न होवे, और आकाश सत्ता का है यह प्रतीति हो। जैसे मृत्तिका से बना हुआ जो घट है उस में मृत्तिका का घट है ऐसी प्रतीति होती है और घट की मिट्टी है ऐसी प्रतीति नहीं होती।

उत्तर—जिस माया शक्ति ने सत् वस्तु में आकाश रचा है उसने आकाश और सत् वस्तु का प्रथम अभेद कर दिया है, और पीछे धर्म धर्मी भाव को विपरीत कर दिया है। अर्थात् आकाशरूप धर्म को धर्मी करके दिखला दिया है और सत्तारूप धर्मी को धर्म कर दिखला दिया है, इस कारण आकाश की सत्ता है ऐसी प्रतीति होती है और सत्ता का आकाश है ऐसी प्रतीति नहीं होती। और वास्तव दृष्टि से विचार करने पर सत्ता का आकाश है, आकाश की सत्ता नहीं ॥ ६३ ॥

सतोव्योमत्वमापन्नं व्योम्नः सत्तां तु लौकिकाः
तार्किकाश्चावगच्छन्ति मायाया उचितं हि तत् ॥ ६४ ॥

अर्थ—पर अज्ञानी जन और नैयायिक आदि माया के भ्रम से आकाश की सत्ता है, ऐसा जानते हैं ॥ ६४ ॥

यद्यथा वर्तते तस्य तथात्वं भाति मानतः ।
अन्यथात्वं भ्रमेणेति न्यायोऽयं सार्वलौकिकः ॥६५॥

प्रश्न—माया ने उलट पुलट क्यों कर दी।

उत्तर—उलट पुलट करना माया का स्वभाव है, जैसे नीचे स्थान में जाना जल का स्वभाव है और पदार्थ को ठीक कर दिखाना यह ज्ञान का स्वभाव है यह युक्ति सब के अनुभव में सिद्ध है। जैसे मदारी के तमाशे में जो पदार्थ अग्नि में नहीं जल सकते वे जलते प्रतीत होते हैं। तैसे माया मनुष्य को और की और प्रतीति करा देती है, इस में क्या आश्चर्य ॥ ६५ ॥

एवं श्रुतिविचारात्प्राग्यथा सद्वस्तु भासते ।
विचारेण विपर्येति ततस्तच्चिंत्यतां वियत् ॥६६॥

अर्थ—इस प्रकार श्रुति के विचार से पूर्व जो आकाश सत् रूप प्रतीत होता था सो श्रुतियों के विचार से असत् रूपता को प्राप्त हो जाता है, तिससे तू भी आकाश का विचार कर ॥ ६६ ॥

भिन्नो वियत्सती शब्दभेदाद्बुद्धेश्च भेदतः ।
वाय्वादिष्वनुवृत्तं सन्नतु व्योमेति भेदधीः ॥ ६७ ॥

अर्थ—पीछे से यह विचार करना सत् वस्तु धर्मी है, आकाश उसका धर्म है, क्योंकि सत् वस्तु व्यापक है। अर्थात् सत्ता सब पदार्थों के साथ मिली हुई है, और आकाश सब पदार्थों के साथ मिला हुआ नहीं। क्योंकि पर्वत आकाशकैसा प्रतीत नहीं होता। और पर्वत सत् है यह प्रतीति होती है तिससे सत् सब पदार्थोंमें व्यापक है, जैसे तागा माला के सब दानों में व्यापक है, पर मणियों से भिन्न है, तैसे सत्ता सब पदार्थों में व्यापक है, और सब से भिन्न है। बुद्धि के भेद करके आकाश से सत्ता भिन्न होने पर कहो आकाश का क्या रूप है॥ ६८॥

अवकाशात्मकं तच्चेदसत्तदिति चिंत्यताम् ।
भिन्नंसतोऽसच्चनेति वक्ति चेद्व्याहतिस्तव ॥६९॥

अर्थ—वादी अवकाश रूप आकाश का है सिद्धांती आकाश का खाली रूप हो पर आकाश असत् है मन में यह निश्चय रख। क्यों कि तू कहता है कि आकाश सत्त से भिन्न है, फिर उसको असत् निश्चय नहीं करता यह बड़ा आश्चर्य है॥६९॥

भातीतिचेद्भातु नाम भूषणं मायिकस्य तत् ।
यदसद्भासमानं तन्मिथ्या स्वप्नगजादिवत् ॥ ७० ॥

शंका—जो आकाश असत् हो तो भान न हो और प्रत्यक्ष भान होता है। इसी से मेरी बुद्धि उसको असत् निश्चय नहीं करती।

उत्तर—आकाश भान होता है तो भासो पर सत् नहीं, जैसे स्वप्ने के हाथी आदि सत् नहीं और भान होते हैं, तैसे जो वस्तु असत् हो और भासे सो मिथ्या होती है तिस से आकाश का भासना गुण है, दोष नहीं, स्वप्ने के हाथी की तरह॥७०

जातिव्यक्ती देहिदेहौ गुणद्रव्ये यथा पृथक् ।
पार्थक्यं कोऽत्र विस्मयः वियत्सतोस्तथैवास्तु ॥ ७१ ॥

शंका—जो आकाश और सत्ता का भेद हो तो सत्ता के विना भी कभी आकाश की प्रतीत हो। जैसे गौ और घोड़े का भेद है तो गौ घोड़े के विना भी प्रतीति होती है। तिस से आकाश और सत्ता का भेद नहीं॥

उत्तर—जैसे नीलरूप और घट इकट्ठे प्रतीत होते हैं क्योंकि रूप के विना कोई घट किसी ने देखा नहीं, पर नीलरूप घट से भिन्न है क्योंकि घट विद्यमान होने पर

भी नीलरूप का नाश हो जाता है और लाल रूप पैदा हो आवता है । तैसे आकाश और सत् इकट्ठे प्रतीत होते हैं, पर भिन्न हैं । इस में तेरे को क्या आश्चर्य है और जैसे जीव और शरीर वा जाति और व्यक्ति इकट्ठे प्रतीत होते हैं, पर भिन्न २ हैं ॥७१॥

बुद्धोऽपि भेदो नो चित्ते निरूढिं याति चेत्तदा ।
अनैकाग्र्यात्संशयाद्वा रूढ्यभावोऽस्य ते वद ॥ ७२ ॥

शंका—मैंने आकाश और सत् का भेद जाना, पर मेरे चित्तमें दृढता नहींहोती
उत्तर—दृढता के न होने में दो कारण हैं । एक संशय, दूसरा विक्षेप ॥ ७२ ॥

अप्रमत्तो भवध्यानादाद्येऽन्यस्मिन्विवेचनम् ।
कुरुप्रमाणयुक्तिभ्यां ततो रूढतमो भवेत् ॥ ७३ ॥

अर्थ—जो तेरे को संशय है तो प्रमाण और युक्तियों से वारंवार विचार कर और जो विक्षेप है तो ध्यान कर उस से तेरे चित्तमें आकाश और सत् का भेद दृढ हो जायगा ॥ ७३ ॥

ध्यानान्मानाद्युक्तितोऽपि रूढे भेदे वियत्सतोः ।
न कदाचिद्वियत्सत्यं सद्वस्तुच्छिद्रवन्न च ॥ ७४ ॥

अर्थ—नदी धारावत् चित्त के प्रवाहरूप ध्यान से, प्रमाण से युक्तियों से जब आकाश और सत् वस्तु का भेद चित्त में दृढ हो जायगा तब आकाश कभी सत् न भान होगा सदा ही मिथ्या भान होगा और सत् वस्तु छिद्र रहित भान होगी ॥ ७४ ॥

ज्ञस्य भाति सदा व्योम निस्तत्त्वोल्लेखपूर्वकम् ।
सद्वस्त्वपि विभात्यस्य निश्छिद्रत्वपुरःसरम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—ज्ञानवान् पुरुष को नित्य सत्ता से रहित आकाश भान होता है और सत् वस्तु छिद्र से रहित भासती है॥ ७५ ॥

वासनायां प्रवृद्धायां वियत्सत्यत्ववादिनम् ।
सन्मात्रबोधयुक्तं च दृष्ट्वा विस्मयते बुधः ॥ ७६ ॥

अर्थ—जब आकाश और सद्वस्तु का भेद चित्त में दृढतम हो जाता है । तब ज्ञानवान् आकाश की सत्ता वाले को और सत्तामात्र के अज्ञान वाले को देख कर आश्चर्य को प्राप्त होता है । तिस से जब तक सत् वस्तु और आकाश का भेद चित्त में अत्यन्त दृढ न हो तब तक जिज्ञासु विचार करे ॥ ७६ ॥

एवमाकाशमिथ्यात्वे सत्सत्यत्वे च वासिते।
न्यायेनानेन वाय्वादेः सद्वस्तु प्रतिविच्यते ॥ ७७ ॥

अर्थ—जब इस प्रकार आकाश की मिथ्या रूपता और सत्वस्तु की सत्रूपता अत्यन्त दृढ़ बस जाय तब इसी न्याय से वायु आदि और सद्वस्तु का विवेक करना ॥ ७७ ॥

सद्वस्तुन्येकदेशस्था माया तत्रैकदेशगम्।
वियत्तत्राप्येकदेशगतोवायुः प्रकल्पितः ॥ ७८ ॥

शंका—आकाश से सत्वस्तु का विवेक करना तो यथार्थ है। क्यों कि आकाश सत्वस्तु का कार्य है। पवन और सद्वस्तु का विवेक करना अयुक्त है। क्यों कि सद्वस्तु और पवन की कार्य कारणता नहीं, इसी कारण पवन और सद्वस्तु का तादात्म्य नहीं जो तादात्म्य नहीं तो कैसे विवेक करना।

उत्तर—सद्वस्तु और पवन का परंपरा सम्बन्ध है, इस से सद्वस्तु और पवन का विवेक होना उचित है पवन और सद्वस्तु का परंपरा संबंध कैसे है? सत्वस्तु के एक देश में स्थित माया है, और माया के एक देश में आकाश स्थित है, और आकाश के एक देश में पवन है सो पवन कल्पित है। इस प्रकार परंपरा से सद्वस्तु और पवन का सम्बंध है ॥ ७८ ॥

शोपस्पर्शौ गतिर्वेगो वायुधर्मा इमे मताः।
त्रयः स्वभावाः सन्माया व्योम्नां ये तेपि वायुगाः ॥ ७९ ॥

अर्थ—सो विवेक किस प्रकार करना, एक सुकावना दूसरा वेग तीसरा चलना चौथा स्पर्श ये चार धर्म पवन में रहते हैं। और सत् माया आकाश इन तीनों के जो शील विशेष धर्म हैं ये भी पवन में विद्यमान हैं ॥ ७९ ॥

वायुरस्तीति सद्भावः सतोवायौ पृथक्कृते।
निस्तत्त्वरूपता माया स्वभावो व्योमगो ध्वनिः ॥ ८० ॥

अर्थ—वे धर्म कौन से हैं? वायु है यह व्यवहार पवन में सत्वस्तु से प्राप्त हुआ है और सत्वस्तु से पवन को पृथक् करने पर पवन में जो असार रूपता है, सो माया का धर्म दूसरा है और पवन में जो शब्द है सो आकाश से प्राप्त हुआ है यह आकाश का धर्म तीसरा है ॥ ८० ॥

सतोऽनुवृत्तिः सर्वत्र व्योम्नोनेति पुरेरितम् ॥
व्योमानुवृत्तिरधुना कथं न व्याहतं वचः ॥ ८१ ॥

शंका—आकाश के विवेक प्रसंग में तुमने यह कथन किया था कि सत् की प्राप्ति सब पदार्थों में है, और आकाश की प्राप्ति सब पदार्थों में नहीं, और अब कहते हो कि आकाश की प्राप्ति पवन में है। तिस से प्रथम वाक्य का और इस वाक्य का विरोध है ॥ ८१ ॥

छिद्रानुवृत्तिर्नेतीति पूर्वोक्तिरधुनात्वियम् ॥
शब्दानुवृत्तिरेवोक्ता वचसो व्याहतिः कुतः ॥ ८२ ॥

उत्तर-प्रथमवाक्य का और इस वाक्य का विरोध नहीं। क्योंकि प्रथम वाक्य में हमने यह कहा था कि आकाश का स्वरूप अवकाश है सो सब पदार्थों में नहीं रहता। और अब हमने यह कथन किया है कि आकाश का धर्म जो शब्द है सो पवन में रहता है इस कारण व्याघात दोष नहीं ॥ ८२ ॥

ननु सद्वस्तु पार्थक्या दसत्त्वं चेत्तदा कथम् ।
अव्यक्तमाया वैषम्यादमाया ममतापि नो ॥ ८३ ॥

शंका—सद्वस्तु से भिन्न होने से जो पवन को माया ममता है । अर्थात् यह पवन मिथ्या है, तो अप्रकट माया से भिन्न होने से पवन सत् क्यों न हो ॥ ८३ ॥

निस्तत्त्वरूपतैवात्र मायात्वस्य प्रयोजिका ।
सा शक्तिकार्ययोस्तुल्या व्यक्ताव्यक्तत्वभेदिनोः ॥ ८४ ॥

उत्तर-जिस वस्तु की अप्रकटता होती है सो मिथ्या है यह बात सत्य नहीं जो सत् से भिन्न है सो मिथ्या है। तिस से जैसे सत् से भिन्न माया मिथ्या है तैसे सत् से भिन्न पवन भी मिथ्या है।

सदसत्त्वविवेकस्य प्रस्तुतत्वात्स चिंत्यताम् ।
असतोऽवांतरो भेद आस्तां तच्चिंतयात्र किम् ॥८५ ।

शंका-जो पवन और माया तुल्य हैं, तो स्पर्श से पवन की प्रकटता और माया की अप्रकटता क्यों कर है।

उत्तर-तू और हम सत् और असत् का विचार कर रहे हैं। तिससे उसी का विचार करना चाहिये, प्रकट और अप्रकट ये असत् के अवांतर भेद हैं इन के विचार का कुछ प्रयोजन नहीं। क्योंकि असत् में अवांतर भेद तो बहुत हैं, उनके विचार में व्यर्थ आयु जाती है ॥ ८५ ॥

सद्वस्तु ब्रह्म शिष्टांशो वायुर्मिथ्या यथा वियत् ।
वासयित्वा चिरं वायोर्मिथ्यात्वं मरुतं त्यजेत् ॥ ८६ ॥

अर्थ–जैसे सत् से भिन्न आकाश मिथ्या है। तैसे सत् वस्तु से भिन्न जो पवन है सो मिथ्या है। जिज्ञासु जन चिरकाल तक विचार करके पवन को मिथ्या दृढ़ जान कर पवन सत् है इस बुद्धि का त्याग करें॥ ८७॥

चिंतयेद्वन्हिमप्येवं मरुतो न्यूनवर्त्तिनम्।
ब्रह्मांडावरणेष्वेपा न्यूनाधिकविचारणा ॥८७॥

अर्थ–आगे अग्नि का विचार करे, सो अग्नि पवन के दशवें हिस्से में रहता है। यह अग्नि आदि पंचभूतों की न्यूनता अधिकता ब्रह्मांड के आवरण में जाननी॥ ८७॥

वायोर्दशाँशतो न्यूनो वन्हिर्वायौ प्रकल्पितः।
पुराणोक्तं तारतम्यं दशांशैर्भूतपञ्चके॥ ८८॥

अर्थ–दश २ हिस्से पंचभूत न्यून और अधिक हैं। अर्थात् आकाश से दस हिस्से पवन न्यून है, और पवन से दस हिस्से अग्नि न्यून है, और अग्नि से दश हिस्से जल न्यून है, और जल से दश भाग पृथ्वी न्यून है, यह पंच भूतों की अधिकता न्यूनता पुराणों में कही है। तिस से अग्नि पवन के दशवें भाग में है॥ ८८॥

वन्हिरुष्णः प्रकाशात्मा पूर्वानुगतिरत्रच।
अस्ति वन्हिः सनिस्तत्वः शब्दवान् स्पर्शवानपि॥ ८९॥

अर्थ–सो अग्नि उष्ण है, और प्रकाशरूप है, और सत् १ माया २ आकाश ३ पवन ४ इन चारों के धर्म भी अग्नि में रहते हैं। अग्नि में सत्ता सत् ब्रह्म से प्राप्त हुई है। और सत्ता से भिन्न करने पर अग्नि में जो असत्ता है सो माया से प्राप्त है। और अग्नि में शब्द आकाश से प्राप्त है। अग्नि में स्पर्श पवन से प्राप्त हुआ है॥८९॥

सन्मायाव्योमवाय्वंशैर्युक्तस्याग्नेर्निजो गुणः।
रूपं तत्र सतः सर्वमन्यद्बुद्ध्या विविच्यताम्॥ ९०॥

अर्थ–और सत् आदि चारों के अंशों से युक्त जो अग्नि है उसका स्वकीय गुण रूप है। उन के मध्य में सत् वस्तु से पृथक् और सब धर्म मिथ्या हैं यह बुद्धि से जानना अर्थात् उन सब धर्मों के बीच सत्ता को भिन्न कर लेना। अर्थात् सत्ता से से रहित सभी मिथ्या है यह विचार कर बुद्धि से जानना॥ ९०॥

सतो विविचिते वन्हौ मिथ्यात्वे सति वासिते।
आपो दशांशतो न्यूनाः कल्पिता इति चिंतयेत्॥ ९१॥

अर्थ--इस तरह अग्नि को मिथ्या निश्चय कर जल का विचार करना सो जल अग्नि से दशवाँ हिस्सा न्यून है और जल अग्नि में कल्पित है॥ ९१॥

संत्यापोऽमूः शून्यतत्वाः सशब्दस्पर्शसंयुताः॥
रूपवत्योऽन्यधर्मानुवृत्त्या स्वीयोरसोगुणः॥ ९२॥

अर्थ--जल है यह सत्ता जल में सत्रूप ब्रह्म से प्राप्त है और सत्ता को पृथक् करने पर जल में जो असारता है, सो माया से प्राप्त है और शब्द स्पर्श रूप ये तीनों धर्म आकाश पवन और तेज से प्राप्त हैं जल में अपना धर्म रस है॥९२॥

सतो विवेचिता स्वप्सु तन्मिथ्यात्वे च वासिते॥
भूमिर्दशांशतो न्यूना कल्पिताप्स्वचिंतयेत्॥ ९३॥

अर्थ--सत् से जल का विवेक करने पर जल मिथ्या है। अर्थात् सत् से भिन्न जल असत् है, इस प्रकार जलके विचार से मिथ्यादृष्टि के दृढ़ होने पर पृथिवी का विचार करे सो पृथिवी जल से दश भाग न्यून है, और जल में कल्पित है, ऐसा विचार करे॥ ९३॥

अस्ति भूस्तत्वशून्यास्यां शब्दस्पर्शौ सरूपकौ।
रसश्च परतोगन्धो नैजः सत्ता विविच्यताम्॥ ९४॥

अर्थ--पृथ्वी में सत्ता सत्रूप ब्रह्म से प्राप्त है। और पृथिवी में असारता माया से प्राप्त है और पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस ये चारों आकाश, पवन, तेज, जल इन चारों से प्राप्त हैं और पृथिवी में अपना गुण गंध है॥ ९४॥

पृथक् कृतायां सत्तायां भूमिर्मिथ्यावशिष्यते।
भूमेर्दशांशतोन्यूनं ब्रह्मांडं भूमिमध्यगम्॥ ९५॥

अर्थ--सत्ता को पृथक् करने पर सब धर्मों से युक्त पृथिवी मिथ्या है। पृथ्वी की असत्य दृष्टि के दृढ होनेपर ब्रह्मांड का विचार करे। पृथिवीसे भाग न्यून ब्रह्मांड है और पृथ्वी के मध्य में स्थित है॥ ९५॥

ब्रह्मांडमध्ये तिष्ठंति भुवनानि चतुर्दश।
भुवनेषु वसन्तेषु प्राणिदेहा यथायथम्॥ ९६॥

अर्थ--ब्रह्मांड के मध्य में चौदह लोक स्थित हैं, और जिस लोक में जैसा २ शरीर होना चाहिये तैसा २ शरीर धारण करके वसते हुए चौदह लोकों में प्राणी रहते हैं॥ ९६॥

ब्रह्मांडलोके देहेषु सद्वस्तुनि पृथक् कृते ।
असंतोऽडादयो भांतु तद्भानेपीह का क्षतिः ॥ ९७ ॥

अर्थ--ब्रह्मांड चौदहलोक और सब शरीर इन सब से सत् वस्तु ब्रह्म के पृथक् करने पर ब्रह्मांड और लोक और शरीर असत् हुए २ भासते हैं । उनके भान होने पर कुछ हानि नहीं ॥ ९७ ॥

भूतभौतिकमायानामसत्त्वे सत्त्ववासिते ।
सद्वस्त्वद्वैतमित्येषा धीर्विपर्येति न क्वचित् ॥ ९८ ॥

अर्थ--पंचभूत और पंचभूतों का कार्य शरीर लोक और ब्रह्मांड और पंच भूतों का कारण माया इन सब में मिथ्या दृष्टि के दृढ़ होने पर सत् वस्तु अद्वैत है यह दृष्टि अर्थात् ऐसी बुद्धि कभी विषयों में नहीं लगती ॥ ९८ ॥

सदद्वैतात्पृथग्भूते द्वैते भूम्यादिरूपिणि ।
तत्तदर्थक्रिया लोके यथा दृष्टा तथैव सा ॥ ९९ ॥

शंका-पृथिवी आदि सब को मिथ्या होने पर ज्ञानवान् का सब व्यवहार लोप हो जायगा ।

उत्तर-मिथ्या दृष्टि के होने पर व्यवहार लोप नहीं होता । क्यों कि ज्ञानवान् ने पृथिवी आदि का स्वरूप तो लोप नहीं करा जैसे खाँड के हाथी को मिथ्या जानने पर उस में हाथी व्यवहार नहीं लोप होता । तिस से सत्रूप अद्वैत से भिन्न जो पृथिवी आदि द्वैत है । उस में अपने २ कार्य करने का जो धर्म है सो लोक में जैसा दीखता है तैसे ही रहो ॥ ९९ ॥

साँख्यकाणादबौद्धाद्यैर्जगद्भेदो यथा यथा ।
उत्प्रेक्ष्यतेऽनेकयुक्त्या भवत्येष तथा तथा ॥ १०० ॥

अर्थ-साँख्य और नैयायिक बौद्ध आदि ने जैसे २ अनेक युक्तियों से जगत् वर्ति पदार्थों का भेद कल्पित किया है सो तैसे २ रहो उन के खंडन करने का कुछ प्रयोजन नहीं । क्यों कि व्यवहारिक भेद तो हम भी अंगीकार करते हैं और भेद की सत्यता का हम खंडन करते हैं ॥ १०० ॥

अवज्ञातं सदद्वैतं निःशंकैरन्यवादिभिः ।
एवं का क्षतिरस्माकं तद्द्वैतमवजानताम् । १०१ ।

अर्थ-सांख्य आदि ने निःशंक हो कर सत् अद्वैत का खंडन किया है। इसी प्रकार सांख्य आदि के द्वैत का हम भी निः शंक हो कर खंडन करते हैं इसमें हमारी कुछ हानि नहीं ॥ १०१ ॥

द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेदद्वैतधीः स्थिरा भवेत्।
स्थैर्यं तस्याः पुमानेष जीवन्मुक्त इतीर्यते। १०२।

शंका-सांख्य आदि के द्वैत के खंडन में कुछ लाभ भी तो नहीं।

उत्तर-सांख्य आदि के द्वैत के खंडन में लाभ है। क्योंकि बारंबार इन के खंडन से अद्वैतबुद्धि दृढ़ हो जाती है। और अद्वैतबुद्धि के दृढ़ होने पर यह पुरुष जीवन्मुक्त होता है, और विदेहमुक्ति की प्राप्ति भी होती है ॥ १०२ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामंतकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति। १०३।

अर्थ-इसी बात को भगवान् गीता के दूसरे अध्याय में अर्जुन के प्रति कहते हैं हे अर्जुन यह जो ब्रह्मस्थिति मैंने तेरे प्रति कही है। पुरुष इस को प्राप्त होकर शोक, मोह को नहीं प्राप्त होता। अन्तसमय इस ब्रह्मरूप स्थिति में स्थित होकर निर्वाणरूप ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ १०३ ॥

सदद्वैतेऽनृतद्वैते यदन्योन्यैक्यवीक्षणम्।
तस्यान्तकालस्तद्भेदबुद्धिरेव न चेतरः ॥ १०४ ॥

अर्थ—अन्तकाल का अर्थ सत्रूप ब्रह्म जो अद्वैत है और मिथ्यारूप जो द्वैत है, इन दोनों का जो अन्योन्य अध्यास रूप ऐक्य भ्रम है उस भ्रम का अन्त काल सो यह है कि सत् रूप ब्रह्म को अद्वैत जानना और द्वैत रूप जगत् को मिथ्या जानना और इतर नहीं ॥ १०४ ॥

यद्वाऽन्तकालः प्राणस्य वियोगोऽस्तु प्रसिद्धितः।
तस्मिन्कालेऽपि न भ्रान्तेर्गतायाः पुनरागमः ॥ १०५ ॥

अर्थ-अथवा वर्त्तमान शरीर और प्राणों के वियोग को भी अन्त काल कहते हैं यह बात प्रसिद्ध है। उस मरण काल में भी भ्रांति दूर होने पर अर्थात् जगत् मिथ्या है ऐसी बुद्धि होने पर फिर जन्म नहीं होता क्यों कि ज्ञान की उत्पत्तिमात्र से पुरुष कृतकृत्य हो जाता है ॥ १०५ ॥

नीरोग उपविष्टो वा रुग्णो वा विलुठन् भुवि ।
मूर्छितो वा त्यजत्वेष प्राणान् भ्रान्तिर्न सर्वथा ॥ १०६ ॥

अर्थ—तिस कारण ज्ञानवान् चाहे किसी प्रकार शरीर का त्याग करे उस का जन्म नहीं होता। चाहे तो ज्ञानवान् सब रोगों से रहित सावधान पद्मासन लगा कर शरीर का त्याग करे, चाहे रोगों से ग्रसित पृथिवी में लोटता हुआ शरीर छोडे, चाहे मूर्च्छा को प्राप्त हुआ शरीर छोड़े, उस को लाभ हानि नहीं। क्यों कि सब जगत् को मिथ्या जानने से उस का भ्रम मिट गया है ॥ १०६ ॥

दिने दिने स्वप्नसुप्त्योरधीते विस्मृतेऽप्ययम् ।
परेद्युर्नानधीतः स्यात्तद्वद्विद्या न नश्यति ॥ १०७ ॥

अर्थ-प्राणों के वियोग समय मूर्छा आदि से ज्ञाननाश नहीं होता, इस में दृष्टाँत। जैसे प्रथम दिन का पढ़ा हुआ सुषुप्ति और स्वप्न में याद नहीं रहता पर अगले दिन वे पढ़ा तो नहीं हो जाता। तैसे मूर्छा आदि में ज्ञान की स्मृति न हो पर अज्ञानी नहीं होता ॥ १०७ ॥

प्रमाणोत्पादिता विद्याप्रमाणं प्रबलं विना ।
न नश्यति न वेदान्तात्प्रबलं मानमीक्ष्यते ॥ १०८ ॥

अर्थ-प्रमाणों से पैदा हुई विद्या प्रबल प्रमाणों के बिना नष्ट नहीं होती। और वेदान्त से प्रबल प्रमाण कोई नहीं दीखता ॥ १०८ ॥

तस्माद्वेदान्तसंसिद्धं सदद्वैतं न बाध्यते ।
अन्तकालेऽप्यतो भूतविवेकान्निर्वृतिः स्थिता ॥ १०९ ॥

अर्थ—तिस से वेदान्त प्रमाण से संसिद्ध अर्थात् जाना हुआ जो सत्यरूप अद्वैतब्रह्म है उस का अज्ञान कभी भी नहीं होता। अन्त समय भी पंचभूतों को मिथ्या जानने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। फिर जन्म नहीं होता ॥ १०९ ॥

इति श्री विद्यारण्यमुनीश्वरविरचित
पंचभूतविवेकः समाप्तः

अथ पञ्चकोषविवेकप्रकरणम्

श्रीगणेशाय नमः

गुहाहितं ब्रह्म यत्तत् पञ्चकोषविवेकतः ।
बोद्धुं शक्यं ततः कोष पञ्चकं प्रविविच्यते ॥ १ ॥

अर्थ—अथ पंचकोषविवेकः । यह पंचदशी का तीसरा प्रकरण है। किस लिये इस का प्रारम्भ है ?

तैत्तरीय उपनिषद् का तात्पर्य व्याख्यानरूप पंचकोष विवेकनाम प्रकरण का आरंभ करता हुआ आचार्य उस में श्रोता को प्रवृत्ति के अर्थ प्रयोजन सहित वाक्य को सूचना करता हुआ चिकीर्षित ग्रन्थ की प्रतिज्ञा करता है। यो वेद निहितं गुहायाँ परमेव्योमन् इस श्रुति से गुफा स्थान ब्रह्म का है यह सिद्ध हुआ। पंचकोश रूप गुफा में स्थित जो सच्चिदानन्द ब्रह्म है, उस को पंच कोश के विवेक द्वारा जान सकता है इस कारण पंचकोशों का विवेक करना चाहिये ॥ १ ॥

देहादभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः ।
ततः कर्त्ता ततो भोक्ता गुहासेयं परम्परा ॥ २ ॥

अर्थ—पंच कोश कौन से हैं ? एक स्थूल देहरूप अन्नमय कोश है, और देहके अन्तर्गत जो प्राण हैं सो प्राणमय कोश है, और प्राण के अन्तर्गत मनोमय कोश है, और मन के अन्तर् जो बुद्धि है सो विज्ञानमय कोश है, और बुद्धि के अन्तर् आनंद मय कोश है। सो यह पंचकोशों की परंपरा गुफा शब्द करके कही है इस में आत्मा स्थित है ॥ २ ॥

पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्धते ।
देहः सोऽन्नमयोनात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः ॥ ३ ॥

अर्थ—प्रथम अन्नमय कोश का स्वरूप और उसको अनात्मत्व दिखाते हैं। माता पिता ने खाया जो अन्न उस अन्न से पैदा हुआ जो रक्त और वीर्य उस रक्त और वीर्य से पैदा हुआ जो शरीर है और उत्पत्ति से पीछे जो माता के स्तनों में दूध

होता है इस दूध के पीने से और अन्न के खाने से जो शरीर बढ़ता है सो अन्नमय कोश है। जन्म से पूर्व और मरण से पीछे उसका अभाव होने से सो अन्न का विकार शरीर आत्मा नहीं। जैसे कार्य रूप घट आदि आत्मा नहीं ॥ ३ ॥

पूर्वजन्मन्यसन्नेतज्जन्म संपादयेत्कथम् ।
भाविजन्मन्यसत्कर्म न भुंजीतेह संचितम् ॥ ४ ॥

अर्थ--और जो शरीर को आत्मा माने तो पूर्व जन्म के किये हुये जो इस शरीर में पुण्य पाप हैं, उन का फल भोगे बिना नष्ट होना चाहिये। और इस शरीर में सुख दुःख भोगने पड़ते हैं उनका कारण कर्म इस शरीर से तो किया नहीं, और इस शरीर की उत्पत्ति से पूर्व आत्मा की विद्यमानता तू मानता नहीं, और इस शरीर का जन्म प्रत्यक्ष सिद्ध है। तिससे अकृताभ्यागमदोष प्राप्त हुआ। अर्थात् कर्म किये बिना ही फल भोगना पड़ा, तैसे ही भावि जन्म में इस देहरूप आत्मा का अभाव होने से किये हुए संचित कर्म का फल भोगे बिना ही नष्ट हुआ। क्योंकि फल भोक्ता देह के बिना आत्मा तू नहीं मानता। तिससे यहां कृत प्रणाश दोष प्राप्त हुआ अर्थात् किये हुये पुण्य पाप कर्म की व्यर्थता प्राप्त हुई। इससे आत्मा देह से भिन्न है। यह अंगीकार किया चाहिये, और देह अनात्मा है यह अंगीकार किया चाहिये ॥ ४ ॥

पूर्णोदेहे वलं यच्चाक्षाणां यः प्रवर्त्तकः ।
वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्यवर्जनात् ॥ ५ ॥

अर्थ—इस प्रकार अन्नमय कोश को अनात्मत्व दिखलाकर प्राणमय कोश का स्वरूप और उसको अनात्मत्व दिखलाते हैं। देह में मस्तक से लेकर पादपर्यन्त पूर्ण जो पवन है और सब इंद्रियों को और शरीर को जो पवन बल देकर प्रवृत्त करावता है, सो प्राणमय कोश है, सो प्राणमय कोश आत्मा नहीं क्योंकि यह घट आदि की तरह चेतनता से रहित है ॥ ५ ॥

अहंतां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः ॥
कामाद्यवस्थया भ्रांतो नासावात्मा मनोमयः ॥ ६ ॥

अर्थ—अब मनोमय कोश का स्वरूप और उसको अनात्मत्व कहते हैं। देह में जो अहंकार कर्ता है, और घर आदि में जो ममता कर्ता है, और काम क्रोध आदि से भ्रम को प्राप्त होता है, सो मनोमय कोश है यह मनोमय कोश आत्मा नहीं क्यों

कि जो एकरस स्वभाववाला नहीं कामक्रोध आदि अनेक विकारवाला है। तिस से यह सिद्ध हुआ कि मनोमय कोश आत्मा नहीं विकारवान् होने से, शरीर की नाईं॥६॥

लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा।
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयशब्दभाक्॥ ७॥

अर्थ—अब कर्तृ शब्द वाच्य विज्ञानमय कोश का स्वरूप और उसको अनात्मत्व दर्शाते हैं। चैतन्य के प्रतिबिंब सहित जो बुद्धि है, सो सुषुप्तिकाल में अर्थात् उस के अज्ञान में लीन हो जाती है, और जाग्रत् अवस्था में सारे शरीर में व्याप्त होकर रहती है, ऐसी बुद्धि का नाम विज्ञान कोष है सो विज्ञानकोश आत्मा नहीं, लय आदि स्वभाववान् होने से घट आदिकों की नाईं॥ ७॥

कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां विक्रियेतांतरिंद्रियम्।
विज्ञानमनसी अन्तर्बहिश्चैते परस्परम्॥ ८॥

शँका—एक ही अन्तःकरण मन और बुद्धिरूप को प्राप्त है। तिससे एक ही अंतःकरण मनोमय और विज्ञानमय कोश इन दो रूपों को कैसे प्राप्त हुआ।

उत्तर—एक ही अन्तःकरण कर्तारूप होने से विज्ञानमय कोश कहाता है। और कारणरूप होने से मनोमय कोश कहाता है, सो विज्ञानमय कोश अन्तर् है, और मनोमय कोश बाहर है। जैसे एक ही पुरुष प्रजा के अनुभव से हाकिम होता है और राजा के अनुभव से नौकर होता है, तैसे एक ही अन्तःकरण मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश दो रूपों को प्राप्त है॥ ८॥

काचिदंतर्मुखावृत्तिरानंदप्रतिबिंबभाक्॥
पुण्यभोगे भोगशांतौ निद्रारूपेण लीयते॥ ९॥

अर्थ—अब भोक्तृ शब्द वाच्य आनन्दमय कोश को अनात्मत्व दिखलाने के लिये उस का स्वरूप कहते हैं पुण्यरूप कर्मों का फल जो सुख है उस सुख के अनुभव समय अन्तर्मुख हुई जो कोई एक मन की वृत्ति है, सो मन की वृत्ति आनन्दरूप आत्मा के प्रतिबिंब को ग्रहण करती है, सो वृत्ति भोगसमाप्त होने पर निद्रारूप करके लीन हो जाती है। ऐसी वृत्ति का नाम आनन्दमय कोश है सो आनन्दमय कोश आत्मा नहीं, कभी २ होने से, घिउआदि की नाईं॥ ९॥

काचिदाचित्कत्वतोऽनात्मा स्यादानंदमयोऽप्ययम्।
विंबभूतो य आनन्द आत्माऽसौ सर्वदा स्थितः॥ १०॥

शंका-आनन्दमय आदि पंचकोश प्रतीत होते हैं उन को आत्मरूपता के निषेध करने पर शून्यवाद प्राप्त होता है।

उत्तर—शून्यवाद नहीं प्राप्त होता। क्यों कि सुखाकार वृत्ति में जिस का प्रतिबिंब पड़ता है, सो बिंबभूत आत्मा है। क्यों कि जो यह सदा एकरस स्वभाव से स्थित है तिस से यह सिद्ध हुआ कि अन्तःकरण में जिस का प्रतिबिंब पड़ता है, सो प्रतिबिंबरूप आत्मा है. नित्य होने से जो आत्मा नहीं सो नित्य भी नहीं। जैसे शरीर आदि आत्मा नहीं सो नित्य भी नहीं और आकाश आदि उत्पत्ति विनाशवान् होने से अनित्य हैं। इस श्लोक के दो पदों का अर्थ प्रथम श्लोकार्थ के साथ प्रसंग से लिखा गया है॥ १०॥

ननु देहमुपक्रम्य निद्रानंदांतवस्तुषु।
माभूदात्मत्वमन्यस्तु न कश्चिदनुभूयते ॥ ११ ॥

शंका—शरीर से आदि लेकर निद्रासमय प्रतीत होता जो आनन्द है, यहां पर्यन्त जो पंचकोश प्रतीत होते हैं। उन को तुम्हारी कथन करी हुई युक्तियों से आत्मरूपता जो नहीं बनती तो मत बनो। पर इन से भिन्न तो आत्मा नहीं प्रतीत होता। तिस से निरात्मवाद प्राप्त हुआ। क्यों कि जो इन से भिन्न और कोई जो आत्मा होता तो प्रतीत होता॥ ११॥

बाढं निद्रादयः सर्वेऽनुभूयंते न चेतरः।
तथाप्येतेऽनुभूयंते येन तं को निवारयेत् ॥ १२ ॥

उत्तर—शरीर से आदि लेकर निद्रा आनन्दपर्यन्त पंचकोश प्रतीत होते हैं, और इन से भिन्न आत्मा नहीं प्रतीत होता। यह तेरा कथन यथार्थ है। पर तौ भी इन पंचकोशों से भिन्न आत्मा है क्योंकि जो इन पंचकोशों से भिन्न आत्मा न हो तो इन पंचकोषों को कौन जाने? तिस से जो इन पंचकोषों को जानने वाला है सो आत्मा है, उस को क्यों नहीं अंगीकार करता॥ १२॥

स्वयमेवानुभूतित्वाद्विद्यतेनानुभाव्यता।
ज्ञातृज्ञानान्तराभावादज्ञेयो न त्वसत्तया ॥ १३ ॥

शंका—इन पंचकोषों से भिन्न जो आत्मा हो तो प्रतीत होवे और इनसे भिन्न आत्मा प्रतीत तो नहीं होता, इस कारण आत्मा नहीं है॥

उत्तर—आनन्दमय आदि पंचकोषों का साक्षी जो आत्मा है सो अनुभवरूप है, तिस से अनुभव का विषय नहीं॥

शंका—अनुभवरूप आत्मा भी अनुभव का विषय क्यों न हो ॥

उत्तर—अनुभवरूप आत्मा अनुभव का विषय नहीं होता क्योंकि जो अनुभव का विषय होता है सो अनुभव करने वाले से भिन्न होता है और आत्मा तो अनुभवरूप है और सब के अनुभव करने वाला है तिस से अनुभव का विषय कैसे हो और जो अनुभव का विषय है सो अनुभवरूप नहीं ॥

शंका—आत्मा अनुभव का विषय नहीं, इस बातको तुम और मैं दोनों मानतेहैं, इस में कुछ विवाद नहीं, पर आत्मा के अभाव से आत्मा का अनुभव नहीं होता अथवा आत्मा से भिन्न अनुभव के अभाव करके आत्मा का अनुभव नहीं होता। क्या आत्मा से भिन्न अनुभव करने वाले के अभाव से आत्मा का अनुभव नहीं होता, इस विवाद को दूर करने वाली युक्ति मेरे प्रति कहो ॥

उत्तर—आत्मा तो सदा विद्यमान है, पर आत्मा के अनुभव करने वाला और कोई नहीं, आत्मा से भिन्न अनुभव भी नहीं इस से आत्मा नहीं प्रतीत होता और आत्मा के अभाव से आत्मा नहीं प्रतीत होता यह बात नहीं। क्योंकि जो आत्मा का अभाव हो तो अनात्म पदार्थों की सिद्धि कैसे हो। इस से सब पदार्थों की साधकता रूप करके आत्मा सदा विद्यमान है ॥ १३ ॥

माधुर्यादिस्वभावानामन्यत्रस्वगुणार्पिणाम् ।
स्वस्मिंस्तदर्पणापेक्षा नो न चास्त्यन्यदर्पकम् ॥ ॥ १४ ॥

उत्तर-अनुभवरूप आत्मा का अनुभव नहीं होता इस पर दृष्टान्त सुन, जैसे मधुर स्वभाव वाले जो गुड़ आदि हैं, उन को मधुर करने वाले की अपेक्षा नहीं कि इस को कोई एक आकर मधुर करे और जगत् में ऐसा कोई पदार्थ है भी नहीं जो गुड़ को मधुर करे और गुड़ सब चने चावल आदि पदार्थों को मधुर करता है ॥१४॥

अर्पकांतरराहित्येऽप्यस्त्येषां तत्स्वभावता ।
माभूत्तथानुभाव्यत्वं बोधात्मा तु न हीयते ॥१५॥

अर्थ—दृष्टान्त सहित फलित कहते हैं। गुड़ के मधुर करने वाला जगत् में कोई पदार्थ नहीं पर तो भी गुड़ मधुर स्वभाव है। इसी प्रकार अनुभवरूप आत्मा को अपने अनुभव करने वाले की आकांक्षा नहीं और जगत् में ऐसा कोई पदार्थ भी नहीं जो आत्मा का अनुभव कर सके और आत्मा सबका अनुभव करता है आत्मा के अनुभव करने वाले का अभाव होनेपर भी आत्मा की अनुभवरूपता सदा बनी है ॥१५॥

स्वयं ज्योतिर्भवत्येष पुरोऽस्माद्भासतेऽखिलात् ।
तमेव भांतमन्वेति तद्भासा भास्यते जगत् ॥ १६ ॥

अर्थ—इस अर्थ में वेदवाक्य भी प्रमाण है। स्वप्न अवस्था में आत्मा अपने प्रकाश से प्रकट होता है क्योंकि जो जाग्रत्-अवस्था में सूर्य आदि प्रकाश करने वाले हैं। स्वप्न में उनका अभाव है और आत्मा सब प्रकाशकों से प्रथम प्रकाशता है अपने प्रकाश से और आत्मा के प्रकाश से पश्चात् सूर्य आदि प्रकाश करते हैं सम्पूर्ण, सो सूर्य आदि में अपना प्रकाश नहीं, सब आत्मा के प्रकाश से प्रकाशते हैं जैसे घोड़ियों के चलने से रथ चलता है और रथ में वे घोड़ों के अपने आप चलने की सामर्थ्य नहीं ॥ १६ ॥

येनेदं जानते सर्वं तत्केनान्येन जानताम् ।
विज्ञातारं केन विद्याच्छक्तं वेद्ये तु साधनम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिस से इस सब दृश्यमान को प्राणी जानते हैं, उस को और किस से जाने। जो सब के जानने वाला है उसको किस करके जाने ये दो वाक्य वेद के इस में प्रमाण हैं, जिस साक्षी चैतन्यरूप आत्मा से जीव सब दृश्यमात्र को जानते हैं। उस साक्षी रूप आत्मा को किस साधन रूप जड़ वस्तु से जाने पुरुष।

शंका—उसको मन से जानेंगे।

उत्तर—मन दृश्य वस्तु के ज्ञान का साधन है और विज्ञाता जो आत्मा है उसके जानने का साधन नहीं, इसी अर्थ को वेद भी कहता है। आत्मा वाणी से भी नहीं जाना जाता और मनसेभी नहीं जानाजाता और मनसे जो आत्मा जाना जाय तो उस के जानने वाला कौन है। जो कहो कि आत्मा ही जानने वाला है। तो आप ही द्रष्टा और आप ही दृश्य हुआ, यह बात तो विरुद्ध है। जैसे अग्नि अग्नि को प्रकाशता है और अग्नि अग्नि को जलाता है, यह बात विरुद्ध है ॥ १७ ॥

स वेत्ति वेद्यं तत्सर्वं नान्यस्तस्यास्ति वेदिता ।
विदिताविदिताभ्यां तत्पृथग्बोधस्वरूपकम् ॥१८॥

अर्थ—और आत्मा को स्वप्रकाशता में वेदके दो वाक्य और भी प्रमाण हैं, एक तो यह है कि आत्मा के जानने वाला कोई नहीं, और दूसरा वाक्य यह है कि जो वस्तु जानी जाती है और जो नहीं जानी जाती उन दोनों से आत्मा भिन्न है, जो वस्तु जानी जाती हैं, उन सब वस्तुओं के जानने वाला आत्मा है और आत्माबोध

स्वरूप है, सो आत्मा ज्ञानका जो विषय वस्तु है, और अज्ञानसे जो वस्तु आच्छादित है, उन दोनों से पृथक् है अर्थात् बोधस्वरूप होने से विलक्षण है ॥१८॥

बोधेऽप्यनुभवो यस्य न कथंचन जायते ।
तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्ठं नरसमाकृतिम् ॥ १९ ॥

शंका-विदित और अविदित से अतिरिक्त अर्थात् पृथक् बोध का अनुभव नहीं होता ।

उत्तर-विदित और अविदित से पृथक् जो बोध का अनुभव न हो, तो विदित वस्तु का भी अनुभव न हो, क्योंकि विदित नाम किसका है ? जो ज्ञान का विषय है उसका नाम विदित है, तिससे ज्ञान के प्रकाश से पीछे विषय का प्रकाश होता है । इस कारण प्रथम प्रकाशमान ज्ञान का नाम बोध है, तिससे बोध का अनुभव अवश्य स्वीकार करना चाहिये, और जिस मूढ़को बोध होने परभी अर्थात् घटआदि पदार्थों का स्फुरणरूप होने पर भी अनुभव साक्षात्कार किसी तरह भी न हो, नर के आकार वाले मृत्तिका की नाई उस जड़ मनुष्य को शास्त्र कैसे उपदेश करे । दूसरा अर्थ जिस मूढ़ को ऐसे प्रथम प्रकाशमान बोध का अनुभव न हो, वह पुरुष मनुष्य के आकार वाला तो है पर मिट्टी के तुल्य है, उस जड़ को शास्त्र कैसे बतावे ॥१९॥

जिव्हा मेऽस्ति न वेत्युक्तिर्लज्जायै केवलं यथा ।
न बुध्यते मया बोधो बोद्धव्य इति तादृशी ॥२०॥

अर्थ-मैं बोध को नहीं जानता ऐसा जो कहना है सो हाँसी के योग्य है, क्यों कि बोध के बिना यह कथन नहीं बनता, इस में दृष्टान्त, जैसे कोई सभा में आकर यह प्रश्न करे, कि मेरे मुख में जिव्हा है या नहीं, यह कथन केवल लज्जा के लिये है अर्थात् इस प्रश्न को सुनकर बुद्धिमान हंसते हैं, क्योंकि जिव्हा के बिना तो यह प्रश्न ही नहीं बनता, तिससे यह प्रश्न मूढ़ता के जनावने वाला है, बुद्धिमत्ता के जनावने वाला नहीं, तैसे मैं बोध नहीं जानता और इससे आगे मेरे को बोध जानने योग्य है, यह कथन भी हाँसी के लायक है । क्योंकि बोध के बिना यह कथन नहीं बनता ॥

यस्मिन्यस्मिन्नस्ति लोके बोधस्तत्तदुपेक्षणे ।
यद्बोधमात्रं तद्ब्रह्मेत्येवन्धीर्ब्रह्मनिश्चयः ॥ २१ ॥

शंका-सब से प्रथम प्रकाशमान बोध हो, पर ब्रह्मबोध के प्रसंग में क्या सिद्ध हुआ ॥

उ०—ब्रह्मबोध में यह सिद्ध हुआ । जगत् में जिस २ वस्तु का बोध होता है, उस २ सब वस्तु के त्यागने पर, सब वस्तुओं का प्रकाशक जो बोध है, सो ब्रह्म है। ऐसी बुद्धि का नाम ब्रह्म निश्चय है अर्थात् जो बोधमात्र वस्तु है, सो ब्रह्म है। इस बुद्धि का नाम ब्रह्मज्ञान है ॥ २१ ॥

पंचकोशपरित्यागे साक्षिबोधावशेषतः ।
स्वस्वरूपं स एव स्याच्छून्यत्वं तस्य दुर्घटम् ॥ २२ ॥

शंका-जो घट आदि पदार्थों के त्यागने घट आदि पदार्थों का प्रकाशक अनुभव ब्रह्म रूप जाना जाय, तो पंचकोशों का विवेक व्यर्थ हुआ । क्योंकि जिज्ञासु को जो ब्रह्मज्ञान चाहिये था, सो तो घट आदि पदार्थों का प्रकाशक जो अनुभव है सो ब्रह्म है ऐसा सिद्ध हुआ तो पंचकोशों के विवेक का कुछ प्रयोजन रहा ॥

उ०—जब तक ब्रह्म की आत्मरूपता प्रतीत न हो, तब तक जन्म मरण की निवृत्ति नहीं होती और पंचकोशों का विवेक ब्रह्म की आत्मरूपता प्रतीत होने का कारण है। तिस से पंचकोशों का विवेक व्यर्थ नहीं। अन्नमय आदि पंचकोशों का परित्याग करने पर अर्थात् बुद्धि से उन की अनात्मता को निश्चय करने पर उन का साक्षीरूप जो बोध है, सोई मेरा वास्तव स्वरूपब्रह्म है । क्योंकि पंचकोशों की अनात्मता निश्चय होने के पीछे बोध ही बाक़ी रहता है इस से वह ही ब्रह्म है।

शंका—अनुभव सिद्ध पंचकोशों के त्यागने पर, शून्यता शेष अर्थात् बाक़ी रहती है ॥

उ०—उस साक्षीरूप बोध को शून्यता दुर्घट है अर्थात् नहीं बनती ॥ २२ ॥

अस्ति तावत्स्वयं नाम विवादाविषयत्वतः ।
स्वस्मिन्नपि विवादश्चेत्प्रतिवाद्यत्र को भवेत् ॥ २३ ॥

उ०—इस दुर्घटत्व में युक्ति सुन । पंचकोश आदिका त्याग करने वाला साक्षी चैतन्य कैसे शून्य हो क्योंकि उस साक्षी चैतन्यके बिना शून्य की सिद्धि नहीं होती मैं हूं इस प्रतीति का विषय आत्मा है ऐसा सब शास्त्र वाले और लौकिक मनुष्य मानते हैं। इस में विवाद किसी का नहीं और जो इस में विवाद हो तो इस में विवाद करने वाला वादी कौन है, सो तो कोई वादी नहीं । दूसरा अर्थ स्वयं शब्द वाच्य अपना स्वरूप लोक और वेद के मत में प्रसिद्ध है क्योंकि अपने स्वरूप को

विप्रतिपत्ति विषयत्वका अभाव है। जो विपक्षमें बाधक कहते हैं जो अपनेमेंभो विप्रतिपत्ति हो तो प्रतिवादी कौन हो कोई भी नहीं ॥ २३ ॥

स्वासत्वं तु न कस्मैचिद्रोचते विभ्रमं विना।
अतएव श्रुतिर्बाधं ब्रूतेचासत्ववादिनः ॥ २४ ॥

शंका—स्वासत्व वादीही प्रतिवादी होगा; उत्तर-तथा-विध कोई नहीं अर्थात् जगत्में ऐसा कोई नहीं करता कि मैंनहीं, भ्रम के बिना अपनी असत्ता किसी अवस्था में किसी ने भी अंगीकार नहीं करी, क्योंकि अपनी असत्ता की रुचि किसी को नहीं इसी कारण श्रुति असत्वादी के बाध को कहती है ॥ २४ ॥

असद्ब्रह्मेति चेद्वेद स्वयमेव भवेदसत्।
अतोऽस्य मा भूद्वेद्यत्वं स्वसत्वं त्वभ्युपेयताम् ॥ २५ ॥

उ०—जो पुरुष ब्रह्मको असत् जानता है, सो आप ही ब्रह्मके असत् जानने से असत् हो जाता है, क्यों कि जो ब्रह्म अपने आप है इतने सें जो सिद्ध हुआ सो सुन, ब्रह्म को अनुभव विषयता मत हो, पर ब्रह्म की सत्ता अंगीकार करनी चाहिये ॥ ५२ ॥

कीदृक् तर्हीति चेत्पृच्छेदीदृक्ता नास्ति तत्र हि।
यदनीदृग तादृक् च तत्स्वरूपं विनिश्चिनु ॥ २६ ॥

प्रश्न—जो आत्मा अनुभव का विषय नहीं तो उस का कैसा स्वरूप है, जो किसी तरह का आत्मा का स्वरूप कहोगे, तो उसी स्वरूप से आत्मा अनुभव का विषय होगा, और जो कहो कि आत्मा का स्वरूप किसी तरह का भी नहीं तो शून्यता प्राप्त होगी ॥

उ०—आत्मा कैसा है आत्मा तैसा है यह कथन आत्मा में नहीं बनता क्योंकि कैसा कहना और तैसा कहना तो अनात्म वस्तु में बनता है, तिस से कैसे और तैसे कथन से जो रहित है सो आत्मा है, ऐसे निश्चय कर ॥ २६ ॥

अक्षाणां विषयस्त्वीदृक् परोक्षस्तादृगुच्यते।
विषयीनाऽक्षविषयः स्वत्वान्नाऽस्य परोक्षता ॥२७॥

अर्थ—प्रतिज्ञामात्र से अर्थ की सिद्धि नहीं होती ऐसी शंका कर ईदृक् और तादृक् शब्द के अर्थ को कहते हुए इन दोनों शब्दों करके आत्मा अवाच्य है यह कहते हैं, जो इंद्रियों का विषय है उसमें ऐसा है यह कथन बनता है, अर्थात् प्रत्यक्ष घटादि पदार्थ ईदृक् शब्द करके वाच्य हैं, यह वार्ता संसार में सब कोई मानते हैं और देखते

भी हैं और आत्मा तो इन्द्रियों का विषय नहीं, क्यों कि जो सबको विषय करने वाला है, और जो परोक्ष होता है उसमें तैसा है यह कथन होता है, अर्थात् परोक्ष पदार्थ तादृक् शब्द करके वाच्य है, और आत्मा तो परोक्ष नहीं, क्योंकि आत्मा नाम तो अपने आप का है, अपने आप कभी परोक्ष नहीं होता ॥ २७ ॥

अवेद्योऽप्यपरोक्षोऽतः स्वप्रकाशो भवत्ययम् ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम् ॥२८॥

अर्थ—और आत्मा शून्यभी नहीं क्योंकि इन्द्रियजन्यज्ञान का विषय न होनेपर भी अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष होने से यह आत्मा स्वप्रकाश है, तिस से यह सिद्ध हुआ कि (आत्मा स्वप्रकाशःसंविदकर्मतामंतरेणापरोक्षत्वात् संवेदनवदिति) अर्थ आत्मा स्वप्रकाश है, अनुभव का विषय न होकर अपरोक्ष होने से संवेदन की नाईं, जो स्वप्रकाश नहीं होता सो अनुभव का विषय होकर प्रत्यक्ष होता है, जैसे घट आदि पदार्थ और आत्मा तो स्वप्रकाश है, इससे अनुभव विषय न होकर प्रत्यक्ष है; आत्मा की स्वप्रकाशता हो, पर उसको ब्रह्मरूपता कैसे है, क्योंकि ब्रह्म का लक्षण तो कोई है ही नहीं ।

उत्तर—वेद ने ब्रह्म का लक्षण सत् चित् अनंत रूप कहा है, सो आत्मा में दीखता है, तिससे आत्मा ब्रह्म है ॥२८॥

सत्यत्वं बाधराहित्यं जगद्बाधैकसाक्षिणः ।
बाधः किं साक्षिको ब्रूहि नत्वसाक्षिक इष्यते ॥२९॥

अर्थ—आत्मा की सत्यता दिखाने के लिये प्रथम सत्य का लक्षण कहते हैं, सत्य नाम उसी का है जिसका कभी अभाव न हो, सो आत्मा का कभी अभाव नहीं होता, जिस कारण आत्मा सर्व जगत् का साक्षी है, और उस जगत् के अभाव का साक्षी है स्थूल सूक्ष्म शरीरादि रूप जगत् का अभाव सुषुप्ति मूर्छा समाधि में होता है । उस की साक्षी रूपता करके विद्यमान जो आत्मा है, उसका अभाव कभी नहीं होता । तिस कारण आत्मा सत्य है, और जो कहो आत्मा का अभाव होता है तो बताओ आत्मा के अभाव का साक्षी कोई है, क्या नहीं जो कहो साक्षी कोई नहीं, तो आत्मा का अभाव सिद्ध न हुआ क्योंकि साक्षी के बिना किसी की सिद्धि नहीं होती और जो कहो कि आत्मा के अभाव की सिद्धि साक्षी के बिना भी होती है, तब वंध्या के पुत्र और खरगोश के सींग और आकाश के फूल भी सिद्ध हों, सो तो नहीं सिद्ध होते । तिस से साक्षी के बिना आत्मा का अभाव भी नहीं सिद्ध होता ॥ २९ ॥

अपनीतेषु मूर्तेषु ह्यमूर्तं शिष्यते वियत् ।
शक्येषु बाधितेष्वंते शिष्यते यत्तदेव तत् ॥ ३० ॥

अर्थ—और जो कहो कि आत्मा के अभाव का कोई साक्षी है, तो वह साक्षी आत्मा है या अनात्मा है, अनात्मा तो आत्मा के अभाव का साक्षी नहीं हो सक्ता जड़ होने से, 'साक्षी होना तो चेतन का स्वभाव है, और आत्मा भी आत्मा के अभाव का साक्षी नहीं क्यों कि जो अभाव के पीछे रहता है, सो अभाव का साक्षी होता है। तिससे आत्मा का जो अभाव हो तो पीछे शेष आत्मा तो नहीं रहा, इस से आत्मा आत्मा के अभाव का साक्षी कैसे हो। तिस से नेति नेति इस श्रुति से शक्येषु बाधितेष अर्थात् सबका बाध अर्थात् अभाव करने पर जो पीछे शेष रहता है, सो आत्मा है जैसे घर में हाथ से ग्रहण करने लायक पदार्थों को बाहर निकालने पर जो पीछे शेष रहा है अशक्य अर्थात् न हाथ से पकड़ने के लायक और न बाहर निकालने के लायक सो आकाश है ॥ ३० ॥

सर्वबाधेन किंचिच्चेद्यन्न किंचित्तदेव तत् ।
भाषा एवाऽत्र भिद्यंते निर्बाधं तावदस्ति हि ॥ ३१ ॥

शंका—सब का बाध करने पर पीछे कुछ शेष नहीं रहता क्यों कि जो २ पदार्थ प्रतीत होते हैं उन सब का बाध होने पर बाकी तो कुछ नहीं रहता इस से तुम कैसे कहते हो कि सब का बाध होने पर पीछे जो शेष है सो आत्मा का स्वरूप है।

उत्तर—सब के बाध से पीछे कुछ शेष नहीं रहता, इसका तुझे अनुभव हुआ या नहीं। जो कहो उसका अनुभव न हुआ तो उसका कथन कैसे बने, और जो कहो उस का अनुभव हुआ है, तो जो सब के अभाव का अनुभव करने वाला है, सो आत्मा तेरा स्वरूप है, तिस से जो सब के अभाव का साक्षी है, उसका नाम तू पीछे कुछ नहीं रखता है, और हम उस का नाम आत्मा रखते हैं, तिस से नाम मात्र में भेद हुआ, वस्तु में भेद न हुआ, जैसे कनक एक पदार्थ है, उस का नाम किसी ने कनक कहा और किसी ने गेहूं कहा, तो नाम मात्र में भेदहै वस्तुमें कुछ भेद नहीं॥३१॥

अत एव श्रुतिर्बाध्यं बाधित्वा शेषयत्यदः ।
स एष नेति नेत्यात्मेत्यतव्द्यावृत्ति रूपतः ॥ ३२ ॥

अर्थ—कहे हुये अर्थ को श्रुति से मजबूत करते हैं, जिस से सब के बाध का साक्षी चैतन्य अबाध रूप विद्यमान है, इसी से यह आत्मा स्थूल भी नहीं, और

सूक्ष्म भी नहीं, इसी प्रकार नेति नेति यह वेद की श्रुति भी स्थूल सूक्ष्म सब अनात्म पदार्थों के निषेध करके साक्षी चैतन्य को आत्मता प्रतिपादन करे ॥ ३२ ॥

इदं रूपं तु यद्यावत्तत्त्यक्तुं शक्यतेऽखिलम् ।
अशक्योह्य निदंरूपः स आत्मा बाधवर्जितः ॥ ३३ ॥

अर्थ—इदंता करके प्रतीत होती जो सब वस्तु है, सो त्यागने के लायक़ है, और जो इदंता करके प्रतीत नहीं होता सो त्याग करने के योग्य नहीं क्यों कि त्याग करने वाले के स्वरूप का त्याग नहीं बनता जो त्यागने लायक़ नहीं सोई आत्मा है ३३

सिद्धं ब्रह्मणि सत्यत्वं ज्ञानत्वं तु पुरेरितम् ।
स्वयमेवानुभूतित्वादित्यादिवचनैः स्फुटम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—तिस से ब्रह्म लक्षण में जो सत्यता वर्णन करी थी सो आत्मा में सिद्ध हुई और आत्मा को ज्ञान रूपता तो प्रथम ही वर्णन कर आए हैं आत्मा आप ही अनुभव रूप है अनुभव का नहीं इत्यादि वचनों से ॥ ३४ ॥

न व्यापित्वाद्देशतोऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः ।
न वस्तुनोऽपि सार्वात्म्यादानंत्यँ ब्रह्मणि त्रिधा ॥ ३५ ॥

अर्थ—अब आत्मा की अनन्ता वर्णन करते हैं। जो अन्त से रहित हो उसे अनन्त कहते हैं सो अन्त तीन प्रकार का है अंत नाम अभाव का है जिस वस्तु का किसी एक देश में अभाव हो सो देश से अन्त कहाता है सो परिछिन्न पदार्थों का होता है जैसे घटा आदि का और ब्रह्म सब देशों में व्यापक होने से उसका देश से अन्त नहीं और काल से अन्त उनका होता हैं जो उत्पत्ति विनाश वाला है जैसे घट आदि ब्रह्म तो उत्पत्तिविनाश से रहित है तिस से उसका काल करके नाश नहीं और जो वस्तु दूसरी वस्तु के रूप को नहीं प्राप्त होती जैसे घट पट रूप को नहीं प्राप्त होता तो उन का पट से अंत है और ब्रह्म तो सर्व रूप है तिस से ब्रह्म का वस्तु से अंत नहीं जिन कारण देश काल और अन्य वस्तु इन तीनों को माया से कल्पित होने से इन तीनों ब्रह्म का अंत नहीं बनता तिस से ब्रह्म की अनन्तता प्रकट है। तहाँ श्रुति प्रमाण ।

(नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं आकाशवत्सर्वगतश्चनित्यः नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां इदं सर्वं यदयमात्मा ॥ सर्वंह्येतद्ब्रह्म ब्रह्मैवेदंसर्वं") ॥

अर्थ—ब्रह्म नित्य है सब से बड़ा है सब में प्राप्त अर्थात् सर्वव्यापक है अति सूक्ष्म है जो यह आत्मा है सो आकाश की नाईं सब में व्यापक है नित्य है नित्य वस्तुओं में नित्य है चेतनों के मध्य में चेतन है यह सब रूप है यह सब जगत् ब्रह्मरूप है और व्यापक होने से ब्रह्म जगत् रूप है ॥ ३५ ॥

देशकालान्यवस्तूनां कल्पितत्त्वाच्च मायया ।
न देशादिकृतोऽन्तोऽस्ति ब्रह्मानंत्यं स्फुटं ततः ॥ ३६ ॥

अर्थ—इस श्लोक का अर्थ सूधा है इस से यहाँ नहीं लिखा प्रसंग से प्रथम ३५ पैंतीसवें श्लोक के अर्थ के साथ लिख दिया है। जिस कारण यहाँ से लेकर प्रकट है यहाँ पर्यन्त ॥ ३६ ॥

सत्यं ज्ञानमनंतं यद्ब्रह्म तद्वस्तु तस्य तत् ।
ईश्वरत्वं च जीवत्वमुपाधिद्वयकल्पितम् ॥ ३७ ॥

शंका—जड़ जगत् को ब्रह्म में माया करके कल्पित होने से जड़ जगत् से ब्रह्म का अन्त मत हो पर जीव और ईश्वर तो माया से कल्पित नहीं हैं तिस से जीव ईश्वर से ब्रह्म का अन्त होगा।

उत्तर—सत्य ज्ञान और अनन्त रूप जो ब्रह्म है सोई वास्तव है ईश्वरत्व और जीवत्व दो उपाधियां हैं इन दोनों उपाधियों से ब्रह्म को ही ईश्वर रूपता और जीव रूपता प्राप्त होती है सो कल्पित है ॥ ३७ ॥

शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित्सर्ववस्तुनियामिका ।
आनंदमयमारभ्य गूढ़ा सर्वेषु वस्तुषु ॥ ३८ ॥

अर्थ—उन दोनों उपाधियों का वर्णन। ईश्वर की उपाधि अनिर्वचनीय माया शक्ति है उस मायारूप उपाधि ने सब पदार्थों की व्यवस्था स्थापन करी है। वह शक्ति आनंदमय कोश से लेकर सब पदार्थों में गुप्त होकर रहती है इस से नहीं प्रतीत होती ॥ ३८ ॥

वस्तुधर्मा नियम्येरन् शक्त्या नैव यदा तदा ।
अन्योन्यधर्मसांकर्याद्विप्लवेत जगत्खलु ॥ ३९ ॥

अर्थ—और जो मायाशक्ति सब पदार्थों की व्यवस्था करने वाली न हो तो सब पदार्थों के धर्म परस्पर मिल जावें अर्थात् जल का धर्म शीतलता अग्नि में आजाय और

ग्नि का धर्म प्रकाशकता जल में आजाय तिस से जगत् में अव्यवस्थित व्यवहार जाय जगत् में व्यवस्थित व्यवहार का कारण माया शक्ति है ॥ ३९ ॥

चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा ।
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद्ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत् ॥ ४० ॥

शंका—जड़ माया शक्ति को जगत् के व्यवस्थित व्यवहार में कारणता नहीं बनती। क्योंकि व्यवस्थित व्यवहार में कारण होना चेतन का धर्म है ।

उत्तर—मायाशक्ति चेतन के प्रतिबिंब का आश्रय है इस से चेतनता को प्राप्त हुए की नाईं प्रतीत होती है इसी से जगत् की व्यवस्था का कारण है उस मायारूप शक्ति के सम्बन्ध से ब्रह्म ही ईश्वररूपता को प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

कोशोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम् ।
पितापितामहश्चैकः पुत्रपौत्रौ यथा प्रति ॥ ४१ ॥

अर्थ—और पंचकोश उपाधि के सम्बन्ध से ब्रह्म ही जीव रूपता को प्राप्त होता है ।

शंका—एक ब्रह्म अपनी ब्रह्मरूपता को न त्यागकर विरुद्ध जीवरूपता और ईश्वररूपता को एक काल में कैसे प्राप्त होता है ऐसा तो जगत् में कोई पदार्थ नहीं दीखता जो अपनी एक रूपता को न त्याग कर विरुद्ध दो पदार्थों के धर्मों को प्राप्त हो ।

उत्तर—जैसे एक मनुष्य अपने मनुष्यरूप को न छोड़ कर एक काल में ही पुत्र पौत्र रूप को प्राप्त हो जाता है जिस समय पिता की दृष्टि में वह पुत्र है उसी समय बाबा की दृष्टि में वह पोता है और उसी समय उस मनुष्य का मनुष्यरूप भी बना है। तैसे एक ब्रह्म अपने ब्रह्म स्वरूप को न छोड़ कर जीव ईश्वर परस्पर विरुद्ध रूपता को प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

पुत्रादेरविवक्षायां न पिता न पितामहः ।
तद्वन्नेशो नापि जीवः शक्तिकोशाविवक्षणे ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो पुत्र और पौत्र की अविवक्षा होने पर अर्थात् जो इन की तरफ़ दृष्टि न हो तो न पिता है और न बाबा है पुरुष मनुष्य का मनुष्य ही है तैसे ही शक्ति और कोशरूप उपाधि की अविवक्षा होने पर अर्थात् इन की तरफ दृष्टि न होने पर न ईश्वर है न जीव है केवल शुद्ध ब्रह्म का ब्रह्म ही है ... शुद्ध ब्रह्म में जीव ईश्वर

कल्पित हैं तिससे जीव ईश्वर से भी ब्रह्म का परिच्छेद नहीं होता ऐसा जो देश काल वस्तु परिच्छेद से रहति ब्रह्म है सो आत्मरूप है ॥ ४२ ॥

य एवं ब्रह्म वेदैष ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।
ब्रह्मणो नास्ति जन्मातः पुनरेष न जायते ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो साधन चतुष्टय सम्पन्न पुरुष इस प्रकार ब्रह्म को जानता है अर्थात् साक्षात्कार करताहै सो आपही ब्रह्मरूपहो जाताहै और ब्रह्मका जन्म नहीं तिससे वह पुरुषजन्म मरण से रहित हो जाता है । इस में श्रुति प्रमाण (स योह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति) (ब्रह्मविदाप्नोति परम्) जो उस परब्रह्म को जानता है सो ब्रह्मरूप ही हो जाता है ॥ ब्रह्मज्ञानी परमपद को प्राप्त होता है । फिर उस ब्रह्मरूप होने से क्या होता है । तहाँ गीता वाक्य प्रमाण । (न जायते म्रियते वा विपश्चित्) अर्थ-ज्ञानवान् पुरुष न जन्म लेता है और न मरता है ॥ ४३ ॥

इति श्री विद्यारण्य मुनीश्वरविरचित
पंचकोशविवेकः समाप्तः ॥ ३॥

अथ द्वैतविवेकप्रकरणम्

श्रीगणेशाय नमः

ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते ।
विवेके सति जीवेन हेयो बंधः स्फुटी भवेत् ॥ १ ॥

अर्थ—अब चौथे विवेक का नाम द्वैत विवेक है उस के अर्थ का प्रारंभ करते हैं । उस का फल । ईश्वर से और जीव से रचा हुआ जो द्वैत है उस को भिन्न २ निरूपण करेंगे क्यों कि उसका विवेक होने पर जीव के बंधन का कारण जो द्वैत है सो प्रकट हो जायगा उस बंध कारण द्वैत के त्यागने पर इस जीव की मोक्षहो जायगी तिस से काक के मुख में दाँतों की परीक्षा की नाई द्वैत का विवेक निष्फल नहीं ॥१॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
स मायी सृजतीत्याहुः श्वेताश्वतरशाखिनः ॥ २ ॥

शंका—जीव ही अपने पुण्य, पापरूप कर्मों से जगत् को रचते हैं ऐसे शास्त्र वाले कोई एक वादी कहते हैं तिस में ईश्वर से रचा हुआ द्वैत कोई नहीं ।

उत्तर—बहुत सी श्रुतियों में ईश्वर से रचा हुआ द्वैत कहा है तिस से यह शंका करनी उचित नहीं, देखो एक तो प्रथम श्वेताश्वतर-उपनिषद् की श्रुति कहती है कि माया को जगत् का उपादानकारण जानो और माया वाला जो ईश्वर है उसे महेश्वर जानो सो माया वाला ईश्वर जगत् को रचता है ऐसा श्वेताश्वतरशाखा वाले वर्णन करते हैं ॥२॥

आत्मा वा इदमग्रेऽभूत्स ईक्षत सृजा इति ।
संकल्पेनासृजल्लोकान्स एतानिति वह्वृचा ॥ ३ ॥

अर्थ-और दूसरा ऐतरेय-उपनिषद् की श्रुति कहती है कि यह जगत् उत्पत्तिसे पूर्व आत्मरूप था सो आत्मा ऐसी इच्छा करता भया कि मैं जगत् को रचूँ सो आत्मा सङ्कल्प से इन सब लोकों को रचता भया ऐसा ऋग्वेद की शाखा वाले कहते हैं ॥३॥

खं वाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहाः क्रमादमी ।
संभूता ब्राह्मणस्तस्मादेतस्मादात्मनोऽखिलाः ॥४॥

अर्थ-तीसरी तैत्तरेय-उपनिषद्‌ की श्रुति लिखते हैं, (तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोस्तेजः तेजस आपः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधय ओषधिभ्योऽन्नम् अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषा जायंते) इस श्रुतिमें तित्तिरिमुनि यह कहतेहैं कि उस ब्रह्मरूप आत्मा से आकाश, पवन, अग्नि जल, पृथिवी, औषधि, अन्न और प्राणधारियों के शरीर से सब क्रम से पैदा हुये ॥४॥

वहु स्यामहमेवातः प्रजायेयेति कामतः ।
तपस्तप्त्वा सृजत्सर्वं जगदित्याह तित्तिरिः ॥५॥

अर्थ-तहाँ श्रुति प्रमाण (सोऽकामयत बहु स्याम प्रजायेयेति सतपोतप्यत सतपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किंचन इति) अर्थ-सो आत्मा इच्छा करता भया कि मैं बहुत रूप हूं और प्रजारूप करके उत्पन्न हुआ, वह आत्मा विचारता भया कि इस२ प्रकारसे यह२ वस्तु पैदा होगी ऐसा विचार कर सब जगत्‌को रचता भया ॥५॥

इदमग्रे सदेवासीद्बहुत्वाय तदैक्षत ।
तेजोऽवन्नांडजादीनिससर्जेतिचसामगाः ॥६॥

अर्थ-चौथी छांदोग्य-उपनिषद्‌ की श्रुतिहै उसमें यह कहाहै कि यह सब जगत् उत्पत्तिसे पूर्वसत् रूप था जो सत्‌ब्रह्म सजातीय विजातीय स्वगतभेदसे रहितहै उसने एक से बहुत तेज होने की इच्छा की और उस ने प्रजारूप होकर तेज जल आदि भूत और अण्डज जेरज आदि शरीर रचे ऐसा कथन सामवेद वाले करते हैं ॥६॥

विस्फुलिंगा यथा वन्हेर्जायंतेऽक्षरतस्तथा ।
विविधाश्चिज्जडा भावा इत्याथर्वणिका श्रुतिः ॥ ७ ॥

अर्थ—और पाँचवीं मुंडक-उपनिषद्‌ की श्रुति कहती हैकि जैसे प्रचंड अग्नि से अनेक तरह के पतंगे पैदा होते हैं तैसे व्यापक परमात्मा से अनेक प्रकार के जड और चिदाभास सहित चेतन पदार्थ पैदा होते हैं ॥ ७ ॥

जगदव्याकृतं पूर्वमासीद्व्याक्रियताधुना ।
दृश्याभ्यां नामरूपाभ्यां विराडादिषु ते स्फुटे ॥ ८ ॥
विराण्मनुर्नरा गावः खराश्वाजावयस्तथा ।
पिपीलिकावधिद्वंद्व मिति वाजसनेयिनः ॥ ९ ॥

अर्थ—और छटी बृहदारण्य-उपनिषद्‌ की श्रुति कहती है यह सब जगत् उत्पत्ति से प्रथम अव्याकृतरूप था उस अव्याकृत रूपसे [illegible] पांच

हुआ सो नाम रूप विराट् आदि में प्रकट नज़र आते हैं विराट् और मनु और मनुष्य गाय गधे घोड़े बकरी भेड़ और कीड़ी से लेकर सब स्त्री पुरुष लक्षण दो २ उस अव्याकृत ब्रह्म से पैदा हुए ऐसे वाजसनेय शाखा वाले कहते हैं ॥ ९ ॥

कृत्वारूपांतरं जैवं देहे प्राविशदीश्वरः ।
इति ताः श्रुतयः प्राहुर्जीवत्वं प्राणधारणात् ॥ १० ॥

इस प्रकार अनेक श्रुति ईश्वर को जगत् का कारण कहती हैं और ईश्वर ही जीवरूप होकर देह में प्रवेश करता भया, ऐसा कथन भी वे श्रुति करती हैं सो जीवरूप परमात्मा से अर्थात् निर्विकार ब्रह्म से भिन्न है। क्योंकि जो विकारी है उस परमात्मा को प्राणों के धारणे से जीवरूपता प्राप्त हुई है अर्थात् प्राण शब्द से यहाँ सब इंद्रियाँ प्राण और शरीर इन तीनों को ग्रहण होता है अर्थात् प्राणों का स्वामी होकर इस इंद्रिय आदि समूह का प्रेरक है ॥१०॥

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिंगदेहश्च यः पुनः ।
चिच्छाया लिंगं देहस्था तत्संघो जीव उच्यते ॥ ११ ॥

अर्थ—एक लिंग शरीरका अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य दूसरा लिंग शरीर तीसरा लिंग शरीर में चैतन्य का प्रतिबिंब इन तीनों के मिलने का नाम जीव है ॥११॥

माहेश्वरी तु माया या तस्या निर्माणशक्तिवत् ।
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ ॥ १२ ॥

शंका—जो ईश्वर ने ही जीवरूप होकर शरीर में प्रवेश किया है तो जीव को अज्ञान और दुःख आदि न होने चाहियें क्योंकि ईश्वर में तो अज्ञान और दुःख आदि नहीं हैं ।

उत्तर—ईश्वर की जो माया शक्ति है, जैसे उस में जगत् के उत्पन्न करने की सामर्थ्य है तैसे मोह शक्ति भी है सो मोहशक्ति जीव को महामोह कर देती है अर्थात् अपने चैतन्य और आनन्दस्वरूप से रहित कर देती है ॥ १२ ॥

मोहादनीशतां प्राप्यमग्नो वपुषि शोचति ।
ईशसृष्टमिदं द्वैतं सर्वमुक्तं समासतः ॥ १३ ॥

अर्थ—उस मोह से शरीर में तादात्म्याभिमान को प्राप्त हुआ अपनी ईश्वर-रूपता को भूल कर अनीश्वररूपता को प्राप्त हो जाता है अर्थात् इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के दूर करने में असमर्थ हो जाता है। इसी से आगे को दुःखी और अज्ञानी

मानता है। इसी अर्थ को श्रुति भी कहती है (समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचतिमुह्यमानः) अर्थात् शरीर तो एक जैसा है, जैसे दो पक्षियों का स्थान वृक्ष एक जैसा है पर उस शरीर में जिस को तादात्म्याभिमान है सो पुरुष अपने स्वरूप से रहित अर्थात् भूला हुआ सुख की प्राप्ति और दुःख के दूर करने में असमर्थ होजाता है और फिर शोच करता है और जिस को तादात्म्याभिमान नहीं वह शोक से रहित होता है, इतने करके ईश्वर से रचा हुआ जो द्वैत है सो सब संक्षेप से कहा ॥१३॥

सप्तान्न ब्राह्मणे द्वैतं जीवसृष्टं प्रपञ्चितम् ।
अन्नानि सप्तज्ञानेन कर्मणा जनयत्पिता ॥१४॥

अर्थ—अब जीव से रचे हुवे द्वैत को कहते हैं । बृहदारण्योपनिषद् का जो सप्त अन्न ब्राह्मण नाम ग्रन्थ है उस में जीव से रचा हुआ द्वैत कहा है कि अपने कर्मद्वारा जीव जगत् को पैदा कर सब लोकों के शरीरों को पालता है और ज्ञान से तथा कर्म से सातों अन्नों को रचना है ॥ १४ ॥

मर्त्यान्नमेकं देवान्ने द्वे पश्वन्नँ चतुर्थकम् ।
अन्यत्त्रितयमात्मार्थमन्नानाँ विनियोजनम् ॥ १५ ॥

अर्थ—अन्न, चावल आदि मनुष्यों के लिये और दर्शपौर्णमास यज्ञरूप दो अन्न देवताओं के लिये और दुग्धरूप चौथा अन्न पशुआदि के लिये एक मन, दूसरी वाणी, तीसरे प्राण ये तीन अन्न अपने लिये हैं। इस प्रकार अन्नों की योजना कही है ॥ १५ ॥

व्रीह्यादिकं दर्शपूर्णमासौ क्षीरं तथामनः ।
वाक् प्राणश्चेति सप्तत्वमन्नानामवगम्यताम् ॥ १६ ॥

अर्थ—चावल आदि और दर्शपौर्णमास और दूध तैसे ही मन, वाणी, प्राण ये सात अन्न निश्चय कर तहाँ श्रुति प्रमाण है- (एकमस्य साधारणमितीदं मेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते)।

अर्थ-एक यह चावल आदि रूप अन्न इस मनुष्य का साधारण अन्न है मनुष्य जिस अन्न को खाता है सो अन्न साधारण है । (अयमात्मा वाङ्मयो मनो मयो प्राणमय) अर्थ-यह आत्मा वाणी मन प्राण इनमें मिला हुआ है ॥ १६ ॥

ईशेन यद्यप्येतानि निर्मितानि स्वरूपतः ।
तथापि ज्ञान कर्मभ्यां जीवोऽकार्षी तदन्नताम् ॥१७॥

शंका-सप्त अन्न तो ईश्वर ने रचे हैं तुम कैसे कहते हो कि जीव ने रचे।

उत्तर-स्वरूप से तो ईश्वर ने ही रचे हैं ये सप्त अन्न पर तो भी जीव ने ज्ञान और कर्म से इन सातों में भोग्यता रची है ॥१७॥

ईशकार्यं जीवभोग्यं जगद्द्वाभ्यां समन्वितम्।
पितृजन्या भर्तृभोग्या यथा योषित्तथेष्यताम् ॥१८॥

अर्थ-जैसे एक स्त्री पिता से तो पैदा होती है और भर्ता के भोगने लायक होती है तैसे सप्त अन्न ईश्वर से पैदा होते हैं और जीव उन्हें भोगता है तिससे जीव ईश्वर इन दोनों के संबंध वाले सप्त अन्न हैं।

मायावृत्त्यात्मको हीशसंकल्पः साधनं जनौ।
मनोवृत्त्यात्मको जीव संकल्पो भोगसाधनम् ॥१९॥

अर्थ-जीव और ईश्वर किस २ साधन से जगत् को रचते हैं, ईश्वर माया की वृत्तिरूप संकल्प से जगत् को रचता है और जीव मन की वृत्तिरूप संकल्प से जगत् को रचता है अर्थात् भोगता है।

ईशनिर्मितमण्यादौ वस्तुन्येकविधे स्थिते।
भोक्तृधी वृत्तिनानात्वात्तद्भोगो बहुधेष्यते ॥२०॥

शंका-ईश्वर से रचे हुए पदार्थों के स्वरूप से भिन्न जीव से रचा हुआ भोग का स्वरूप कोई नज़र नहीं आता।

उत्तर-ईश्वर से रचा हुआ जो मणि आदि रूप एक पदार्थ है उसमें भोक्ता जीवों की बुद्धि के भेद से वह भोग अनेक प्रकार का दीखता है सो अनेक प्रकार का भोग तब बने जब विषय भी अनेक प्रकार के हों एक तरह के विषय में अनेक तरह का भोग नहीं बनता जैसे एक तरह की जो अग्नि है सो किसी को शीतल और किसी को उष्ण करदे ऐसा भोग भेद नहीं दीखता और मणि में तो भोग भेद दीखता है तिससे भोग भेद का कारण विषय का भेद अवश्य मानना चाहिये।

हृष्यत्येको मणिं लब्ध्वा क्रुध्यत्यन्यो ह्यलाभतः।
पश्यत्येव विरक्तोऽत्र न हृष्यति न कुप्यति ॥२१॥

अर्थ—एक मणि में जो भोग भेद हैं सो दिखलाते हैं एक पुरुष मणि को पाकर प्रसन्न होता है और एक मणि के न मिलने से दुःखी होता है और तीसरा विरक्तपुरुष मणि के मिलने और न मिलने से सुखी और दुःखी नहीं होता तिससे

एक ही मणि में तीन तरह का भोग दीखता है हर्ष शोक और उदासीनता रूप तिस से भोग भेद का कारण तीन प्रकार का विषय अवश्य मानना चाहिये ॥ २१ ॥

प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेत्याकारा मणिगास्त्रयः ।
सृष्टाजीवै रीशसृष्टं रूपं साधारणं त्रिपु ॥ २२ ॥

अर्थ—प्रिय अप्रिय और उदासीनता रूप तीन भेद मणि में जीवों ने रचे हैं और तीनों में अनुस्यूत जो मणि का साधारण रूप है सो ईश्वर ने रचा है ॥२२॥

भार्या स्नुषा ननांदा च याता मातेत्यनेकधा ।
प्रतियोगिधियायोषिद्भिद्यते न न स्वरूपतः ॥ २३ ॥

अर्थ—ईश्वर रचित द्वैत से भिन्न जीव रचित द्वैत में और दृष्टाँत । जैसे एक स्त्री का शरीर ईश्वर रचित है उस में किसी को घर वाली प्रतीत होती है किसी को बेटे की बहू प्रतीत होती है किसी को नन्द किसी को दौरानी किसी को माता प्रतीत होती है सो इस अनेक भेद वाली बुद्धि से एक स्त्री अनेक भेदों को प्राप्त होती है सो ये सब भेद जीवों के रचे हुए हैं जिस २ जीव ने जैसा २ रूप रचा है उस२ जीव को वैसा २ ही रूप प्रतीत होता है और स्वरूप से उस में कुछ भेद नहीं क्योंकि उस स्त्री का स्वरूप मात्र अर्थात् शरीर मात्र तो एक सा है ॥ २३ ॥

ननु ज्ञानानि भिद्यंतामाकारस्तु न भिद्यते ।
योषिद्वपुष्यतिशयो न दृष्टो जीव निर्मितः ॥ २४ ॥

शंका-स्त्री में माता ताई चाची इत्यादि ज्ञान ही भिन्न हैं और ज्ञान का विषय जो स्त्री का स्वरूप है उस में तो भेद नहीं दीखता फिर तुम कैसे कहते हो कि स्त्री के शरीर में ताई चाची आदि आकारों का भेद जीव ने रचा है ॥ २४ ॥

मैवं मांसमयी योषित्काचिदन्या मनोमयी ।
मांसमय्या अभेदेऽपि भिद्यते हि मनोमयी ॥ २५ ॥

उत्तर– ज्ञान का भेद तो ज्ञेय भेद के बिना नहीं बनता जैसे घट ज्ञान और पट ज्ञान का भेद घट पट रूप ज्ञेय के भेद से है और जो ज्ञेय के भेद बिना ज्ञान का भेद हो तो एक घट रूप ज्ञेय में जैसे घट ज्ञान को यथार्थता है तैसे उसी घट में हाथी घोड़ा बकरी भेड़ इन ज्ञानोंको भी यथार्थता होनी चाहिये सो तो यथार्थता नहीं होती और ईश्वर रचित माँस अस्थि रुधिर रूप स्त्री के शरीर में पुत्रों को माता ज्ञान और भानजे को मामी मावसी ज्ञान और भतीजे को फुआ चाची ताई ज्ञान इन से लेकर

जो अनेक ज्ञान होते हैं सो सब ही यथार्थ हैं। क्यों कि व्यवहार दशा में उनका बाध नहीं तिस से ईश्वर रचित एक स्त्री के शरीर में जो अनेक ज्ञान हैं उन का विषय भी भिन्न २ चाहिये पुत्र को जो माता ज्ञान है उस का विषय माता है और भानजे का जो मामी मावसी ज्ञान है उस का विषय मामी मावसी है सो मामी मावसी माता से भिन्न हैं और वे भानजे से रचित हैं और पुत्र को जो माता ज्ञान हुआ है उस ज्ञान का विषय माता पुत्र रचित है सो माता मामी मावसी से भिन्न है और भतीजे को फुआ ताई चची ज्ञान हुआ है उस ज्ञान का विषय फुआ ताई चाची का स्वरूप माता और मामी मावसी से भिन्न है सो फुआ ताई चाची का स्वरूप भतीजेसे रचा हुआ है २५

भ्रांति स्वप्न मनोराज्य स्मृतिष्वस्तु मनोमयम् ।
जाग्रन्माने न मेयस्य न मनोमयतेति चेत् ॥ २६ ॥

शंका—भ्रम स्वप्न मनोराज्य और स्मृति इन चार स्थानों में मन रचित पदार्थ होते हैं क्यों कि इन में बहारले पदार्थों का अभाव है और जाग्रत् में जो पदार्थ प्रतीत होते हैं ये तो प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्रतीत होते हैं तिस से उन पदार्थों को मन रचित कैसे कहते हो तिस से जाग्रत् अवस्थामें जो माता मावसी फुआ आदि पदार्थ हैं और ये प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से भान होते हैं इन्हें जीव रचित कैसे कहते हो ॥ २६

बाढं मानेतु मेयेन योगात्स्याद्विषयाकृतिः ।
भाष्यवार्त्तिककाराभ्यामयमर्थ उदीरितः ॥ २७ ॥

उत्तर-प्रमाण स्थान में विषय की सत्ता होती है यह तेरा कहन ठीक है।

शंका-जो प्रमाण स्थान में विषय की सत्ता है तो उस प्रमाण के विषय को मन रचित कैसे कहते हो।

उत्तर——जब प्रमाण का विषय के साथ संबंध होता है तब प्रमाण विषया कार हो जाता है तिस से जब पुत्र के नेत्र माता के साथ सम्बन्ध करते हैं, तब माता के आकार को प्राप्त हो जाते हैं तिस से माता रूप विषय अवश्य मानना चाहिये सो माता रूप विषय पुत्र से रचित है और साक्षी से भान होता है और नेत्रों से नहीं भान होता जो नेत्रों से भान होता मातारूप विषय तोसब नेत्र वालों को माता एकसी प्रतीत होती जैसे नेत्रों का विषय अस्थिमाँस रुधिर रूप शरीर एकसा सब नेत्र वालों को प्रतीत होता हैं तैसे सब नेत्र वालोंको मातारूप विषय तो एकसा नहीं प्रतीत होता और पुत्र के नेत्र जाकर माता

रूपता को प्राप्त हुए हैं तिस से पुत्र के नेत्र माता को ग्रहण नहीं करते जैसे घट रूपता को प्राप्त हुई मृत्तिका से घट ग्रहण नहीं होता और नेत्रों से घट ग्रहण होता है तैसे नेत्र माता रूपता को प्राप्त हुए हैं सो नेत्र माता को ग्रहण नहीं करते साक्षी से माता का ग्रहण होता है और जो पुत्र यह कहता है कि मैं नेत्रों से माता को देखता हूँ सो पुत्र की प्रतीति भ्रम रूप है जैसे भ्रम वाला पुरुष कहता है कि मैंने इस स्थान में नेत्रों से चाँदी देखी है पर नेत्रों से चाँदी देखी नहीं किंतु नेत्रों से तो चाँदी का अधिष्ठान सीपी देखी है तैसे पुत्र ने भी माता कल्पना का अधिष्ठान ईश्वर रचित शरीर नेत्रों से देखा है और माता नेत्रों से नहीं देखी सो माता साक्षी से दीखती है इसी से माता पुत्र रचित है और माता का शरीर ईश्वर रचित है इसी तरह मावसी आदि भानजे आदि से रचित हैं भाष्यकार और वार्तिककार ने भी यह अर्थ कहा है

मूपासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा।
रूपादीन् व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यतेध्रुवम् ॥२८॥

अर्थ—तहाँ प्रथम भाष्यकार का वचन प्रमाण विषय को प्राप्त होकर विषयके आकार को प्राप्त होजाता है यह वार्ता उपदेश सहस्री में भाष्यकारों ने कही है जैसे ढला हुआ ताँबा जिस तरहके साँचेमें गेरासा उसी तरहके आकारको प्राप्त हो जाता है जो साँचा गणेश का हो तो ताँबा गणेश के आकार को प्राप्त हो जाता है और जो साँचा चतुर्भुज विष्णु को हो तो विष्णुके आकार को प्राप्त हो जाता है तैसे रूपा आदिको प्राप्त हुवा चित्त रूपे आदि के आकार को प्राप्त हो जाता है॥ २८॥

व्यंजकोवा यथाऽऽलोको व्यंग्यस्याकारतामियात्।
सर्वार्थव्यंजकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते ॥ २९ ॥

शंका—तांबा तो साकार पदार्थ है अग्नि आदि से ढला हुआ साँचे में पाया हुआ साँचे के आकार को प्राप्त हो पर बुद्धि तो निराकार है और किसी से ढलती भी नहीं सो कैसे रूपे आदि के आकार को प्राप्त हो।

उत्तर—जैसे निराकार सूर्यका प्रकाश घट आदिका प्रकाशकघट आदिको प्राप्त होकर घट आदि पदार्थों के आकार को प्राप्त हो जाता है तैसे सब पदार्थों की प्रकाशक बुद्धि भी निराकार है पर सब पदार्थों के आकार को प्राप्त हो जाती है॥२९॥

मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयमेतितत्।
मेयाभिसंगतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते ॥ ३० ॥

अर्थ- और वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी यह अर्थ कहा है। अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य सहित अंतःकरण में चिदाभास रूप जो प्रमाता है उससे चिदाभास सहित बुद्धि की वृत्तिरूप प्रमाण की उत्पत्ति होती है सो प्रमाण घट आदि विषय रूप प्रमेय को प्राप्त होता है और फिर प्रमेय के आकार को प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

सत्येवं विषयौ द्वौस्तौ घटौमृन्मय धीमयौ ।
मृन्मयो मानमेयः स्यात्साक्षिभाष्यस्तु धीमयः ॥ ३१ ॥

शंका—भाष्यकार और वार्त्तिककार का ऐसा कथन हो पर प्रसंग में क्या आया ।

उत्तर—प्रसंग में यह आया कि घट आदि विषय दो प्रकार का है, एक मृत्तिका से रचा हुआ और दूसरा मन से रचा हुआ सो मृत्तिका रचित घट नेत्रों से दीखता है और ईश्वर की सृष्टि है और मनोरचित घट साक्षी से दीखता है और वह जीव की सृष्टि है ॥ ३१ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयो जीवबन्धकृत् ।
सत्यस्मिन् सुख दुःखेस्तस्मिन्न सति न द्वयम् ॥ ३२ ॥

शंका—ईश्वर रचित और जीव रचित दो तरह की सृष्टि हो पर जीव को बंधन का कारण कौनसी सृष्टि है ।

उत्तर—अन्वय व्यतिरेक प्रमाण से जीव रचित सृष्टि जीव को बंधन का कारण है अन्वय का लक्षण जिस के होने पर जो हो जैसे मृत्तिका के होने पर घट होता है तैसे जीव सृष्टि के होने पर जीव को सुख दुःख होते हैं और व्यतिरेक का लक्षण, जिसके न होने पर जो न हो जैसे मृत्तिका के न होने पर घट नहीं होता तैसे जीव सृष्टद्वैत के न होने पर जीव को सुख दुःख नहीं होते तिस से यह सिद्ध हुआ कि जैसे अन्वयव्यतिरेक से मृत्तिका घट का कारण है तैसे अन्वयव्यतिरेक से जीव सृष्टद्वैत जीव को बंधन का कारण है ॥ ३२ ॥

असत्यपि च बाह्यार्थे स्वप्नादौ बध्यते नरः ।
समाधिसुप्तिमूर्च्छासु सत्यप्यस्मिन्न बध्यते ॥ ३३ ॥

शंका—ईश्वर सृष्टि के ही अन्वयव्यतिरेक जीव को बंधन का कारण क्यों न हो।

उत्तर—स्वप्न में ईश्वर सृष्टि का अभाव होने पर भी जीवको सुख दुःख की प्राप्ति दीखती है, सो सुखदुःख जीव रचितद्वैत से ही जीव को प्राप्त हुए हैं, और समाधि सुषुप्ति मूर्छा इनमें ईश्वर रचितद्वैत तो बना रहता है पर जीव को सुख दुःख की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि समाधि आदि अवस्थामें जीव के द्वैत का अभाव है, तिससे अन्वय व्यतिरेक से जीव द्वैत ही सुख दुःख का कारण है और ईश्वर द्वैत सुख दुःख कारण नहीं ॥३३॥

दूरदेशं गते पुत्रे जीवत्येवात्र तत्पिता।
विप्रलंभकवाक्येनमृतं मत्वा प्ररोदिति ॥३४॥

अर्थ—इसमें और भी दृष्टान्त; किसी का पुत्र दूरदेश में गया हुआ सुखपूर्व रहता है और किसी मिथ्यावादी पुरुष ने उसके पिता से घर में यह कहा कि तेरा पुत्र परदेश में मर गया, तो उस मिथ्या वादी पुरुष के वाक्यको सुन कर और अपने पुत्र को मरा हुआ मान कर रोता है और बड़े शोक को प्राप्त होता है उस शोक-कारण ईश्वर रचित पुत्र कारण तो नहीं है क्यों कि ईश्वर रचित पुत्र तो मरा नहीं परदेश में सुख से बैठा है ॥३४॥

मृतेऽपितस्मिन्वार्तायामश्रुतायां न रोदिति।
अतःसर्वस्य जीवस्य बंधकृन्मानसं जगत् ॥३५॥

अर्थ—और परदेश में पुत्र के मरने पर भी उस बात के वे सुने घर में पिता-आदि हर्ष सहित रहते हैं, तिससे यह सिद्ध हुआ कि सब जीवोंको आप अपना रचा हुआ जगत् बंधन का कारण है ॥३५॥

विज्ञानवादो बाह्यार्थ वैयर्थ्यात्स्यादिहेति चेत्।
नह्याकारमाधातुं बाह्यस्यापेक्षितत्त्वतः ॥३६॥

शंका—मनसे रचे हुए जगत् को बंधन का कारण मानने पर ईश्वर रचित बाहरले जगत् के निषेध से विज्ञान वाद की प्राप्ति होगी।

उत्तर—मनोरचित जगत् बंधन का कारण होने पर भी ईश्वर रचित जगत् उस का अधिष्ठान स्वीकार करने से विज्ञान वाद की प्राप्ति नहीं होती जैसे मनोरचित चांदी की कल्पना का अधिष्ठान ईश्वर रचित सीपी होती है तैसे मनो रचित जगत् की कल्पना का अधिष्ठान ईश्वर रचित शरीर है॥

वैयर्थ्यमस्तु वा बाह्यं नवारयितुमीश्महे ।
प्रयोजनमपेक्षन्ते न मानानीति हि स्थितिः ॥३७॥

शंका—जैसे ईश्वर रचित जगत् जीवको बंधन का कारण नहीं तैसे ईश्वर रचित जगत् जीव रचित जगत् की कल्पना का अधिष्ठान भी मत हो क्यों कि प्रथम २ जीवरचित जगत् उत्तर २ जीव रचित जगत् की कल्पना का अधिष्ठान हो, तिससे ईश्वर रचित जगत् व्यर्थ हुआ ।

उत्तर—ईश्वर रचित जगत् व्यर्थ होता है तो भिया व्यर्थ हो ।

शंका—जो ईश्वररचित जगत् व्यर्थ हुआ तो विज्ञानवादी के मत में और तुम्हारे मत में क्या भेद हुआ ।

उत्तर—विज्ञान वादी तो बाहरले पदार्थों का अभाव कहता और हम बाहरले पदार्थों का अभाव नहीं कहते पर बाहरले पदार्थों की व्यर्थता कहतेहैं तिससे विज्ञान वादी के मतसे हमारे मतका बड़ा भेद है ।

शंका—जो ईश्वर रचित जगत् सुख दुःख का कारण नहीं व्यर्थ है तो उसको स्वीकार क्यों करना ।

उत्तर—प्रमाण वस्तुकी सिद्धि का कारण होते हैं और वस्तु की सफलता और निष्फलता का कारण नहीं होते यह सब शास्त्र कारों का सिद्धांत है ॥३७॥

बंधश्चेन्मानसद्वैतं तन्निरोधेन शाम्यति ।
अभ्यसेद्योगमेवातो ब्रह्मज्ञानेन किंवद ॥३८॥

शंका—जो मनोरचित जगत् ही बंधन का कारण है तो मनके निरोधरूप योग से मनोरचित जगत् का अभाव होजायगा, तिससे मुझे योगाभ्यास ही करना चाहिये ब्रह्मज्ञान से मेरा कुछ प्रयोजन नहीं ॥३८॥

तात्कालिकद्वैत शांता व प्यागा मिजनिच्चयः ।
ब्रह्मज्ञानं विना नस्या दिति वेदांतडिंडिमः ॥३९॥

उत्तर—योग से जगत् का अभाव उतने काल तक रहता है जितने काल तक योगाभ्यास में मन स्थित रहता है और जब योगाभ्यास से उत्थान होता है तब ज्यों का त्यों प्रतीत होता है तिससे भावीजन्म का अभाव ब्रह्मज्ञान के विना नहीं होता इस से ब्रह्मज्ञान अवश्य चाहिये ऐसे अनेक श्रुति भी कहती हैं, (ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैर्ज्ञात्वा शिवं शांति मत्यंतमेति) ।

अर्थ—स्वप्रकाश परमात्मा को जान कर अविद्या आदि सबक्लेशों से छूट जाता है और शिव परमात्मा को जान कर अत्यंत शांति को प्राप्त होता है मनुष्य अर्थात् जन्ममरण आदि सबदुःखों की निवृत्ति होती है, यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यंति मानवाः तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति) अर्थ–जब कोई पुरुष मृग चर्म की नाई आकाश को लपेट लेगा तब ब्रह्म के बिना जाने भी सब दुःखों का नाश होजायगा तात्पर्य यह है कि जैसे मृग चर्मकी नाई आकाशका लपेटना नहीं होता तैसे ब्रह्मज्ञान के बिना दुःखों की निवृत्ति भी कभी नहीं होती यह वेदांत का ढँडोरा है इन श्रुतियों में अन्वय व्यतिरेक करके ब्रह्म ज्ञान से ही दुःखों की निवृत्ति होती है यह कहा है ॥३९॥

अनिवृत्तेऽपीश सृष्टे द्वैते तस्य मृषात्मताम् ।
बुद्ध्वा ब्रह्माद्वयं बोद्धुं शक्यं वस्त्वैक्यवादिनः ॥४०॥

शंका—बाहरले द्वैत के बे निवारण किये अद्वैत ब्रह्मज्ञान नहीं होता तिस से बाहरला द्वैत भी निवारण किया चाहिये।

उत्तर—स्वरूप से बाहरले द्वैत के बे निवारण किये भी उस बाहरले द्वैत की मिथ्यारूपता के जानने से अद्वैत ब्रह्मज्ञान हो जाता है तिससे बाहरले द्वैत का निवारण निष्प्रयोजन है ॥४०॥

प्रलये तन्निवृत्तौ तु गुरुशास्त्राद्यभावतः ।
विरोधिद्वैताभावेऽपि न शक्यं बोद्धुमद्वयम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—क्योंकि महाप्रलय में बाहरले द्वैत का अभाव होने पर भी गुरुशास्त्रादि के अभाव से अद्वैत ब्रह्म नहीं जाना जाता तिस से बाहरले द्वैत का निवारण निष्प्रयोजन है ॥ ४१ ॥

अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम् ।
अपनेतुमशक्यं चेत्यास्तां तद्द्विष्यते कुतः ॥ ४२ ॥

शंका—जैसे रात्रि विद्यमान होने पर सूर्य नहीं होता तैसे बाहरले द्वैत के विद्यमान होने पर अद्वैत ज्ञान नहीं ॥

उत्तर—ईश्वररचित द्वैत ब्रह्मज्ञान का बाधक नहीं, उस की मिथ्यारूपता के जानने से ब्रह्मज्ञान हो जाता है इस से ईश्वररचित द्वैत गुरुशास्त्रादिरूप ब्रह्मज्ञान का सहायक है। ब्रह्मज्ञान का साधन होने से आकाश आदिरूपद्वैत हम से निवारण

भी नहीं हो सकता। इसी हेतु से जैसा ईश्वररचितद्वैत है तैसा बना रहो फिर द्वेप क्यों करता है?॥ ४२॥

जीवद्वैतं तु शास्त्रीयमशास्त्रीयमिति द्विधा।
उपाददीत शास्त्रीयमा तत्वस्यावबोधनात् ॥ ४३ ॥

अर्थ—अब जीव सृष्ट द्वैत दो प्रकार का है सो कहते हैं। जीव द्वैत दो तरह का है एक तो शास्त्रीय और एक अशास्त्रीय जिज्ञासु जन ब्रह्म ज्ञान पर्यन्त शास्त्रीय द्वैत को ग्रहण करे क्यों कि शास्त्रीय द्वैत से ही अशास्त्रीय द्वैत का त्याग होता है जैसे पैर में लगे हुये काँटे को निकालने के लिये दूसरे काँटे को ग्रहण करते हैं जब कांटा निकल जाता है तब दोनों काँटों का त्याग कर दिया जाता है तैसे ही तत्वज्ञान के हुये बाद शास्त्रीय द्वैत को भी त्यागदे॥ ४३॥

आत्मब्रह्मविचाराख्यं शास्त्रीयं मानसं जगत्।
बुद्धेतत्वे तच्चहेयमिति श्रुत्यनुशासनम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—सो शास्त्री द्वैत कौन है? आत्मा और ब्रह्म का जो विचार है उसका नाम शास्त्रीयद्वैत है।

शँका—ब्रह्मज्ञान से पीछे शास्त्रीयद्वैत को भी त्यागदे आप का यह कथन अयुक्त है क्यों कि श्रुति कहती है (आसुप्तेरामृतेःकालं नयेद्वेदांतचिंतया)

अर्थ-सोवने पर्यन्त और मरने पर्यन्त वेदान्त के विचार से काल व्यतीत करे।

उत्तर—तत्व ज्ञान होने पर सो वेदान्त शास्त्र भी त्यागने योग्य है यह श्रुति का अनुशासन है पर जितने काल तकरत्ती भरभी काम क्रोध आदि उदयहोंउतने काल तक काम आदि के दूर करने को वेदान्त का विचार करना क्यों कि काम आदि का दूर करना ब्रह्मज्ञान का साधन है इसी से जिज्ञासु सोवने पर्यन्त और मरनेपर्यन्त वेदान्त का विचार करे और तत्ववेत्ता ब्रह्म तत्व को जान शास्त्रों का त्याग करदे ऐसे बहुत श्रुति कहती हैं॥४४॥

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ॥४५॥

अर्थ—एक श्रुति यह कहती है कि धारणा वाली बुद्धि वाला जिज्ञासु शास्त्रों को पढ़कर और बारंबार उनका अभ्यास करे उससे पर ब्रह्म को जान कर उन शास्त्रों को त्याग दे जैसे भोजनार्थी अपना पेट भरके पूरी आदि का त्याग कर देता है॥४५॥

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः ।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रंथमशेषतः ॥४६॥

अर्थ—और दूसरी श्रुति कहती है कि बुद्धिमान् जिज्ञासु ग्रंथ का अभ्यास कर उस से ज्ञान और विज्ञान के तत्त्व को यथावत् जान धानों की पराल की नाँईं सब ग्रन्थों को त्यागदे। जैसे खेती वाला पके हुए धानों को ग्रहण कर पराल को त्याग देता है॥ ४६ ॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञाँ कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहून् शब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥४७॥

अर्थ—और तीसरी श्रुति कहती है कि ब्रह्मचर्य्य आदि साधन सम्पन्न धैर्यवान् जिज्ञासु उस पर ब्रह्म आत्मा को जान कर ब्रह्म होने की इच्छावाला चित्तवृत्ति को ब्रह्माकार करे और बहुत शब्दों का ध्यान और उच्चारण भी न करे क्योंकि बहुत शब्दों के ध्यान से मन थकता है और उच्चारण से वाणी थकती है जो मन थका तो मन को शान्ति प्राप्त न हुई और वाणी थकी तो इन्द्रियों का दमन न हुआ जो मन शान्त न हुआ और इन्द्रियों का दमन हुआ तो सुख कहाँ ॥ ४७ ॥

तमेवैकँ विजानीथ ह्यन्यावाचोविमुँचथ ।
यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञ इत्याद्याःश्रुतयः स्फुटाः ॥४८॥

अर्थ—और श्रुति कहती है कि उसी एक आत्मा को जानो और अन्य वाणियों का त्याग करो एक आत्मज्ञान ही मोक्ष की प्राप्ति का कारण है जैसे पुल बड़े वेग वाली नदियों के पार का कारण है और श्रुति कहती है कि वाणी को मन में लय करे और मन को बुद्धि में और बुद्धि को समान अहंकार में और समान अहंकार को शाँत आत्मा में लय करे। इत्यादि अनेक श्रुति ब्रह्मज्ञान के पश्चात् शास्त्रों का त्याग स्पष्ट कहती हैं तिस से ब्रह्मज्ञान के पश्चात् शास्त्रीय द्वैत का भी त्याग करना ॥ ४८ ॥

अशास्त्रीयमपिद्वैतं तीव्रँ मँदमिति द्विधा ।
कामक्रोधादिकँ तीव्रँ मनोराज्यँ तथेतरत् ॥४९॥

अर्थ—और अशास्त्रीय द्वैत भी दो प्रकार का है एक तीव्र और दूसरा मंद काम क्रोध आदि तीव्र और मनोराज्य रूप मंद अशास्त्रीय द्वैत है ॥ ४९ ॥

उभयँ तत्त्वबोधात् प्राङ् निवार्यं बोधसिद्धये ।
शमः समाहितत्वंच साधनेषु श्रुतँ यतः ॥ ५० ॥

अर्थ—जिस से तत्त्व ज्ञान के साधनों में शम और समाहितता सुनी है तिससे तत्त्वज्ञान की सिद्धि के लिये काम क्रोध आदि रूप तीव्र द्वैत और मनोराज्यरूप मंद द्वैत इन दोनों को तत्त्वज्ञान से पूर्व त्याग दे क्योंकि काम क्रोध आदि से और मनोराज्य से शम और समाहितता सिद्ध नहीं होती और तत्त्वज्ञान इन दोनों के बिना नहीं होता ॥ ५० ॥

बोधादूर्ध्वं च तद्धेयं जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये ।
कामादिक्लेशबंधेन युक्तस्य न हि मुक्तता ॥५१॥

अर्थ—और तत्त्वज्ञान से पश्चात् भी तीव्र द्वैत और मंद द्वैत ये दोनों त्याग देने चाहियें जीवन्मुक्ति की प्राप्ति के लिये क्योंकि काम क्रोध आदि रूप द्वैत से बंधे हुए को जीवन्मुक्ति नहीं मिलती ॥ ५१ ॥

जीवन्मुक्तिरियं मा भूज्जन्माभावेत्वहंकृती ।
तर्हि जन्मापि तेऽस्त्वेव स्वर्गमात्रात्कृती भवान् ॥५२॥

शङ्का—जन्म मरण रूप संसार दुःख से दुखी हुए को जन्म मरण दुःख दूर करने वाले ब्रह्मज्ञान से ही कृतार्थता है जीवन्मुक्ति न हुई तो न हो।।

उत्तर—इस लोक के भोग त्यागने के भय से जो तू जीवन्मुक्ति के लिये काम क्रोध आदि का त्याग न करेगा तो स्वर्ग ब्रह्म लोक आदि के सुखों को सुन कर तू चाहेगा कि मेरा भी जन्म हो स्वर्ग ब्रह्मलोक आदि में विदेह मुक्ति से मुझे क्या लेना है ॥ ५२ ॥

क्षयातिशयदोषेण स्वर्गो हेयो यदा तदा ।
स्वयं दोषतमाऽत्माऽयं कामादिः किं न हीयते ॥५३॥

शंका—स्वर्ग ब्रह्म लोक आदि की मुझे इच्छा नहीं क्योंकि ये तो नाश और अतिशयता दोष वाले हैं।

उत्तर—जो स्वर्ग आदि दोष युक्त होने से त्यागने योग्य हैं तो सब सुखों का नाश करने वाले और सब दुःखों के देने वाले जो काम क्रोध आदि हैं उन का त्याग तो अवश्य चाहिये ॥ ५३ ॥

तत्त्वं बुद्ध्वाऽपि कामादीन्निःशेषं न जहाति चेत् ।
यथेष्टाचरणं ते स्यात्कर्मशास्त्रातिलंघिनः ॥५४॥

अर्थ—जो तू ब्रह्म तत्त्व को जान कर भी ब्रह्मज्ञान के अभिमान से विधि निषेध शास्त्रों का उल्लंघन कर सब काम आदि न छोड़ेगा और उन के आधीन रहेगा तो तुझे यथेष्टाचरण दोष लगेगा ॥ ५४ ॥

बुद्धा द्वैतस्वतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥५५॥

अर्थ—उस यथेष्टाचरण में सुरेश्वराचार्य दोष कहते हैं । जो तत्त्वज्ञानी का यथेष्टाचरण हुआ तो कुत्ते और ब्रह्मज्ञानी में क्या भेद हुआ और उनके अपवित्र पदार्थों के भक्षण में क्या भेद हुआ अर्थात् यथेष्टाचरण से तू कुत्ते की समान होगा क्योंकि कुत्ते काम क्रोध आदि से युक्त हुए अपवित्र पदार्थों को खाते हैं तैसे तू भी अपवित्र पदार्थों को खायगा तिस से अद्वैत ब्रह्मज्ञानी जो तू है तुझे क्या बड़ाई मिलेगी ५५

बोधात्पुरामनोदोषमात्रात्क्लिश्नास्यथाधुना ।
अशेषलोकनिन्दा चेत्यहो ते बोधवैभवम् ॥ ५६ ॥

शंका-(मूर्ख की) जो काम क्रोध आदि के न त्यागने से मुझे कुत्ते की तुल्यता होगी तो हो क्या दोष है क्योंकि कुत्ते भी मेरा आत्मा हैं ॥

उत्तर—(मूर्ख की हाँसी सहित) तेरे ज्ञान का बड़ा प्रताप है, उस की महिमा कहाँ तक कहें क्योंकि सब लोग तेरी निन्दा पड़े करो, तत्त्व ज्ञान के उदय होने से पूर्व तो तुझे काम, क्रोध आदिका ही दुःख था और अब एक लोकनिन्दाका दुःख तुझको अधिक हुआ तिस से तेरे ज्ञान का माहात्म्य बड़ा है कुछ कहा नहीं जाता । जैसे कोई धन के लिये धनियों के पास नौकर हो जाय और उन का धन खोकर उलटा अपना भी नाक कान दे आवे सो अवस्था तेरी हुई तिस से जैसे उसकी बुद्धि की चतुराई का अन्त नहीं तैसे तेरे ज्ञान का भी अन्त नहीं ॥ ५६ ॥

विड्वराहादितुल्यत्वंमा कांक्षीस्तत्वविद्भवान् ।
सर्वधीदोषसन्त्याज्याल्लोकैः पूज्यः स्वदेववत् ॥ ५७ ॥

प्रश्न -(नम्रता सहित) ब्रह्मज्ञान को प्राप्त होकर मुझे क्या करना योग्य है ॥

उत्तर-विष्ठा के खाने वाले सूयर आदि की तुल्यता काम, क्रोध आदि से न करनी चाहिये सब से उत्तमता का कारण जो ज्ञान है उस को प्राप्त होकर तू सब मन के दोष काम क्रोध आदि त्याग कर नारायण की नाँई लोकों करके पूजनीय हो तुझ को यह करना उचित है ॥ ५७ ॥

काम्यादिदोषदृष्ट्याद्याः काम्यादित्यागहेतवः ॥
प्रसिद्धा मोक्षशास्त्रेषु तानन्विष्य सुखी भव ॥५८॥

शँका—कृपा कर काम क्रोध आदि के त्याग का साधन कहो।

उत्तर—राग द्वेष का आश्रय जो विषय हैं उनमें दोषों के देखने से राग द्वेष दूर हो जाते हैं। अर्थात् काम क्रोध आदि दूर हो जाते हैं राग नाम काम का है और द्वेष नाम क्रोध का है सो जिन दोषों के देखने से रागद्वेष दूर हो जाते हैं वे दोष दो तरह के हैं एक दोष तो सब विषयों में नाश रूप है तिस से जो विषय नाश रूप है उसमें राग करने पर एक दिन उसका नाश होने पर दुःख अवश्य प्राप्त होगा तिस से सुख चाहने वाले पुरुष को विषयों की कामना न करनी चाहिये और दूसरा दोष विषयों में अतिशयता है। अर्थात् एक से एक विषय अति सुन्दर है तिस से विषयों की चाहनो वाले पुरुष को अपने विषय से और पुरुष का विषय अधिक सुन्दर देख कर चित्त में ताप उपजता है यह दोष मोक्ष शास्त्रों में प्रसिद्ध है उन दोषों को सूक्ष्म बुद्धि से विचार कर काम क्रोध को त्याग कर सुखी हो ॥५८॥

त्यज्यतामेष कामादिर्मनो राज्येतु का क्षतिः ॥
अशेषदोषबीजत्वात्क्षतिर्भगवतेरिता ।। ५९ ॥

शँका—काम क्रोध आदि अनर्थ के हेतु होने से त्यागने चाहियें पर मनो राज्य में तो कुछ क्षति नहीं। तिस से मनो राज्य का त्याग क्यों कहते हो।

उत्तर—मनोराज्य साक्षात् अनर्थ का हेतु नहीं पर परंपरा करके अनर्थ का हेतु है इस से त्यागना चाहिये सब अनर्थों का कारण मनोराज्य ही है तिस से मनोराज्य के करने से परमार्थ का नाश हो जाता है इसी अर्थ को गीता के दूसरे अध्याय में भगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा है ॥ ५९ ॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्सँजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते ॥ ६० ॥

अर्थ—हे अर्जुन विषयों के ध्यान करने हारे पुरुष को विषयों में राग उत्पन्न होता है राग से कामना उत्पन्न होती है कामना में विघ्न होने से क्रोध आता है इस तरह सब अनर्थों का कारण मनोराज्य ही है ॥ ६० ॥

शक्यँ जेतुँ मनोराज्यं निर्विकल्पसमाधितः ।
सुसंपादः क्रमात्सोऽपि सविकल्पसमाधिना ॥ ६१ ॥

अर्थ—सो मनोराज्य निर्विकल्प समाधि से जीता जाता है और निर्विकल्प समाधि क्रम से धीरे २ सविकल्प समाधि के अभ्यास से सिद्ध होती है ॥ ६१ ॥

बुद्धतत्त्वेन धीदोषशून्येनैकांतवासिना ॥
दीर्घं प्रणवमुच्चार्य्य मनोराज्यँ विजीयते ॥६२॥

शंका—अष्टांग योग वाले पुरुष को सविकल्प समाधि के अभ्यास द्वारा निर्विकल्प समाधि से मनोराज्य जीता जाय पर अष्टाँगयोग रहित पुरुष को मनोराज्य के जीतने का क्या उपाय है सो कहो ।

उत्तर-अष्टाँग योग रहित जो ज्ञानवान् पुरुष है और सब काम क्रोध आदि से रहित है बुद्धि जिस की सो एकाँत देश में बैठकर दीर्घ प्रणव का उच्चारण करता हुआ मनोराज्य को जीत लेता है षट्मात्रा द्वादश मात्रा सहित प्रणव को दीर्घ प्रणव कहते हैं ॥ ६२ ॥

जिते तस्मिन्वृत्तिशून्यं मनस्तिष्ठति मूकवत् ।
एतत्पदं वसिष्ठेन रामाय बहुधेरितम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—और मनोराज्य के जीतने पर सब वृत्तियों से रहित मन गूंगे पुरुष की नाईं स्थिर रूप हो जाता है यह हाल वशिष्ठ जी ने रामचन्द्र के प्रति बहुत तरह से कहा है ॥ ६३ ॥

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसोदृश्यमार्जनम् ॥
सम्पन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ॥ ६४ ॥

अर्थ—वसिष्ठ वाक्य । हे राम ! यह दृश्य जगत् कभी भी पैदा न हुआ बंध्या के पुत्र की तरह ऐसे ज्ञान से जब मन से दृश्य की सत्तारूप मैल साफ हो जायगा तब परम निर्वाण रूप सुख मिलेगा ॥ ६४ ॥

विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः ।
संत्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—वसिष्ठ वाक्य हे राम ! मैंने चिरकाल पर्यंत शास्त्र विचारे हैं और गुरु जो ब्रह्मा आदि हैं उनसे भी मैंने श्रवण करे हैं और शिष्यों को अनेक तरह से शास्त्रों का उपदेश भी किया है उस से यह निश्चय किया है कि अच्छी तरह वासना के त्याग रूप मौन के बिना उत्तम पद नहीं मिलता ॥ ६५ ॥

विक्षिप्यते कदाचिद्धीः कर्मणा भोगदायिना।

पुनः समाहिता सा स्यात्तदैवाभ्यासपाटवात् ॥ ६६ ॥

शंका—जो सब वृत्तियों से रहित बुद्धि को प्रारब्ध कर्म से कभी किसी तरह का विक्षेप हो जाय तो उस के दूर करने का उपाय क्या है।

उत्तर—उसका उपाय दृढ़ अभ्यास है अभ्यास की दृढ़ता से उसी समय शीघ्र ही फिर वह बुद्धि विक्षेप से रहित हो जाती है॥ ६६॥

विक्षेपोयस्य नास्त्यस्य ब्रह्मवित्त्वं न मन्यते।

ब्रह्मैवायमिमि प्राहुर्मुनयः पारदर्शिनः ॥ ६७ ॥

अर्थ—जिसको कभी विक्षेप नहीं होता उसको ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मवेत्ता नहीं कहते किन्तु यह ब्रह्म ही है वेदान्त वेत्ता मुनीश्वर ऐसा कहते हैं॥ ६७॥

दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः।

यस्तिष्ठति स तु ब्रह्मन् ब्रह्म न ब्रह्मवित्स्वयम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—इस विषय में वसिष्ठजी के प्रति देवार्चना के प्रसंग में शिव वाक्य प्रमाण है कि हे ब्राह्मण! जो पुरुष मैं ब्रह्म को जानता हूँ और मैं ब्रह्म को नहीं जानता इन दोनों व्यवहारों को त्याग आप अद्वितीय चैतन्य मात्र रूप से स्थित होता है सो ब्रह्मज्ञानी नहीं किन्तु आप ब्रह्मस्वरूप है॥ ६८॥

जीवन्मुक्तेः परा काष्ठा जीवद्वैतविवर्जनात् ॥

लभ्यतेऽसावतोऽत्र देमीशद्वैताद्विवेचिमम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—इस प्रकार इस प्रकरण में ईश्वर द्वैत से भिन्न जीवद्वैत वर्णन किया उस जीवद्वैत के त्यागने से जीवन्मुक्ति की जो परम अवधि है ज्ञानकी सप्तम भूमिका सो मिलती है॥ ६९॥

इति श्री विद्यारण्य मुनीश्वर विचित

द्वैतविवेकः समाप्तः॥ ४॥

अथ महा वाक्य विवेक प्रकरणम्

श्रीगणेशाय नमः

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोतिच ॥
स्वाद्वस्वादु विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम् ॥१॥

अथ महा वाक्य विवेक व्याख्या ॥

अर्थ-इस पंचम विवेक का नाम महा वाक्य विवेक है इस में प्रसिद्ध जो चार महा वाक्य हैं उनका अर्थ कहेंगे मुमुक्षु को मोक्ष का साधन जो जीव ब्रह्म का अभेद ज्ञान है उसकी प्राप्ति के लिये उन चार महा वाक्यों के मध्य में प्रथम महा वाक्य ऋग्वेद की ऐतरेय उपनिषद्‌ में कहा है (प्रज्ञानं ब्रह्म) इस महा वाक्य में प्रज्ञान शब्द का अर्थ कहते हैं। जिस चैतन्य से शब्द स्पर्श रूप रस गंध इन पाँच विषयों को श्रोत्र त्वचा नेत्र जिव्हा घ्राण द्वारा जानता है और जिस चैतन्य से अनेक तरह के शब्द कहता है और जिस चैतन्य से ग्रहण त्याग गमन आदि सब व्यापार कर्ता है और जिस चेतन्य से अंतः-करण की संकल्प विकल्प आदि वृत्तियों को जानता है ब्रह्मवेत्ता उस चैतन्य का नाम प्रज्ञान कहते हैं,

चतुर्मुखेंद्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु ॥
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्ममय्यपि ॥२॥

अर्थ-सोई चैतन्य ब्रह्म के रूप को धार कर स्थित हुआ है सोई चैतन्य इंद्रादि देवताओं के रूप को धार कर स्थित है सोई चैतन्य मनुष्य रूप को धार कर स्थित है सोई चैतन्य घोड़े आदि रूपों को धार कर स्थित है सोई चैतन्य आकाश आदि पंच भूतों में कारणता रूप से स्थित है ऐसा जो एक रूप चैतन्य सब में है सो ब्रह्म है जिस कारण सब में चैतन्य ब्रह्म स्थित है तिसी से मुझ में भी चैतन्य ब्रह्म स्थित है ॥२॥

परिपूर्णः परात्मास्मिन्देहे विद्याधिकारिणि ॥
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते ॥३॥

अर्थ-इस तरह ऋग्वेद की शाखा में स्थित (प्रज्ञानं ब्रह्म) इस महावाक्य का अर्थ कह कर। अब यजुर्वेद के बृहदारण्यक उपनिषद्‌ में स्थित जो (अहं ब्रह्मास्मि) यह महावाक्य है इसका अर्थ कहने के लिये) प्रथम अहं शब्द का अर्थ लिखते है

जो परमात्मा स्वभाव से ही परिपूर्ण है अर्थात् देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित है सोई परमात्मा ब्रह्म विद्या का अधिकारी शम दम आदि साधन संपन्न जो जिज्ञासु है उसके शरीर में स्थित है मन बुद्धि आदि सब का साक्षी और विकार को न प्राप्त हो कर सबका प्रकाशक है सो अहं शब्द का अर्थ है ॥३॥

स्वतः पूर्णः परात्माऽत्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः॥
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम् ॥४॥

अर्थ–ब्रह्म शब्द का अर्थ। जो स्वभाव से देश काल वस्तु परिच्छेद से रहित है सो इस महा वाक्य में ब्रह्मशब्द का अर्थ कहा है अहं शब्द और ब्रह्म शब्द इनकी समानाधिकरणता से जो जीव ब्रह्म की एकता का बोध है उसको अस्मि यह शब्द जनावता है जिस कारण ब्रह्म देश काल वस्तु परिच्छेद से रहित है तिस कारण से मैं ब्रह्म हूं ॥४॥

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम् ।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते ॥ ५

अर्थ—अब सामवेद की छांदोग्य उपनिषद में स्थित (तत्त्वमसि) इस महा वाक्य के अर्थ को प्रकाश करने के लिये तत् पद का लक्ष्य अर्थ कहते हैं। जो जगत् की उत्पत्ति से पूर्व नाम रूप से रहित एक अद्वितीय ब्रह्म ही था सो ब्रह्म अब भी ज्यों का त्यों सजातीय विजातीय स्वगत भेद से रहित स्थित है अर्थात् आज तक एक रस है सो तत् पद का अर्थ है ॥ ५ ॥

श्रोतुर्देहेंद्रियातीतं वस्त्वत्रत्वंपदेरितम् ।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयतां ॥ ६ ॥

अर्थ—जो तुझ श्रोताका स्वरूप है जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं का प्रकाशक और इन तीन अवस्थाओं से विलक्षण सो ब्रह्म है जगत्की उत्पत्ति स्थिति लय का कारण और सजातीय विजातीय स्वगत भेद से रहित सदा निर्विकार एक रस अर्थात् जो तेरा स्वरूप स्थूल आदि तीन शरीरों का साक्षी होने से उन तीनों से विलक्षण है सो इस महावाक्य में त्वं पद से कहा है और असि यह पद एकता का ग्रहण कराता है तिस से उस ब्रह्म के साथ अपनी एकता का अनुभव कर ॥ ६ ॥

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितोमतम् ।
अहंकारादिदेहांतात्प्रत्यगात्मेति गीयते ॥ ७ ॥

अर्थ—अब अथर्वण वेद की मांडूक्य उपनिषद् में स्थित (अयमात्मा ब्रह्म) इस महावाक्य में अयम् और आत्मा इन दो पदों से विवक्षित जो अर्थ है उस का रूप से दिखलाते हैं। अयम् इस शब्द से स्वप्रकाशापरोक्षत्व माना है अर्थात् यह आत्मा स्वप्रकाश अपरोक्ष है अहंकार से लेकर देह पर्यंत सब का साक्षी और सब अहंकारादि से भिन्न और सब अहंकार आदि से परे सो आत्मा ऐसा गाया जाता है ॥ ७ ॥

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते।
ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जो मिथ्या रूप आकाश आदि सब जगत् की कल्पना का अधिष्ठान है और जो आकाश आदि सब जगत् का बाध होने पर पीछे शेष रहता है सो ब्रह्म शब्द कर के कहा है सो ब्रह्म स्वयं प्रकाश है अर्थात् हृदय में साक्षी रूप होकर प्रकाशमान है सोई साक्षी स्वप्रकाशता कर के और अपरोक्षता करके सब जगत् की कल्पना की अधिष्ठान रूपता से स्थित है और सब जगत् का अभाव होने पर बाकी रहता है ॥ ८ ॥

इति श्री विद्यारण्य मुनीश्वर विरचित।
महावाक्य विवेकः समाप्तः ॥ ५ ॥

श्रीगणेशायनमः ॥

अथ चित्रदीपप्रकरणम् ॥

यथा चित्रपटे दृष्टमवस्थानां चतुष्टयम् ।
परमात्मनि विज्ञेयं तथाऽवस्थाचतुष्टयम् ॥ १ ॥

श्रीगणेशायनमः ॥

शुक्लांबरधरंविष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजं ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशांतये ॥ १ ॥
यस्य स्मरणमात्रेण विघ्ना दूरं प्रयाँति हि ।
वन्देऽहं दंतिवक्त्रं तंवांछितार्थप्रदायकम् ॥ २ ॥
नत्वा श्रीभारतीतीर्थ विद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
क्रियते चित्रदीपस्य व्याख्या तात्पर्यबोधिनी ॥ ३ ॥

अर्थ—चित्रदीप पंचदशी का छठा प्रकरण है इस में जगत् का चित्ररूप दिखलाया है। जैसे चित्र पट में चार अवस्था दीखती हैं तैसे परमात्मा में भी चार अवस्था जाननीं ॥ १ ॥

यथा धौतो घट्टितश्च लांछितो रंजितः पटः ।
चिदन्तर्यामी सूत्रात्मा विराट् चात्मा तथेर्यते ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे वस्त्र की एक अवस्था धौत दूसरी घट्टित तीसरी लाँछित चौथी रंजित तैसे परमात्मा की एक अवस्था चित् दूसरी अन्तर्यामी तीसरी सूत्रात्मा चौथी विराट् ॥ २ ॥

स्वतः शुभ्रोऽत्र धौतः स्याद्घट्टितोऽन्नविलेपनात् ।
मष्याकारै र्लाञ्छितः स्याद्रंजितो वर्णपूरणात् ॥ ३ ॥

अर्थ—इन अवस्थाओं में जो वस्त्र स्वभाव से शुद्ध और माया से रहित है सो धौत है और जिस को अन्नविलेपनरूप माया लगी है सो घटित है और जो सूक्ष्म २ आकारों से युक्त है सो लाँछित है और जो यथायोग्य वर्णों से पूरित है सो रंजित है ॥ ३ ॥

स्वत श्चिदन्तर्यामी तु मायावी सूक्ष्मसृष्टितः ।
सूत्रात्मा स्थूलसृष्टयैव विराडित्युच्यते परः ॥ ४ ॥

अर्थ—तैसे माया से और माया के कार्य से रहित जो वास्तव शुद्ध स्वरूप परमात्मा है सो चित् है और माया के योग से मायावी अन्तर्यामी और और अपंचीकृत भूतों के कार्य रूप समष्टि सूक्ष्म शरीरों के योग से सूत्रात्मा और पंचीकृत पंच महा भूतों के कार्यरूप समष्टिस्थूल शरीरों के योग से विराट् ऐसा कहा जाता है॥४॥

ब्रह्माद्याः स्तंबपर्यंताः प्राणिनोऽत्र जडा अपि ।
उत्तमाधमभावेनवर्तंते पटचित्रवत् ॥ ५ ॥

अर्थ—जैसे चित्र पट में देवता मनुष्य गौ घोड़े आदि की मूर्ति लिखी हैं तैसे ब्रह्मा से लेकर स्तंभ पर्यंत प्राणधारी और पर्वत वृक्ष आदि जड़ ये सब उत्तम अधम भाव से पट में चित्र की तरह उस परमात्मा में स्थित हैं ब्रह्मा सेलेकर जगत् चेतनतरूपता से स्थित हैं और पर्वत आदि जड़ रूपता से स्थित है क्यों कि ब्रह्मा आदि में चिदाभास हैं और पर्वत आदि में चिदाभास नहीं. ॥ ५ ॥

चित्रार्पितमनुष्याणाँ वस्त्राभासाः पृथक् पृथक् ॥
चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशा इव कल्पिताः ॥ ६ ॥

अर्थ—जैसे चित्र में लिखे हुये मनुष्य आदि शरीरों के अनेक वर्ण वाले वस्त्र विशेष भिन्न २ लिखे हैं और वे शीत आदि का निवारण नहीं कर सके इसी से वे वस्त्राभास आधार भूत वस्त्र के सदृश कल्पित हैं ॥ ६ ॥

पृथक् पृथक् चिदाभासाश्चैतन्याध्यस्तदेहिनाम् ।
कल्प्यँते जीवनामानो बहुधा संसरंत्यमी ॥ ७ ॥

अर्थ—तैसे परमात्मा में कल्पित जो प्राणी हैं उनके जीवनाम चिदाभास भिन्न भिन्न कल्पित हैं सो ये चिदाभास नाम जीव देवता तिर्यक् मनुष्य आदि शरीरों को प्राप्त होकर जन्म लेते हैं और मरते हैं और परमात्मा निर्विकार है सो जन्म मरण को प्राप्त नहीं होता ॥ ७ ॥

वस्त्राभासस्थितान् वर्णान् यद्वदाधार वस्त्रगान् ।
वदंत्यज्ञास्तथा जीवसंसारं चिद्गतं विदुः ॥ ८ ॥

और जो वादी और लोग कहते हैं कि परमात्मा ही का जन्म मरण होता है सो परमात्मा के अज्ञान से कहते हैं इसमें दृष्टांत। जैसे चित्र में स्थित देवता मनुष्य

आदि के वस्त्रों में रक्त पीत आदि रंग हैं उनको मूर्ख लोग आधार रूप वस्त्र में कहते हैं पर वे रंग आधार रूप वस्त्र में नहीं किन्तु वस्त्राभासों में स्थित हैं तैसे जन्म मरण रूप संसार चिदाभास नाम जीवों में है परमात्मा में नहीं और मूर्ख अज्ञानी परमात्मा में ही जन्म मरण की कल्पना करते हैं ॥ ८ ॥

चित्रस्थपर्वतादीनाँ वस्त्राभासो न लिख्यते ॥
सृष्टिस्थमृत्तिकादीनाम् चिदाभासस्तथा न हि ॥९॥

अर्थ—जैसे चित्र में स्थित पर्वत आदि का वस्त्राभास नहीं लिखते तैसे सृष्टि में स्थित जड़ रूप मृत्तिका आदि के मध्य में चिदाभास नहीं क्योंकि इनका कुछ प्रयोजन नहीं जो पर्वत आदि वस्त्र धारण करते और मृत्तिका आदि में स्वतः सिद्ध गमन आदि व्यवहार होते तो इन में वस्त्राभास और चिदाभास लिखने की आवश्यकता थी ॥ ९ ॥

संसारः परमार्थोऽयं संलग्नः स्वात्मवस्तुनि ॥
इति भ्रांतिरविद्या स्याद्विद्ययैषा निवर्तते ॥१०॥

अर्थ—इस तरह परमात्मा में आरोपित जो संसार है सो ब्रह्मज्ञान से दूर होता है क्योंकि अज्ञान से पैदा हुआ जो यह संसार है सो सत्य रूप है और परमात्मा में लगा हुआ है यह जो भ्रम है सोई अविद्या है अर्थात् इस भ्रम ही का नाम अविद्या और अज्ञान है उस अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है ॥ १० ॥

आत्माभासस्य जीवस्य संसारो नात्मवस्तुनः ॥
इति बोधोभवेद्विद्या लभ्यतेऽसौ विचारणात् ॥११॥

अर्थ—यह ज्ञान कौनसा है और उसके मिलने का क्या उपाय है सो कहते हैं। चिदाभासरूपजीवका जन्म मरण होता है और इसी में रागद्वेष हैं असंग कूटस्थ निर्विकार परमात्मा का जन्म मरण नहीं होता और न इस को राग द्वेष होते हैं इस बोध का नाम ब्रह्म विद्या है सो ब्रह्म विद्या विचारसे प्राप्त होती है तिससे मुमुक्षु जन सदा जीव और जगत् और परमात्मा का विचार करे ॥११॥

सदा विचारयेत्तस्मात् जगज्जीवपरात्मनः ॥
जीवभावजगद्भाव बाधे स्वात्मैव शिष्यते ॥ १२ ॥

शंका परमात्माका विचार तो करना चाहिये क्योंकि जो परमात्मा फल रूपता से मोक्ष समय में भी विद्यमान है और मिथ्या रूप जीव और जगत्का विचारतो मिथ्या है

उत्तर—जीव और जगत् के निषेध से परमात्मा कि अद्वैतता की सिद्धि के अर्थ जीव और जगत् का भी विचार करना चाहिये क्यों, कि इन दोनों के विचार के बिना इन दोनों की मिथ्यारूपता निश्चय नहीं होती और जीव जगत् की मिथ्या-रूपता के निश्चय किये बिना परमात्मा का अद्वैत रूप निश्चय नहीं होता, तिस से इन तीनों का विचार नित्य प्रति करे जीव और जगद्भाव का बाध होने पर केवल अपना आत्मा ही बाकी रहता है इससे जीव और जगत् के बाध के अर्थ और परमात्मा की शेष रूपता के अर्थ सदा ही इनका विचार करना उचित है ॥१२॥

नाप्रतीतिस्तयो र्बाध किन्तु मिथ्यात्वनिश्चयः ॥
नो चेत्सुषुप्तिमूर्छादौ मुच्येतायत्नतोजनः ॥ १३ ॥

शंका—विचार से जीव जगत् का बाध होने पर जीव और जगत् की प्रतीति न होगी जो इन की प्रतीति न हुई तो तत्व वेत्ता का सब व्यवहार लोप होना चाहिये।

उत्तर—बाध शब्द का यह अर्थ नहीं है कि जीव और जगत् की प्रतीति न हो किन्तु इन दोनों को मिथ्या जानना यह ही बाध शब्द का अर्थ है और जो तू ऐसा हठ करे कि जगत् और जीव की अप्रतीति ही बाध शब्द का अर्थ है। तो सुषुप्ति और मूर्छा आदि में इन दोनों की प्रतीति नहीं होती॥ तिससे सुषुप्ति और मूर्छा वाले पुरुष की मोक्ष बिना ही ब्रह्म ज्ञान के होनी चाहिये॥ फिर कोई मनुष्य ब्रह्म ज्ञान के लिये यत्न क्यों करेगा। सो यह बात तो नहीं बनती क्योंकि ब्रह्म ज्ञानसे ही मोक्ष होती॥१३॥

परमात्मात्रशेषोऽपि तत्सत्यत्वविनिश्चयः ॥
न जगद्विस्मृतिर्नेचिज्जीवन्मुक्तिर्न संभवेत् ॥ १४ ॥

अर्थ—और परमात्मा की सत्य रूपता का जो निश्चय है सोई परमात्मा की शेषता है। और जगत् का भूल जाना यह परमात्मा की शेषता नहीं। जो जगत् का भूल जाना ही परमात्मा की शेषता हो। तो जीवन्मुक्ति न सिद्ध होगी। क्यों कि सर्वथा जगत् का भूल जाना तो विदेह मुक्ति में सिद्ध होगा ॥१४॥

परोक्षाचापरोक्षेति विद्या द्वेधा विचारजा ॥
तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते ॥ १५ ॥

शंका—सदा विचार करे। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि मरण पर्यन्त विचार करे।

आदि के वस्त्रों में रक्त पीत आदि रंग हैं उनको मूर्ख लोग आधार रूप वस्त्र में कहते हैं पर वे रंग आधार रूप वस्त्र में नहीं किन्तु वस्त्राभासों में स्थित हैं तैसे जन्म मरण रूप संसार चिदाभास नाम जीवों में है परमात्मा में नहीं और मूर्ख अज्ञानी परमात्मा में ही जन्म मरण की कल्पना करते हैं ॥ ८ ॥

चित्रस्थपर्वतादीनाँ वस्त्राभासो न लिख्यते ॥
स्टष्टिस्थमृत्तिकादीनाम् चिदाभासस्तथा न हि ॥९॥

अर्थ—जैसे चित्र में स्थित पर्वत आदि का वस्त्राभास नहीं लिखते तैसे स्टष्टि में स्थित जड़ रूप मृत्तिका आदि के मध्य में चिदाभास नहीं क्योंकि इनका कुछ प्रयोजन नहीं जो पर्वत आदि वस्त्र धारण करते और मृत्तिका आदि में स्वतः सिद्ध गमन आदि व्यवहार होते तो इन में वस्त्राभास और चिदाभास लिखने की आवश्यकता थी ॥ ९ ॥

संसारः परमार्थोऽयं संलग्नः स्वात्मवस्तुनि ॥
इति भ्रांतिरविद्या स्याद्विद्ययैषा निवर्तते ॥१०॥

अर्थ—इस तरह परमात्मा में आरोपित जो संसार है सो ब्रह्मज्ञान से दूर होता है क्योंकि अज्ञान से पैदा हुआ जो यह संसार है सो सत्य रूप है और परमात्मा में लगा हुआ है यह जो भ्रम है सोई अविद्या है अर्थात् इस भ्रम ही का नाम अविद्या और अज्ञान है उस अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है ॥ १० ॥

आत्माभासस्य जीवस्य संसारो नात्मवस्तुनः ॥
इति बोधोभवेद्विद्या लभ्यतेऽसौ विचारणात् ॥११॥

अर्थ—वह ज्ञान कौनसा है और उसके मिलने का क्या उपाय है सो कहते हैं। चिदाभासरूपजीवका जन्म मरण होता है और इसी में रागद्वेष हैं असंग कूटस्थ निर्विकार परमात्मा का जन्म मरण नहीं होता और न इस कोराग द्वेष होते हैं इस बोध का नाम ब्रह्म विद्या है सो ब्रह्म विद्या विचारसे प्राप्त होती है तिससे मुमुक्षु जन सदा जीव और जगत् और परमात्मा का विचार करे ॥ ११ ॥

सदा विचारयेत्तस्मात् जगज्जीवपरात्मनः ॥
जीवभावजगद्भाव बाधे स्वात्मैव शिष्यते ॥ १२ ॥

शंका परमात्माका विचार तो करना चाहिये क्योंकि जो परमात्मा फल रूपता से मोक्ष समय मेंभी विद्यमान है और मिथ्या रूप जीव और जगत्का विचार तो मिथ्या है

उत्तर—जीव और जगत् के निषेध से परमात्मा कि अद्वैतता की सिद्धि के अर्थ जीव और जगत् का भी विचार करना चाहिये क्यों कि इन दोनों के विचार के विना इन दोनों की मिथ्यारूपता निश्चय नहीं होती और जीव जगत् की मिथ्या-रूपता के निश्चय किये विना परमात्मा का अद्वैत रूप निश्चय नहीं होता, तिस से इन तीनों का विचार नित्य प्रति करे जीव और जगद्भाव का बाध होने पर केवल अपना आत्मा ही बाकी रहता है इससे जीव और जगत् के बाध के अर्थ और परमा त्मा की शेष रूपता के अर्थ सदा ही इनका विचार करना उचित है ॥१२॥

नाप्रतीतिस्तयो र्बाध किन्तु मिथ्यात्वनिश्चयः ॥
नो चेत्सुषुप्तिमूर्छादौ मुच्येतायत्नतोजनः ॥ १३ ॥

शंका—विचार से जीव जगत् का बाध होने पर जीव और जगत् की प्रतीति न होगी जो इन की प्रतीति न हुई तो तत्व वेत्ता का सब व्यवहार लोप होना चाहिये।

उत्तर—बाध शब्द का यह अर्थ नहीं है कि जीव और जगत् की प्रतीति न हो किन्तु इन दोनों को मिथ्या जानना यह ही बाध शब्द का अर्थ है और जो तू ऐसा हठ करे कि जगत् और जीव की अप्रतीति ही बाध शब्द का अर्थ है। तो सुषुप्ति और मूर्छा आदि में इन दोनों की प्रतीति नहीं होती॥ तिससे सुषुप्ति और मूर्छा वाले पुरुष को मोक्ष बिना ही ब्रह्म ज्ञान के होनी चाहिये॥ फिर कोई मनुष्य ब्रह्म ज्ञान के लिये यत्न क्यों करेगा। सो यह बात तो नहीं बनती क्योंकि ब्रह्म ज्ञानसे ही मोक्ष होती॥१३॥

परमात्मावशेषोऽपि तत्सत्यत्वविनिश्चयः ॥
न जगद्विस्मृतिनेचिज्जीवन्मुक्तिर्न संभवेत् ॥ १४ ॥

अर्थ—और परमात्मा की सत्य रूपता का जो निश्चय है सोई परमात्मा की शेषता है। और जगत् का भूल जाना यह परमात्मा की शेषता नहीं। जो जगत् का भूल जाना ही परमात्मा की शेषता हो। तो जीवन्मुक्ति न सिद्ध होगी। क्यों कि सर्वथा जगत् का भूल जाना हो विदेह मुक्ति में सिद्ध होगा ॥१४॥

परोक्षाचापरोक्षेति विद्या द्वेधा विचारजा ॥
तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते ॥ १५ ॥

शंका—सदा विचार करे। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि मरण पर्यंत विचार करे।

उत्तर—हम यह नहीं कहते कि मरण पर्यंत विचार करे किन्तु क्या कहते हैं कि अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञान पर्यंत विचार करे। जैसे तृप्ति पर्यंत भोजन करता है। सो विचार जन्य ब्रह्म ज्ञान दो तरह का है एक परोक्ष दूसरा अपरोक्ष। तहाँ अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति होने से यह विचार समाप्त हो जाता है। अर्थात् फिर विचार करने की आवश्यकता नहीं रहती ॥१५॥

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत् ॥
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः सउच्यते ॥१६॥

अर्थ—जगत् का कारण ब्रह्म है ऐसा जो ज्ञान है सो परोक्ष ज्ञान है। और सब जगत् का कारण ब्रह्म मैं हूँ ऐसा जो ज्ञान है सो अपरोक्ष ज्ञान है ॥१६॥

तत्साक्षात्कारसिद्ध्यर्थमात्मतत्वं विविच्यते ॥
येनायं सर्वसंसारान् सद्य एव विमुच्यते ॥ १७ ॥

अर्थ—उस अपरोक्ष आत्मज्ञान की सिद्धि के लिये विचार करना चाहिये। जिस ज्ञान से यह पुरुष उसी समय सब संसार से छूट जाय ॥१७॥

कूटस्थोब्रह्मजीवेशावित्येवंचिच्चतुर्विधा।
घटाकाशमठाकाशौजलाकाशाभ्रखेयथा ॥ १८ ॥

अर्थ—एक ही परमात्मा व्यवहार दशा में चार रूपों को प्राप्त होता है। एक कूटस्थ दूसरा ब्रह्म तीसरा जीव चौथा ईश्वर॥ जैसे एक आकाश चार रूपों को प्राप्त होता है। एक घटाकाश दूसरा मठाकाश तीसरा जलाकाश चौथा मेघाकाश ॥ १८ ॥

घटावच्छिन्नखे नीरं यत्तत्र प्रतिबिम्बितः ॥
साभ्रनक्षत्रआकाशो जलाकाश उदीर्यते ॥ १९ ॥

अर्थ—घटावच्छिन्न जो आकाश है सो घटाकाश है अर्थात् घट के अंदर जो आकाश है सो घटाकाश है। और जो घट के बाहर सब पदार्थों को अवकाश देने वाला आकाश है सो महाकाश है। और घटके अन्तगत जो घटावच्छिन्न आकाश है उस में जो जल है उस जल में प्रतिबिंब भाव को प्राप्त हुआ जो बादल और तारों सहित आकाश सो जलाकाश है ॥१९॥

महाकाशस्यमध्ये यन्मेघमंडलमीक्ष्यते ॥
प्रतिबिंबतया तत्र मेघाकाशो जले स्थितः ॥२०॥

अर्थ—और महाकाश के बीच जो मेघ मंडल दीखता है उसमें जो जल है उस जल में जो आकाश का प्रति बिंब है सो मेघाकाश है ॥ २० ॥

मेघांशरूपमुदकं तुषाराकारसंस्थितम् ॥
तत्र खप्रतिबिंबोऽयं नीरत्वादनुमीयते ॥ २१ ॥

शंका—मेघ मंडल में जल तो प्रतीत नहीं होता फिर उसमें आकाश का प्रति बिंब कैसे कहते हो।

उत्तर—मेघ मंडल में जो जल है सो यद्यपि प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता तो भी मेघ मंडलसे वर्षा प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। उस वृष्टि रूप कार्य से भान होता है कि उस वर्षा का कारण रूप जल बरफ की नाई जमा हुआ मेघ मंडल में स्थित है जिस हेतु से जल स्थित है तिस हेतु से उसमें आकाश का प्रति बिंब भी पड़ता है तिससे यह अनुमान सिद्ध हुआ कि (जलम् आकाशबिंब ग्रहीतुमर्हति जलत्वात् घट गत जलवत्) अर्थ-मेघ मंडलमें जो जल है सो आकाश के प्रतिबिंब वाला है जल होने से जैसे घट में जल आकाश के प्रति बिंब वाला है, तिससे मेघाकाश सिद्ध हुआ ॥२१॥

अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः ॥
कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते ॥ २२ ॥

अर्थ—इस प्रकार दृष्टांत रूप आकाश के चार भेद सिद्ध किये। अब दार्ष्टांत में चैतन्य के जो चार भेद हैं। उनमें प्रथम कूटस्थ का स्वरूप कहते हैं। पंचीकृत महाभूतों का जो कार्य अविद्याकल्पित स्थूल शरीर है। और अपंचीकृत महाभूतों का कार्य जो अविद्या कल्पित सूक्ष्म शरीर है। उन दोनों शरीरों की अधिष्ठानता करके वर्तमान और दोनों शरीरों से जो अवच्छिन्न चैतन्य है। कूटकी तरह निर्विकार स्थित सो कूटस्थ है कूटनाम हिरण्य का है ॥ २२ ॥

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिंबकः ॥
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेणास युज्यते ॥२३

अर्थ—कूटस्थ में कल्पित जो बुद्धि है उसमें कल्पित जो चैतन्य का प्रतिबिंब है सो जीव है प्राणों के धारने से यह जीव जन्म मरण रागद्वेष रूप संसार को प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

जलव्योम्नाघटाकाशो यथा सर्वस्तिरोहितः ॥
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योन्याध्यासउच्यते ॥ २४ ॥

शंका—प्राणधारी जीव तो प्रतीत होता है। और उससे भिन्न कूटस्थ प्रतीत नहीं होता सो है या नहीं॥

उत्तर—जीवने कूटस्थ को ढक रक्खा है इससे कूटस्थ नहीं प्रतीत होता जैसे जलाकाश से ढका हुआ घटाकाश नहीं प्रतीत होता।

शंका—जीव करके आच्छादित कूटस्थ है यह कथन शास्त्रों में तो कहीं किया नहीं इससे स्वकपोलकल्पित प्रमाण नहीं मानते।

उत्तर—चिदाभास से जो कूटस्थ का ढक जाना है इस को शारीरक भाष्य आदि आदि में अन्योन्याध्यास नाम करके कहा है तिस से स्वकपोल कल्पित नहीं॥ २४॥

अयं जीवो न कूटस्थं विविनक्ति कदाचन॥
अनादिरविवेकोऽयं मूला विद्येति गम्यताम्॥२५॥

शंका—जो इसी का नाम अन्योन्याध्यास है तो अन्योन्याध्यास का कारण रूप अविद्या कहनी चाहिये॥

संसार दशा में यह जीव अपने से भिन्न कूटस्थ को कभी नहीं जानता ऐसा जो अनादि अविवेक है। सो मूल रूप अविद्या कही है॥ २५॥

विक्षेपावृत्तिरूपाभ्यां द्विधाऽविद्याऽत्ययस्थिता।
नभाति नास्ति कूटस्थ इत्यापादनमावृतिः॥ २६॥

अर्थ—सो अविद्या दो प्रकार की है। विक्षेपरूप और आवरणरूप, कूटस्थ नहीं है, और न प्रतीत होता है। इस व्यवहार का हेतु आवरण है॥२६॥

अज्ञानी विदुषा पृष्टः कूटस्थं न प्रबुध्यते॥
नभाति नास्ति कूटस्थ इति बुद्धा वदत्यपि॥ २७॥

शंका—अविद्या और उसके कार्य रूप आवरण में क्या प्रमाण है।

उत्तर—अविद्या और उसके कार्य रूप आवरण में अज्ञानी जीव का अनुभव प्रमाण है, जैसे किसी एक स्थान में ज्ञानवान् ने अज्ञानी से पूछा कि तू कूटस्थ को जानता है सो अज्ञानी कहता है कि मैं कूटस्थ को नहीं जानता यह अज्ञानी का अनुभव अज्ञान का जनावता है कूटस्थ में ऐसे अज्ञान के अनुभव को जना कर अज्ञानी चुप नहीं रहता क्या कहता है कि कूटस्थ नहीं है इसीसे मुझे नहीं दीखता यह अज्ञानी का कथन कूटस्थमें असत्तापादक और अभानापादक आवरणको जनावताहै, इस कारण अविद्या और उसका कार्य आवरण इन दोनोंमें अज्ञानीका अनुभव ही प्रमाण है॥२७

स्वप्रकाशे कुतोऽविद्या तां विना कथमावृतिः।
इत्यादितर्कजालानि स्वानुभूतिर्ग्रसत्यसौ ॥ २८ ॥

शंका—तेरे मत में आत्मा को स्वप्रकाश होने से उसमें अविद्या नहीं बनती। क्यों कि स्वप्रकाश और अविद्या का सम्बन्ध ही नहीं बनता परस्पर विरुद्ध स्वभाव होने से सूर्य और अंधकार की नाई अविद्या का अभाव होने पर अविद्या का कार्य आवरण भी नहीं बनता आवरण का अभाव होने पर आवरण है मूल जिसका ऐसा जो विक्षेप है सो भी नहीं बनता और विक्षेप का अभाव होने पर ज्ञान से निवृत्त होने के योग्य अनर्थ का अभाव होने से ज्ञान को व्यर्थता प्राप्त हुई तिससे ज्ञान प्रतिपादक वेदांत शास्त्र व्यर्थ हुआ।

उत्तर—तेरी इन तर्कों के समूह को अज्ञानी का अनुभव ग्रस लेता है क्यों कि अज्ञानी ने अपने अनुभव से अविद्या और आवरण ये दोनों कूटस्थ में देख लिये हैं तिससे अनुभव सिद्ध अर्थ में तेरी तर्क व्यर्थ हैं ॥ २८ ॥

स्वानुभूतावविश्वासे तर्कस्याप्यनवस्थितेः।
कथंवा तार्किकं मन्यस्तत्वनिश्चयमाप्नुयात् ॥ २९ ॥

शंका—अनुभव मात्र से तो कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता जो अनुभव मात्र से कोई वस्तु सिद्ध हो तो सूर्य भी एक बिलस्त मात्र सिद्ध होना चाहिये किन्तु अबाधित अनुभव से वस्तु की सिद्धि होती है और सूर्य का जो एक बिलस्त मात्र अनुभव है सो बाधित है क्योंकि जो एक बिलस्तमात्र होता तो ब्रह्मांड को कैसे प्रकाशित करता तैसे अज्ञानी का जो अनुभव है अविद्या और आवरणको जनावने वाला सो भी बाधित है मैंने जो पीछे तर्क कही हैं उनके साथ विरोध होने से तिस कारण उस अनुभव आभास से तत्व निश्चय नहीं होता॥

उत्तर—जो तू अनुभव का प्रमाण स्वीकार न करेगा तो केवल तर्क तो निश्चय का कारण नहीं होती इस बात को तो तू आप ही मानता है तिस से तेरे को तत्व का निश्चय कहीं भी न होगा क्योंकि अनुभव में तो तुझे विश्वास नहीं और तर्क में अनवस्था होती है सो उस अनवस्थाका यह रूप है एक तर्क में दूसरी तर्क दूसरीमें तीसरी तर्क तीसरी में चौथी तर्क इसी तरह आगे २ तर्क की प्रवृत्ति होती है॥ २९॥

बुद्ध्यारोहाय तर्कश्चेदपेक्ष्येत तथा सति।
स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम् ॥ ३० ॥

शंका—प्राणधारी जीव तो प्रतीत होता है। और उससे भिन्न कूटस्थ प्रतीत नहीं होता सो है या नहीं॥

उत्तर—जीवने कूटस्थ को ढक रक्खा है इससे कूटस्थ नहीं प्रतीत होता जैसे जलाकाश से ढका हुआ घटाकाश नहीं प्रतीत होता।

शंका—जीव करके आच्छादित कूटस्थ है यह कथन शास्त्रों में तो कहीं किया नहीं इससे स्वकपोलकल्पित प्रमाण नहीं मानते।

उत्तर—चिदाभास से जो कूटस्थ का ढक जाना है इस को शारीरक भाष्य आदि आदि में अन्योन्याध्यास नाम करके कहा है जिस से स्वकपोल कल्पित नहीं॥ २४॥

अयं जीवो न कूटस्थं विविनक्ति कदाचन॥
अनादिरविवेकोऽयं मूला विद्येति गम्यताम्॥२५॥

शंका—जो इसी का नाम अन्योन्याध्यास है तो अन्योन्याध्यास का कारण रूप अविद्या कहनी चाहिये॥

संसार दशा में यह जीव अपने से भिन्न कूटस्थ को कभी नहीं जानता ऐसा जो अनादि अविवेक है। सो मूल रूप अविद्या कही है॥ २५॥

विक्षेपावृत्तिरूपाभ्यां द्विधाऽविद्याप्रयस्थिता।
नभाति नास्ति कूटस्थ इत्यपादानमावृतिः॥ २६॥

अर्थ—सो अविद्या दो प्रकार की है। विक्षेपरूप और आवरणरूप, कूटस्थ नहीं है, और न प्रतीत होता है। इस व्यवहार का हेतु आवरण है॥२६॥

अज्ञानी विदुषा पृष्टः कूटस्थं न प्रबुध्यते॥
नभाति नास्ति कूटस्थ इति बुद्धा वदत्यपि॥ २७॥

शंका—अविद्या और उसके कार्य रूप आवरण में क्या प्रमाण है।

उत्तर—अविद्या और उसके कार्य रूप आवरण में अज्ञानी जीव का अनुभव प्रमाण है, जैसे किसी एक स्थान में ज्ञानवान् ने अज्ञानी से पूछा कि तू कूटस्थ को जानता है सो अज्ञानी कहता है कि मैं कूटस्थ को नहीं जानता यह अज्ञानी का अनुभव अज्ञान को जनावता है कूटस्थ में ऐसे अज्ञान के अनुभव को जना कर अज्ञानी चुप नहीं रहता क्या कहता है कि कूटस्थ नहीं है इसीसे मुझे नहीं दीखता यह अज्ञानी का कथन कूटस्थमें असत्तापादक और अभानापादक आवरणको जनावताहै, इस कारण अविद्या और उसका कार्य आवरण इन दोनोंमें अज्ञानीका अनुभव ही प्रमाण है॥२७

स्वप्रकाशे कुतोऽविद्या तां विना कथमावृतिः।
इत्यादितर्कजालानि स्वानुभूतिर्ग्रसत्यसौ॥ २८॥

शंका—तेरे मत में आत्मा को स्वप्रकाश होने से उसमें अविद्या नहीं बनती। क्योंकि स्वप्रकाश और अविद्या का सम्बन्ध ही नहीं बनता परस्पर विरुद्ध स्वभाव होने से सूर्य और अंधकार की नाई अविद्या का अभाव होने पर अविद्या का कार्य आवरण भी नहीं बनता आवरण का अभाव होने पर आवरण है मूल जिसका ऐसा जो विक्षेप है सो भी नहीं बनता और विक्षेप का अभाव होने पर ज्ञान से निवृत्त होने के योग्य अनर्थ का अभाव होने से ज्ञान को व्यर्थता प्राप्त हुई तिससे ज्ञान प्रतिपादक वेदांत शास्त्र व्यर्थ हुआ।

उत्तर—तेरी इन तर्कों के समूह को अज्ञानी का अनुभव ग्रस लेता है क्यों कि अज्ञानी ने अपने अनुभव से अविद्या और आवरण ये दोनों कूटस्थ में देख लिये हैं तिससे अनुभव सिद्ध अर्थ में तेरी तर्क व्यर्थ हैं॥ २८॥

स्वानुभूतावविश्वासे तर्कस्याप्यनवस्थिते।
कथं वा तार्किकं मन्यस्तत्वनिश्चयमाप्नुयात्॥ २९॥

शंका—अनुभव मात्र से तो कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता जो अनुभव मात्र से कोई वस्तु सिद्ध हो तो सूर्य भी एक बिलस्त मात्र सिद्ध होना चाहिये किन्तु अबाधित अनुभव से वस्तु की सिद्धि होती है और सूर्य का जो एक बिलस्त मात्र अनुभव है सो बाधित है क्योंकि जो एक बिलस्तमात्र होता तो ब्रह्मांड को कैसे प्रकाशित करता तैसे अज्ञानी का जो अनुभव है अविद्या और आवरणको जनावने वाला सो भी बाधित है मैंने जो पीछे तर्क कही हैं उनके साथ विरोध होने से तिस कारण उस अनुभव आभास से तत्व निश्चय नहीं होता॥

उत्तर—जो तू अनुभव का प्रमाण स्वीकार न करेगा तो केवल तर्क तो निश्चय का कारण नहीं होती इस बात को तो तू आप ही मानता है तिस से तेरे को तत्व का निश्चय कहीं से न होगा क्योंकि अनुभव में तो तुझे विश्वास नहीं और तर्क में अनवस्था होती है सो उस अनवस्थाका यह रूप है एक तर्क में दूसरी तर्क दूसरीमें तीसरी तर्क तीसरी में चौथी तर्क इसी तरह आगे २ तर्क की प्रवृत्ति होती है॥ २९॥

बुद्ध्यारोहाय तर्कश्चेदपेक्षेत तथा सति।
स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्॥ ३०॥

शंका—यद्यपि अनुभव तत्व निश्चय का कारण है तौ भी अनुभव का विषय जो पदार्थ है बुद्धि में उस की सम्भावना की दृढ़ता के लिये तर्क की चाहना है।

उत्तर—जो इस प्रकार तर्क की चाहना है तो अपने अनुभव के अनुसार तर्क करनी चाहिये अपने अनुभव से विरुद्ध तर्क न करनी चाहिये॥ तिस से जो पीछे अज्ञानी के अनुभव से सिद्ध हुआ अविद्या और आवरण है उस अनुभव के अनुसार तर्क करो॥ ३०॥

स्वानुभूतिरविद्यायामावृतौ च प्रदर्शिता॥
अतःकूटस्थचैतन्यमविरोधीति तर्क्यताम्॥ ३१॥

अर्थ—वह अनुभव कौनसा है जिस के अनुसार तर्क करनी चाहिये, अविद्या और आवरण में अपना अनुभव ही प्रमाण है यह बात दिखलाई इस से कूटस्थ चैतन्य और अविद्या का परस्पर विरोध नहीं जैसे काष्ठ में सामान्य रूप जो अग्नि है उसका अंधकार के साथ विरोध नहीं ऐसी तर्कना करो॥३१॥

तच्चेद्विरोधिकेनेयमावृतिर्त्य(ऽ)नुभूयताम्॥
विवेकस्तुविरोध्यस्यास्तत्वज्ञानि निदृश्यताम्॥ ३२॥

अर्थ—और जो कूटस्थ चैतन्य भी अज्ञान और आवरण का विरोधी हो तो अज्ञान और आवरण किस के आश्रय रहैं और इनकी प्रतीति कैसे हो क्यों कि कूटस्थ भिन्न न कोई अधिष्ठान हो सका है न प्रकाशक हो सका है तिससे इन दोनों का अधिष्ठान और प्रकाशक जो कूटस्थ चैतन्य है सो इन दोनों का विरोधी नहीं यह तर्क अनुभव के अनुसार है जो यह तर्क अनुभव के अनुसार है तो अविद्या और आवरण का विरोधी कौन है इन दोनों का विरोधी विवेक है सो तत्व ज्ञानी में देखो॥३२॥

अविद्यावृतकूटस्थे देहद्वययुताचितिः॥
शुक्तौ रूप्यवदध्यस्ता विक्षेपाध्यास एवहि॥३३॥

अर्थ—अविद्या से ढका हुआ जो कूटस्थ है उसमें जो आरोपित स्थूल सूक्ष्म शरीर सहित चिदाभास है सो विक्षेपाध्यास है जैसे सीपी में चाँदीका अध्यास है॥३३॥

इदमंशश्च सत्यत्वं शुक्तिगं रूप्य ईक्ष्यते॥
स्वयं त्वं वस्तुता चैवं विक्षेपे वीक्ष्यतेऽन्यगम्॥३४॥

अर्थ—जैसे इदंता और सत्यत्व है तो सीपी में और भान होते हैं चाँदी में तैसे स्वयंता और वस्तुताहै तो अधिष्ठान कूटस्थमें और भासते हैं कल्पित चिदाभासमें॥३४॥

नीलपृष्ठत्रिकोणत्वं यथा शुक्तौ तिरोहितम् ॥
असंगानंदताद्येवं कूटस्थेऽपि तिरोहितम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—जैसे सीपीकी नील पृष्ठता और त्रिकोणता आच्छादित है तैसे कूटस्थ की असंगता और आनंदता ढकी गई है ॥३५॥

आरोपितस्य दृष्टांते रूप्यं नाम यथा तथा ॥
कूटस्थाध्यस्तविक्षेपनामाहमिति निश्चयः ॥३६॥

अर्थ—और जैसे सीपी में कल्पित पदार्थ का नाम चाँदी है तैसे कूटस्थ चिदात्मा में कल्पित चिदाभास का नाम अहम् है ॥३६॥

इदमंशं स्वतः पश्यन् रूप्यमित्यभिमन्यते ॥
तथा स्वं च स्वतः पश्यन्नहमित्यभिमन्यते ॥३७॥

शंका—दृष्टाँत जो सीपी है उसके साथ नेत्रों के संबंध से चाँदी का अभिमान जीवको पैदा होता है और दार्ष्टान्त में तो आत्मा से भिन्न वस्तु का अभिमान नहीं होता तिससे दृष्टाँत दार्ष्टान्त से विषम है।

उत्तर—स्वप्रकाशता से आत्मा को प्रकाशमान होने पर भी जो स्वप्रकाश आत्म रूप नहीं मानता अहम् ऐसा मानता है इससे दृष्टाँत दार्ष्टान्त की विषमता नहीं क्यों कि सीपी रूप दृष्टाँत में इदम अंश को स्वतः देखता है और चाँदी को मानता है तैसे दार्ष्टान्त में स्वयं को देखता है और अहंको मानता है ॥३७॥

इदंत्वरूप्यते भिन्ने स्वत्वाहंते तथेष्यताम् ॥
सामान्यं च विशेषश्च ह्यु भयत्रापि गम्यते ॥३८॥

अर्थ—जैसे इदम् समान है और रूपा विशेष है रूपे और इदंता की एकता नहीं तैसे स्वयं और अहं की एकता नहीं स्वयं सामान्य रूप है और अहम् विशेष रूप है जो बहु व्यापक होता है सो सामान्य है और जो अल्प व्यापक है सो विशेष है ॥३८॥

देवदत्तः स्वयं गच्छेत्त्वं वीक्षस्व स्वयं तथा ॥
अहं स्वयं न शक्नोमीत्येवं लोके प्रयुज्यते ॥३९॥

अर्थ—सो स्वयं बहु व्यापक है क्यों कि लोक में ऐसा कहते हैं देवदत्त स्व परदेश को आता है और तू स्वयं देख और अहम् स्वयं समर्थ नहीं इस प्रकार देवदत्त और तू और अहम् इन सब में स्वयं व्यापक सिद्ध हुआ तिससे स्वयं सामान्य है और अहम् देवदत्त और त्वम् ये व्यापक नहीं इससे विशेष हैं ॥३९॥

इदं रूप्यमिदं वस्त्रमिति यद्वदिदं तथा ॥
असौ त्वमहमित्येषु स्वयमित्यभिमन्यते ॥ ४० ॥

अर्थ—यह चांदी है यह वस्त्र है यह जल है इन सब में जैसे इदम् व्यापक है तिससे सामान्य है और रजत आदि व्यापक नहीं इससे विशेष है जैसे इदम् और रजत आदि का भेद है सामान्य विशेष रूपता से तैसे सामान्य और विशेष रूपता से स्वयम् और अहम् आदि का भी भेद है ॥४०॥

अहंत्वाद्भिद्यताम् स्वत्वं कूटस्थे तेन किं तव ॥
स्वयं शब्दार्थ एवैष कूटस्थ इति मे भवेत् ॥४१॥

शंका—लोक में स्वयम् और अहम् का भेद हो पर इससे कूटस्थ आत्मा में क्या आया।

उत्तर—यह जो सामान्य रूप स्वयम् है सोई कूटस्थ है यह बात सिद्ध हुई ॥४१॥

अन्यत्ववारकं स्वत्वमिति चेदन्यवारणम् ॥
कूटस्थस्यात्मतां वक्तुरिष्टमेवहि तद्भवेत् ॥ ४२ ॥

शंका—स्वयंत्व रूप धर्म अन्यता का निवारण करने वाला है पर कूटस्थत्व का बोध नहीं कराता।

उत्तर—जो स्वयं स्वरूप धर्म से अन्यत्व का वारण होता है सो यथार्थ है क्यों कि अन्यत्व का निवारण आत्मा में ही होता है सो आत्मा कूटस्थ है तिससे स्वयं कूटस्थ है यह सिद्ध हुआ ॥४२॥

स्वयमात्मेति पर्यायौ तेन लोके तयोः सह ॥
प्रयोगो नास्त्यतः स्वत्वमात्मत्वं चान्यवारकम् ॥४३॥

शंका—स्वयम् शब्द और आत्म शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त भिन्न २ है इससे स्वयं शब्द और आत्म शब्द एक अर्थ को नहीं कहते जैसे गो शब्द और घोड़ा शब्द तिस से स्वयं शब्द के अर्थ कूटस्थ को आत्मत्व कैसे कहते हो।

उत्तर—स्वयं शब्द और आत्म शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त भिन्न नहीं हस्त और कर आदि शब्दों की नाईं ये पर्याय हैं तिसी से लोक में स्वयं और आत्म शब्द का उच्चारण एकट्ठा नहीं करते इस से यह सिद्ध हुआ कि जैसे आत्म शब्द अन्यत्व का निवारण करता है तैसे स्वयं शब्द भी अन्यत्व का निवारण करता है तिससे स्वयं शब्द और आत्म शब्द एक अर्थ को कहते हैं इन के अर्थ में भेद नहीं ॥ ४३ ॥

घटः स्वयं न जानातीत्येवं स्वत्वं घटादिषु ॥
अचेतनेषु दृष्टं चेत् दृश्यतामात्मसत्वतः ॥ ४४ ॥

शंका—घट स्वयं नहीं जानता ऐसा लोक कहते हैं तिस से अचेतन घट आदि में स्वयं शब्द देखते से स्वयं और आत्मा इन की एकता नहीं बनती।

उत्तर—अचेतन घट आदि में भी स्फुरण रूप से आत्मा की चेतनता विद्यमान है तिस से घट आदि में भी स्वयं शब्द का प्रयोग विरुद्ध नहीं ॥४४॥

चेतनाचेतनभिदा कूटस्थात्मभिदा नहि ॥
किंतु बुद्धिकृताभास कृतैवेत्यवगम्यताम् ॥ ४५ ॥

शंका—घट आदि में भी आत्मा की चेतनता विद्यमान होने पर इन में अचेतन व्यवहार न होना चाहिये और जीवते पुरुष में अचेतन व्यवहार होना चाहिये घट आदि की नाईं। ऐसा व्यवहार तो लोकमें नहीं दीखता। किंतु घट में अचेतन व्यवहार और जीवते पुरुषमें चेतन व्यवहार दीखताहै, तुम्हारे मतमें तो व्यवहार निर्निमित्तक होगा

उ०—चेतन अचेतन यह जो विभाग है, सो निर्निमित्तक नहीं किंतु जहां बुद्धि सहित चिदाभास है तहाँ चेतन व्यवहार होता है और जहां बुद्धि सहित चिदाभास नहीं तहां अचेतन व्यवहार होता है और कूटस्थ आत्मा तो चेतन अचेतन दोनों में सम-वस्थित है तिस से कूटस्थ आत्मा चेतन अचेतन विभाग का निमित्त नहीं ॥ ४५ ॥

यथा चेतन आभासः कूटस्थे भ्रांतिकल्पितः ॥
अचेतनो घटादिश्च तथा तत्रैव कल्पितः ॥ ४६ ॥

शंका—जो कूटस्थ आत्मा चेतन और अचेतन विभाग का कारण नहीं और बुद्धिसहित चिदाभास का होना और न होना चेतन और अचेतन विभाग का कारण है तो अचेतनों में कूटस्थ का स्वीकार करना व्यर्थ है।

उत्तर—अचेतनों में जो कूटस्थ आत्मा को हम मानते हैं सो चेतन अचेतन विभाग की कारण रूपता से नहीं मानते। किंतु अचेतनों की कल्पना का अधिष्ठान रूपता से कूटस्थ आत्मा को अचेतनों में हम मानते हैं जैसे चेतन रूप से प्रतीत होता हुआ चिदाभास कूटस्थ में भ्रम से कल्पित है तैसे अचेतन घट आदि भी कूटस्थ में भ्रम से कल्पित है ॥ ४६ ॥

तत्तेदंते अपि स्वत्वमिव त्वमहमादिषु ॥
सर्वत्रानुगते तेन तयोरप्यात्मतेतिचेत् ॥ ४७ ॥

शंका—जैसे स्वयं शब्द त्वम् अहम् घट आदि में सर्वत्र व्यापक होने से आत्म रूप है तैसे तत् शब्द और इदम् शब्द के अर्थ को भी सर्वत्र व्यापक होने से आत्मता होनी चाहिये ॥४७॥

ते आत्मत्वेप्यनागते त्तेदंते ततस्तयोः ॥
आत्मत्वंनैवसंभाव्यम् सम्यक्त्वादेर्यथातथा ॥ ४८ ॥

उत्तर—यद्यपि स्वयम् शब्द के अर्थ की नाईं तत् शब्द और इदम् शब्द का अर्थ त्वम् अहम् घट आदि में सर्वत्र व्यापक है तथापि उन में वर्तमान जो आत्मता है उसमें भी तत् शब्द और इदम् शब्द वर्तता है तिस से आत्मता की अपेक्षा से अधिक में वर्तने वाला हुआ क्योंकि आत्मत्व आत्मत्व में नहीं वर्तता और तत् शब्द आत्मत्व में वर्तता है और इदम् शब्द भी आत्मत्व में वर्तता है तत् आत्मत्वं इदम् आत्मत्वम् ऐसा व्यवहार देखने से तिस से इन दोनों के अर्थ को आत्मत्व नहीं बनता जैसे सम्यकत्व और असम्यकत्व को आत्मत्व नहीं बनता सर्वत्र व्यापकता के होने पर भी क्यों कि आत्मत्व में भी इन दोनों की प्राप्ति है देह आदि का आत्मत्व असम्यक् है और प्रत्यक् का आत्मत्व सम्यक् है ॥ ४८ ॥

त्तोदंते स्वतान्यत्वे त्वंताहंते परस्परम् ॥
प्रतिद्वंद्वितया लोके प्रसिद्धे नास्ति संशयः ॥ ४९ ॥

अर्थ—लोक में तत् और इदम् जैसे परस्पर विरुद्ध प्रसिद्ध हैं क्योंकि तत् नाम परोक्ष का है और इदम् नाम अपरोक्ष का है और जैसे त्वम् और अहम् ये दोनों परस्पर विरुद्ध प्रसिद्ध हैं तैसे स्वयम् और अन्य परस्पर विरुद्ध हैं इस में संशय नहीं क्यों कि स्वयम् नाम अपने आप का है सो अन्य कभी नहीं होता और अन्य नाम अपने से भिन्न का है सो अपने आप कभी नहीं होता ॥ ४९ ॥

अन्यतायाः प्रतिद्वंद्वी स्वयं कूटस्थ इष्यताम् ॥
त्वंतायाः प्रतियोग्येषोऽहमित्यात्मनि कल्पितः ॥ ५० ॥

अर्थ-तिससे यह सिद्ध हुआ कि अन्यता का विरोधी जो स्वयम् है सो कूटस्थ है उस कूटस्थ में त्वंता का विरोधी अहम् कल्पित है ॥ ५० ॥

अहंतास्वत्वयोर्भेदे रूप्यतेदंतयोरिव ॥
स्पष्टेऽपि मोहमापन्ना एकत्वं प्रतिपेदिरे ॥ ५१ ॥

अर्थ—इस प्रकार अहम् शब्द का अर्थ जो जीव है और स्वयम् शब्द का अर्थ जो कूटस्थ है इन दोनों का भेद अत्यन्त प्रत्यक्ष होने पर भी मूढ़ अज्ञानी इन दोनों की एकता

को मानते हैं जिस कारण बुद्धि के साक्षी कूटस्थ को बुद्धि से पृथक् करने को कोई भी समर्थ नहीं तिस कारण अहम् और स्वयम् ऐसे प्रतीत होते हुये जो जीव और कूटस्थ हैं उन दोनों की एकता को अज्ञानी भ्रम से मानते हैं जैसे रूपे और इदंता का भेद प्रकट है पर अज्ञानी भ्रम से इन दोनों को एक मानते हैं ॥ ५१ ॥

तादात्म्याध्यासएवात्र पूर्वोक्ताविद्यया कृतः ॥
अविद्यायां निवृत्तायां तत्कार्यं विनिवर्तते ॥ ५२ ॥

शंका—जीव और कूटस्थ की एकता रूप भ्रम का कारण कौन है ।

उत्तर—इस भ्रम का कारण तादात्म्याध्यास ही है सो अध्यास पहिले कही हुई अविद्या से किया हुआ है जो अविद्या अविवेक रूप है और विवेक से अविद्या की निवृत्ति होने पर उस का कार्य जो अध्यास है सो निवृत्त हो जाता है ॥ ५२ ॥

अविद्यावृतितादात्म्ये विद्ययैव विनश्यतः ॥
विक्षेपस्य स्वरूपन्तु प्रारब्धक्षयमीक्षते ॥ ५३ ॥

शंका—तादात्म्याध्यास को अविद्या का कार्य होने से अविद्या की निवृत्ति होने पर तादात्म्याध्यास निवृत्त होता है । आप का यह कथन अयुक्त है । क्यों कि ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान से अविद्या का नाश होने पर भी ज्ञानवान् का शरीर आदि है सो भी अविद्या का कार्य हैं । और जो अविद्या के नाश होने पर अविद्या का कार्य नाश हो तो ज्ञानवान् का शरीर भी नष्ट हो । तिस से जैसे ज्ञानवान् के शरीर का नाश नहीं होता ज्ञान से । तैसे ज्ञान से तादात्म्याध्यास भी नष्ट नहीं होता ।

उत्तर—ज्ञान से अविद्या के कार्य आवरण और तादात्म्याध्यास का नाश हो जाता है । क्यों कि इन दोनों का एक अविद्या ही कारण है । और कर्म सहित अविद्या का कार्य विक्षेप रूप चिदाभास और शरीर ये दोनों हैं । तिस से जब तक कर्म है तब तकशरीरका नाश नहीं होता अविद्या का नाश होने परभी । और प्रारब्ध कर्म के क्षय होने पर शरीर का नाश होता है । तिस से जीवन्मुक्ति सिद्ध होती है ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् अविद्या का नाश होने पर भी जब तक कर्म है तब तक यह पुरुष जीवन्मुक्त है ॥ ५३ ॥

उपादानेविनष्टेऽपि क्षणंकार्यं प्रतीक्षते ॥
इत्याहुस्तार्किकास्तद्वदस्माकं किन्न संभवेत् ॥ ५४ ॥

शंका—प्रारब्ध तो शरीर आदि में निमित्त कारण है । उपादान कारण नहीं । उपादान कारण तो अविद्या है जैसे घट का उपादान कारण मृत्तिका है । और निमित्त

कारण कुलाल है। जैसे कुलाल के रहते घट नहीं रहता तैसे प्रारब्ध कर्म के रहते और अविद्या का नाश होने पर शरीर नष्ट होना चाहिये।

उत्तर—जैसे नैयायिकों के मत में उपादान नष्ट होने पर भी क्षण मात्र कार्य की स्थिति रहती है, तैसे अविद्या के न रहने पर भी शरीर बना रहता है ॥५४॥

तंतूनाँ दिनसंख्यानां तैस्तादृक् क्षण ईरितः ॥
भ्रमस्यासंख्यकल्पस्य योग्यः क्षण इहेष्यताम् ॥ ५५ ॥

शंका—नैयायिक उपादान नष्ट होने पर क्षण मात्र कार्य की स्थिति मानते हैं। बहुत काल नहीं मानते। और आप तो शरीर आदि की स्थिति बहुत काल मानते हो यह बात नहीं बनती।

अर्थ—वस्त्र का उपादान जो तंतु हैं वे थोड़े काल तक रहते हैं उनके नष्ट होने पर कार्य रूप वस्त्र भी क्षण मात्र स्थित रहता है। और संसार अनन्त कल्पों से अनादि भ्रमता हुआ चला आता है। तिससे उसके योग्य ही क्षण भी मानना चाहिये ॥५५॥

विना क्षोदक्षमं मानं तैर्वृथा परिकल्प्यते ॥
श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यो वदतां किन्नु दुःशकम् ॥ ५६ ॥

शंका—नैयायिकों ने जो उपादान के नष्ट होने पर क्षणमात्र कार्य की स्थिति मानी है सो अयुक्त है। तैसे आप भी उपादान रूप अविद्या नष्ट होने पर जो देह आदि की स्थिति मानते हो सो अयुक्त है।

उत्तर—यद्यपि नैयायिकों का कथन अयुक्त है क्योंकि उन्हों ने उपादान नष्ट होने पर कार्य की स्थिति क्षण मात्र मान रक्खी है सो विचार के सहने वाले प्रमाण के बिना ही मान रक्खा है अपनी मूर्खता से और हम तो श्रुति और युक्ति और अनुभव रूप प्रमाण को लेकर कहते हैं। तिससे हमारा कथन सत्य है। छांदोग्य उपनिषद् की श्रुति यह कहती है (तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथसंपत्स्ये) अर्थ—ज्ञानवान् को तब तक ही विदेह मुक्ति में देर है जब तक प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं होता। प्रारब्ध कर्म के क्षय होने पर ज्ञानवान् विदेह मुक्ति को प्राप्त होता है। तिस से इस श्रुति से यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान से अज्ञान नष्ट होने पर भी प्रारब्ध कर्म से शरीर स्थित रहता है। और युक्ति नाम दृष्टांत का है यथा (चक्रभ्रमादिदृष्टांतो युक्तिः)

अर्थ-जैसे कुलाल चक्र के भ्रमण का कारण कुलाल का यत्न है उस यत्न के नाश होने पर भी चक्र भ्रमता है। तैसे अविद्या नष्ट होने पर शरीर स्थित रहता है।

(अनुभूतिर्विद्वदनुभवः) अर्थ—और ज्ञानवान् के अनुभव से भी शरीर की स्थिति प्रसिद्ध है। इसी से नैयायिक खोटी तर्क करने वाले हैं उनके साथ बहुत विवाद करना अच्छा नहीं ॥ ५६ ॥

अस्तां दुस्तार्किकैः सार्कं विवादः प्रकृतं ब्रुवे ॥
स्वाहमोः सिद्धमेकत्वं कूटस्थ परिणामिनोः ॥ ५७ ॥

अर्थ—तिससे वह विवाद यहाँ का यहाँ ही स्थिर रहो। अब जो प्रसंग है उसे कहते हैं। स्वयं शब्द का अर्थ जो निर्विकार कूटस्थ है और अहम् शब्द का अर्थ जो विकारी चिदाभास है उनकी एकता भ्रम से सिद्ध है ॥ ५७ ॥

भ्राम्यंते पण्डितंमन्याः सर्वे लौकिकतैर्थिकाः ॥
अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यात्केवलाँ युक्तिमाश्रिताः ॥ ५८ ॥

शंका—जो कूटस्थ और जीव की एकता भ्रम सिद्ध है। तो इसको सब शास्त्र वाले और सब लोक भ्रम सिद्ध क्यों नहीं जानते।

उत्तर—ये सब हैं तो मूर्ख और अपने आप को पण्डित मान रहे हैं तिस मूर्खता से श्रुति का अनादर कर के अर्थात् उस के तात्पर्य से रहित हुये केवल युक्ति का सहारा लेकर भ्रम में पड़े हैं ॥ ५८ ॥

पूर्वापरपरामर्शविकलास्तत्र केचन ॥
वाक्यभासान् स्वस्वपक्षे योजयंत्यप्यलज्जया ॥ ५९ ॥

शंका—श्रुति आदि के अर्थ को कहने वाले भी कोई एक इस प्रकार क्यों नहीं जानते।

उत्तर—उनमें कोई एक श्रुति के अर्थ का पूर्वापर निश्चय करने में विकल हैं अर्थात् श्रुति के अर्थ को ठीक २ नहीं जानते और कोई लज्जा से रहित हुये वाक्य के अर्थ को अपने २ मत में जोड़ते हैं ॥ ५९ ॥

कूटस्थादिशरीरांतसंघातस्यात्मतांजगुः ॥
लोकायताः पामराश्च प्रत्यक्षाभासमाश्रिताः ॥ ६० ॥

अर्थ—सो उन अज्ञानियों के मत अनेक हैं। देह आत्मवादी और पामर। जो कूटस्थ से आदि लेकर स्थूल शरीर पर्यन्त जो संघात है उसी को आत्मा मानते हैं वे लोकायत अर्थात् देह आत्मवादी हैं। और जो प्रत्यक्ष प्रमाण का सहारा लेकर देह आदि को आत्मा मानते हैं वे पामर हैं ॥ ६० ॥

श्रांतीं कतुं स्वपक्षं ते कोशमन्नमयं तथा ॥
विरोचनस्य सिद्धान्तं प्रमाणं प्रतिजज्ञिरे ॥ ६१ ॥

अर्थ—वे देह आत्मवादी जिज्ञासु जनों को मोहने के लिये वेद में श्रद्धा रखने वाले जो जिज्ञासु हैं उनसे यह कहते हैं कि हमारे मत को वेद कहता है। हमारे मत में बहुत से वेद वाक्य प्रमाण हैं। एक तैत्तरीय उपनिषद् का वाक्य लिखते हैं (स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः) अर्थ—अन्नमयकोश स्थूल देह आत्मा है। और छांदोग्य उपनिषद् में यह कहा है कि विरोचन ब्रह्मा जी से सुनकर स्थूल शरीर ही को पूजता भया (आत्मैव देहमयः) अर्थ-स्थूल शरीर ही आत्मा है। यह विरोचन का सिद्धाँत प्रमाण है इन दोनों वाक्यों के प्रमाण से प्रतिज्ञा ही कहते हैं कुछ कहने को समर्थ नहीं प्रकरण विरोध से ॥ ६१ ॥

जीवात्मनिर्गमे देहमरणस्यात्र दर्शनात् ।
देहातिरिक्तएवात्मेत्याहु र्लोकायताः परे ॥ ६२

अर्थ—और कोई एक वादी ऐसा कहते हैं कि स्थूलशरीर आत्मा नहीं। क्योंकि जीवात्मा के निकलने पर देह का मरना दीखता है तिससे आत्मा स्थूल देह से भिन्न है ॥ ६२ ॥

प्रत्यक्षत्वेनाभिमताहंधीर्देहातिरेकिणम् ॥
गमयेदिन्द्रियात्मानंवच्मीत्यादिप्रयोगतः ॥ ६३ ॥

शंका—देह से भिन्न आत्मा का स्वरूप क्या है और किस प्रमाण से जाना जाता है।

उत्तर—मैं देखता हूं मैं बोलता हूं इत्यादि प्रयोग दर्शन से अर्थात् इस प्रतीति से देह से भिन्न इन्द्रिय आत्मा हैं क्योंकि जो अहंता से जानता है सो आत्मा है। सो अहंता से इन्द्रिय जानती हैं इन प्रत्यक्ष प्रमाण से इन्द्रिय आत्मा हैं ॥ ६३ ॥

वागादीनामिन्द्रियाणां कलहः श्रुतिषु श्रुतः ॥
तेन चैतन्यमेतेषामात्मत्वं तत एवहि ॥ ६४ ॥

शंका—इंद्रियाँ तो अचेतन हैं। और आत्मा चेतन है। इसी से इन्द्रिय आत्मा नहीं।

उत्तर—इंद्रियां अचेतन नहीं किन्तु चेतन हैं। क्योंकि उपनिषद् में वाक् आदि इंद्रियों का झगड़ा सुना है कि एक समय सब इंद्रियाँ आपस में झगड़ा करती हुई वाणी कहै मैं श्रेष्ठ हूं। नेत्र कहैं हम श्रेष्ठ। श्रोत्र कहैं हम श्रेष्ठ इसी तरह सब इंद्रिय मिलकर ब्रह्मा जी के पास गयीं अपना झगड़ा मिटाने को। इसी से इंद्रिय अचेतन

नहीं । क्यों कि अचेतन घट आदि झगड़ा करते हुये लोक में न तो देखे और न सुने तिस से इंद्रिय चेतन हैं इसी से आत्मा है क्योंकि चेतनता ही आत्मा का लक्षण है ॥ ६४ ॥

हैरण्यगर्भाः प्राणात्मवादिनस्त्वेवमूचिरे ॥
चक्षुराद्यक्षलोपेऽपि प्राणसत्त्वे तुजीवति ॥ ६५ ॥

अर्थ--और जो हिरण्यगर्भ के उपासक प्राणात्म वादी हैं वे ऐसा कहते हैं कि इंद्रिय आत्मा नहीं किन्तु प्राण आत्मा हैं। क्योंकि नेत्र आदि इंद्रियों के न रहते भी। प्राणों के रहते जीवता रहता है ॥ ६५ ॥

प्राणो जागर्ति सुप्तेऽपि प्राणश्रैष्ठ्यादिकम् श्रुतम् ॥
कोशः प्राणमयः सम्यक् विस्तरेण प्रपंचितः ॥६६ ॥

अर्थ—और सुषुप्ति अवस्था में इंद्रियों के लीन होने पर भी प्राण जागता है और प्राणों की श्रेष्ठता सुनी है उपनिषदों में यथा (तत्प्राणे प्रपन्ने उदतिष्ठत् तदुक्थमभवत् तदेतदुक्थम्) अर्थ—एक२ इंद्रिय के निकलने पर भी क्रम से शरीर न गिरा । और जब प्राण निकलने लगे तब शरीर गिरने लगा तब प्राणों ने इन्द्रियों से कहा कि तुम शरीर की रक्षा करो । तब सब इंद्रिय अपना२ बल और यत्न कर थक गयीं पर शरीर सावधान न हुआ । उस समय सब इन्द्रिय प्राणों से बोलीं कि आप शरीर की रक्षा करो प्राण बोला कि बहुत अच्छा मैं अभी शरीर को सावधान करता हूं इतना कह उसने जब गमनागमन रूप प्रयत्न किया तब शरीर सावधान हुआ उस समय सब इन्द्रिय प्राण से कहने लगीं तू श्रेष्ठ है तिस से तेरा नाम उक्थ हुआ क्यों कि तुझ में शरीर के उत्थान करने की शक्ति है। और प्राणमय कोश का निरूपण अच्छी तरह विस्तार पूर्वक किया है तिस से यह सिद्ध हुआ कि (अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः)

अर्थ—प्राण आत्मा है ॥ ६६ ॥

मन आत्मेति मन्यंते उपासनपराजनाः ॥
प्राणस्याभोक्तृता स्पष्टा भोक्तृत्वं मनसस्ततः ॥६७॥

अर्थ —और कोई एक वादी उपासक जन मन आत्मा है ऐसा मानते हैं क्योंकि प्राण जड़ हैं इस से ये भोक्ता नहीं और इन को आत्मत्व भी नहीं । सुषुप्ति में प्राण विद्यमान भी हैं पर चोरों से घर के पदार्थों की रक्षा नहीं कर सकते तिस से घट आदि की नाईं प्राणों की भोक्तृता स्पष्ट नहीं । तिससे मन भोक्ता है सो आत्मा है ॥६७ ॥

मनएव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः ॥
श्रुतो मनोमयः कोशस्तेनात्मेतीरितं मनः ॥६८॥

अर्थ— और मनुष्यों का मन ही बंध और मोक्ष का कारण है और उपनिषद्‌ में मनोमय कोश को आत्म रूपता सुनी है तिससे मन आत्मा है। तहाँ श्रुति (तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योंतर आत्मा मनोमयः)अर्थ—उस वा इस प्राणमय कोश से भिन्न जो मनोमय कोश है सो अंन्तरात्मा है ॥ ६८ ॥

विज्ञानमात्मेति पर आहुः क्षणिकवादिनः ॥
यतो विज्ञानमूलत्वं मनसो गम्यते स्फुटम् ॥६९॥

अर्थ—और क्षणिक वादी जो बौद्ध हैं वे ऐसा कहते हैं कि विज्ञान से आत्मा है मन आत्मा नहीं तिससे मन विज्ञान से पैदा होता है यह बात प्रसिद्ध है ॥६९॥

अहंवृत्तिरिदंवृत्तिरित्यंतःकरणं द्विधा ॥
विज्ञानं स्यादहंवृत्तिरिदं वृत्तिर्मनो भवेत् ॥७०॥

अर्थ—विज्ञान से मन कैसे उत्पन्न होता है अन्तः करण की दो वृत्ति हैं एक अहं वृति एक इदं वृत्ति अहं वृत्ति विज्ञान है और इदं वृत्ति मन है ॥७०॥

अहं प्रत्ययबीजत्वमिदंवृत्तेरिति स्फुटम् ॥
अविदित्वा स्वमात्मानं बाह्यं वेत्ति नतु क्वचित् ॥७१॥

अर्थ—इदंवृत्ति रूप मन अहं वृत्ति रूप विज्ञान से उत्पन्न होता है यह बात प्रकट है क्यों कि अपने आपके बे जाने कोई भी बाहर के पदार्थ को कहीं कभी भी नहीं जानता ॥७१॥

क्षणे क्षणे जन्मनाशावहं वृत्तेर्मितौ यतः ॥
विज्ञानं क्षणिकं तेन स्वप्रकाशं स्वतो मितेः ॥७२॥

अर्थ—जिस कारण अहं वृत्ति का क्षण २ में उत्पत्ति और विनाश होता है तिस से विज्ञान क्षणिक है और इसके क्षणिक होने में अनुभव ही प्रमाण है और विज्ञान अपने आपसे प्रकाशता है इससे स्वप्रकाश है ॥७२॥

विज्ञानमयकोशोऽयं जीव इत्यागमा जगुः ॥
सर्वसंसार एतस्य जन्मनाशसुखादिकः ॥ ७३ ॥

अर्थ—और यह विज्ञान मय कोश आत्मा है ऐसे वेद भी कहते हैं क्यों कि जन्म मरण सुख दुःख रूप सब संसार इस विज्ञान मय कोश को होता है ॥ तहां श्रुति

(तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः विज्ञानं यज्ञं तनुते) अर्थ—तिस वा इस मनोमय कोश से विलक्षण विज्ञान मय कोश आत्मा है विज्ञान ही यज्ञ दानादि और कृषि वाणिज्य आदि सब कर्मों का विस्तार करता है तिससे यह सिद्ध हुआ कि क्षणिक विज्ञान आत्मा है ॥७३॥

विज्ञानं क्षणिकं नात्मा विद्युदभ्रनिमेषवत् ॥
अन्यस्यानुपलब्धत्वाच्छून्यं माध्यमिका जगुः ॥ ७४ ॥

अर्थ—और बौद्ध मतके अन्तर्गत शून्यवादी माध्यमिक ऐसा कहते हैं कि बिजली और बादल और नेत्रों की पलक लगाव ने की नाई क्षणिक विज्ञान आत्मा नहीं और विज्ञान से भिन्न और कोई वस्तु प्रतीत नहीं होती तिससे शून्य आत्मा है ॥ ७४ ॥

असदेवेदमित्यादाविदमेव श्रुतं ततः ।
ज्ञानज्ञेयात्मकं सर्वं जगभ्द्रांतिप्रकल्पितम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—और वेद में ऐसा सुना भी है कि जगत् की उत्पत्ति से पूर्व शून्य था और ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय रूप सब जगत् भ्रम कल्पित है ॥७५॥

निरधिष्ठानविभ्रांतेरभावादात्मनोऽस्तिता ॥
शून्यस्यापिससाक्षित्वादन्यथा नोक्तिरस्यते ॥ ७६ ॥

अर्थ—सिद्धांती कहता है कि भ्रम अधिष्ठान बिना नहीं सिद्ध होता और शून्य को अधिष्ठानता नहीं बनती क्यों कि शून्य नाम उसका है जिसका कुछ स्वरूप नहीं। तिससे जो जगत् और भ्रमका अधिष्ठान है सो सत्य रूप आत्माहै और शून्य वादी जो कहता है कि शून्य है। सो शून्य वे साक्षी सिद्ध नहीं होता तिससे शून्य का साधक साक्षी सत्य रूप आत्मा मानना चाहिये औरजो सत्यरूप साक्षी आत्मा को तू न मानेगा तो शून्य है यह तेरा कथन कैसे सिद्ध होगा ॥७६॥

अन्यो विज्ञानमयत आनंदमय आंतरः ॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्य इति वैदिकदर्शनम् ॥ ७७ ॥

अर्थ—तो आत्मा कौन है सो कहते हैं। विज्ञान मय से भिन्न और विलक्षण आनंद मय कोश आत्मा है सो सत्यरूप आत्मा तत्व भाव से जानने योग्य है यह वेद का सिद्धांत है ॥७७॥

अणुर्महान्मध्यमोवेत्येवं तत्राऽपि वादिनः ॥
बहुधा विवदंते हि श्रुतियुक्तिसमाश्रयात् ॥ ७८ ॥

अर्थ—इस प्रकार वादी आत्मा के स्वरूप में अनेक तरह के विवाद करते हैं सो कहैं ॥ अब आत्मा के परिमाण में वादी जनों के विवाद सुनो कोई वादी आत्मा को अणु परिमाण कहते हैं अर्थात् जितना अणु होता है तितने आत्मा है जब किसी स्थान में झरोखे द्वारा सूर्य की किरण प्राप्त होती हैं उनमें जो सूक्ष्म २ रज के कनके दीखते हैं उनका नाम त्रस रेणु है उस त्रस रेणु के छठे भागको अणु कहते हैं और कोई एक आत्मा को मध्यम परिमाण कहते हैं अर्थात् जितना शरीर तितना आत्मा है और कोई आत्माको महान् कहते हैं अर्थात् व्यापक है इस तरह श्रुति और युक्ति के आश्रय से बहुत तरह के उस आत्मा में विवाद करते हैं ॥७८॥

अणुं वदंत्यांतरालाः सूक्ष्मनाडीप्रचारतः ।
रोम्णः सहस्रभागेन तुल्यासु प्रचरत्ययम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—जो न तो अत्यंत आस्तिक हैं और न पूरे नास्तिक हैं अर्थात् इन दोनों के मध्य में रहने वाले अंतराल हैं वे आत्मा को अणु परिमाण कहते हैं जो आत्मा अणु परिमाण न हो तो सूक्ष्म नाड़ियों में कैसे विचरे। रोम के हजार वे भाग के तुल्य जो नाड़ी हैं। उनमें आत्मा विचरता है क्यों कि मच्छर आदि के डंक का अनुभव तो जब ही होता है ॥७६॥

अणोरणीयानेषोऽणुः सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरंत्विति ।
अणुत्वमाहुः श्रुतयः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८० ॥

अर्थ—और आत्मा की अणु रूपता को सैंकड़ों और हजारों श्रुति कहती हैं॥ कठ वल्ली उपनिषद् की श्रुति (अणोरणीयान्महतोमहीयान् एषोणु रात्मा चेतस वेदितव्यः) अर्थ—आत्मा अणु से अति अणु है और महान् से अति महान् है और यह आत्मा अणु रूप है सो चित्त से जानने योग्य है। और यह श्रुति मुंडक उपनिषद् में भी लिखी है। और कैवल्य उपनिषद् में लिखा है तहां श्रुति (सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यम्) अर्थ—आत्मा सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म है और नित्य है ॥८०॥

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्यच ॥
भागोजीवः सविज्ञेय इतिचाहापरा श्रुतिः ॥ ८१ ॥

अर्थ—और श्रुति कहती है कि वाल को अग्र भाग सौ गुणा करना उसके एक भाग को फिर सो गुणा करना वह जितना होता है जितना आत्मा जानने योग्य है। इस तरह अंतराल श्रुति और युक्तियों से आत्मा की अणु रूपता को कहते हैं ॥ ८१ ॥

दिगंबरा मध्यमत्वमाहुरापादमस्तकम् ॥
चैतन्यव्याप्तिसंदृष्टेरानखाग्रश्रुतेरपि ॥ ८२ ॥

अर्थ— अब आत्मा को मध्यम परिमाण कहने वालोंका मत सुन। दिगंबर अर्थात् मुख से पट्टी बाँधने वाले जो सरावगियों के गुरू से बड़े हैं सो कहते हैं कि आत्मा अणु परिमाण नहीं। किंतु मध्यम परिमाण है। क्यों कि चरणों से लेकर मस्तक पर्यंत चैतन्य की व्यापकता शरीर में दीखता है। जो आत्मा शरीर जितना न हो तो सब शरीर में चेतनता की प्रतीति न हो और सब शरीर में चेतनता की प्रतीति होती तो है। तिस से आत्मा अणु परिमाण नहीं। किंतु शरीर जितना है। और वृहदारण्य उपनिषद्‌ में भी कहा है। यथा (स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः) अर्थ—नखों के अग्र भाग से लेकर शिर पर्यंत आत्मा ने शरीर में प्रवेश किया है॥ ८२॥

सूक्ष्मनाड़ीप्रचारस्तु सूक्ष्मैरवयवैर्भवेत् ॥
स्थूलदेहस्य हस्ताभ्यां कंचुक प्रतिमोकवत् ॥ ८३ ॥

शंका—जो आत्मा मध्यम परिमाण वाला हो तो श्रुतियों से सिद्ध सूक्ष्म नाड़ियों में आत्मा का विचरना न बनेगा। उत्तर—आत्मा के जो सूक्ष्म अंश हैं उन से सूक्ष्म नाड़ियों में आत्मा विचरता है। जैसे शरीर के अंश जो हस्त हैं उन में जामे का प्रवेश होने से शरीर में जामे का प्रवेश कथन किया जाता है। तैसे आत्मा के सूक्ष्म अंशों का नाड़ियों में प्रवेश होने से आत्माका नाड़ियों में प्रवेश कहा जाता है॥ ८३

न्यूनाधिकशरीरेषु प्रवेशोऽपिगमागमैः ॥
अत्माशानाँ भवेत्तेन मध्यमत्वं विनिश्चितम् ॥ ८४ ॥

शंका—आत्मा को नियम से मध्यम परिमाण मानने पर कर्मों के वश से। उस आत्मा का न्यून और अधिक शरीरों में प्रवेश नहीं बनता। अर्थात् हस्ती के शरीर को त्याग कर मच्छर का शरीर मिलने पर उस मच्छर के शरीर में हस्ती जितना आत्मा कैसे समावेगा और मच्छर के शरीर को त्याग कर हस्ती का शरीर मिलने पर मच्छर जितना आत्मा हस्ती के शरीर के किसी एक भाग में रहेगा सब जगह तो नहीं रह सकता। तिस से कैसे कहते हो कि आत्मा शरीर जितना है।

उत्तर—कर्मों के वश से हस्ती का शरीर मिलने पर आत्मा केअंवयव बढ़ जाते हैं। जैसे जन्म से पीछे शरीर बड़ा हो जाता है। तैसे आत्मा भी बड़ा हो जाता है। और जैसे रोग होने पर शरीर कृश होजाता है। तैसे आत्मा भी कृश हो जाता है। और कर्म वश से मच्छर का शरीर मिलने पर आत्मा अपने अवयवों की क्षणिता से मच्छर की समान हो जाता है। तिस से आत्मा मध्यम परिमाण है। यह सिद्ध हुआ॥ ८४॥

सांशस्य घटवन्नाशो भवत्येव तथासति ॥
कृतनाशाकृताभ्यागमयोः को वारको भवेत् ॥ ८५ ॥

अर्थ—अब जो आत्मा को महान् कहते हैं उनका मत । आत्मा मध्यम परिणाम नहीं । क्यों कि जो मध्यम परिमाण है सो सावयव है । और जो साकार है उस का नाश अवश्य होता है जैसे घट साकार है तो उस का नाश अवश्य होता है तैसे आत्मा जो साकार होगा तो उस का नाश अवश्य होगा जो आत्मा का नाश होगा तो पुण्य पाप का फल कौन भोगेगा । ऐसा होने पर पुण्य करना चाहिये और पाप न करना चाहिये यह जो आपका कथन है सो व्यर्थ होगा । और जो इस शरीर में सुख दुःख भोगते हैं वे कामों के ये किये ही प्राप्त होंगे इसका नाम शास्त्र में कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष रक्खा है उस की प्राप्ति होगी । आत्मा को मध्यम परिमाण मानने पर । इस दोष की निवृत्ति करने वाला कौन होगा ॥ ८५ ॥

तस्मादात्मा महानेव नैवाणुर्नापि मध्यमः ॥
आकाशवत्सर्वगतो निरंशः श्रुतिसंमतः ॥ ८६ ॥

अर्थ—तिससे आत्मा महान् है न यह अणु है और न मध्यम है । इस में श्रुति (आकाशवत्सर्वगतश्चनित्यः)

अर्थ—आत्मा अकाश की नाईं सर्व व्यापक है और नित्य है । दूसरी श्रुति (निष्कलं निष्क्रियम्) अर्थ—आत्मा निष्कल अर्थात् निराकार है और क्रिया से रहित है । इस प्रकार आत्मा के परिमाण का विचार करने पर आत्मा की व्यापकता निश्चय होती है ॥ ८६ ॥

इत्युक्त्वा तद्विशेषेतु बहुधा कलहंययुः ॥
अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपश्चिदचिद्रूप इत्यपि ॥८७॥

अर्थ—अब आत्मा के स्वभाव निर्णय में वादी जनों के अनेक विवाद हैं । कोई कहते हैं कि आत्मा चैतन्य स्वरूप है । कोई कहते हैं आत्मा जड़ है । कोई कहते हैं आत्मा जड़ चैतन्य उभय स्वरूप है ॥ ८७ ॥

प्रभाकरास्तार्किकाश्च प्राहुरस्याचिदात्मताम् ॥
आकाशवद्द्रव्यमात्माशब्दवत्तद्गुणश्चितिः ॥ ८८ ॥

अर्थ—प्रभाकर जो मीमांसक हैं । और नैयायिक ये दोनों आत्मा का जड़ कहते हैं । आकाश की नाईं आत्मा द्रव्य है और शब्द की नाईं उस आत्मा का चैतन्य गुण है । जैसे आकाश द्रव्य है और शब्द उसका गुण है ॥ ८८ ॥

इच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च धर्माधर्मौ सुखासुखे ॥
तत्संस्काराश्च तस्यैते गुणाश्चितिवदीरिताः ॥ ८९ ॥

आत्मा में विशेष गुण कौन से हैं उन्हें कहते हैं इच्छा १ द्वेष २ प्रयत्न ३ धर्म ४ अधर्म ५ सुख ६ दुःख ७ और उनके संस्कार ८ और चेतनता ९ इन नव गुण द्वारा आत्मा का पृथ्वी आदि से भेद निश्चय किया है। क्योंकि पृथ्वी आदि में ये नव गुण नहीं ॥ ८९ ॥

आत्मनो मनसा योगे स्वादृष्टवशतोगुणाः।
जायंतेऽथ प्रलीयंते सुषुप्तेदृष्टसंक्षयात् ॥ ९० ॥

अर्थ—और ये नव गुण पैदा होते हैं और लीन होते हैं, धर्म और अधर्म इन दोनों को नाम अदृष्ट है, अपने अदृष्ट के वश से आत्मा का मन के साथ सँयोग होता है, उस आत्म मन संयोग से पैदा होते हैं, और सुषुप्ति में अदृष्ट का नाश होने से नष्ट होते हैं ॥९०॥

चितिमत्त्वाच्चेतनोऽयमिच्छाद्वेषप्रयत्नवान् ॥
स्याद्धर्माधर्मयोः कर्ता भोक्ता दुःखादिमत्त्वतः ॥ ९१ ॥

अर्थ—और चेतनता रूप गुण वाला होने से आत्मा चेतन है, और जो जड़ हैं उनमें चेतनता गुण नहीं पाता जैसे घट आदि में चेतनता गुण नहीं पाता, और यह आत्मा इच्छा द्वेष और प्रयत्न इन गुण वाला है इससे भी चेतन है, क्यों कि अचेतन में ये उक्त गुण नहीं दीखते, और आत्मा ईश्वर से विलक्षण है, इसी से धर्म और अधर्म का कर्ता है, और इनके फल रूप सुख दुःख का भोक्ता है ॥९१॥

यथाऽत्र कर्मवशतः कदाचित्कं सुखादिकम् ॥
तथा लोकाँतरे देहे कर्मणेच्छादि जन्यते ॥ ९२ ॥

शंका—जो आत्मा विभु है तो उसका लोकाँतर में जाना नहीं बनता, क्यों कि जाना आना क्रिया वाले का होता है, और विभु में क्रिया नहीं बनती।

उत्तर—जैसे विभु का लोकाँतर में जाना आना नहीं बनता तैसे विभु की इस शरीर में स्थिति भी नहीं बनती, और जैसे इस शरीर में कर्मों के वशसे इच्छा आदि पैदा होते हैं, और इनके पैदा होने पर आत्मा का इस शरीर में स्थिति व्यवहार होता है, तैसे कर्म वश से लोकांतर में शरीराँतर की उत्पत्ति होनेपर इस शरीरावच्छिन्न आत्मा में सुख दुःख की उत्पत्ति होती है, तिस कारण आत्मा का लोकाँतर में गमन

कहा वास्तव में आत्मा का लोकांतर में गमन नहीं उपाधि रूप मन का ही लोकांतर में गमन है, जैसे घट के गमन से घटाकाश का गमन कहा है ॥९२॥

एवं चसर्वंगस्यापि संभवेताम् गमागमौ ॥
कर्मकांडःसमग्रोऽत्र प्रमाणमितितेऽवदन् ॥ ९३ ॥

अर्थ—इस प्रकार मन रूप उपाधि के गमन से उपाधि अवच्छिन्न सर्वगत आत्मा के भी गमन और आगमन सँभव हैं, और आत्मा कर्ता है और भोक्ता है इसमें सब कर्म कांड प्रमाण है ॥९३॥

आनंदमयकोशोयः सुषुप्तौ परिशिष्यते ॥
अस्पष्टचित्स आत्मैषां पूर्वकोशोऽस्यते गुणाः ॥

शंका—प्रथम आपने यह कहा था कि विज्ञान मय से परे आनंदमय आत्मा है। और अब कहते हो कि इच्छादि धर्म वाला आत्मा है, इससे पूर्वोत्तर विरोध होता है अर्थात् पूर्व कथन से आपके इस कथन का विरोध है।

उत्तर—जो सुषुप्ति अवस्था में सब के लय होने पर बाकी रहता है और अस्पष्टचित् अर्थात् सुषुप्ति में चेतनता स्पष्ट नहीं है जिसकी सब कोशों में प्रथम आनंद मय कोश है सो आत्मा है, यही प्रभाकर आदि का मत है, और इस आत्मा के वे नव गुण जाग्रत् अवस्था में पैदा हो जाते हैं, तिससे आत्मा इच्छावान् कहाता है, और इच्छा आदि से परे भी है, क्यों कि इनका आश्रय है, तिससे पूर्व कथन का और इस कथन का विरोध नहीं, तिससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा विज्ञान गुण वाला है। और चैतन्य स्वरूप नहीं ॥९४॥

गूढं चैतन्यमुत्प्रेक्ष्य जडबोधस्वरूपताम् ॥
आत्मनो ब्रुवते भाट्टाश्चिदुत्प्रेक्षोत्थितस्मृतेः ९५ ॥

अर्थ—अबजो आत्मा को चैतन्य रूप और जड़ रूप मानते हैं, उनका मत सुन ॥ भाट्ट नाम जो मीमाँसक हैं। वे ऐसा कहते हैं कि आत्मा केवल चैतन्य रूप नहीं, और केवल जड़ रूप भी नहीं क्यों कि जब पुरुष सोकर उठता है, तब यह कहता है कि मैं इतने काल जड़ रूप होकर सोता भया। यह जो उसका कहना है सो स्मरण रूप ज्ञान का है, और स्मरण रूप ज्ञान बिना अनुभव के नहीं बनता, इस उत्थित स्मृति से चिदुत्प्रेक्षा होती है, अर्थात् सुषुप्ति में चैतन्य का अनुमान होता है, इसी से भाट्टाचार्य छिपे हुए चैतन्यको सुषुप्ति में भी अनुमान कर आत्मा की जड़ रूपता और चिद्रूपता का वर्णन करते हैं ॥९५॥

जडोभूत्वातदाऽस्वाप्समिति जाड्यस्मृतिस्तदा ॥
विना जाड्यानुभूतिंन कथंचिदुपपद्यते ॥ ९६ ॥

चिदुत्प्रेक्षा का प्रकार कहते हैं, उस सुषुप्ति काल में मैं जड़ रूप होकर सोया ऐसी जो जाड्य स्मृति सुषुप्ति से उठे हुये पुरुष को उत्पन्न होती है सो सुषुप्ति काल में जो जड़ता का अनुभव है उसके बिना कभी किसी तरह भी नहीं पैदा होती तिससे सुषुप्ति में चेतनता की सिद्धि हुई ॥९६॥

द्रष्टुर्दृष्टेरलोपश्च श्रुतसुप्तौततस्त्वयम् ॥
अप्रकाश प्रकाशाभ्यामात्मा खद्योतवद्युतः॥ ९७ ॥

अर्थ—सुषुप्ति में द्रष्टा जो आत्मा है उसकी दृष्टि अर्थात् चैतन्य स्वरूप का लोप नहीं होता ऐसा श्रुति में सुना है तिससे यह आत्मा पटबीजने की नाईं अप्रकाश और प्रकाश इन दोनों से युक्त है अर्थात् जड़ रूप भी है और चेतन रूप भी है ॥९७॥

अब ९५ । ९६ । ९७ इन तीन श्लोकों का अर्थ एकट्ठा लिखते हैं जिससे सब की समझ में ठीक २ आजाय ।

अब जो आत्मा को चैतन्य रुप और जड़ रुप मानते हैं उनका मत सुन, भाट्टनाम जो मीमांसक हैं, वे ऐसा कहते हैं कि आत्मा केवल चैतन्य रुप नहीं और केवल जड़रुप भी नहीं, क्यों कि जब पुरुष सुषुप्ति से उठता है तब यह कहता है कि मैं इतना काल जड़ रुप होकर सोया यह जो उसका कथन है सो स्मरण रूप ज्ञान से है, और स्मरण रूप ज्ञान बे अनुभव के नहीं बनता, तिससे सुषुप्ति में जड़ता का स्मरण बे अनुभव के नहीं बनता तिससे सुषुप्ति में चेतनता सिद्ध हुई पर जैसे जाग्रत् में चेतनता की स्पष्ट प्रतीति होती है तैसे सुषुप्तिमें चेतनता स्पष्ट प्रतीत नहीं होती तिससे यह सिद्ध हुआकि सोकर उठे हुये पुरुषका जो यह कथन है कि मैं जड़रूप होकर सोया मैंने कुछ न जाना सोई आत्मा की जड़रूपता और चेतन रूपता को जनावता है सुषुप्ति में चैतन्य का का नाश नहीं होता उसको अविनाशी होने से और जो आत्मा के विनाश को मानो तो उस विनाश का साक्षी कौन है सो साक्षी तो कोई नहीं तिससे आत्मा का स्वरूप जो चैतन्य है उसका नाश नहीं होता ऐसे श्रुति कहती है । तिस कारण आत्मा जड़ रूप भी है और चेतन रूप भी है ॥

निरंशस्योभयात्मत्वं न कथंचिद्घटिष्यते ॥
तेन चिद्रूप एवात्मेत्याहुः सांख्यविवेकिनः ॥९८॥

और साँख्यशास्त्र वाले कहते हैं कि आत्मा चैतन्य और जड़ उभय रूप नहीं बन सकता तिससे आत्मा चैतन्य रूप है जिससे आत्मा निरवयव है इसी से उसको उभयरूपता कभी किसी तरह नहीं बनती तिससे आत्मा चैतन्य रूप ही है ऐसे साँख्य विवेकी कहते हैं, यह अर्थ अंतर मुख वृत्ति होने पर सूक्ष्म विचार से जानने योग्य है ॥९८॥

जाड्यांशः प्रकृते रूपं विकारि त्रिगुणं च तत् ॥
चितो भोगापवर्गार्थं प्रकृतिः सा प्रवर्तते ॥ ९९ ॥

शंका—(मीमांसक चैतन्य जड़ आत्मा वादी की) जो हम अंतर्मुखवृत्ति से विचार करें तो जाड्यस्मृति की क्या गति होगी जो आत्मा की जड़ता और चेतनता को बनाती है इससे सबके अनुभव साथ विरोध आवेगा।

उत्तर—(विवेकी साँख्यशास्त्रवालों का) सुषुप्ति में जो जड़ता है सो प्रकृति का रूप है प्राकृति नाम माया का है, सो जड़ता आत्मा का रूप नहीं वह प्रकृति विकारी है अर्थात् अनेक प्रकारके कार्यों को पैदा करती है जिससे सत्व, रज, तम, इस तीन गुण वाली है, उस प्रकृति को जगत् के उत्पन्न करने में अपना कुछ प्रयोजन नहीं, सो प्रकृति पुरुष के भोग और मोक्ष के अर्थ जगत् करती है ॥९९॥

असंगायाश्चितेर्बंधमोक्षौ भेदाग्रहान्मतौ ॥
बंधमुक्तिव्यवस्थार्थं पूर्वेषामिव चिद्भिदा ॥ १०० ॥

शंका—पुरुष को असंग होने से इसमें प्रकृति की जगत् के उत्पन्न कारण रूप प्रवृत्ति से भोग मोक्ष नहीं बनते, और जो कहो कि प्रकृति में भोग मोक्ष हैं, और पुरुष में प्रतीत होते हैं सो यह कथन भी नहीं बनता क्यों कि प्रकृति पुरुष अत्यंत विलक्षण हैं, जो विलक्षण नहीं होते उनके धर्म परस्पर और और के और में भान होते हैं, जैसे वस्त्र में जो लाली है, सो वस्त्रयुक्त जो स्फटिक है उसमें भासती है, इसका कारण वस्त्र और स्फटिक का संयोग है, तैसे प्रधान और आत्मा का जो संयोग हो तो प्रधान के धर्म भोग मोक्ष आत्मा में भान हों सो इन दोनों का सँयोग तो है ही नहीं, तिस से प्रधान के धर्म बंध मोक्ष पुरुष में भासते हैं यह बात अयोग्य है।

उत्तर—वस्तुतस्तु आत्मा में कोई भोग मोक्ष नहीं, प्रकृति में ही हैं, पर जबतक प्रकृति और पुरुष का भेद ठीक २ नहीं मालूम होता तबतक पुरुष में भोग मोक्ष भ्रम से प्रतीत होते हैं और आत्मा चैतन्य रूप है सो नाना है एक नहीं जो आत्मा एक हो तो एक के मोक्ष से सब मोक्ष होने चाहिये और एकके बंधन से सबका बंधन होना चाहिये तिससे जो बद्ध है सोई बद्ध है, जो मुक्त है सोई मुक्त है इस व्यवहार को

सिद्धि के लिये हम आत्मा का भेद मानते हैं, जैसे मीमाँसक और नैयायिक आत्मा का भेद मानते हैं ॥१००॥

महतः परमव्यक्तमिति प्रकृतिरुच्यते ॥
श्रुतावसंगता तद्वदसंगो हीत्यतः स्फुटा ॥१०१ ॥

अर्थ—प्रकृति के सद्भाव में और पुरुष की असंगता में श्रुति प्रमाण है महत्तत्व से परे अव्यक्त है इसी का नाम प्रकृति है, तैसे श्रुति में आत्मा की असंगता कही है, इसी से आत्मा असंग चैतन्य स्वरूप है, ऐसे साँख्य शास्त्र वाले कहते हैं, इस प्रकार जीव में अनेक वादी जनों के विवाद हैं, सो तुझे सुनाए ॥१०१॥

चित्सन्निधौ प्रवृत्तायाः प्रकृतेह नियामकम् ॥
ईश्वरं ब्रुवते योगाः सजीवेभ्यः परः श्रुतः ॥१०२ ॥

अर्थ—अब ईश्वर के स्वरूप में जो वादियों के विवाद हैं उन्हें सुन। चैतन्य की निकटता होने पर प्रपञ्च के उत्पन्न करने वाली जो प्रकृति है। उसका जो प्रेरक है सो ईश्वर है ऐसे योग शास्त्र वाले कहते हैं। यह ईश्वर का लक्षण है। सो ईश्वर जीवों से परे है। ऐसा उपनिषद् में सुना है ॥१०२॥

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश इति हि श्रुतिः ॥
आरण्यकेऽसंभ्रमेण ह्यंतर्याम्युपपादितः ॥१०३ ॥

अर्थ—और वह ईश्वर प्रधान और क्षेत्रज्ञ का पति है। प्रधान नाम गुणों की साम्य अवस्था का है। और क्षेत्रज्ञ नाम जीवों का है। क्षेत्र जो शरीर है उस के जानने वाला। और गुणों का ईश अर्थात् सत्व, रज, तम इन तीन गुणों का प्रेरक है। क्यों कि ईश्वर की इच्छा से ही जीवों को सत्वादि गुण प्राप्त होते हैं। और अन्तर्यामी ब्राह्मण में भी अन्तर्यामी नामसे ईश्वर बहुत विस्तारसे कहा है। अन्तर्यामी ब्राह्मणबृहदारण्यक उपनिषद् में है ईश्वर का ऐसा स्वरूप तुझ से कहा ॥ १०३ ॥

अत्राऽपि कलहायंते वादिनः स्वस्वयुक्तिभिः ॥
वाक्यान्यपि यथाप्रज्ञं दार्ढ्यायोदाहरंति हि ॥ १०४ ॥

अर्थ—इस में भी वादीजन अपनी २ युक्ति द्वारा अनेक प्रकार के विवाद करते हैं। और उसकी दृढ़ता के लिये अपनी २ बुद्धि के अनुसार वाक्य भी कहते हैं ॥ १०४॥

क्लेशकर्मविपाकैस्तदाशयैरप्यसंयुतः ॥
पुंविशेषो भवेदीशो जीववत्सोऽप्यसंगचित् ॥ १०५ ॥

अर्थ—अब पतंजलि का सूत्र लिखते हैं। (क्लेशकर्मविपाकैस्तदाशयैरपरामृष्टः पुरुपविशेष ईश्वरः) इसी सूत्र का अर्थ इस श्लोक में कहा है सो सुन। क्लेश जो अविद्या १ अस्मिता २ राग ३ द्वेप ४ अभिनिवेश ५ ये पाँच हैं और ४ प्रकार के जो कर्म हैं। पुण्यरूप १ पापरूप २ और पुण्यपापमिश्रितरूप ३ ये तीन प्रकार के कर्म योग रहित पुरुषों के हैं, और योगी का कर्म पुण्यपाप से रहित है, क्योंकि जो योगा भ्यास से पैदा हुआ शुद्ध धर्म रूप है, और अविद्या के रहते उन कर्मों का जो विपाक कहिये जाति आयु भोग रूप फल है, और उनके जो मनमें संस्कार हैं, उन क्लेश आदि के साथ जिसका सम्बन्ध नहीं, ऐसा जो पुरुप विशेप है सो ईश्वर है, और वह जीवों की नाई असंग चैतन्य रूप हैं॥ १०५॥

तथाऽपि पुंविशेषत्वाद्घटतेऽस्य नियंतृता ॥
अव्यवस्थौ बंधमोक्षावापतेतामिहान्यथा ॥१०६॥

अर्थ—यद्यपि असंग रूप को प्रेरकता नहीं बनती, पर तो भी इसको पुरुप विशेप होने से माया की प्रेरकता बनती है, और जो ईश्वर माया का प्रेरक न होता यहाँ बन्ध मोक्ष की व्यवस्था नष्ट हो जाय, अर्थात् जो बन्धन के योग्य है उस को मोक्ष होजाय और जो मोक्ष के योग्य है उसका बन्ध हो जाय॥ १०६॥

भीषा स्मादित्येवमादावसंगस्य परात्मनः ॥
श्रुतं तद्युक्तमप्यस्य क्लेशकर्माद्यसंगमात् ॥ १०७॥

अर्थ—असंग ईश्वर माया का प्रेरक है, इस अर्थ में तैत्तरीय उपनिषद् का वचन प्रमाण है, सो कहता है इस परमात्मा के भय से पवन चलता है, और सूर्य्य तपता है, इत्यादि वाक्यों में असंग परमात्मा को मायाकी प्रेरकता यथार्थ है, ऐसा सुना है, सुना हुआ भी अयुक्त है? इस को कैसे स्वीकार करें? तहाँ युक्ति कहते हैं, जीव के धर्म जो क्लेश कर्म और उन कर्मों का फल और फलके संस्कार हैं, ईश्वर को इनका संग न होने से नियामकत्व युक्तहै, अर्थात् ईश्वर क्लेश कर्म आदि से रहित है,-इसी से माया का प्रेरक है, यह कथन ठीक है॥ १०७॥

जीवानामप्यसंगत्वात् क्लेशादिर्न ह्यथापिच ॥
विवेकाग्रहतःक्लेशकर्मादि प्रागुदीरितम् ॥ १०८ ॥

शंका—(नैयायिक की योगी के प्रति) आप के मत में जीव भी असंग और चिद्रूप है, तिस से ईश्वर में क्या अधिकता है।

उत्तर—यद्यपि जीवों को वास्तव में क्लेश आदि नहीं, तौभी विवेक के अग्रहण से अर्थात् बुद्धि के साथ भेद ज्ञान न रहने से जीव अपने में क्लेश आदि मानते हैं, ऐसा प्रथम कहा है, और ईश्वर अपने में क्लेश आदि नहीं मानता। इसी से ईश्वर प्रकृति का प्रेरक है, और जीव प्रकृति के प्रेरक नहीं। जीवों से ईश्वर में इतनी अधिकता है। ऐसा योगशास्त्र वाले मानते हैं ॥ १०८ ॥

नित्यज्ञानप्रयत्नेच्छागुणानीशस्य मन्यते ॥
असंगस्य नियंतृत्वमयुक्तमिति तार्किकाः ॥१०९ ॥

अर्थ—और नैयायिक ऐसा कहते हैं, कि असंग को प्रेरकता नहीं बनती, तिस से ईश्वर के ज्ञान १ प्रयत्न २ प्रयत्न नाम उत्साह का है, और इच्छा ३ इन तीन गुणों को नित्य मानते हैं, अर्थात् ईश्वर नित्य ज्ञान वाला है, और नित्य प्रयत्न वाला है, और नित्य इच्छा वाला है, जीवों का जो ज्ञान इच्छा प्रयत्न है सो अनित्य है, और ईश्वर के नित्य हैं, इसी कारण ईश्वर जीवों से भिन्न है (और प्रेरक है॥ १०९ ॥

पुंविशेषत्वमप्यस्य गुणैरेव न चान्यथा ॥
सत्यकामःसत्यसंकल्प इत्यादिश्रुतिर्जगौ ॥ ११० ॥

अर्थ—और इस ईश्वर की अधिकता भी गुणों से ही है, और तरह नहीं। क्यों कि श्रुति कहती है, ईश्वर सत्य काम और सत्य संकल्प है, ऐसा नैयायिक कहते हैं ११०

नित्यज्ञानादिमत्वेऽस्य सृष्टिरेव सदा भवेत् ॥
हिरण्यगर्भ ईशोऽतो लिंगदेहेन संयुतः ॥ १११ ॥

अर्थ—और हिरण्यगर्भ के उपासक ऐसा कहते हैं। कि ईश्वर को नित्य ज्ञानादिमत्व होने पर सदा ही सृष्टि होनी चाहिये, अर्थात् ईश्वर नित्यज्ञान इच्छा प्रयत्न वाला नहीं, जो ईश्वर ऐसा होतो जगत् की उत्पत्ति सदा ही होनी चाहिये, इससे लिंगशरीरसहित जो हिरण्यगर्भ है सो ईश्वर है, मायोपाधिक परमात्मा समष्टि लिंग शरीर के अभिमान से हिरण्यगर्भ रूपता को प्राप्त होता है ॥ १११ ॥

उद्गीथब्राह्मणे तस्य माहात्म्यमतिविस्तृतम् ॥
लिंगसत्त्वेऽपि जीवत्वं नास्य कर्माद्यभावतः ॥ ११२ ॥

उद्गीथब्राह्मण नाम ग्रंथ में उस हिरण्यगर्भ का महात्म बहुत विस्तार से कहा है

शंका—लिंग शरीर का संयोग होने पै हिरण्यगर्भ को ईश्वरता नहीं बनती।

उत्तर—लिंग शरीर का संयोग होने पै भी इसको जीवत्व नहीं अर्थात् हिरण्य

गर्भ जीव नहीं, क्यों कि जीव भाव में अविद्या काम कर्म कारण हैं वे अविद्या काम कर्म हिरण्य गर्भ में नहीं हैं, तिस से हिरण्य गर्भ ईश्वर है ॥ ११२ ॥

स्थूलदेहं विना लिंगदेहो न क्वापि दृश्यते ॥
वैराजोदेहईशोऽतः सर्वतो मस्तकादिमान् ॥११३ ॥

अर्थ—और विराट् के उपासक विराट् को ही ईश्वर मानते हैं, स्थूल शरीर के बिना लिंग शरीर कहीं भी नहीं दीखता इसी से ब्रह्मांड रूप स्थूलशरीर वाला विराट् ही ईश्वर है, सबजगह मस्तक नेत्र आदि हैं जिसके ऐसा वह विराट् रूप ईश्वर है १०३

सहस्रशीर्षेत्येवं च विश्वतश्चक्षुरित्यपि ॥
श्रुतमित्याहुरनिशं विश्वरूपस्य चिंतकाः ॥ ११४ ॥

(सहस्रशीर्षा) अर्थ--सहस्र अर्थात् असंख्यात शिर हैं जिसके विश्वतश्चक्षुः और सब नेत्र हैं जिसके इत्यादि वाक्य हमने सुने हैं, विराट् के उपासक बार २ नित्य ऐसा कहते हैं ॥ ११४ ॥

सर्वतःपाणिपादत्वे कृम्यादेरपि चेशता ॥
ततश्चतुर्मुखो देवएवेशो नेतरः पुमान् ॥ ११५ ॥

अर्थ--और कोई चतुर्मुख ब्रह्मा ही को ईश्वर मानते हैं, जो सहस्र हाथ और सहस्र चरणों वाला ईश्वर हो तो बहुत चरण वाले कीड़े (भी ईश्वर होने चाहिये तिससे चतुर्मुख ब्रह्मा) ही ईश्वर है. और कोई पुरुष ईश्वर नहीं ॥ ११५ ॥

पुत्रार्थं तमुपासीना एवमाहुः प्रजापतिः ॥
प्रजाअसृजतेत्यादि श्रुतिंचोदाहरंत्यमी ॥११६ ॥

अर्थ--पुत्र की प्राप्तिके अर्थ उस ब्रह्मा की उपासना करने वाले ऐसा कहते हैं। और ये (प्रजापतिः प्रजा असृजत) अर्थ--प्रजापति सब प्रजा को रचता भया। इत्यादि श्रुतियों का प्रमाण भी देते हैं ॥ ११६ ॥

विष्णोर्नाभेः समुद्भूतो वेधाः कमलज स्ततः ॥
विष्णुरेवेश इत्याहु लोंके भागवता जनाः ॥ ११७ ॥

अर्थ--अब भागवत का मत कहते हैं। जो लोक में विष्णु भगवान् के भक्त जन हैं वे ऐसा कहते हैं कि चतुर्मुख ब्रह्मा विष्णु के नाभिकमल से पैदा हुआ है तिस से चतुर्मुख ब्रह्मा ईश्वर नहीं किंतु ब्रह्मा जिससे पैदा हुआ है सो विष्णु भगवान् ही ईश्वर है ॥ ११७ ॥

शिवस्य पादावन्वेष्टुं शार्ङ्ग्यशक्तस्ततः शिवः ॥
ईशो न विष्णुरित्याहुः शैवा आगममानिनः ॥ ११८ ॥

अर्थ—और धर्म शास्त्र के मानने वाले शिवजी के उपासक ऐसा कहते हैं कि शिव के चरणों को ढूंडने के लिये शाँर्गी जो विष्णु भगवान् हैं सो असमर्थ हुए तिससे शिव ईश्वर हैं विष्णु नहीं ११८॥

पुरत्रयं सादयितुं विघ्नेशं सोऽप्यपूजयत् ॥
विनायकं प्राहुरीशं गाणपत्यमते रताः ॥ ११९ ॥

अर्थ—और सो शिवजी भी त्रिपुर दैत्य मारने को गणेश जी को पूजते भये। इससे गणपति के उपासक गणेश जी को ईश्वर कहते हैं ॥११९॥

एवमन्ये स्वस्वपक्षाभिमानेनान्यथाऽन्यथा ॥
मंत्रार्थवादकल्पादीनाश्रित्य प्रतिपेदिरे ॥ १२० ॥

अर्थ—इसी तरह और भी वादी भैरव भैराल आदि के उपासक अपने २ पक्ष के अभिमान से मंत्र और अर्थवाद और कल्प आदि का सहारा लेकर और २ प्रकार के ईश्वर मानते हैं, कोई अपने मत में मंत्र को प्रमाण मानता है कोई अर्थवाद को और कोई ऋषिश्वरों के वाक्य को प्रमाण कहता है ॥१२०॥

अंतर्यामिणमारभ्य स्थावरांतेशवादिनः ॥
संत्यश्वत्थार्कवंशादेः कुलदैवतदर्शनात् ॥१२१ ॥

शंका—ऐसे ईश्वर में वादियों के कितने मत हैं।

उत्तर—वादियों के मत असंख्यात हैं अर्थात् अंतरयामी से लेकर स्थावर पर्यन्त ईश्वर के मानने वाले बहुत हैं तिससे उनके मतों की कुछ गिनती नहीं।

शंका—स्थावरों को ईश्वर मानने वाले तो जगत् में कोई भी प्रसिद्ध नहीं।

उत्तर—कोई पीपल को कुल देवता मानते हैं, तिससे उसकी पूजा करते हैं और उसको ईश्वर मानते हैं, सो पीपल स्थावर प्रसिद्ध है, इसी तरह कोई आक को कुल देवता मानते हैं, कोई बाँसों को कुल देवता मानते हैं, कोई लकड़ी को ईश्वर मानते हैं, कोई सुई को ईश्वर जानते हैं, ऐसा देखने से मालूम हुआ कि स्थावरों को ईश्वर मानने वाले भी बहुत हैं ॥१२१॥

तत्त्वनिश्चयकामेन न्यायागमविचारिणाम् ॥
एकैव प्रतिपत्तिःस्यात् साऽप्यत्र स्फुटमुच्यते ॥ १२२ ॥

शंका—इस प्रकार मतो का भेद होने पै जिज्ञासु किसको ग्रहण करे और किस का त्याग करे सो कहो ।

उत्तर-तत्वके निश्चय की इच्छासे न्याय और वेद के विचार करने वाले जिज्ञासु ओंको एक रूपही निश्चय प्राप्त होताहै, सो अब प्रकट करके कहतेहैं तूभी सुन ॥१२२॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ १२३ ॥

अर्थ—माया को जगत् का उपादान कारण जान और मायोपाधिक अंतर्यामी ईश्वर को माया का अधिष्ठाता अर्थात् प्रेरक निमित्त कारण जान इस ईश्र के अवयव भूत अर्थात् अंश रूप चराचरात्मक जीवों से यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण हो रहा है ऐसा श्रुति कहती है ॥१२३॥

इतिश्रुत्यनुसारेण न्याय्योनिर्णय ईश्वरे ॥
तथासत्यविरोधःस्यात्स्थावरांतेशवादिनाम् ॥ १२४ ॥

इस श्रुति के अनुसार जिज्ञासु को ईश्वर का निर्णय करना उचित है तैसा होने पर अर्थात् इस श्रुति के अनुसार निर्णय होने पर स्थावर पर्यन्त ईश्वर मानने वालों का विरोध न होगा, अर्थात् किसी के साथ विरोध नहीं आता, क्यों कि ज्ञानी उन स्थावर पर्यन्त सब को ईश्वर को अवयवरूपता से ईश्वर रूप मानते हैं ॥१२४॥

माया चेयं तमोरूपा तापनीये तदीरणात् ॥
अनुभूतिं तत्र मानं प्रतिजज्ञे श्रुतिःस्वयम् ॥ १२५ ॥

शंका—जगत् का उपादान रूप जो माया है, उसका क्या रूप है ।

उत्तर—यह माया तमोरूप है, ऐसा नरसिंह तापनीय उपनिषद् में कहा है, उस माया के तमोरूप में अनुभव प्रमाण है ऐसी प्रतिज्ञा श्रुति आप करती है ॥१२५॥

जडं मोहात्मकं तच्चेत्यनुभावयति श्रुतिः ॥
आबालगोपं स्पष्टत्वादानंत्यंतस्यसाऽब्रवीत् ॥ १२६ ॥

अर्थ—सो यह माया का रूप जड़ और मोह रूप है, ऐसा श्रुति अनुभव कराती है, और बालको से लेकर गोपाल पर्यन्त स्पष्ट होने से माया अनंत है ऐसे श्रुति कहती है ॥१२६॥

अचिदात्मघटादीनां यत्स्वरूपं जडं हि तत् ॥
यत्र कुंठीभवेद् बुद्धिः समोह इति लौकिकाः ॥ १२७ ॥

अर्थ—चैतन्य से भिन्न घट आदि पदार्थों का जो स्वरूप है सो जड़ है, और जिसमें मनुष्यों की बुद्धि टेढ़ी हो जाती है सो मोह है, ऐसा सब लोग कहते हैं ॥१२७॥

इत्थं लौकिकदृष्ट्यैतत्सर्वैरप्यनुभूयते ॥
युक्तिदृष्ट्यात्वनिर्वाच्यं नासदासीदिति श्रुतेः ॥ १२८ ॥

अर्थ—इस प्रकार लौकिक दृष्टि से अर्थात् जड़रूप और मोहरूपता से माया की तमोरूपता सब ने अनुभव करी है, तिससे माया अनंत है, और युक्ति दृष्टि से तो माया अनिर्वचनीय है, न सत्य है न असत्य है, ऐसे श्रुति भी कहती है ॥१२८॥

नासदासीद्विभातत्वान्नो सदासीच्च बाधनात् ॥
विद्यादृष्ट्याश्रुतं तुच्छं तस्यानित्यनिवृत्तितः ॥ १२९ ॥

अर्थ—प्रतीत होने असत्य नहीं और सत्य क्यों नहीं कि ब्रह्मज्ञान से नष्ट हो जाती है, और इन दोनों रूपों को विरुद्ध होने से सत्य असत्य दोनों रूप भी नहीं तहाँ श्रुति (नेह नानास्ति किंचन) इस श्रुति करके निषेध होने से, इस तरह युक्ति रूप नेत्रों से देखने पर माया का स्वरूप अनिर्वचनीय है और विद्या दृष्टि से अर्थात् ज्ञान वान् की दृष्टि से देखने पर उस माया का स्वरूप तुच्छ सुना है शश के शृंग की नाईं उसको सदा ही अविद्यमान होने से ॥१२९॥

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा ॥
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः ॥१३० ॥

अर्थ—श्रौत यौक्तिक और लौकिक इन तीन प्रकार के बोध अर्थात् दृष्टि से यह माया तीन प्रकार की जाननी तुच्छ १ अनिर्वचनीय २ और वास्तवी ३ अर्थात् श्रौत दृष्टि जो ज्ञानवानों का अनुभव रूप है उस से माया का स्वरूप तुच्छ है और युक्ति दृष्टि से माया का स्वरूप अनिर्वचनीय है, और अज्ञानियों की दृष्टि से माया का स्वरूप सत्य है ॥१३०॥

अस्य सत्त्वमसत्त्वंच जगतोदर्शयत्यसौ ॥
प्रसारणाच्च संकोचाद्यथा चित्रपटस्तथा ॥ १३१ ॥

अर्थ—और यह माया इस जगत् की सत्ता और असत्ता को दिखाती है फैलाव से तो सत्ताको दिखाती है और संकोचसे असत्ता को दिखाती है जैसे चित्र वस्त्र फैला हुआ तो हस्ती अश्व आदि की मूर्तियों को दिखाता है, और संकोच को प्राप्त हुआ, वही चित्र वस्त्र हस्ती अश्व आदि की मूर्तियों को नहीं दिखाता ॥१३१॥

अस्वतंत्रा हि माया स्यादप्रतितेर्विनाचितिम् ॥
स्वतंत्रापि तथैव स्यादसंगस्यान्यथाकृतेः ॥ १३२ ॥

अर्थ—और चैतन्य के बिना प्रतीत न होने से यह माया अस्वतंत्र है, और तैसे ही असंग को संगवाला कर देने से स्वतंत्र भी है ॥१३२॥

कूटस्थासंगमात्मानं जगत्त्वेन करोति सा ॥
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे ॥ १३३ ॥

अर्थ—और चिदाभास रूपता से जीव और ईश्वर को भी रचती है सो असंग कूटस्थ आत्मा को जगत् रूप करदेती है।

कूटस्थमनुपद्रुत्य करोति जगदादिकम् ॥
दुर्घटैकविधायिन्यां मायायां का चमत्कृतिः ॥ १३४ ॥

शंका—जो माया आत्मा को जगत् रूप और जीव ईश्वररूप करदेती है, तो आत्मा की कूटस्थता का नाश हुआ।

उत्तर—आत्माकी कूटस्थताका नाश न करके आत्माको जगत् आदि रूप करती है।

शँका—आत्मा की कूटस्थता का वे नाश करें तो आत्माको जगदादिरूप करना असंभव है।

उत्तर—माया का स्वभाव ही ऐसा है कि जो बात न सके उसको बना देना, तिससे आत्मा की कूटस्थता को बे दूर करें ही आत्मा को जगदादिरूप करदेना यह माया में कुछ आश्चर्य नहीं जैसे सीपी का ज्ञान उसकी सीपी रूपता को वे दूर करे उसको चाँदी रूप कर देना है ॥१३५॥

द्रवत्वमुदके वह्नावौष्ण्यं य काठिन्यमश्मनि ॥
मायायां दुर्घटत्वंच स्वतःसिध्यति नान्यतः ॥ १३५ ॥

अर्थ—जैसे जल में द्रवता और अग्नि में उष्णता और पत्थर में कठिनता स्वभाव सिद्ध है, तैसे मायाको दुर्घटत्व अर्थात् दुर्घट कारित्व अर्थात् जो बात न बने उस को बना देना यह भी स्वभाव सिद्ध है कुछ और से नहीं ॥१३५॥

न वेत्ति लोकोयावत्तां साक्षात्तावच्चमत्कृतिम् ॥
धत्ते मनसि पश्चात्तु मायैषेत्युपशाम्यति ॥ १३६ ॥

अर्थ—लोक जब तक उस माया को और उसके रचने वाले को नहीं जानते तब तक यह माया लोकों के मनमें अनेक प्रकार के चमत्कार दिखाती है, और जब

इसके रचने वाले को ज्ञान जाता है तब यह माया आप ही नष्ट होजाती है ॥१३६॥

प्रसरंति हि चोद्यानि जगद्वस्तुत्ववादिषु ॥
न चोदनीयं मायायां तस्याश्चोद्यैकरूपतः ॥ १३७ ॥

अर्थ—और जो जगत् को सत्य कहते हैं उन नैयायिकों के मन में अनेक शंका उठती हैं, और माया में कोई शंका नहीं बनती क्योंकि माया आप ही शंकारूप है, जैसे कोयला काला है, उस को काला करना नहीं बनता ॥ ३१७ ॥

चोद्येऽपि यदि चोद्यं स्यात् त्वच्चोद्ये चोद्यते मया ॥
परिहार्यं ततश्चोद्यं न पुनःप्रतिचोद्यताम् ॥ १३८ ॥

अर्थ—शंका रूप मायामें भी जो शंका होगी तो तेरी शंका में भी शंका करूंगा तिससे वस्तु का निर्णय कुछ न होगा किन्तु अतिप्रसंग हो जायगा, मैं तिस से जिस प्रकार माया निवृत्त हो सो उपाय करना उचित है, और उस में बार २ शंका करनी उचित नहीं ॥ १३८ ॥

विस्मयैकशरीराया मायायाश्चोद्यरूपतः ॥
अन्वेष्यःपरिहारोऽस्या बुद्धिमद्भिःप्रयत्नतः ॥ १३९ ॥

अर्थ—उक्त अर्थ को ही कहते हैं, आश्चर्य है एक स्वरूप जिसका ऐसी जो माया है उसको विकल्प रूप होने से बुद्धिमान्पुरुषोंने प्रयत्न से उसके दूर होने का उपाय ढूंढ़ना चाहिये ॥ १३९ ॥

मायात्वमेव निश्चेयमिति चेत्तर्हि निश्चिनु ॥
लोकप्रसिद्धमायाया लक्षणं यत्तदीक्ष्यताम् ॥१४० ॥

शंका—माया का स्वरूप निश्चय होने पर उस के दूर करने का उपाय ढूंढ़ना उचित है, सो माया का स्वरूप तो अब तक निश्चय हुआ ही नहीं।

उत्तर—माया का क्या सरूप है? उसे निश्चय कर जो सब लोग में प्रसिद्ध मदारियों की माया है उस का जो लक्षण है प्रथम उसे देख ॥ १४० ॥

न निरूपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या ॥
सा मायेतींद्रजालादौ लोकाःसंप्रतिपेदिरे ॥१४१ ॥

अर्थ—उसका भी क्या लक्षण है? लोक प्रसिद्ध जो मदारियों की माया है सो निरूपण करने में कुछ नहीं आती। और स्पष्ट प्रतीत होती है। इन्द्रजाल आदि में वह माया प्रसिद्ध है लोक ऐसा निश्चय करते हैं। कैसे निरूपण नहीं करी जाती? मदारी

जो अनेक प्रकार के भूषण वस्त्र वृत्त आदि रच लेता है सो वे सब स्पष्ट दीखते हैं। और वे सच्चे हों तो मदारी कौड़ी २ क्यों माँगे। और जो कहो कि मदारी लोगों की नजर बन्दी कर लेता है तो साहूकारों की दुकान से थैलियों को क्यों नहीं उठा लेता, कंगाल क्यों रहता है। तिस से वे सब भूषण वस्त्र वृत्त आदि माया मात्र हैं॥ १४१ ॥

स्पष्टंभातिजगच्चेदमशक्यं तन्निरूपणम् ॥
मायामयंजगत्तस्मादीक्षस्वापक्षपाततः ॥ १४२ ॥

अर्थ–ऐसे यह जगत् भी स्पष्ट भान होता है, पर इस के स्वरूप का निर्णय कुछ नहीं हो सकता। तिस से जगत् माया मात्र है। इसबात को पक्षपात रहित होकर देख ॥ १४२ ॥

निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पण्डितैः ॥
अज्ञानंपुरतस्तेषाँ भाति कक्षासु कासु चित् ॥ १४३ ॥

अर्थ—जगत् का निरूपण अशक्य कैसे है ? एक समय सब पण्डित इकट्ठे हो कर जगत् को निरूपण करने लगे। उनको कितनी एक कक्षाओं में आगे अर्थात् दूसरे तीसरे प्रश्न में अज्ञान ही दीखा ॥१४३॥

देहेंद्रियादयो भावावीर्येणोत्पादिताःकथम् ॥
कथं वा तत्र चैतन्यमित्युक्ते ते किमुत्तरम् ॥ १४४ ॥

अर्थ—अज्ञान कैसे दीखा ? शरीर इंद्रिय और प्राण आदि वीर्य से कैसे पैदा हुए। और उस शरीर में चेतनता की प्रतीत कैसे होती है। यह हमारा प्रश्न है इस इसका उत्तर कहो ॥ १४४ ॥

वीर्यस्यैपस्वभावश्चेत्कथंतद्विदितं त्वया ॥
अन्वयव्यतिरेकौ यौ भग्नौ तौ वंध्यवीर्यतः ॥ १४५ ॥

अर्थ—स्वभाववादी बोला। कि वीर्य का यह स्वभाव ही है जो देह आदि को पैदा करना और प्राण सहित शरीर का स्वभाव ही है कि उस में चेतनता होनी।

प्रश्न—(सिद्धान्ती का फिर स्वभाववादी के प्रति) जो यह वीर्य का स्वभाव है तो तैंने कैसे जाना। फिर स्वभाववादी बोला) मैंने अन्वय व्यतिरेक कैसे जाना है कि वीर्य के होने पर शरीर इन्द्रिय आदि होते हैं, और वीर्य के न रहते शरीर इंद्रिय आदि नहीं होते।

(सिद्धान्ती) जो अन्वय व्यतिरेक हैं वे तो वन्ध्यावीर्य से भग्न हैं, अर्थात् नहीं बनते, (वंध्यवीर्य) अर्थ—सोते हुये पुरुष का वीर्य शरीर से जब निकल जाता है॥ तब उस वीर्य से देह इन्द्रिय आदि नहीं होते, और गर्भवती स्त्री में दूसरी बार वीर्य के पड़ने से, और वन्ध्या स्त्री में वीर्य के प्राप्त होने से भी देह इन्द्रिय आदि नहीं होते और कामी पुरुषों के तो वीर्य हजारों बार निकल पड़ते हैं, पर देह इन्द्रिय आदि पैदा नहीं होते, तिस से अन्वय न हुआ, और व्यतिरेक भी नहीं बनता, क्योंकि वीर्य के अभाव में भी जूं लीक आदि अनेक जीव पैदा होते हैं, तिससे वीर्य वंध्या की समान व्यर्थ है उस से देह इन्द्रिय आदि पैदा कैसे होते हैं॥ १४५॥

न जानामि किमप्येतदित्यंते शरणं तव॥
अतएवमहातोऽस्य प्रवदंतींद्रजालताम्॥ १४६॥

अर्थ-स्वभाववादी बोला कि इसका उत्तर मैं कुछ नहीं जानता, तिसे जैसे शरीर की उत्पत्ति का निर्णय कुछ नहीं हो सकता तैसे सब पदार्थों का निर्णय कुछ नहीं हो सकता, इसी कारण महान् पुरुष इस जगत् को मदारी की बाजीगीरी कहते हैं। १४६॥

एतस्मात्किमिवेंद्रजालमपरं यद्गर्भवासस्थितम्॥
रेतश्चेतति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानांकुरम्॥
पर्यायेण शिशुत्वयौवनजरावेषैरनेकैर्वृतम्॥
पश्यत्यत्ति शृणोति जिघ्रति तथा गच्छत्यथागच्छति॥१४७॥

अर्थ—इसे अधिक और इंद्रजाल क्या होगा कि जो पुरुष का वीर्य गर्भवास के स्थान में स्थित हुआ चेतनता को प्राप्त होता है, और उस वीर्य में हस्त मस्तक और पैर आदि अनेक प्रकार के अंकुर निकल आते हैं, और वह वीर्य पर्याय से बाल और युवा और वृद्ध अनेक अवस्थाओं को प्राप्त होता है. और देखता है, खाता है, सुनता है. सूंघता है और देश देशान्तरों में जाता आता है॥ १४७॥

देहवद्वटधानादौ सुविचार्य विलोक्यताम्॥
क्व धाना कुत्र वा वृक्षस्तस्मान्मायेति निश्चिनु॥ १४८॥

अर्थ—देह की नाईं वट धान आदि में विचार कर देखो तो कहाँ वट और धान का बीज और कहाँ इन दोनों का वृक्ष, तिस से जगत् माया मात्र है, निरूपण कुछ नहीं हो सकता, अर्थात् यह जगत् मिथ्या है, वास्तव से कुछ नहीं है मदारी के तमाशे की नाईं यों ही नज़र आता है ऐसे निश्चय कर॥ १४८॥

निरुक्तावभिमानं ये दधते तार्किकादयः ॥
हर्षमिश्रादिभिस्ते तु खंडनादौ सुशिक्षिताः ॥१४९ ॥

शंका- नैयायिक की, यद्यपि हमसे जगत् का निरूपण नहीं हो सकता, पर तौ भी हमारे बडे जो उदयनाचार्य आदि हैं, वे जगत् का निरूपण करते हैं ॥

उत्तर--जो उदयनाचार्य से लेकर अनेक नैयायिक आदि अभिमान करते हैं कि हम जगत् का निरूपण करेंगे, उनको हमारे बड़े हर्षमिश्र आदि ने खंडन आदि में सुशिक्षित किया है अर्थात् भली प्रकार से निरुत्तर किया है॥ १४९ ॥

अचिंत्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केषु योजयेत् ॥
अचिंत्यरचनारूपं मनसाऽपिजगत्खलु ॥१५०॥

अर्थ-जो निश्चय करके अचिन्त्य पदार्थ हैं, उनको तर्कनाओं में न युक्त करे, और यह जगत् मनसे भी निश्चय करके अचिन्त्य रचनारूप है अर्थात् इस जगत् की रचना किसी के चिंतन करने योग्य नहीं, तिससे बुद्धिमान् इसको तर्कों से चिंतन न करे। क्योंकि इसकी रचना सोचने में नहीं आती इसी से इसकी रचना के सोचने का उद्यम व्यर्थ है। जैसे कोयले को चिट्टे करने का उपाय व्यर्थ है ॥ १५० ॥

अचिंत्यरचनाशक्तिबीजं मायेति निश्चिनु ॥
मायाबीजं तदेवैकं सुषुप्तावनुभूयत ॥ १५१ ॥

शंका—जगत् अचिंत्य रचना रूप हो पर माया में क्यो आया।

उत्तर—अचिंत्य रचना की शक्ति वाला जो कारण है सो माया है, ऐसे निश्चय कर, सो माया रूप कारण एक सुषुप्ति अवस्था में अनुभव किया जाता है ॥ १५१ ॥

जाग्रत्स्वप्नजगत्तत्र लीनंबीजइव द्रुमः ॥
तस्मादशेषजगतोवासनास्तत्रसंस्थिताः ॥ १५२ ॥

अर्थ—उसको जगत्कारणता कैसे है? जाग्रत् और स्वप्न का जगत् सुषुप्ति में प्रतीत होता जो माया रूप बीज है, उस में लीन हुआ है, और उसी से पैदा हो आता है जैसे वट के बीज में वट लीन होता है, और उसी से वट उत्पन्न हो आता है तिस से जगत् का कारण माया है, उसमें सब जगत् वासना स्थित हैं॥ १५२ ॥

या बुद्धिवासनास्तासु चैतन्यं प्रतिबिंबति ॥
मेघाकाशवदस्पष्टचिदाभासोऽनुमीयताम् ॥ १५३ ॥

अर्थ—और जो बुद्धि की बुद्धि का कारणरूप वासना हैं उनमें चैतन्य का प्रतिबिंब पड़ता है, उसका नाम चिदाभास है, सो स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, जैसे मेघाकाश स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, और अनुमान से जाना जाता है, तैसे बुद्धि की वासनाओं में स्थित जो चिदाभास है वह भी अनुमान से जाना जाता है ॥१५३॥

साभासमेव तद्बीजं धीरूपेण प्ररोहति ॥
अतोबुद्धौ चिदाभासो विस्पष्टं प्रतिभासते ॥ १५४ ॥

शंका—बादलों में जो जल है उसको अस्पष्ट आकाश के प्रतिबिंब वाला होने पर घट में जो जल है उसमें साफ़ आकाश का प्रतिबिंब प्रतीत होता है, इस से मेघाकाश का अनुमान बन जाता है, और बुद्धि की वासनाओं में चैतन्य का प्रतिबिंब है इस में दृष्टांत कोई नहीं, तिससे बुद्धि की वासनाओं में चैतन्य के प्रतिबिंब का अनुमान कैसे हो।

उत्तर—बुद्धि की वासनाओं में चैतन्य के प्रतिबिंब के अनुमान का दृष्टांत सुन, बुद्धि में चिदाभास स्पष्ट प्रतीत होता है तिससे बुद्धि का जो कारण है सो चैतन्य के प्रतिबिंब वाला है, जो बुद्धि के कारण में चैतन्य का प्रतिबिंब न हो तो बुद्धि की वृत्तियों में कैसे प्रतीत हो तिससे यह अनुमान सिद्ध हुआ (विमता बुद्धिवासनाश्चित्प्रतिबिंबवत्यो भवितुमर्हंति बुद्धयवस्थाविशेषत्वात् बुद्धिवृत्तिवत्) अर्थ—बुद्धि की वासना चैतन्य के प्रतिबिंब वाली हैं बुद्धि की अवस्था विशेष रूप होने से बुद्धि की वृत्तियों की नाईं। श्लोकार्थ-चिदाभास विशिष्ट सोई अज्ञान बुद्धिरूप से परिणाम को प्राप्त होता है, इसी से बुद्धि में चिदाभास स्पष्ट प्रतीत होता है ॥१५४॥

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतौश्रुतम् ॥
मेघाकाशजलाकाशाविव तौ सुव्यवस्थितौ ॥ १५५ ॥

अर्थ-इस प्रकार श्रुति ने जीव और ईश्वर को जो मायिकत्व अर्थात् प्रतिबिंबरूपत्व कहाथा सो सिद्धहुआ, जो बुद्धिकी वासनाओंमें चैतन्य का प्रतिबिंबहै सोईश्वर है और जोबुद्धि में चैतन्य का प्रतिबिंबहै सो जीवहै, सो जीव और ईश्वर मेघाकाश और जलाकाशकी नाईं स्थितहैं, जैसे मेघाकाश और जलाकाश को प्रतिबिम्बरूपतामें तुल्य रहते भी, मेघाकाश की उपाधि जो मेघ में जल है सो अस्पष्ट है इससे मेघाकाश भी अस्पष्ट है, और जलाकाश की उपाधि जो घट में जल है, सो स्पष्ट है, इससे जलाकाश भी स्पष्ट है तैसे ईश्वर की उपाधि जो बुद्धि की वासना है सो अस्पष्ट है, इस

से ईश्वर स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, और जीव की उपाधि अतः करण स्पष्ट है इस से जीव स्पष्ट प्रतीत होता है।

श्लोकार्थ—माया चिदाभास से जीव और ईश्वर को रचती है, ऐसा श्रुति में सुना है, और वे मेघाकाश और जलाकाश की नाईं सुन्दर स्थित हैं ॥१५५॥

मेघवद्वर्तते मायामेघस्थिततुषारवत् ॥
धीवासनाश्चिदाभासस्तुषारस्थखवत्स्थितः ॥ १५६ ॥

अर्थ—मेघ की नाईं माया है, और मेघ में स्थित जल की नाईं बुद्धि की वासना हैं, और उस जल में स्थित आकाश के प्रतिबिम्ब की नाईं बुद्धि की वासनाओं में चैतन्य का प्रतिबिम्ब है, बुद्धि की वासना का नाम माया है उस में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जो है सो ईश्वर है ऐसे श्वेताश्वतर उपनिषद् की श्रुति भी कहती है॥१५६॥

मायाधीनश्चिदाभासःश्रुतोमायीमहेश्वरः ॥
अंतर्यामी च सर्वज्ञोजगद्योनिः स एव हि ॥ १५७ ॥

अर्थ—मायाधीन जो चिदाभास है सो माया युक्त महेश्वर है, और अंतर्यामी और सर्वज्ञ और जगत् का कारण सो ईश्वर ही है।१५७॥

सौषुप्तमानंदमयं प्रक्रम्यैवं श्रुतिर्जगौ ॥
एष सर्वेश्वर इति सोऽयं वेदोक्त ईश्वरः ॥ १५८ ॥

शंका—बुद्धि की वासना में जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब है सो ईश्वर है, और सर्वज्ञ आदि अर्थ श्रुति सिद्ध कैसे हैं।

उत्तर—मांडूक्य और नरसिंहतापनी उपनिषद् की श्रुति बुद्धि की वासनाओं में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जो आनंदमय है, उसको ईश्वर और सर्वज्ञादिरूप कहती है सुषुप्ति है स्थान जिसका और ओ ब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त होता है ऐसा जो चैतन्य घन आनन्दमय है सो सुषुप्ति में आनंद को भोक्ता है अज्ञान की वृत्तियों में चैतन्य के प्रतिबिम्बरूप मुखसे, ऐसा जो प्राज्ञ है सो आत्मा का तीसरा पाद है, सो सुषुप्ति कैसी है, जिसमें स्थित हुआ जाग्रत के पदार्थों की कामना से रहित हो जाता और स्वप्न को पदार्थों को भी नहीं देखता, सो यह प्राज्ञ सर्वदा ईश्वर है और सर्वदा सर्वज्ञ है, और सर्व कारण है जिस प्राज्ञ से ही सब भूत पैदा होते हैं, और प्राज्ञ में ही लय होते हैं ॥१५८॥

सर्वज्ञत्वादिके तस्य नैव विप्रतिपद्यताम् ॥
श्रौतार्थस्यावितर्क्यत्वान्मायायांसर्वसंभवात् ॥ १५९ ॥

शङ्का—आनन्दमय जो प्राज्ञ है उसकी सर्वज्ञता आदि अनुभव से सिद्ध नहीं होती

उत्तर—आनन्दमय प्राज्ञ के सर्वज्ञत्व आदि गुणों में विवाद नहीं करना। क्योंकि श्रुति के अर्थ में विवाद नहीं होता, और माया में सब कुछ बनजाता है ॥ १५९ ॥

अयं यत्सृजते विश्वं तदन्यथयितुं पुमान् ॥
नकोऽपिशक्तस्तेनायं सर्वेश्वर इतीरितः ॥ १६० ॥

शंका—आनन्दमय प्राज्ञ को जो श्रुति सर्वज्ञ रूप और सर्वेश्वरादिकहती है, सो अर्थ वादरूप है। अर्थवाद का अर्थ स्तुति है। इसी से युक्ति रहित है। जैसे पत्थर तर जाते हैं यह श्रुति अर्थवाद रूप है युक्ति रहित होने से।

उत्तर—जो श्रुति आनन्दमय प्राज्ञ को सर्वज्ञ सर्वेश्वरादिरूप कहती है। सो अर्थ वादरूप नहीं किन्तु यथार्थ रूप है। सुषुप्ति में जो विद्यमान आनन्दमय प्राज्ञ है। उस से रचा हुआ जो स्वप्ने का और जाग्रत् अवस्था का जगत् है उस को अन्यथा करने को कोई भी समर्थ नहीं। तिससे यह सर्वेश्वर है, ऐसा श्रुतिमें कहा है। क्यों कि जो लक्षण ईश्वर का है। उसके किये को कोई अन्यथा नहीं करसकता। सो लक्षण प्राज्ञ में आता है। तिससे प्राज्ञ ईश्वर है ॥ १६० ॥

अशेषप्राणिबुद्धीनां वासनास्तत्र संस्थिताः ॥
ताभिःक्रोडीकृतं सर्वं तेन सर्वज्ञ ईरितः ॥ १६१ ॥

अर्थ—अब जिस प्रकार प्राज्ञ सर्वज्ञ है सो सुन। सुषुप्ति में जो अज्ञान है। उस से सब प्राणियों की बुद्धि पैदा होती है। और उसी में लय होती है। और उसी कारण रूप अज्ञान में कार्यरूप सब प्राणियों की बुद्धियों की वासना स्थित हैं। उन्हों ने सब जगत् जाना है, तिस से प्राज्ञ सर्वज्ञ है। सब अर्थों के जानने वाली जो सब बुद्धि हैं उनकी वासनारूप से जिस अज्ञान में लीनता है, उस अज्ञान उपाधि वाला प्राज्ञ है, तिस से प्राज्ञ सर्वज्ञ है; क्योंकि सर्वज्ञ का अर्थ यही होता है जो सब को जाने ॥ प्राज्ञ की उपाधि में लीन हुई जो सब बुद्धि हैं उनके द्वारा प्राज्ञ सबको जानता है। और सुषुप्ति में क्यों नहीं जानता? सुषुप्ति में सब का लय हो जाता है। इस से सबको नहीं जानता। जैसे तेरे मत में भी प्रलयावस्था में ईश्वर सब को नहीं जानता। पर उस की सर्वज्ञता का अभाव नहीं होता। क्यों कि जो सबको स्थिति दशा में सब को जानता है। तैसे प्राज्ञ सुषुप्ति में सब को नहीं जानता। तो भी उसकी सर्वज्ञता दूर नहीं होती ॥ १६१ ॥

वासनानां परोक्षत्वात् सर्वज्ञत्वं न हीक्ष्यते ॥
सर्वबुद्धिषु तद् दृष्ट्वा वासनास्वनुमीयताम् ॥ १६२ ॥

शंका—जो प्राज्ञ सर्वज्ञ है तो सर्वज्ञ प्रतीत क्यों नहीं होता ।

उत्तर—प्राज्ञ की उपाधि रूप जो बुद्धिवासना हैं, उनको परोक्ष होने से प्राज्ञकी सर्वज्ञता का अनुभव प्रत्यक्ष नहीं होता, सब बुद्धिवासनाओं में सर्वज्ञता देख कर, प्राज्ञ की सर्वज्ञता का अनुमान कर। सब बुद्धियों में सर्वज्ञता अनुभव सिद्ध है, क्योंकि दशपदार्थ किसीकी बुद्धिजानती है, और दशपदार्थ किसी की बुद्धि जानती है। तिससे सब बुद्धियों में जो सर्वज्ञता है, सो अपनी कारण रूप जो वासना हैं उनमें जो सर्वज्ञता है उनसे पैदा हुई है, क्यों कि जो कार्य में धर्म है, सो कारण में जो धर्म है उस से पैदा होता है, जैसे वस्त्र में रूप तन्तुओं के रूप से पैदा हुआ है। इस प्रकार आनन्दमय प्राज्ञ की सर्वज्ञता सिद्ध हुई ॥ १६२ ॥

विज्ञानमयमुख्येषु कोषेष्वन्यत्र चैव हि ॥
अंतस्तिष्ठन् यमयति तेनांतर्यामितां व्रजेत् ॥ १६३ ॥

अर्थ—अब जैसे उसकी अन्तर्यामी रूपता है सो भी सुन, विज्ञानमय से आदि लेकर जो कोश हैं, और पृथ्वी से आदि लेकर जो पदार्थ हैं, उन के अन्तर स्थित हुआ उन सब को प्रेरता है तिस कारण अन्तर्यामी है. इस अर्थ में सब अन्तर्यामी ब्राह्मण प्रमाण है, परंच ग्रंथ बढ़ने के भय से उसके सब अर्थ को नहीं कह सकते, किन्तु उस के एक वाक्य का अर्थ कहते हैं ॥ १६३ ॥

बुद्धौ तिष्ठन्नांतरोऽस्या धियानीक्ष्यश्च धीवपुः ॥
धियमंतर्यमयतीत्येवं वेदेन घोषितम् ॥ १६४ ॥

अर्थ—जो बुद्धि के अन्तर स्थित है। और बुद्धि जिस को नहीं देख सकती। और बुद्धि जिसका शरीर है, और जो बुद्धि को भीतर से प्रेरता है। इस प्रकार वेद ने कहा है कि सो अन्तर्यामी है, ऐसा जो अन्तर्यामी का लक्षण है। सो आनन्दमय प्राज्ञ में बनता है तिस से वही अन्तर्यामी है ॥ १६४ ॥

तंतुःपटे स्थितो यद्वदुपादानतया तथा ॥
सर्वोपादानरूपत्वात् सर्वत्रायमवस्थितः ॥ १६५ ॥

अर्थ—जैसे वस्त्र में उपादानरूपता से तंतु स्थित हैं। तैसे सब जगत् का उपादानरूप होने से यह अन्तर्यामी सब जगत् में स्थित है ॥ १६५ ॥

पटादप्यांतरस्तंतुस्तंतोरप्यंशुरांतरः ॥
आँतरत्वस्य विश्राँतिर्यत्रासावनुमीयताम् ॥ १६६ ॥

अर्थ—जो अन्तर्यामी उपादानरूपता से सब पदार्थों में स्थित हैं । तो सर्वत्र क्यों नहीं प्रतीत होता ?

उत्तर—सब के अन्तर होने से ही सर्वत्र प्रतीत नहीं होता किंतु अनुमान से जाना जाता है, सो अनुमान किस प्रकार करना । पट के अन्तर जो तन्तु हैं, और उन ततुओं के अंतर जो उनके अवयव हैं, और उन अवयवों के अन्तर उन्हों से भी सूक्ष्म अवयव हैं, इस प्रकार जहाँ अन्तरता की समाप्ति हो जाय सो अन्तर्यामी है ऐसा अनुमान कर ॥ १६६ ॥

द्विव्रांतरत्वकक्षाणां दर्शनेऽप्ययमांतरः ॥
न वीक्ष्यतेततोयुक्तिश्रुतिभ्यामेव निर्णयः ॥ १६७ ॥

शंका--जैसे तँतुओं के अवयव उनके अँतर होते हैं । सोप्रतीत होते हैं । तैसे अंतर्यामी की सब के अँतर रहते भी उसकी प्रतीति क्यों नहीं होती ।

उत्तर--यद्यपि तँतुओं के अवयव उनके अँतर हैं पर तौभी अपने अवयवों से बाह्य हैं इससे प्रतीत होते हैं और अन्तर्यामी किसी से वाह्य नहीं । सब के अँतर हैं । इस से नही प्रतीत होता । तिस से श्रुति और युक्तियों से ही अँतरयामी का निर्णय होता है । जड़ पदार्थों की प्रवृत्ति चेतन अधिष्ठान के बिना नहीं बनती । जैसे रथ आदि घोड़े आदि से चलते हैं । तैसे जड़ों की प्रवृत्ति अँतरयामी से होती है । यह युक्ति है । और श्रुति तो प्रथम ही कह आये हैं ॥ १६७ ॥

पटरूपेण संस्थानात् पटस्तंतोर्वपुर्यथा ॥
सर्वरूपेण संस्थानात्सर्वमस्य वपुस्तथा ॥ १६८ ॥

जैसे तँतुओं की पटरूप से स्थित होने से तँतुओं का शरीर वस्त्र है तिसे सब रूप से स्थित होने से इस अन्तर्यामी का सब शरीर है । क्योंकि सब भूतों में यही स्थित है ॥ १६८ ॥

तंतोःसंकोचविस्तारचलनादौ पटस्तथा ॥
अवश्यमेव भवति न स्वातंत्र्यं पटे मनाक् ॥ १६९ ॥

अर्थ—जैसे तन्तुओं के संकोच से पटका संकोच और उनके विस्तार से पटका विस्तार अवश्यही होता है । और उनके संकोच और विस्तारके विना पट में स्वतंत्रता

नहीं अर्थत् पटका संकोच और विस्तार रत्तीभर भी स्वतन्त्र नहीं ॥ १६९ ॥

तथांतर्याम्ययं यत्र यथा वासनया यथा ॥
विक्रियेत तथाऽवश्यं भवत्येव न संशयः ॥ १७० ॥

अर्थ—तैसे यह अन्तर्यामी जहाँ २ जिस २ वासना से जैसे २ घटादिरूपता से विस्तार को प्राप्त होता है। तैसे २ घटादि पदार्थ अवश्य होते हैं इस में संशय नहीं

ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ॥
भ्रामयन्त्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥ १७१ ॥

अर्थ—भगवान् ने भी गीता के १८ अध्याय में अन्तर्यामी कहा है। हे अर्जुन ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में स्थित है। शरीररूपी जंत्र में बैठ हुये सब भूतों को माया से भ्रमाता हुआ ॥ १७१ ॥

सर्वभूतानि विज्ञानमयास्ते हृदये स्थिताः ॥
तदुपादानभूतेशस्तत्र विक्रियते खलु ॥ १७२॥

अर्थ—सब प्राणी विज्ञानमय हैं। वे हृदयकमल में स्थित हैं। उन विज्ञान-मयोंकी उपादानरूपता से अंतर्यामी परिणाम को प्राप्त होता है ॥ १७२ ॥

देहादिपंजरं यंत्रं तदारोहोऽभिमानिता ॥
विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवृत्तिर्भ्रमणं भवेत् १७३ ॥

अर्थ—और शरीर आदि पींजरा यंत्र है। और शरीर का जो अभिमान है। सो इस शरीर में बैठना है। और पुण्य पाप में जो प्रवृत्ति है सो भ्रमण है ॥ १७४ ॥

विज्ञानमयरूपेण तत्प्रवृत्तिस्वरूपतः ॥
स्वशक्त्येशो विक्रियते मायया भ्रामणं हि तत् ॥१७५ ॥

अर्थ—विज्ञानमय रूपता से और विज्ञानमय की पुण्य पाप में प्रवृत्ति रूपता से। ईश्वर अपनी माया शक्ति से विकार को प्राप्त होता है। जो ईश्वर का विकार को प्राप्त होना है सोई भ्रमावना है ॥ १७५ ॥

अंतर्यमयतीत्युक्त्याऽयमेवार्थःश्रुतौ श्रुतः ॥
पृथिव्यादिषु सर्वत्र न्यायोऽयं योज्यतां धिया ॥१७६ ॥

अर्थ—गीता में जो भ्रमावना कहा है। उस का जो अर्थ है। अंतर से प्रेरना है। इस शब्द से यही अर्थ श्रुति में सुना है।अर्थात् सोई अर्थ श्रुति ने कहा है। पृथिवी

आदि में सर्वत्र यह न्याय बुद्धि से युक्त करना । अर्थात् जिस प्रकार अंतर्यामी बुद्धि को प्रेरता है । तिसी प्रकार पृथिवी आदि सब पदार्थों को प्रेरता है । ऐसा बुद्धि से जानना ॥१७६॥

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ॥
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

अर्थ—जो प्रवृत्तिमान हैं सो सब अंतर्यामी के अधीन हैं, इस में महाभारत का प्रमाण है, दुर्योधन कहता है । मैं धर्म को जानता हूं पर उस में मेरी प्रवृत्ति नहीं होती, और अधर्म को भी मैं जानता हूं पर उससे मेरा मन नहीं हटता, हृदय में स्थित हुआ कोई एक देव जैसे मुझको प्रेरता है, तैसे मैं करता हूं ।

नार्थःपुरुषकारेणेत्येवं मा शंक्यतां यतः ॥
ईशः पुरुषकारस्य रूपेणापि विवर्तते ॥ १७७ ॥

शंका—जो जीवों की पुण्यपाप में प्रवृत्ति ईश्वर के अधीन है, तो पुरुषार्थ करना व्यर्थ है ।

उत्तर—पुरुष के प्रयत्न से कुछ प्रयोजन नहीं, ऐसी शंका मत कर, क्यों कि पुरुष प्रयत्न को भी ईश्वर का रूप होने से उसको व्यर्थता नहीं ॥१७७॥

ईदृग्बोधेनेश्वरस्य प्रवृत्तिर्नैव वार्यताम् ॥
तथाऽपीशस्य बोधेन स्वात्मासंगत्वधीजनिः ॥ १७८ ॥

शंका—जो पुरुषार्थ ईश्वर रूप है, तो ईश्वर प्रेरता है वा भ्रमाता है, यह कथन व्यर्थ होगा, ।

उत्तर—ईश्वर पुरुषार्थरूपता से स्थित है, इस ज्ञान से ईश्वर की प्रवृत्ति दूर नहीं होती, अर्थात् अंतर्यामी रूपता से ईश्वर की प्रेरकता दूर नहीं होती, किंतु ईश्वर प्रेरता और भ्रमाता है, इस ज्ञान से आत्मा की असंगता निश्चय होती है तिस से अंतर्यामी रूपता से ईश्वर प्रेरता है ईश्वर भ्रमाता है, यह शास्त्र का कथन व्यर्थ नहीं ॥१७८॥

तावता मुक्तिरित्याहुःश्रुतयःस्मृतयस्तथा ॥
श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे इतीश्वरभाषितम् ॥ १७९ ॥

अर्थ—ईश्वर प्रेरक है, आत्मा असंग है, इस ज्ञान से मुक्ति होती है, ऐसे श्रुति और स्मृति कहती हैं, सो श्रुति और स्मृति ईश्वर की आज्ञा रूप हैं, ऐसा ईश्वर ने कहा है ॥१७९॥

आज्ञया भीतिहेतुत्वं भीषास्मादिति हि श्रुतम् ॥
सर्वेश्वरत्वमेतत्स्यादंतर्यामित्वतः पृथक् ॥१८०॥

अर्थ—तिससे ईश्वर की आज्ञारूप श्रुति स्मृति के अनुसार निश्चय करना उचित है श्रुति ने ईश्वर को भय का हेतु कहा है, इस परमात्मा के भय से पवन चलता है। और सूर्य उदय होता है, ऐसा सुना है।

शंका—श्रुति ईश्वर को भय का कारण क्यों कहती है।

उत्तर—ईश्वर और अंतर्यामी इनके अर्थ भेद के लिये कहती है, जो भय का कारण है सो तो ईश्वर है, और जो प्रेरक है सो अंतर्यामी है ॥१८०॥

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासन इति श्रुतिः ॥
अंतःप्रविष्टः शास्ताऽयं जनानामिति च श्रुतिः ॥१८१॥

अर्थ—ईश्वर ही बाह्य और अंतर प्रेरक है, इसमें दो श्रुति प्रमाण हैं, इस अक्षर परमात्मा की आज्ञा में सूर्य चन्द्रमा आदि सब स्थित हैं और यह परमात्मा अन्तःकरण में बैठ कर सब जीवों का शास्ता अर्थात् प्रेरक है इस तरह प्राज्ञ ईश्वर अंतर्यामी है ॥१८१॥

जगद्योनिर्भवेदेष प्रभवाप्ययकृत्त्वतः ॥
अविर्भावतिरोभावावुत्पत्तिप्रलयौ मतौ ॥१८२॥

अर्थ—और यह आनँदमय प्राज्ञ ईश्वर सब जगत् का कारण है। क्यों कि जो सब जगत् को उत्पन्न करता है, और नष्ट करता है, जो जगत् का प्रकट होना है। सो जगत् की उत्पत्ति है, और जो जगत् का तिरोधान होना है सो जगत् का प्रलय है ॥१८२॥

अविर्भावयति स्वस्मिन् विलीनं सकलं जगत् ॥
प्राणिकर्मवशादेष पटो यद्वत्प्रसारितः ॥ १८३ ॥

अर्थ—यह प्राज्ञ ईश्वर अपने में लीन हुए सब जगत् को प्रकट करदेता है, प्राणियों के कर्मों के वश से, जैसे फैला हुआ वस्त्र अपने में लिखी हुई हस्ती घोड़े आदि की मूर्तियों को प्रकट करदेता है ॥१८३॥

पुनस्तिरोभावयति स्वात्मन्येवाखिलं जगत् ॥
प्राणिकर्मक्षयवशात्संकोचितपटो यथा ॥ १८४ ॥

अर्थ—और फिर यह प्राज्ञ ईश्वर अपने में सब जगत् को लय करलेता है प्राणियों के कर्मों के अभाव से, जैसे संकोचित वस्त्र अर्थात् तह किया हुआ चित्र विचित्र कपड़ा अपने में हस्ती घोड़े आदि की मूर्त्तियों को छिपा लेता है ॥१८४॥

रात्रिघस्त्रौ सुप्तिबोधावुन्मीलननिमीलने ॥
तूष्णींभावमनोराज्ये इव सृष्टिलयाविमौ ॥ १८५ ॥

अर्थ—और जैसे रात्रि और दिन होते हैं, जैसे सुषुप्ति और जाग्रत् होती हैं। जैसे नेत्रों का खोलना और मीचना होता है, जैसे समाधि और मनो राज्य होते हैं तैसे जगत् की उत्पत्ति और विनाश हैं ॥१८५॥

अविर्भावतिरोभावशक्तिमत्त्वेन हेतुना ॥
आरंभपरिणामादिचोद्यानां नात्र संभवः ॥ १८६ ॥

शंका—आप जो कहते हो कि ईश्वर जगत् का कारण है, सो तो नहीं बनता क्यों कि कारण दो प्रकारका होता है, एकतो आरंभक और दूसरा परिणामी आरंभक कारण जैसे बहुत तंतु मिल कर पटका कारण हैं सो परमात्मा तो आरंभक कारण नहीं, क्यों कि जो अद्वितीय है, और परिणामी कारण जैसे दूध दधि का कारण है। ऐसे परमात्मा कारण नहीं, क्यों कि जो निरवयव है ।

उत्तर—विवर्तवाद को हम अंगीकार करते हैं, विवर्तवाद जैसे सीपी अपने रूप को न त्याग कर चांदी रूप होजाती है, तैसे ईश्वर अपनी ईश्वररूपता को न याग कर जगत् रूप होकर भान होता है. जगत् का प्रकट करना और अंतर्धान करना माया का स्वभाव है, उस माया शक्ति वाला ईश्वर है. तिससे तैने जो आरंभ वाद और परिणाम वाद में दोष कहे हैं उनकी प्राप्ति नहीं होती ॥१८६॥

अचेतनानां हेतुः स्याज्जाड्यांशेनेश्वरस्तथा ॥
चिदाभासांशतस्त्वेष जीवानां कारणं भवेत् ॥ १८७ ॥

शंका—ईश्वर तो एक ही है, उससे चेतन और अचेतन जगत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है अर्थात् वह इन दोनों का उपादान कैसे होगा।

उत्तर—ईश्वर उपाधिप्राधान्य से तो अचेतनों का हेतु अर्थात् उपादानकारण है, और चित्प्राधान्य से यह चेतनों का उपादान कारण है ॥१८८॥

तमःप्रधानःक्षेत्राणां चित्प्रधानश्चिदात्मताम् ॥
परःकारणतामेति भावनाज्ञानकर्मभिः ॥ १८८ ॥
इति वार्तिककारेण जडचेतनहेतुता ॥
परमात्मन एवोक्ता नेश्वरस्येति चेच्छृणु ॥ १८९ ॥

शंका—मायाशक्ति वाले ईश्वर को जो तुम जगत् का कारण कहते हो, सो सुरेश्वराचार्य के वचन साथ विरोध को प्राप्त होता है, क्यों कि सुरेश्वराचार्य ऐसा कहते हैं, अज्ञानप्रधान परमात्मा अचेतन पदार्थों का कारण है, और चैतन्यप्रधान परमात्मा जीवों का कारण हैं, संस्कार और ज्ञान औरकर्मों से युक्त हुआ, इस प्रकार वार्त्तिक कार ने जड़ चेतन की कारणता परमात्मा को ही कही हैं, और ईश्वर को कारणता नहीं ॥१८९॥

अन्योन्याध्यासमत्रापि जीवकूटस्थयोरिव ॥
ईश्वरब्रह्मणोः सिद्धं कृत्वा ब्रूते सुरेश्वरः ॥ १९० ॥

उत्तर—जैसे त्वं पदार्थ में जीव और कूटस्थ का अन्योन्याध्यास है, तैसे तत्पदार्थ में ईश्वर और ब्रह्म का अन्योन्याध्यास है, तिससे ईश्वर मेंजो जगत् की कारणता है, सो ब्रह्म में प्रतीत होती है, यह सुरेश्वराचार्य का तात्पर्य है, इस से सुरेश्वराचार्य के वचन साथ विरोध नहीं आता ॥१९०॥

सत्यंज्ञानमनंतं यद्ब्रह्म तस्मात्समुत्थिताः ॥
खंवाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहा इति श्रुतिः ॥१९१॥

शंका—सुरेश्वराचार्य ईश्वर और ब्रह्म का अन्योन्याध्यास सिद्ध कर ऐसा कहते हैं यह कैसे निश्चय हो ।

उत्तर—श्रुति का अर्थ देखने से, सो श्रुति का अर्थ कहते हैं जो ब्रह्म सत्य है और चैतन्य और अनंत हैं, उससे आकाश पवन अग्नि जल पृथिवी औषधि अन्न देह पैदा हुये, यह श्रुति है ॥१९१॥

आपातदृष्टितस्तत्र ब्रह्मणो भाति हेतुता ॥
हेतोश्च सत्यता तस्मादन्योन्याध्यास इष्यते ॥ १९२ ॥

शंका—यह श्रुति हो, पर इस से अन्योन्याध्यास का निश्चय कैसे हो ।

उत्तर—सामान्य दृष्टि से उस श्रुति में सत्यादि लक्षण निर्गुण ब्रह्म को जग-

त्कारणता प्रतीत होती है, और जगत् का कारण जो मायाधीन चिदाभास रूप ईश्वर है, उसको सत्यता प्रतीत होती है सो अन्योन्यास के बिना नहीं बनती तिससे ईश्वर और ब्रह्म का अन्योन्याध्यास है ॥१६२॥

अन्योन्याध्यासरूपोऽसावन्नलिप्तपटोयथा ॥
घट्टितेनैकतामेतितद्वद्भ्रांत्यैकतां गतः ॥ १९३ ॥

अर्थ—जैसे शुद्धवस्त्र और अन्नलिप्त वस्त्र का अन्योन्याध्यास है, जैसे शुद्ध वस्त्र के साथ अन्नलिप्त वस्त्र एकता को प्राप्त होता है सो भ्रांति से प्रतीत होता है। तैसे शुद्ध निर्गुण ब्रह्म भी ईश्वर के साथ ऐकता को प्राप्त हुआ भ्रांति से प्रतीत होता है, तिससे ईश्वर में जो जगत् की कारणता है सो शुद्ध ब्रह्म में भ्रांति से प्रतीत होती है ॥१६३॥

मेघाकाशमहाकाशौ विविच्येते न पामरैः ॥
तद्वद्ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यंत्यापातदर्शिनः ॥ १९४ ॥

अर्थ—जैसे मेघाकाश और महाकाश को पामर भिन्न २ नहीं जान सकते, तसे सूक्ष्म विचार से रहित पुरुष ब्रह्म और ईश्वर के भेद को नहीं जान सकते ॥१६४॥

उपक्रमादिभिर्लिंगैस्तात्पर्यस्य विचारणात् ॥
असंगं ब्रह्ममायावी सृजत्येप महेश्वरः ॥ १९५ ॥

शंका—तो ब्रह्म और ईश्वर का भेद का निर्णय कैसे हो।

उत्तर—उपक्रम आदि ६ लिंगों से श्रुतियों का तात्पर्य निर्णय होने पर ब्रह्म असंग प्रतीत होता है, और यह मायाधीन ईश्वर जगत्स्रष्टा प्रतीत होता है, तहाँ श्लोक (उपक्रमोपसंहाराचभ्यासोपूर्वताफलं अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये) अर्थ—उपक्रम उपसंहार १ अभ्यास २ अपूर्वता ३ फल ४ अर्थवाद ५ उपपत्ति ६ ये ६ लिंग तात्पर्य के निर्णय में कहे हैं॥ १३५ ॥

सत्यं ज्ञानमनंतं चेत्युपक्रम्योपसंहृतम् ॥
यतोवाचोनिवर्तंत इत्यसंगत निर्णयः ॥ १९६ ॥

अर्थ—श्रुति में उपक्रम उपसंहार की एक रूपता के देखने से ब्रह्म की असंगता स्पष्ट भान होती है॥ सो सुन, ब्रह्म सत्य चैतन्य अनंत है ऐसे उपक्रम कर जिस से

मन सहित वाणी निवृत्त हो जाती हैं। यह उपसंहार किया है, इस से ब्रह्म की असंगता निश्चय होती है॥ १९६॥

मायी सृजति विश्वं सन्निरुद्धस्तत्र मायया॥
अन्य इत्यपरा ब्रूते श्रुतिस्तेनेश्वरः सृजेत्॥ १९७॥

अर्थ—और माया वाले ईश्वर को जगत्कारणता श्रुति कहती है, माया वाला ईश्वर जगत् को रचता है, उस में ईश्वर की माया से जीव बंधन को प्राप्त होता है ऐसे श्वेताश्वर उपनिषद् की श्रुति कहती है, इससे यह मालूम होता है कि ईश्वर जगत् का कारण है॥ १९७॥

आनंदमय ईशोऽयं बहुस्यामित्यवैक्षत॥
हिरण्यगर्भरूपोऽभूत्सुप्तिः स्वप्नो यथा भवेत्॥ १९८॥

अर्थ—जो आनंदमय ईश्वर जगत् का कारण कहा है। उससे जिस प्रकार जगत्की उत्पति होती है सो सुन यह आनन्द मय मैं बहुत हूं ऐसीइच्छा करता भया। ऐसी इच्छावाले ईश्वर हिरण्य गर्भरूप हुआ। जैसे सुषुप्ति स्वप्नरूप हो जाती है॥१९८

क्रमेण युगपद्वा पा सृष्टिर्ज्ञेया यथाश्रुति॥
द्विविधश्रुतिसद्भावात् द्विविधस्वप्नदर्शनात्॥ १९९॥

(तस्माद्वाएतस्मादात्मनआकाशः सँभूतःआकाद्वायु र्वायोस्तेजस्तेजस अद्यःपृथिवी पृथिव्या औषधय औषधिभ्योऽन्नमन्नद्रेतोरेतसः पुरुषाजायँते)

अर्थ—उस वा इस आत्मा से आकाश पैदा हुआ। उस आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वि पृथ्वी से औषधि औषधि से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष पैदा होते हैं। इस श्रुति में क्रम से जगत् की उत्पति कही है, और कोई श्रुति इकट्ठी जगत् की उत्पत्ति कहती है। जैसे (इदं सर्वमसृजत) अर्थ—इस सब जगत् को रचता भया) तिस से इन दो प्रकार की सृष्टि में किस का ग्रहण करना और किस को त्यागना। यह जगत् की सृष्टि क्रम से और एकट्ठी दोनो प्रकार की जाननी, क्यों कि दो प्रकार की जगत् की उत्पत्ति को श्रुति कहती हैं, और दो प्रकार युक्ति से भी सिद्ध होते हैं। दो प्रकार का स्वप्न देखने से। क्रम से स्वप्न के पदार्थ पैदा होते हैं, और इकट्ठे भी स्वप्न के पदार्थ पैदा होते हैं, तिस से श्रुति के अनुसार दोनों प्रकार की सृष्टि ग्रहण करने योग्य है, कोई भी त्याग ने लायक नहीं॥ १९९॥

सूत्रात्मा सूक्ष्मदेहाख्यः सर्वजीवघनात्मकः॥
सर्वाहंमानधारित्वात् क्रियाज्ञानादिशक्तिमान्॥ २००॥

अर्थ—अब हिरण्यगर्भ के स्वरूप को कहते हैं। हिरण्यगर्भ को सूत्रात्मा कहते हैं जिसकी उत्पत्ति ईश्वर से है. जैसे वस्त्र में सूत्र व्यापक होता है। तैसे सब जगत् में हिरण्यगर्भ व्यापक है तिस से इसको सूत्रात्मा कहा, और सूक्ष्म शरीर भी जिसका नाम है, सो हिरण्यगर्भ लिंग शरीर उपाधिवाले सब जीवों का समष्टिरूप है, तहाँ घना त्मक अर्थात् समष्टि रूप में हेतु कहते हैं, जिससे सब व्यष्टि सूक्ष्म शरीरों में अहं अभिमान वाला है, और क्रिया शक्ति इच्छाशक्ति ज्ञान शक्ति वाला है ॥ २०० ॥

प्रत्यूषे वा प्रदोषे वा मग्नो मंदे तमस्ययम् ॥
लोकोभाति यथा तद्वदस्पष्टं जगदीक्ष्यते ॥ २०१ ॥

अर्थ-जैसे प्रातः काल और सायंकाल मन्द अन्धकार में लीन हुये पदार्थ स्पष्ट नहीं दीखते, तैसे हिरण्यगर्भ रूप अवस्था में जगत् स्पष्ट नहीं दीखता ॥ २०१॥

सर्वतोलांछितो मध्या यथा स्याद्घट्टितः पटः ॥
सूक्ष्माकारैस्तथेशस्य वपुःसर्वत्रलांछितम् ॥ २०२ ॥

अर्थ—जैसे जिस वस्त्र को अन्न की माया लगी हुई है. उसमें जो शाहीके सूक्ष्म आकारों से रचे हुए घोड़े हाथी हैं, सो साफ नहीं दीखते, क्योंकि उन में लाल पीले आदि रंग भरे हुए नहीं हैं, तैसे माया वाले ईश्वर का स्वरूप अपंची कृत भूत का कार्य सूक्ष्म शरीरों से युक्त स्पष्ट नहीं दीखता ॥२०२॥

सस्यं वा शाकजातं वा सर्वतोंकुरितंयथा ॥
कोमलं तद्वदेवैष पेलवो जगदंकुरः ॥ २०३ ॥

अर्थ—जैसे चावल गेहूं आदि के पैदा हुये नवीन अंकुर और मेथी पालक आदि के पैदा हुए नवीन अंकुर कोमल होते हैं, तैसे हिरण्यगर्भ अवस्था में जगत् रूपी अंकुर कोमल होता है ॥२०३॥

आतपाभातलोको वा पटोवा वर्णपूरितः ॥
सस्यं वा फलितं यद्वत्तथा स्पष्टवपुर्विराट् ॥ २०४ ॥

अर्थ—जैसे सूर्य उदय होने से धूप में सब पदार्थ स्पष्ट प्रतीत होते हैं, और जैसे रक्त पीत आदि वर्णों से पूरित वस्त्र में हस्ती घोड़े आदि साफ़ दीखते हैं, और जैसे फले हुए चावल गेहुं आदि साफ़ दीखते हैं, तैसे सो सूत्रात्मा पंचीकृत भूतों का कार्य स्थूल उपाधिसहित विराट् रूपता को प्राप्त होता है, उस विराट् अवस्था में में जगत् स्पष्ट प्रतीत होता है ॥२०४॥

विश्वरूपाध्यायएषउक्तःसूक्तेऽपि पौरुषे ॥
धात्रादिस्तंबपर्यंता नेतस्यावयवान्विदुः ॥ २०५ ॥

अर्थ—जो यह विराट् का स्वरूप विश्वरूपाध्याय में और पुरुषसूक्त में कहा है, ब्रह्मा से लेकर स्तंब पर्यन्त सब इस विराट् के अवयव जानने ऐसा कहा है ॥२०५

ईशसूत्रविराड्वेधो विष्णु रुद्रेंद्रवन्हयः ॥
विघ्नभैरवमैरालमारिकायक्षराक्षसाः ॥ २०६ ॥
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रागवाश्वमृगपक्षिणः ॥
अश्वत्थवटचूताद्या यवव्रीहितृणादयः ॥ २०७ ॥
जलपाषाणमृत्काष्ठवास्याकुद्दालकादयः ॥
ईश्वराः सर्वएवैते पूजिताः फलदायिनः ॥ २०८ ॥

अर्थ—इस से प्रकरण में क्या सिद्ध हुआ कि ईश्वर सूत्रात्मा और विराट् और ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इंद्र, अग्नि; गणेश, भैरव मैराल, मारिका, यक्ष, राक्षस, ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, गाय, घोड़े मृग, पक्षी, पीपल, बड़, आम्र, यव, चावल, तृण, जल, पत्थर, मृत्तिका, काष्ठ, बाँसा, कुद्दालक आदि सब ही ये ईश्वर हैं, जो इनकी पूजा करता है, उसको ये फल के देने वाले हैं ॥६,७,८॥

यथायथोपासते तं फलमीयुस्तथातथा ॥
फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः ॥ २०९ ॥

अर्थ—जिस २ प्रकार से उस ईश्वर को उपासना करते हैं, तिस २ प्रकार के फल को प्राप्त होते हैं, इसमें श्रुति प्रमाण (तं यथायथोपासते तदेव भवति) शंका—सब को ईश्वरत्व रहते फल की विषमता क्यों होती है।

उत्तर—पूज्य अर्थात् पूजा के अधिष्ठान जो व्यक्ति हैं, और पूजा जो अर्चन आदि हैं, इनके सात्विक राजस तामस भेद से फल की अधिकता और न्यूनता होती है ॥२०९॥

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा ॥
स्वप्नबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा ॥ २१० ॥

शंका—संसार के फल इस प्रकार प्राप्त हों, पर मुक्ति किस की उपासना से होती है।

उत्तर—मुक्ति तो ब्रह्म ज्ञान से होती है, और किसी से नहीं होती, जैसे अपना स्वप्ना अपने जागे बिना दूर नहीं होता, तैसे ब्रह्म के अज्ञान से कल्पित जो जगत् है, सो ब्रह्म तत्व ज्ञान के बिना और किसी उपाय से दूर नहीं होता ॥२१०॥

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत् ॥
ईशजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ॥ २११ ॥

शंका—द्वैत प्रपँच की निवृत्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति जो तुम ब्रह्म ज्ञान से कहते हो और उसमें स्वप्न का दृष्टाँत देते हो, सो बात नहीं बनती, क्यों कि ज्ञान से दूर होने वाला जो जाग्रत् प्रपँच है, उसको स्वप्न तुल्यता नहीं।

उत्तर—द्वैत प्रपंच को स्वप्नतुल्यता है, जैसे स्वप्न के पदार्थ निद्रादोष से प्रतीत होते हैं, तैसे जाग्रत् जगत् भी अज्ञानरूप दोष से भान होता है। वास्तव में नहीं है तहाँ श्रुति (त्रयमेतत्सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रम्) अर्थ—जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति ये तीनों मिथ्या हैं तिससे अद्वय ब्रह्म तत्त्व में ईश्वर जीवादि रूप से जड़ चेतन रूप यह सब जगत् स्वप्न है ॥ २११ ॥

आनंदमयविज्ञानमयावीश्वरजीवकौ ॥
मायया कल्पितावेतौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ॥ २१२ ॥

शंका—ईश्वर जीवतो ब्रह्म से अभिन्न हैं। उनको जगत् के भीतर कैसे कहते हो

उत्तर—आनंदमय जो ईश्वर है। और विज्ञानमय जो जीव है सो ये दोनों माया से कल्पित हैं। और उन दोनों से सब जगत् कल्पित है ॥ २१२ ॥

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता ॥
जाग्रदादिविमोक्षांतः संसारो जीवकल्पितः ॥ २१३ ॥

अर्थ—इच्छा से लेकर शरीर में प्रवेश पर्यंत जगत् ईश्वर से कल्पित है। और जाग्रत् अवस्था से लेकर मोक्ष पर्यंत सँसार जीव से कल्पित है ॥ २१३ ॥

अद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वमसंगं तन्न जानते ॥
जीवेशयोर्मायिकयोर्वृथैव कलहं ययुः ॥ २१४ ॥

प्रश्न—जो जीव ईश्वर रूपता से वर्तमान जड़चेतन रूप जगत् मिथ्या है और ब्रह्म ही एक वास्तव सत्य है। तो जीव ईश्वर में वादियों के विवाद क्यों हैं

उत्तर—जो वादी श्रुति सिद्ध अद्वितीय असंग ब्रह्मतत्त्व को नहीं जानते। मिथ्याभूत जीव ईश्वर में व्यर्थ ही विवाद करते हैं ॥ २१४ ॥

ज्ञात्वा सदा तत्त्वनिष्ठा ननु मोदामहे वयम् ॥
अनुशोचाम एवान्यान्न भ्रांतैर्विवदामहे ॥ २१५ ॥

शंका—जो अज्ञान से जीव ईश्वर में विवाद है। तो वादियों को ऐसे उपदेश करना उचित है कि तुम अज्ञान से विवाद करते हो।

उत्तर—वादियों का ऐसा उपदेश करने से कुछ लाभ नहीं। किंतु श्रम व्यर्थ है। तिस से ऐसा उपदेश नहीं करते किंतु तत्त्व निष्ठा वालों को देख कर हम सदा आनंद होते हैं। और जो भ्रांति से अज्ञानी हैं और तत्त्वनिष्ठा से रहित हैं। उनको देख कर शोक करते हैं। उनके साथ विवाद नहीं करते॥ २१५॥

तृणार्चकादियोगांता ईश्वरे भ्रांतिमाश्रिताः ॥
लोकायतादिसांख्यांता जीवे भ्रांतिमाश्रिताः ॥ २१६ ॥

अर्थ—तृण आदि की पूजा करने वालों से लेकर योग शास्त्र वालों तक ईश्वर में भ्रम को प्राप्त हैं। और देहात्म वादी से लेकर सांख्य शास्त्र वालों तक जीव में भ्रम को प्राप्त हैं॥ २१६॥

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वं न जानंति यदा तदा ॥
भ्रांता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम् ॥ २१७ ॥

अर्थ—जिस से अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व को नहीं जानते। तिससे सब वादी भ्रम को प्राप्त हैं। उनको मोक्ष की प्राप्ति तो क्या होगी। संसार का सुख भी नहीं मिलता। क्योंकि अपने२ पक्ष सिद्ध करने के लिये उनका चित्त नित्य दुखी रहता है॥ २१७॥

उत्तमाधमभावश्चेत्तेषां स्यादस्तु तेन किम्
स्वप्नस्थराज्यभिक्षाभ्यां न बुद्धः स्पृश्यते खलु ॥ २१८ ॥

शंका—यद्यपि उन वादियों को ब्रह्मविद्या की प्राप्ति नहीं। पर और विद्या तो उन को अनेक आती हैं। उन से उन वादियों की उत्तमता और अधमता दीखती है। उस उत्तमता से उनको सुख होता है। आप कैसे कहते हो कि उनको संसार का सुख भी नहीं।

उत्तर—उन को ऐसा जो संसार सुख है सो हो। पर मुमुक्षु की दृष्टि से उस सुख को सुख नहीं समझते। जैसे स्वप्न के राज्य और भिक्षा से जागा हुआ पुरुष नहीं स्पर्श करता। अर्थात् स्वप्न के राज्य और भिक्षा से हुये पुरुष को सुख और दरिद्रता नहीं होती॥ २१८॥

तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः ॥
कार्या किंतु ब्रह्मतत्त्वं विचार्यं बुध्यतां च तत् ॥ २१९ ॥

अर्थ—तिससे मुमुक्षु को उचित है कि जीव ईश्वर के वाद में अपनी बुद्धि न लगावे, क्यों कि जीव ईश्वर वाद मोक्ष का कारण नहीं, किन्तु ब्रह्मतत्व विचारना चाहिये और उसको जानना चाहिये, अर्थात् ब्रह्म विचार से मोक्ष का कारण जो ब्रह्म ज्ञान है उसको प्राप्त होना चाहिये ॥२१९॥

पूर्वपक्षतया तौ चेत्तत्त्वनिश्चयहेतुताम् ॥
प्राप्नुतोऽस्तु निमज्जस्व तयो र्नैतावताऽवशः ॥२२०॥

शंका—ब्रह्म ज्ञान के लिये जीव ईश्वर का स्वरूप त्याग ने योग्य है बिना जाने इनका त्याग नहीं बनता, तिससे इनका स्वरूप जानना उचित है ।

उत्तर—जो इनके छोड़ने के लिये इनका स्वरूप जाना चाहता है, तो इनके वाद में ही बुद्धि न खरच करदेनी, जिससे पूर्वपक्ष रूपता से जीव ईश्वर का निर्णय ब्रह्म के निर्णय में कारण है, तिससे इनके निर्णय में ही नहीं डूब जाना किंतु इन के निर्णय से आगे ब्रह्म निर्णय करना ॥२२०॥

असंगचिद्विभुर्जीवः सांख्योक्तस्तादृगीश्वरः ॥
योगोक्तस्तत्त्वयोरर्थौ शुद्धौ ताविति चेच्छृणु ॥ २२१ ॥

शंका—सांख्य शास्त्र से कहा हुआ जो जीव और योग शास्त्र से कहा हुआ जो ईश्वर, उन दोनों को शुद्ध चैतन्य रूपता से आप भी स्वीकार करते हो, तिस से इन को पूर्वपक्षरूपता नहीं क्यों कि सांख्य वाले जीव को असंग चैतन्य विभुरूप कहते हैं, और योगशास्त्र वाले ईश्वर को असंगचैतन्य विभुरूप कहते हैं, तिस से शुद्धचैतन्य विभुरूप जो जीव ईश्वर हैं उनको पूर्वपक्षरूपता नहीं बनती ।

उत्तर—यद्यपि सांख्ययोगशास्त्र से उक्त जीव असंगचैतन्य विभुरूप है, पर तौ भी सांख्यशास्त्र वाले जीवों का भेद वास्तव मानते हैं और योग शास्त्र वाले ईश्वर का भेद वास्तव मानते हैं, इससे सांख्य और योग से उक्त जो जीव ईश्वर का स्वरूप है, सो हमारे सिद्धांत में स्वीकार नहीं ॥२२१॥

न तत्त्वयोरुभावर्थावस्मत्सिद्धांततां गतौ ॥
अद्वैतबोधनायैव सा कक्षा काचिदिष्यते ॥ २२२ ॥

शंका—कूटस्थ शब्द से शुद्धचैतन्यरूप त्वं पदार्थ, और ब्रह्म शब्द से शुद्ध चैतन्यरूप तत्पदार्थ भिन्न आप भी कहते हो।

उत्तर—तत् और त्वम् पद के दोनों अर्थ हमारे मत में सिद्धांत नहीं किन्तु अद्वैत बोध के लिये सो कोई एक कक्षा इष्ट है अर्थात् लोक प्रसिद्ध जीव ईश्वर के भेद दूर करने द्वारा जीव ईश्वर की एकता के कहने का भेद हमने जनाया है, वास्तव हम उनका भेद नहीं कहते ॥२२२॥

अनादिमायया भ्रांता जीवेशौ सुविलक्षणौ ॥
मन्यंते तद्व्युदासाय केवलं शोधनं तयोः ॥ २२३ ॥

अर्थ—जो जीव ईश्वर का भेद नहीं तो उनका शोधन किस लिये करते हो, अनादि अविद्या से भ्रांत अर्थात् विपरीत ज्ञान को प्राप्त हुए लोक जीव ईश्वर को भिन्न २ मानते हैं क्या कहते हैं कि जीव कर्ता भोक्ता है, और सर्वज्ञत्वादि गुण विशिष्ट ईश्वर है तिससे इनका वास्तव भेद है इस भ्रम के दूर करने को उन का शोधन करते हैं ॥२२३॥

अतएवात्र दृष्टांतो योग्यः प्राक् सम्यगीरितः ॥
घटाकाशमहाकाशजलाकाशाभ्रखात्मकः ॥ २२४ ॥

अर्थ—जिससे पदार्थ शोधन अवश्य कर्तव्य है, इसी से इसमें हम प्रथम शोधन के अनुकूल दृष्टांत कह आये हैं, घटाकाश, महाकाश, जलाकाश, मेघाकाश, रूप ॥२२४॥

जलाभ्रोपाध्यधीने ते जलाकाशाभ्रखे तयोः ॥
आधारौ तु घटाकाशमहाकाशौ सुनिर्मलौ ॥ २२५ ॥

अर्थ—जलरूप उपाधि के अधीन जलाकाश है, और मेघरूप उपाधि के अधीन [मेघा]काश है, तिससे ये दोनों मिथ्याभूत है, और उनके आधाररूप जो घटाकाश और महाकाश हैं सो सत्य हैं क्यों कि वे जलरूप और मेघरूप उपाधि से रहित आकाश मात्र रूप हैं ॥२२५॥

एवमानंदविज्ञानमयौ मायाधियोर्वशौ ॥
तदधिष्ठानकूटस्थ ब्रह्मणी तु सुनिर्मले ॥ २२६॥

अर्थ—इसी प्रकार आनन्दमय जो ईश्वरहै सो माया उपाधि के आधीन है, और विज्ञानमय जो जीव है सो अंतःकरणरूप उपाधि के आधीन है और आनंदमय का अधिष्ठान जो ब्रह्म है और विज्ञान मय अधिष्ठान जो कूटस्थ है, सो सत्य हैं और आनंदमय और विज्ञानमय कल्पित हैं॥ २२६ ॥

एतत्कक्षोपयोगेन सांख्ययोगौ मतौ यदि ॥
देहोऽन्नमयकक्षत्वादात्मत्वे नाभ्युपेयताम् ॥ २२७ ॥

शंका--त्वं पदार्थ के शोधन वास्ते साँख्य शास्त्र का स्वीकार करना उचित है, क्यों कि त्वं पदार्थ के शोधन में अनेक प्रकार हैं, उनमें एक प्रकार साँख्य शास्त्र वालों ने भी कहा है, और तत्पदार्थके शोधन में अनेक प्रकार हैं, उनमें एकप्रकार योग शास्त्र वालों ने भी कहा हैं, तिससे योग शास्त्र भी स्वीकार किया चाहिये।

उत्तर--जो इस कक्षा के उपयोग से साँख्य और योग मानने योग्य हैं, तो अन्नमय कक्षा के उपयोग से देह को भी आत्मरूपता से स्वीकार करो अर्थात् जो इस प्रकार साँख्य और योग का स्वीकार है तो बाकी शास्त्रों को भी स्वीकार करना चाहिये, जैसे हम देह को अंगीकार नहीं करते तैसे साँख्य योग के मत को भी हम अंगीकार नहीं करते ॥२२७॥

आत्मभेदो जगत्सत्यमीशोन्य इति चेत्त्रयम् ॥
त्यज्यते तैस्तदा साँख्ययोगवेदांतसम्मतिः ॥ २२८ ॥

शंका--जैसे देहात्मवाद का वेदाँत के साथ विरोध है, तैसे साँख्य और योग वालों का तो नहीं प्रतीत होता, क्यों कि ये दोनों जीव ईश्वर को शुद्ध चैतन्य मानते हैं।

उत्तर--आत्मभेद १ जगत्सत्य २ जीव ईश्वर का भेद ३ जो इन तीन बातों को साँख्य योग वाले छोड़दे तो वेदांत के साथ कुछ विरोध नहीं ॥२२८॥

जीवोऽसंगत्वमात्रेण कृतार्थ इति चेत्तदा ॥
स्रक्चंदनादिनित्यत्वमात्रेणापि कृतार्थता ॥ २२९ ॥

अर्थ—जो जीव असंग है इस ज्ञान से मुक्ति होजाय तो स्रक् चँदन आदि विषय नित्य हैं इस ज्ञान से भी कृतार्थता होनी चाहिये अब टीकाकार का अभिप्राय कहते हैं

शंका--जीव असंग है इस ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होजाती है, अद्वैत ज्ञान से क्या प्रयोजन है,

उत्तर--अद्वैतज्ञान के बिना जीव की असंगता आदि नहीं बनती, इस गुह्य तात्पर्य को हृदय में रख कर, पुष्प माला और चंदन आदि की नित्यता के ज्ञान से ही मोक्ष होजायगी, फिर जीव की असंगता के ज्ञान का क्या प्रयोजन है ॥२२९॥

यथा स्रगादिनित्यत्वं दुःसंपाद्यं तथाऽऽत्मनः ॥
असंगत्वं न संभाव्यं जीवतोर्जगदीशयोः ॥ २३० ॥

शंका--पुष्प माला आदि विषयों की नित्यता तो नहीं बनती क्यों कि ये तो उत्पत्ति विनाश वाले प्रत्यक्ष हैं।

उत्तर--गुह्य तात्पर्य को प्रकट करते हैं, जैसे पुष्प माला आदि विषयों की नित्यता नहीं बनती, तैसे अद्वैत ज्ञान के बिना आत्मा की असंगता भी नहीं बनती, तिससे अद्वैत ज्ञान अवश्य चाहिये, जगत् और ईश्वर विशेष्य विशेषणाकार से भास मान रहते, अर्थात् जो आत्मा का भेद बना रहेगा, तो रागद्वेष आदि अवश्य प्राप्त होंगे, और जो ईश्वर आत्मा से भिन्न होगा तो आत्मा की परतंत्रता दूर न होगी, और जो जगत् सत्य होगा, तो आत्मा की असंगता न सिद्ध होगी ॥२३०॥

अवश्यं प्रकृतिःसंगं पुरेवापादयत्तथा ॥
नियच्छत्येतमीशोऽपि कोऽस्य मोक्षस्तथा सति ॥ २३१ ॥

अर्थ—और प्रकृति सत्य होगी तो प्रथम की नाई फिर संग करा देगी, और जीव को फिर पुण्य पाप में लगावेगी, ऐसा होने पर इस जीव की मोक्ष क्या सिद्ध हुई ॥२३१॥

अविवेककृतः संगो नियमश्चेति चेत्तदा ॥
बलादापतितो मायावादः सांख्यस्य दुर्मतेः ॥ २३२ ॥

शंका--संग और प्रेरणा को अविवेक का कार्य होने से विवेकज्ञान से उसकी निवृत्ति होने पर फिर संग आदि की उत्पत्ति कैसी। अर्थात् संग और प्रेरणा अविवेक कृत हैं विवेकसेअविवेकका नाश होनेपर फिर सँग और प्रेरणाकी उत्पत्ति नहीं होती।

उत्तर--ऐसा मानने पर दुष्ट बुद्धि साँख्य को अपने सिद्धांत की हानि होगी। और जो वेदांत सिद्धान्त है ब्रह्म से भिन्न सब की मिथ्यारूपता उसकी प्राप्ति बल से होगी तात्पर्य यह है तू जो कहता है कि अविवेक कृत संग आदि हैं। सो अविवेक किसका नाम है। जो विवेक के अभाव का नाम अविवेक है। तो अभावमात्र को भावरूप संग आदि की कारणता नहीं बनती। और जो विवेक से अन्य अविवेक है तो विवेक से अन्य जो घट पट आदि पदार्थ हैं। उनको भी सँग आदि की कारणता हुई चाहिये। सो तो कदाचित् भी नहीं दीखती। और जो विवेक का विरोधी अविवेक है तो विवेक का विरोधी अज्ञान सिद्ध हुआ। तिस से अज्ञानकृत सँग आदि हैं। यह सँख्याशास्त्र वाले को प्राप्त हुआ ॥ २३२ ॥

बंधमोक्षव्यवस्थार्थमात्मनानात्वमिष्यताम् ॥
इतिचेन्न यतो माया व्यवस्थापयितुं क्षमा ॥ २३३ ॥

शंका—अद्वैत का अंगीकार रहते बंधमोक्ष की व्यवस्था नहीं बनती। तिस से आत्मा का भेद स्वीकार करना चाहिये।

उत्तर—आत्मा की एकता मानने पर भी माया से बन्ध मोक्ष व्यवस्था बनजाती है। क्यों कि माया जो बात न बने उसे बनाने को समर्थ है॥ २३३॥

दुर्घटंघट्यामीति विरुद्धं किं न पश्यसि॥
वास्तवौ बंधमोक्षौ तु श्रुतिर्न सहतेतराम्॥ २३४॥

शंका—माया भी एक आत्मा में बन्धमोक्ष कैसे कर देवे।

उत्तर—माया का स्वभाव ही ऐसा है। जो बात न बन ने उसे बना देना ऐसा विरूद्ध स्वभाव माया का तू नहीं देखता।

शंका—बन्ध को अविद्या का कार्य होने पर भी मोक्ष को सत्य माना चाहता है

उत्तर—मोक्ष नाम बन्ध की निवृत्ति का है, तिस से जैसे बन्ध मिथ्या है, मोक्ष भी मिथ्या है, वास्तव बन्ध और मोक्ष दोनों को श्रुति नहीं मानती॥ २३४॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः॥
नमुमुक्षु र्नवै मुक्त इत्येपा परमार्थता॥ २३५॥

अर्थ—मोक्ष आदि की वास्तवता का निषेध करने वाली श्रुति का अर्थ लिखते हैं। निरोध अर्थात् नाश और उत्पत्ति अर्थात् देह संबन्ध और बद्ध अर्थात् सुख दुःखादि धर्मवान् और साधक अर्थात् श्रवणाद्यनुष्ठाता मुमुक्षु अर्थात् साधन चतुष्टय सँपन्न और मुक्त अर्थात् निवृत्ताविद्य ये सब सत्य नहीं। जैसे कोई अपने घर में बैठा है। और उसको भ्रम से यह प्रतीत हुआ कि मुझ को सिपाई पकड़ने आये हैं। और मेरी किसी ने चुगली खाई है। और मुझ से राजसभा में कुछ उत्तर न बन आया और मेरे पैरों में बेड़ी पड़ गई है। और अमुक ने मुझ को सिपारस से छुड़ाया है। और ५०० रुपये उसने मेरी बदली खर्च किये हैं। और मेरे ऊपर बहुत उपकार किया है। इत्यादि वास्तव कुछ नहीं। तिससे जीव ईश्वर आदि भेद मिथ्या है॥ २३५॥

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ॥
यथेच्छं पिवतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि॥२३६॥

अर्थ—माया रूपकाम धेनु गौ के जीव ईश्वर दोनों बछड़े हैं। सो यथेच्छ द्वैत रूप दुग्ध को पीवें और तत्त्व तो वास्तव अद्वैत है॥२३६॥

कूटस्थब्रह्मणोर्भेदो नाममात्रादृते नहि ॥
घटाकाशमहाकाशौ वियुज्येते न हि क्वचित् ॥ २३७ ॥

शंका--जीव ईश्वर को मायिकत्व होने से उन का भेद भी मिथ्या हो। पर कूटस्थ और ब्रह्म तो वास्तव हैं। उन का भेद भी वास्तव हो।

उत्तर--नाम मात्र के बिना कूटस्थ और ब्रह्म का भेद नहीं। अर्थात् इनका भेद वास्तव नहीं। केवल नाम मात्र हैं। जैसे घटाकाश और महाकाश का भेद नहीं २३७

यदद्वैतम् श्रुतं सृष्टेः प्राक्तदेवाद्य चोपरि ॥
मुक्तावपि वृथा माया भ्रामयत्यखिलाञ्जनान् ॥ २३८ ॥

अर्थ--जो अद्वैत जगत् की सृष्टि से पूर्व सुना है। सजातीय विजातीय स्वागत भेद से रहित। सोई ज्यों का त्यों आज पर्यंत स्थित है। तैसा ही आगे मोक्ष अवस्था में होगा। व्यर्थ माया सब जनों को भ्रमा रही है और अज्ञानी मूर्खता से भेद में हठ करते हैं ॥ २३८ ॥

ये वदंतीत्थमेतेऽपि भ्राम्यंतेऽविद्ययाऽत्र किम् ॥
न यथापूर्वमेतेषामत्र भ्रांतेरदर्शनात् ॥ २३९ ॥

शंका--जो पुरुष इस प्रकार प्रपंच को मिथ्या कहते हैं। आत्मा की अद्वैत रूपता को कहे हैं। वे भी संसारवान् दीखते हैं। इससे तत्वज्ञान से क्या प्रयोजन है

उत्तर--कर्मवश से कितने एक ज्ञानियों के व्यवहार में लगे रहते भी पूर्व की नाई राग द्वेष नहीं होते। जिस से ब्रह्मज्ञान से भ्रम अभाव हो जाता है। तिस से ब्रह्मज्ञान के साथ प्रयोजन है ॥ २३९ ॥

ऐहिकामुष्मिकःसर्वःसंसारो वास्तवस्ततः ॥
न भाति नास्ति चाद्वैतमित्यज्ञानिविनिश्चयः ॥ २४० ॥

अर्थ--ज्ञानियों की भ्रांति का अभाव दिखलाने को प्रथम अज्ञानियों का निश्चय कहते हैं। इस लोक में स्त्री पुत्र आदि का पालना, और परलोक में स्वर्ग सुख आदि का अनुभव करना, यह है रूप जिसका ऐसा जो सब संसार है सो सत्य है और अद्वैत न भान होता है। न है। यह अज्ञानी का निश्चय है ॥ २४० ॥

ज्ञानिनो विपरीतोऽस्मान्निश्चयः सम्यगीर्यते ॥
स्वस्वनिश्चयतो बद्धो मुक्तोऽहं चेति मन्यते ॥ २४१ ॥

अर्थ--और ज्ञानी का निश्चय इससे विपरीत अच्छी तरह दीखता है। वह क्या है? अद्वैत वास्तव है, और परोक्ष भान होता है, और स्त्री पुत्र आदि और स्वर्ग सुख आदि सब मिथ्या है, तिससे क्या होता है? अपने २ निश्चय के अनुसार मैं बुद्ध हूं मैं मुक्त हूं ऐसा मानता है, अर्थात् अपने निश्चय से अज्ञानी बन्धन को प्राप्त होता है और ज्ञानी अपने निश्चय से मोक्ष को पाता है ॥ २४१ ॥

नाद्वैतमपरोक्षं चेन्नचिद्रूपेण भासनात् ॥
अशेषेण न भातं चेद्द्वैतं किं भासतेऽखिलम् ॥ २४२ ॥

शंका—अद्वैत अपरोक्ष भान होता है, यह कथन शास्त्र से है, अनुभव से नहीं।

उत्तर--चैतन्य रूपता से अद्वैत अनुभव सिद्ध है,।

शंका--चैतन्यरूपता से अद्वैत प्रतीत होने पर भी सब रूप से अद्वैत प्रतीति नहीं होती।

उत्तर--क्या द्वैत सब स्वरूप से भान होता है ॥२४२॥

दिङ्मात्रेण विभानं तु द्वयोरपि समं खलु ॥
द्वैतसिद्धिवदद्वैतसिद्धिस्ते तावता न किम् ॥ २४३ ॥

अर्थ--दिङ्मात्र अर्थात् एक देश से दोनों का भान होना समान है तिस एक देश प्रतीति सद्भाव से तेरे पक्ष में द्वैत सिद्धि की नाई अद्वैत सिद्धि क्या नहीं होती किन्तु होती ही है, अर्थात् इस प्रकार दोष साम्य कह कर परिहार साम्य कहते हैं। जैसे किसी एक रूप से द्वैत भासता है, तैसे अद्वैत भी किसी एक रूप सेभासता है, तिससे द्वैत निश्चय की नाई अद्वैत निश्चय क्या तेरे को नहीं होता ॥२४४॥

द्वैतेन हीनमद्वैतं द्वैतज्ञाने कथंत्विदम् ॥
चिद्भानंत्वविरोध्यस्य द्वैतस्यातोऽसमे उभे ॥ २४४ ॥

अर्थ--पूर्ववादी प्रकारांतर से अद्वैत सिद्धि में शंका करता है, अद्वैत नाम द्वैत से रहित का है सो द्वैतज्ञान के होने पर भी अद्वैत निश्चय कैसे बने, क्यों कि ये दोनों परस्पर विरोधी हैं।

शंका—(सिद्धांती की) जैसे द्वैत अद्वैत का विरोधी है, तैसे अद्वैत भी द्वैत का विरोधी है, तिससे चैतन्य रूप से अद्वैत की प्रतीति रहते द्वैत की असिद्धि होनी चाहिये, तिससे शंका मेरी और तेरी एक जैसी है।

उत्तर--(पूर्ववादी का) यह शंका समान नहीं, क्यों कि चैतन्यरूपता से जो

अद्वैत की प्रतीति है, सो द्वैत प्रतीतिको नष्ट नहीं करती जिससे चैतन्य प्रतीतिअद्वैत प्रतीति का कारण है, और द्वैतप्रतीति चैतन्य प्रतीति का कारण नहीं ॥२४४॥

एवं तर्हि शृणु द्वैतमसन्मायामयत्वतः ॥
तेन वास्तवमद्वैतं परिशेषाद्विभासते ॥ २४५ ॥

उत्तर--(सिद्धाँती का) जो ऐसा कहता है तो सुन; द्वैत मायामय होने से मिथ्या है, जिससे वास्तव अद्वैत है परिशेष से भान होता है, प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्रा प्रसंगाच्छिष्यमाणे संप्रत्ययः परिशेषः। अर्थ--प्रतिषेध प्रसंग रहते और जगह प्रसंग का अभाव हो से शिष्यमाण में जो संप्रत्यय है अर्थात् निश्चय है, सो परिशेष हैअर्थात् प्रतीत होता हुआ जो द्वैत है, उसको मिथ्या होने से सो अद्वैत का नाश नहीं करता तिससे सब रूप से अद्वैत भासता है ॥२४५॥

अचिंत्यरचनारूपं मायैव सकलं जगत् ॥
इति निश्चित्य वस्तुत्वमद्वैते परिशेष्यताम् ॥ २४६ ॥

अर्थ--परिशेष प्रकार को ही कहते हैं, अचिंत्य रचनारुप यह सब जगत् मिथ्या है, जो प्रतीत होना और अचिंत्य रचनारूप होना सो ही मिथ्या का लक्षण है ऐसे निश्चय कर अद्वैत में वस्तुत्व परिशेष जानना ॥२४६॥

पुनर्द्वैतस्य वस्तुत्वं भाति चेत्त्वं तथा पुनः ॥
परिशीलय कोवाऽत्रप्रयासस्तेन ते वद ॥ २४७ ॥

शंका--इस प्रकार अद्वैत निश्चय करने पर भी बारँबार पूर्व वासना से द्वैत का सत्यत्व प्रतीत होता है।

उत्तर--द्वैत सत्ता के दूर करने के लिये बार२ द्वैत की मिथ्यारूपता कि विचार कर अद्वैत के विचार में तुझे क्या भार है ॥२४७॥

कियंतंकालमिति चेत् खेदोयंद्वैतइष्यताम् ॥
अद्वैते तु न युक्तोऽयं सर्वानर्थनिवारणात् ॥ २४८ ॥

अर्थ--कितने काल तक द्वैत की मिथ्यारूपता का विचार करना, अद्वैत दीप अपरोक्ष प्रतीति तक तिससे अद्वैत विचारमें खेदनहीं मानना और द्वैत प्रतीति में ही खेद मानना जिससे द्वैत प्रतीति रहते ही सब अनर्थों की प्राप्ति होती है और अद्वैत की प्रतीति होने पर अनर्थों का अभाव हो जाता है ॥२४८॥

क्षुत्पिपासादयो दृष्टा यथापूर्वं मयीतिचेत् ॥
मच्छब्दवाच्येहंकारे दृश्यतां नेति को वदेत् ॥ २४९ ॥

शँका—इस प्रकार अद्वैत आत्मतत्व के अपरोक्ष ज्ञानवान् जो मैं हूं, मुझ में भी क्षुधा तृषा आदि दीखते हैं जैसे पूर्व थे वैसे ही तिससे अद्वैत ज्ञान अनर्थ के दूर करने वाला है, यह कथन अयुक्त है।

उत्तर—क्या मच्छब्द वाच्य अहंकार में दीखते हैं, या मच्छब्दोपलक्षित चिदात्मा में दीखते हैं, ऐसी कल्पना कर आद्य को अंगीकार करते हैं, दूसरे को नहीं उस को असंग और अविषय होने से, क्षुधा पिपासा आदि उससे बाहर ही देखने चाहिये अर्थात् अहंकार में क्षुधा तृषा आदि दीखते हैं तो दीखो, हम यह बात अंगीकार नहीं करते कि जो अहंकार में क्षुधा तृषा आदि दूर हो जाते हैं, तो क्या करते हैं साक्षी असंगरूप जो आत्मा है उस में क्षुधा तृषा आदि क्लेश जो भ्रम से प्रतीत होते हैं, वे ज्ञान से दूर हो जाते हैं ॥२४९॥

चिद्रूपेऽपि प्रसज्येरंस्तादात्म्याध्यासतोयदि ॥
माध्यासं कुरु किंतु त्वं विवेकं कुरु सर्वदा ॥ २५० ॥

शँका—वास्तव चैतन्यरूप आत्मा में क्षुधा तृषा आदि नहीं पर अहंकार के साथ तादात्म्याध्यास से उसमें क्षुधा तृषा आदि प्रतीत होते हैं।

उत्तर—जो अध्यास से आत्मा में भी क्षुधा तृषा आदि प्रतीत होते हैं, तो अध्यास मत कर, किंतु अनर्थों का कारण जो अध्यास है, उसके दूर करने को सदा विवेक को कर ॥२५०॥

झटित्यध्यास आयाति दृढवासनयेति चेत् ॥
आवर्तयेद्विवेकं च दृढं वासयितुं सदा ॥ २५१ ॥

शँका—अनादि काल की वासना से वार २ शीघ्र अध्यास हो जाता है।

उत्तर—उसकी निवृत्ति के लिये वार २ विवेक ही करना चाहिये और उपाय कोई नहीं जैसे वार २ भूक लगती है, उसके दूर करने को अन्न खाते हैं, जब तक विवेक दृढ चित्त में न बसजाय तबतक विवेक का अभ्यास कर ॥२५१॥

विवेके द्वैतमिथ्यात्वं युक्त्यैवेति न भण्यताम् ॥
अचिन्त्यरचनात्वस्यानुभूतिर्हि स्वसाक्षिकी ॥ २५२ ॥

अर्थ—विचार से द्वैत की मिथ्यारूपता युक्ति करके सिद्ध है अनुभवसे नहीं। उत्तर—द्वैत की अचिंत्यरचनारूपता तो तेरे अनुभव से सिद्ध है अचिंत्यरचनारूपता मिथ्यावस्तु का लक्षण है तिससे द्वैत की मिथ्यारूपता तेरे अनुभव से सिद्ध हुई ॥२५२॥

चिदप्यचिंत्यरचना यदि तर्ह्यस्तु नो वयम् ॥
चितिं सुचिंत्य रचनां ब्रूमो नित्यत्वकारणात् ॥ २५३ ॥

शंका—अचिंत्य रचनारूपता तो मिथ्यापदार्थ, का लक्षण नहीं बनता क्यों कि आत्मा भी अचिंत्यरचनारूप है।

उत्तर—(प्रागभावयुक्तत्वे सति अचिंत्यरचनात्वं मिथ्यालक्षणम्) अर्थ—जो पदार्थ उत्पत्ति वाला हो और उसकी उत्पत्ति का प्रकार चिंतन न किया जाय सो पदार्थ मिथ्या होता है जो आत्मा अचिंत्यरचनारूप है तो हां हम आत्मा को सुचिंत्य रचनारूप नहीं कहते नित्यत्व कारण से, अर्थात् आत्मा को नित्य होने से, इस की उत्पत्ति नहीं होती, तिससे उसकी उत्पत्ति के प्रकार की चिंता का अभाव होने पर भी आत्मा सत्यरूप है ॥२५३॥

प्राग्भावो नानुभूतश्चितेर्नित्या ततश्चितिः ॥
द्वैतस्य प्रागभावस्तु चैतन्ये नानुभूयते ॥ २५४ ॥

अर्थ—जिससे आत्मा का प्रागभाव अनुभव सिद्ध नहीं, तिससे आत्मा सत्य है द्वैत के प्रागभाव का अनुभव तो चैतन्य करता है, इति संक्षेपार्थ। अब विशेष अर्थ कहते हैं जो शंका समाधान सहित अर्थ संस्कृत टीके का है।

शंका—यह जो आपने मिथ्या वस्तु का लक्षण किया है, सो अविद्या में सँभव नहीं होता क्यों कि अविद्या तो उत्पत्ति से रहित अनादि है।

उत्तर—जो उत्पत्ति वाला हो और चाहे विनाश वाला हो, और फिर अचिन्त्य रचनारूपहो, सो मिथ्या कहाता है, यद्यपि अविद्या उत्पत्ति वाली नहीं, तथापि विनाश वाली है, तिससे अविद्या भी मिथ्या है और चैतन्य उत्पत्ति विनाश इन दोनोंसे रहित है, इससे अचिंत्यरचनारूप होने परभी सत्य है, जिसका प्राग् अभाव होता है, उस की उत्पत्ति होती है. चैतन्य प्राग् अभाव और नाश से रहित है, और जो कोई कहे कि चैतन्य की उत्पत्ति विनाश होते हैं, तो हम उससे प्रश्न करते हैं, कि चैतन्य की उत्पत्ति और विनाश का अनुभव होता है, या नहीं जो कहे अनुभव नहीं होता तो चैतन्य का उत्पत्ति विनाश न सिद्ध हुआ और जो कहे अनुभव होता है, तो जड़ से

अनुभव होताहै, या चैतन्य से. पूर्व कथनतो नहीं बनता, क्योंकि जड़को अनुभव करने की सामर्थ्य नहीं और जिस करके चैतन्य के उत्पत्ति विनाश का अनुभव करता है, तो जिस चैतन्य का उत्पत्ति विनाश होता है, उसी चैतन्य ने उस का अनुभव किया है, या और चेतन्य ने जो कहे उसी चैतन्य ने अनुभव किया है; यह कथन अयुक्त है, क्यों कि जो उत्पत्ति से पूर्व होता है, और विनाशसे पीछे शेष रहता है, सो उत्पत्ति विनाश का अनुभव करता है, जिस चैतन्य की उत्पत्ति हुई सो उत्पत्ति से पूर्व नहीं, और जिस चैतन्य का विनाश हुआ सो विनाश के पीछे नहीं और जो कहे कि और चैतन्य ने अनुभव किया है, सो वार्ता भी नहीं बनती, क्यों कि अद्वैत वाद में दूसरा चैतन्य है नहीं, और चैतन्य के उत्पत्ति विनाश का अनुभव तब बने जब चैतन्य का भी अनुभव हो क्यों कि जगत् में ऐसा नियम है जिस पदार्थका अनुभव हो उसके उत्पत्ति विनाश वे अनुभव नहीं होते, तिससे चैतन्य की उत्पत्ति और विनाश के लिये चैतन्य का अनुभव अवश्य माना चाहिये, ऐसा होने पर जिसका अनुभव हुआ सो चैतन्य नहीं किंतु जड़है तिससे यह सिद्ध हुआ चैतन्य के उत्पत्ति विनाश का अनुभव नहीं होता, तिससे चैतन्य नित्य है।

शंका—जैसे आत्मा का उत्पत्ति विनाश ग्रहण नहीं होता तैसे अनात्मा का भी उत्पत्ति विनाश ग्रहण नहीं होता क्यों कि अनात्मा नाम प्रमाता प्रमाण प्रमेय का है, जो वस्तु ग्रहण होती है सो प्रमाता ने ग्रहण करी है, प्रमाण से तिससे प्रमाता अपने अभाव को आप कैसे ग्रहण करे जिससे प्रमाता की विद्यमान अवस्था में और अविद्यमान अवस्था में प्रमाता ने प्रमाता का अभाव ग्रहण नहीं किया प्रमाता को विद्यमान अवस्थामें प्रमाताका अभाव विद्यमानहै और उसकी अभाव दशामें ग्राहकका अभाव है, इसी तरह प्रमाण का अभाव प्रमाणकी विद्यमान और अविद्यमान अवस्था में प्रमाण से ग्रहण नहीं हो सकता इसी तरह प्रमेय की विद्यमान और अविद्यमान दशा में प्रमेयका अभाव ग्रहण नहीं हो सकता और प्रमातासे भिन्न और कोई प्रमाता आदि रूप द्वैत के अभाव को ग्रहण नहीं कर सकता।

उत्तर—द्वैत के अभाव को चैतन्य ने ग्रहण किया है सुषुप्ति में जाग्रत् स्वप्न रूप द्वैत का अभाव साक्षी ने अनुभव किया है सुषुप्ति में प्रमाता नहीं होता क्यों कि प्रमाता नाम अंतःकरणविशिष्ट चैतन्य का है और प्रमाण नाम अंतः करण वृत्ति विशिष्ट चैतन्य का है और प्रमेय नाम उसका है जो जाग्रत् स्वप्न में प्रतीत होता है पदार्थ उन सबके अभाव को सुषुप्ति में साक्षी ने ग्रहण किया है, तहां श्रुति (तमसः साक्षी सर्वस्य साक्षी) अर्थ—आत्मा अज्ञान का साक्षी है सब का साक्षी है ॥२५॥

प्रागभावयुतं द्वैतं रच्यते हि घटादिवत् ॥
तथापि रचनाऽचिंत्या मिथ्या तेनेंद्रजालवत् ॥ २५५ ॥

अर्थ—तिससे द्वैत प्रपंच को उत्पत्ति वाला रहते भी अचिंत्यरचनारूप होने से मिथ्यारूपता सिद्ध हुई जैसे घट आदि उत्पत्ति वालेहैं, तेसे द्वैत भी उत्पत्ति वाला है, पर तो भी उसकी रचना चिंतन नहीं हो सकती तिससे द्वैत मिथ्या है इंद्रजाल से रचे हुए मंदर की नाईं ॥२५५॥

चित्प्रत्यक्षा ततोऽन्यस्य मिथ्यात्वं चानुभूयते ॥
नाद्वैतमपरोक्षं चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ॥ २५६ ॥

अर्थ—चैतन्य तो स्वप्रकाशता से नित्य और अपरोक्ष प्रतीत होता है। और चैतन्य से भिन्न जो वस्तु है, उसकी मिथ्यारूपता चैतन्य ने अनुभव करी है। ऐसे रहते चैतन्य अद्वैत अपरोक्ष नहीं। यह कथन अयुक्त है, जैसे कोई कहे मेरे मुख में जिन्हा नहीं, यह कथन अयुक्त है ॥ २५६ ॥

इत्थं ज्ञात्वाऽप्यसंतुष्टाः केचित्कुत इतीर्यताम् ॥
चार्वाकादेःप्रबुद्धस्याप्यात्मा देहः कुतोवद ॥ २५७ ॥

प्रश्न—इस प्रकार वेदांत के अर्थ को जानने वाले पुरुषों के मध्य में कितने एक पुरुषों को इस अर्थ में विश्वास क्यों नहीं होता। इसका उत्तर कहो।

प्रश्न—(सिद्धांती का प्रतिबंदी रूप) देहात्मवादी विचार में चतुर होता है। उसको देह की अनात्मता क्यों नहीं ग्रहण होती। इस प्रश्न का उत्तर कहो ॥ २५७ ॥

सम्यग्विचारो नास्त्यस्य धीदोषादिति चेत्तथा ॥
असंतुष्टास्तु शास्त्रार्थं नत्वैक्षंत विशेषतः ॥ २५८ ॥

अर्थ—पूर्वपक्षी प्रतिबन्दी रूप प्रश्न का उत्तर कहता है। इस देहात्मवादी को अपनी बुद्धि के दोष से यथार्थ विचार नहीं है। जो ऐसे कहे तो उत्तर—(सिद्धांती का) असंतुष्ट अर्थात् जो वेदांत अर्थ में सन्तोष से रहित हैं। वे शास्त्र के अर्थ को विशेष नहीं दीखते ॥ अर्थात् उनको अपनी बुद्धि के दोष से वेदांत अर्थ का विचार यथावत् नहीं हुआ। यहां तक वस्तु के तत्व का विचार किया। इससे क्या मालूम हुआ द्वैत मिथ्या है और आत्मा अद्वितीय है। तु शब्द का अर्थ एव है ॥ २५८ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यंते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ॥
इति श्रौतं फलं दृष्टं नेति चेद्दृष्टमेव तत् ॥ २५९ ॥

अर्थ—अब आगे विचार जन्य तत्वज्ञान का फल सुन श्रुति तत्वज्ञान का फल कहती है, इस पुरुष के हृदय में स्थित जो कामना हैं, अर्थात् तादात्म्याध्यास से पैदा हुई जो इच्छा आदि हैं। जब वे सब दूर हो जाती हैं। तब तत्वज्ञान से अध्यास की निवृत्ति होने पर उसी काल में यह पुरुष मोक्ष को प्राप्त होता है। अर्थात् इसी देह में सत्यादि लक्षण ब्रह्मरूप हो जाता है। यह श्रुति से कहा हुआ फल अनुभव सिद्ध नही, जो ऐसे कहे, तो नहीं कहना, क्यों कि सो कामनिवृत्यादि रूप फल दीखता ही है, अर्थात् अगली श्रुतिका विचार करने पर इस तत्वज्ञान के फलको अनुभव सिद्धता दीखती है॥ २५६॥

यदा सब प्रभिद्यंते हृदयग्रंथयस्त्विति ॥

कामाग्रंथिस्वरूपेण व्याख्याता वाक्यशेषतः ॥ २६० ॥

(अथमर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते) अर्थ—उस फल को दृढत्व स्पष्ट करने के लिये इस श्रुति का अर्थ पूर्व कह कर, अब अगली श्रुति का अर्थ लिखते हैं। जब इस पुरुष के हृदय में स्थित सब ग्रंथि दूर हो जाती हैं, तब पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति होती है, इस वाक्य शेष ने ग्रंथि स्वरूप से काम कहे, अर्थात् इस वाक्य ने क्या कहा ज्ञान से जो कामकी निवृत्ति है सो ग्रन्थि की निवृत्ति जाननी ग्रंथि, नाम अहंकार और चिदात्मा के अध्यास का है॥ सो अध्यास की निवृत्ति अनुभवसिद्ध हैं तिससे उसको अप्रत्यक्षता नहीं॥ २६०॥

अहंकारचिदात्मानावेकीकृत्याविवेकतः ॥

इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छाः कामशब्दिताः ॥ २६१ ॥

शंका-लोक में काम नाम इच्छा का है। आप काम नाम ग्रंथि का कैसे कहते हो

उत्तर—अध्यास सहित इच्छा का नाम काम है, इच्छामात्र का नाम नहीं, अहंकार और चिन्दात्मा इन दोनोंको एकट्ठा कर अविवेक से यह पदार्थ मेरे को मिले यह पदार्थ मेरे को मिले, ऐसी जो इच्छा हैं। इनका नाम काम है॥ २६१॥

अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहंकृतिम् ॥

इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रंथिभेदतः ॥ २६२ ॥

शंका—अध्यास मूल जो इच्छा हैं, इसी का त्याग योग्य रहते अध्यास से रहित इच्छा का अँगीकार करना व्यर्थ।

उत्तर—अध्यास रहित इच्छा स्वीकार करने में कोई दोष नहीं, तत्ववेत्ता अहंकार से चिदात्मा को भिन्न देखता हुआ अहंकार के अन्तर चिदात्मा का प्रवेश

न कर चाहे करोड़ों वस्तुओं की इच्छा करें, उससे तत्वज्ञान की कुछ हानी नहीं क्यों कि अहंकार और चिदात्मा की तादात्म्याध्यास रूप गाँठ नष्ट हो गई है ॥ २६२ ॥

ग्रंथिभेदेऽपिसंभाव्या इच्छाः प्रारब्धदोषतः ॥
बुद्धाऽपि पापबाहुल्यादसंतोषो यथा तव ॥ २६३ ॥

शंका—अध्यास का अभाव रहते कामना का उदय नहीं बनता ।

उत्तर-तादात्म्याध्यासरूप ग्रंथि खुलने पर भी प्रारब्धरूप कर्म दोष से इच्छा भी पैदा होती हैं तत्ववेत्ता को, जैसे तेरे को तत्व के जानने पर भी पापों की बहुलता से संताप नहीं ॥ २६३ ॥

अहंकारगतेच्छाद्यै र्देहव्याध्यादिभिस्तथा ॥
वृक्षादिजन्मनाशैर्वा चिद्रूपात्मनि किं भवेत् ॥ २६४ ॥

अर्थ—अध्यास का अभाव रहते अहंकार में इच्छा आदि से साक्षी चैतन्य रूप आत्मा में कुछ दोष प्राप्त नहीं होता । जैसे देह में रोग आदि होने से और वृक्ष आदि के उत्पत्ति और विनाश से साक्षी रूप आत्मा में कुछ दोष नहीं आता ॥ २६४ ॥

ग्रंथिभेदात्पुराऽप्येवमिति चेत्तन्न विस्मर ॥
अयमेव ग्रंथिभेदस्तव तेन कृती भवान् ॥ २६५ ॥

शंका—आत्मा की असंग एक रूपता सदा एक रस है । जैसे तादात्म्याध्यास के नाश होने से पूर्व थी । तैसे ही तादात्म्याध्यास के नाश समय में है । तिस से तादात्म्याध्यास के नाश होने से कुछ फल सिद्ध न हुआ ।

उत्तर—इसी को तादात्म्याध्यास का नाश कहते हैं । जो आत्मा की सद असंग एक रसता जानती । इसका फल कृतकृत्यता है । तिस से इस बात को भूलना कभी नहीं ॥ २६५ ॥

नैवं जानंति मूढाश्चेत्सोऽयं ग्रंथिर्नचापरः ॥
ग्रंथितद्भेदमात्रेण वैषम्यं मूढबुद्धयोः ॥ २६६ ॥

अर्थ—और जो मूर्ख इस प्रकार नहीं जानते । सो यह ग्रंथि है । और दूसर ग्रंथि कोई नहीं । अर्थात् जो आत्मा की सदा असंग एक रसता की प्रतीति का न होना है उसी का नाम तादात्म्याध्यासरूप चिज्जड़ ग्रंथि है । सो अज्ञानियों के हृदय में रहती है । और ज्ञानी के हृदय से नष्ट हो जाती है । इतना मात्र ही ज्ञानी और अज्ञानी में भेद है । और किसी बात का भेद नहीं ॥ २६६ ॥

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा देहेंद्रियमनोधियाम् ॥
न किंचिदपिवैषम्यमस्त्यज्ञानिविबुद्धयोः ॥ २६७ ॥

अर्थ—शरीर इंद्रिय मन बुद्धि इन चारोंकी प्रवृत्ति और निवृत्तिमें भेद किंचित्मात्र भी नहीं। जैसे ज्ञानवान् का शरीर अन्नजल सेस्थिर रहता है। और इनके न मिलने से व्याकुल हो जाता है। तैसे ही अज्ञानी का शरीर भी अन्नजल के मिलने से स्थिर रहता है। और इनके बे मिले व्याकुल हो जाता है। और जैसे ज्ञानी के नेत्र आदि रूप आदि को देखते हैं तैसे अज्ञानी के भी नेत्र आदि रूप आदि को देखते हैं। इसी तरह जैसे अज्ञानी का मन अनुकूल पदार्थों को चाहता है। तैसे ज्ञानी का मन भी अनुकूल पदार्थों की इच्छा रखता है। इसी प्रकार जैसे अज्ञानी की बुद्धि बर्फ को शीतल और अग्नि को उष्ण समझती है। तैसे ही ज्ञानी की बुद्धि निश्चय करती है॥ २६७ ॥

व्रात्यश्रोत्रिययोर्वेदपाठापाठकृता भिदा ॥
नाहारादावस्ति भेदः सोऽयं न्यायोऽत्र योज्यताम् ॥ २६८ ॥

अर्थ—व्रात्य और श्रोत्रिय इन दोनों में वेद का पढ़ना और न पढ़ना इतना ही भेद है। और भोजन आदि में भेद नहीं। सोई यह न्याय यहाँ युक्त करना। अर्थात् जैसे संस्कार से रहित जो ब्राह्मण है, उसका नाम व्रात्य है, और वेद वेत्ता जो ब्राह्मण है, उसका नाम श्रोत्रिय है, इन दोनों का इतना मात्र ही भेद होता है कि जो संस्कार से रहित है उसने वेद नहीं पढ़ा, और संस्कारयुक्त ने वेद पढ़ा है, भोजन आदि में भेद नहीं, तैसे ज्ञानी और अज्ञानी का इतना ही भेद है कि ज्ञानी की चिज्जड़ ग्रंथि नष्ट हो गई है, और अज्ञानी की नष्ट नहीं हुई ज्ञानी की चिज्जड़ग्रंथि नष्ट होने में गीता के १४ वें अध्याय का वाक्य प्रमाण ॥ २६८ ॥

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥
उदासीनवदासीन इतिग्रंथिभिदोच्यते ॥ २६९ ॥

हे अर्जुन ? ज्ञानवान् दुःख प्राप्त रहते द्वेष नहीं करता, और सुख दूर होने पर उनकी इच्छा नहीं करता, उदासीन की नाई रहता है, इस का नाम चिज्जड़ ग्रंथि भेद कहा है, अर्थात् इस वाक्य से भगवान् ने ज्ञानवान् की चिज्जड़ ग्रंथि का अभाव कहा है॥ २६९ ॥

औदासीन्यं विधेयं चेद्वच्छब्दव्यर्थता तदा ॥
न शक्ता अस्य देहाद्या इतिचेद्रोगएव सः ॥ २७० ॥

शँका—भगवान् ने इस वाक्य से उदासीनता विधान करी है। अर्थात् यह ज्ञानवान् सब व्यवहार से उपराम हो जाय; ग्रंथि भेद तो नहीं कहा।

उत्तर—जो इस वाक्य से औदासीन्य विधेय है। तो वत् शब्द को व्यर्थता आवेगी। और जो कहो कि ज्ञानी के देह आदि कार्य करने में समर्थ नहीं तो वह रोग ही है अर्थात् इस वाक्य से उदासीनता विधान नहीं करी। क्यों कि इसमें वत् शब्द बढ़ा है मीमाँसक कहते हैं वत् शब्द वाला वाक्य विधि पर नहीं होता तिस से इस वाक्य को विधि पर रहते वत् शब्द व्यर्थ होजायगा।

शँका—ज्ञानी के शरीर इन्द्रियों में कार्य करने की सामर्थ्य नहीं रहती इस से ज्ञानवान् सुख प्राप्ति और दुःख निवृति के लिये यत्न नहीं करता और यह जो आप कहते हैं, गीता वाक्य के व्याख्यान में कि ज्ञानवान् की चिज्जड़ग्रंथि नष्ट होजाती है, इससे ज्ञानवान् की प्रवृति नहीं होती सो कथन अनुचित है।

उत्तर—(हास्य सहित) जो ज्ञानवान् के शरीर इन्द्रिय में सामर्थ्य नहीं रहती तो ज्ञान एक क्षयी रोग हुआ, जैसे क्षयी रोग वाले के शरीर और इन्द्रियों में सामर्थ्य नहीं रहती तैसे ज्ञानी के शरीर इन्द्रियों में सामर्थ्य न रही ॥२७०॥

तत्त्वबोधं क्षयं व्याधिं मन्यंते ये महाधियः ॥
तेषां प्रज्ञाऽतिविशदा किं तेषां दुःशकं वद ॥ २७१ ॥

शंका—तत्व ज्ञान क्षयीं रोग हो इस में क्या दोष है।

उत्तर—तेरे जैसे जो बड़ी बुद्धि वाले तत्व ज्ञानको क्षयी रोग मानते हैं। उनकी बुद्धि अति निर्मल है। उन को दुःसाध्य क्या है। अर्थात् वे जो चाहें सो सिद्ध करलें॥२७१॥

भरतादेरप्रवृत्तिः पुराणोक्तेति चेत्तदा ॥
जक्षन् क्रीडन् रतिं विंदन्नित्यश्रौषीर्न किं श्रुतिम् ॥ २७२ ॥

अर्थ—भरत आदि की अप्रवृत्ति पुराण में कही है, जो ऐसे कहै तो तैंने जक्षन् क्रीडन् इत्यादि श्रुति क्या नहीं सुनी, यह श्लोकार्थ है, अब विशेषार्थ लिखते हैं।

शंका—तत्व निर्णय के स्थान में यह जो आप हास्य करते हैं, सो आपकी बुद्धि की निर्मलता को जनावता है, और हम ज्ञानवानों की प्रवृत्ति के अभाव को पुराणों से प्रसिद्ध करते हैं, क्यों कि पुराणों में जड़ भरत आदि की प्रवृत्ति का अभाव कहा है।

उत्तर—तेरे को श्रुतियों का ज्ञान नहीं, इस से तू अयुक्त शंका किया करे हैं, तिससे तू हास्य के योग्य था, इससे हमने तेरे साथ हास्य किया।

(जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा वयस्यैर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्) अर्थ—यह श्रुति कहती है कि ज्ञानवान् अपने तुल्य उमरवालों के साथ और अपनी जाति सम्बन्ध वालों के साथ और स्त्रियों के साथ हंसता हुआ वा अपनी इच्छापूर्वक व्यवहार करता हुआ वा क्रीडा करता हुआ वा रमण करता हुआ भी और हाथी घोड़े आदि सवारियों पर चढ़ा हुआ भी । यह जो सब लोकों के निकट वर्ती शरीर है । इसको अहँ बुद्धि से ग्रहण नहीं करता ॥ २७२ ॥

नत्वाहारादि संत्यज्य भरताद्याः स्थिताः क्वचित् ॥
काष्ठपाषाणवत्किंतु संगभीता उदासते ॥ २७३ ॥

शंका—श्रुतिके अनुसार तत्त्ववेत्ताकी प्रवृत्ति मानने पर पुराणों की क्या गति है।

उत्तर—पुराण ज्ञानी की उदासीनता को कहते हैं । अर्थात् ज्ञानी सब व्यवहार करता हुआ भी शरीर में अहं भाव नहीं करता । और पुराण ज्ञानी की प्रवृत्ति के अभाव को नहीं कहते । क्योंकि पुराणों में यह कहीं नहीं लिखा कि जड़भरत आदि भोजन आदि त्यागकर काष्ठ पत्थरकी नाईं स्थित होगये हैं । किंतु क्या कहा है पुराणों में कि जड़ भरत आदि संग दोष से डरे हुए उदासीन रहते हैं अर्थात् सबके संग का त्याग करते भये हैं ॥ २७३ ॥

संगी हि बाध्यते लोके निःसंगः सुखमश्नुते ॥
तेन संगः परित्याज्यः सर्वदा सुखमिच्छता ॥ २७४ ॥

शंका—संग का त्याग क्यों है ।

उत्तर—संग करने वाला ही लोक में दुःख पाता है । और निःसंग सुखी रहता है, तिससे सदा सुख चाहने द्वारा संग का त्याग करे ॥ २७४ ॥

अज्ञात्वा शास्त्रहृदयंमूढोवत्तयन्यथाऽन्यथा ॥
मूर्खाणां निर्णयस्त्वास्तामस्मत्सिद्धांत उच्यते ॥ २७५ ॥

शंका-पुराणों के अनुसार संग त्याग प्रतीत होता है । और श्रुति के अनुसार संगवाले को भी शरीर में अभिमान नहीं प्रतीत होता । तिस से दोनों से क्या अर्थ सिद्ध हुआ कि मन से संग दुःखोंका कारण है । और बाहरला संग दुःखों का कारण नहीं । ऐसे रहते अन्तर संग से रहित जो पुरुष हैं बाहर व्यवहार वाले । उनको अज्ञानी लोग संगी क्यों कहते हैं ।

उत्तर—मूर्ख शास्त्र के तात्पर्य को न जान कर अन्यथा २ बकवाद करते हैं ।

मूर्खों का निर्णय तो रहो, उससे तत्त्व वेत्ता का निर्णय नहीं होता। इससे हम अपना सिद्धांत कहते हैं ॥ २७५ ॥

वैराग्यबोधोपरमाः सहायास्ते परस्परम् ॥
प्रायेण सह वर्तंते वियुज्यंते क्वचित् क्वचित् ॥ २७६ ॥

अर्थ--शास्त्र का तात्पर्यरूप जो हमारा सिद्धान्त है। उस के वैराग्य ज्ञान और उपरामता ये तीनों परस्पर सहायक हैं। और ये बाहुल्यता से एकट्ठे रहते हैं। और कहीं २ जुदे भी हो जाते हैं ॥ २७६ ॥

हेतुस्वरूपकार्याणि भिन्नान्येषामसंकरः ॥
यथावदवगंतव्यः शास्त्रार्थंप्रविविच्यता ॥ १७७ ॥

शंका--वैराग्य के बिना उपरामता कहीं नहीं दीखती, और उपरामता के बिना वैराग्य नहीं दीखता और इन दोनों के बिना ज्ञान नहीं दीखता। और ज्ञान के बिना ये दोनों नहीं दीखते, तिस से ये तीनों एक रूप हैं।

उत्तर--वैराग्य का कारण और स्वरूप और फल और अवधि भिन्न है, और ज्ञान का कारण और स्वरूप और फल और अवधि भिन्नहै। और उपरामता का कारण और स्वरूप और फल और अवधि भिन्न है। तिसमे इनका अभेद नहीं, किन्तु इन का भेद है, सो शास्त्र के बिचार करने हारे ने यथावत् जानना ॥ २७७ ॥

दोषदृष्टिर्जिहासा न पुनर्भोगेष्वदीनता ॥
असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी ॥ २७८ ॥

अर्थ--प्रथम वैराग्य के हेतु आदि दिखलाते हैं। विषयों में दोष दृष्टि वैराग्य का कारण है, और विषयों के त्याग की जो इच्छा है, सो वैराग्य का स्वरूप है। और विषयों को छोड़ कर फिर किसी विषय में दीनता अर्थात् मन की आधीनता न होनी यह वैराग्य का फल है और गलियों के करवों की नाईं ब्रह्म लोक आदि सब पदार्थों में चित्त की उपेक्षा हो जानी, यह वैराग्य की अवधि है ॥ २७८ ॥

श्रवणादित्रयं तद्वत्तत्त्वमिथ्याविवेचनम् ॥
पुनर्ग्रंथेरनुदयो बोधस्यैते त्रयोमताः ॥ २७९ ॥

अर्थ--श्रवण मनन निदिध्यासन तत्त्वज्ञान का कारण हैं। तैसे ही तत्त्व और मिथ्या को भिन्न २ जानना यह तत्त्वज्ञान का स्वरूप है, और फिर तादात्म्याध्यासरूप

चिज्जडग्रंथि का उदय न होना यह तत्वज्ञान का फल है, देह में अहंबुद्धि की नाईं ब्रह्म में अहंबुद्धि होनी यह तत्व ज्ञान की अवधि है ॥ २७९ ॥

यमादिर्धीनिरोधश्च व्यवहारस्य संक्षयः ॥
स्युर्हेत्वाद्याउपरतेरित्यसंकर ईरितः ॥ २८० ॥

अर्थ—यम १ नियम २ आसन ३ प्राणायाम ४ प्रत्याहार ५ धारणा ६ ध्यान ७ समाधि ८ ये आठ उपरामता का कारण हैं । और चित्त का निरोध रूप निर्विकल्प समाधि उपरामता का स्वरूप है । और व्यवहार का नाश अर्थात् अभाव इस का फल है, और जैसे सुषुप्ति में सब पदार्थों की बिस्मृति हो जाती है, तैसे सब पदार्थों की विस्मृति हो जानी. इस की अवधि है ॥ २८० ॥

तत्त्वबोधः प्रधानं स्यात् साक्षान्मोक्षप्रदत्वतः ॥
बोधोपकारिणावेतौ वैराग्योपरमावुभौ ॥ २८१ ॥

शंका—इन तीनों की समप्रधानता है, जैसे पालकी के उठाने में कहारों की, या एक की प्रधानता है ,और दो की गौणता है जैसे बरात में बर की प्रधानता है और सब की गौणता है ।

उत्तर—साक्षात् मोक्ष का देनेहारा होने से तत्वज्ञान ही प्रधान है, और वैराग्य उपराम ये दोनों बोध के सहायक हैं, इस में श्रुति प्रमाण (तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय) अर्थ—पुरुष उस परमात्माको ही जान कर जन्ममरण से रहित होता है, मोक्ष के लिये ज्ञानके बिना और कोई मार्ग नहीं है ॥ २८१ ॥

त्रयोऽप्यंत्यंतपक्वाश्चेन्महतस्तपसः फलम् ॥
दुरितेन क्वचित्किंचित्कदाचित्प्रतिबध्यते ॥ २८२ ॥

शंका—किस कारण इन तीनों का परस्पर वियोग हो जाता है, और किस कारण संयोग होता है ।

उत्तर—जो ये तीनों अत्यंत पक्व अर्थात् इकट्ठे हों तो निश्चय बड़े तप का फल है अर्थात् बड़े तप रूप पुण्यों से ये यह तीनों एकट्ठे होते हैं और पापों से कहीं२ इन तीनों का वियोग होजाता है ॥ २८२ ॥

वैराग्योपरती पूर्णे बोधस्तु प्रतिबध्यते ॥
यस्य तस्य न मोक्षोऽस्ति पुण्यलोकस्तपोबलात् ॥ २८३॥

अर्थ—जहां भी तत्वज्ञान का प्रतिबंध रहते और वैराग्य और उपरामता पूर्ण होने पर भी पुरुष को मोक्ष नहीं मिलता । अर्थात् जिसका बोध तो नष्ट होगया है । और वैराग्य और उपरति पूर्ण हैं । उसको मोक्ष नहीं होता ।

शँका--तो वैराग्य और उपरति निष्फल हैं।

उत्तर--ये दोनों निष्फल नहीं। इससे ब्रह्मलोक आदि मिलते हैं। तहाँ गीता वाक्य प्रमाण। (प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः॥ शुचीनाँ श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥) अर्थ--योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यात्माओं के लोकों को प्राप्त होकर और उनमें बहुत काल तक बसकर। शुचि और धनाढ्य पुरुषों के घर में जन्म लेता है। अर्थात् ब्रह्म लोक आदि में बहुकाल वास करता है। और ब्रह्म लोक में निष्काम पुरुष को ज्ञान द्वारा मोक्ष होजाता है। और जो मन में भोगों की इच्छा हो तो योगभ्रष्ट पुरुष शुचि और धन वालों के घर में पैदा होता है. ऐसे भगवान् ने गीता के छठें अध्याय में कहा है, तिससे वैराग्य और उपरति निष्फल नहीं॥२८३॥

पूर्णे बोधे तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धौ यदा तदा॥
मोक्षो विनिश्चितः किंतु दृष्टदुःखं न नश्यति॥ २८४॥

अर्थ--जिस पुरुष के वैराग्य और उपरति प्रतिबद्ध हैं, और बोध पूर्ण है, उस को मोक्ष अवश्य होता है, इसमें कुछ संशय नहीं। परन्तु जीवन्मुक्ति सुख सिद्ध नहीं होता किंतु प्रारब्ध कर्म के अनुसार सुख दुःख भोग ने पड़ते हैं, इसी प्रकार अपनी बुद्धि से इन तीनों की न्यूनता और अधिकता निश्चय करनी॥२८४॥

ब्रह्मलोकतृणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मतः॥
देहात्मवत् परात्मत्व दार्ढ्ये बोधः समाप्यते॥ २८५॥

अर्थ--अब वैराग्य आदि की अवधि दिखलाते हैं. ब्रह्म लोक को तृन के की समान समझना यह वैराग्य की अवधि है. और देह में अहं बुद्धि की नाई परमात्मा में अहं बुद्धि रखनी इस दृढ़ता में बोध समाप्त होता है, अर्थात् ऐसी दृढ़ता होनी यह ज्ञान की अवधि है॥२८५॥

सुप्तिवद्विस्मृतिः सीमा भवेदुपरमस्य हि॥
दिशाऽनया विनिश्चेयं तारतम्यमवांतरम्॥ २८६॥

अर्थ--सुप्ति की नाईं विस्मृति उपरम की सीमा है. इस दृष्टिसे इन का अँतरस्थ तारतम्य अर्थात् न्यूनाधिक्य अर्थात् कमावेशी जाननी॥२८६॥

आरब्धकर्मनानात्वाद्बुद्धानामन्यथाऽन्यथा॥
वर्तनं तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पंडितैः॥२८७॥

शंका--कितने एक ज्ञानियों को भी राग द्वेष आदि नहीं दीखते, और कितनों

को दीखते हैं, तिससे ज्ञानियों की एक रूपता न हुई इससे ज्ञान मोक्ष का कारण है, यह निश्चय नहीं होता।

उत्तर—प्रारब्ध कर्म अनेक प्रकार का होने से ज्ञानियों का अन्यथा २ वर्ताव है तिससे शास्त्र के अर्थ में पण्डितों को भ्रम न करना चाहिये अर्थात् रागद्वेष आदि रोगों की नाई प्रारब्ध कर्म का फल है, तिससे मोक्ष का प्रतिबँधक नहीं इनसे शास्त्र के अर्थ में विवाद नहीं करना चाहिये ॥२८७॥

स्वस्वकर्मानुसारेण वर्ततां ते यथा तथा ॥
अविशिष्टः सर्वबोधः समा मुक्तिरिति स्थितिः ॥२८८॥

अर्थ—वे ज्ञानी अपने २ कर्म के अनुसार जैसे तैसे वर्ताव करें पर सब का बोध एक रूप अवशेष अर्थात् बाकी रहता है, इसी से उनकी समान स्थिति है, इससे उनकी मुक्ति हो जाती है, अर्थात् तत्ववेत्ताओं के प्रारब्ध कर्म अनेक प्रकार के होते हैं, उनसे तत्ववेत्ताओं की भिन्न २ प्रवृत्ति होती है, तत्ववेत्ताओं का अहं ब्रह्मास्मि यह निश्चय एक रूप होता है, और निर्दोष ब्रह्म रूपता से स्थिति भी सब की एक रूप होती है, इससे उनकी मुक्ति कही ॥२८८॥

जगच्चित्रं स्वचैतन्ये पटे चित्रमिवार्पितम् ॥
मायया तदुपेक्ष्यैव चैतन्यं परिशेष्यताम् ॥२८९॥

अर्थ—अब सब चित्रदीप के अर्थ को संक्षेप से कह कर दिखलाते हैं, पट में अर्पित चित्र की नाई स्वचैतन्य में जगत् चित्ररूप स्थित है माया से, उस जगत् का अनादर या त्याग या अस्वीकार कर चैतन्य ही शेष अर्थात् बाकी रहता है, अर्थात् चैतन्यात्मा में जगत् इस प्रकार स्थित है, जैसे वस्त्र में हाथी घोड़े आदि मूर्ति होती हैं, सो जगत् चित्ररूप आत्मा में माया ने कल्पित किया है, उस जगद्रूप चित्रकी उपेक्षा कर बाकी जो चैतन्य है, उनको ग्रहण करना, जैसे हाथी घोड़े आदि चित्रकी उपेक्षा कर वस्त्र ग्रहण किया है ॥२८९॥

चित्रदीपमिमं नित्यं येऽनुसंदधते बुधाः ॥
पश्यंतोऽपि जगच्चित्रं ते मुह्यंति न पूर्ववत् ॥२९०॥

अर्थ—जो पुरुष इस चित्र दीप ग्रंथ का नित्य ही विचारते हैं, और इसके अर्थ को जानते हैं, वे इस चित्ररूप जगत् को देखते हुए भी पूर्व की नाईं इस जगत् से मोह को नहीं प्राप्त होते, जैसे अज्ञान समय में मोह को प्राप्त होते थे, तात्पर्य यही कि चित्र दीप के विचार से जगत् मिथ्या प्रतीत होता है ॥२९०॥

इति श्रीविद्यारण्य मुनीश्वरविरचित
चित्रदीपप्रकरणम् समाप्तम् ॥ ६ ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥

अथतृप्तिदीपविवेकप्रकरणम्

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्तीति पूरुषः ॥
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१॥

* श्रीगणेशाय नमः ॥ अथ तृप्तिदीपव्याख्या *

अखंडानंदरूपाय शिवाय गुरवे नमः ॥
शिष्याज्ञानतमोध्वंसपटवर्केन्द्वग्निमूर्तये ॥१॥
वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ॥
पुमर्थाश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥२॥
नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ॥
क्रियते तृप्तिदीपस्य व्याख्यानं गुर्वनुग्रहात् ॥३॥

तृप्तिदीपाख्यं प्रकरणमारभमाणः श्रीभारतीतीर्थगुरुस्तस्य श्रुतिव्याख्यानरूपत्वात् तद्व्याख्येयां श्रुतिमादौ पठति । आत्मानं चेदिति ॥ १ ॥

तृप्तिदीप पंचदशी का सातवां प्रकरण है। इस में बृहदारण्यक उपनिषद् की श्रुति का व्याख्यान करेंगे। सो उस श्रुति का अर्थ यह है कि अनेक जन्मों में संचित जो पुण्य है उन के प्रताप से। जो पुरुष आत्मा को जाने। जो स्वप्रकाश अपरोक्ष कूटस्थ आत्मा है, सो मैं हूं, तो किस की इच्छा करता हुआ और किस के काम के लिये शरीर के तापों को प्राप्त होता हुआ ताप को प्राप्त हो. अर्थात् शरीर के दुःखों से दुःख नहीं पाता ॥ १ ॥

अस्याः श्रुतेरभिप्रायः सम्यगत्र विचार्यते ॥
जीवन्मुक्तस्य या तृप्तिः सा तेन विशदायते ॥२॥

अर्थ—अब चिकीर्षित विचार और उसका फल दिखलाते हैं, इस श्रुति के तात्पर्य का विचार इस तृप्तिदीप नाम प्रकरण में अच्छी तरह करेंगे उस विचार से जीवन्मुक्त को श्रुतियों से सिद्ध जो तृप्ति है, सो प्रकट होगी ॥२॥

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः॥
कल्पितावेव जीवेशौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम्॥३॥

अर्थ—माया आभास से जीव और ईश्वर को रचती है ऐसा सुनने से जीव ईश्वर को कल्पित ही हैं उनसे सब जगत् कल्पित है, अर्थात् जीव ईश्वर भेद से पुरुष दो प्रकार का है अविद्या में जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब है, सो जीव है और माया में जो चैतन्य प्रतिबिम्ब है सो ईश्वर है, ऐसे श्वेताश्वतर उपनिषद् की श्रुति कहती है, तिससे यह मालूम होता है कि जीव ईश्वर दोनों कल्पित हैं, उनसे आगे सब जगत् कल्पित हैं॥३॥

ईक्षणादि प्रवेशांताःसृष्टिरीशेन कल्पिता॥
जाग्रदादिविमोक्षांतः संसारो जीवकल्पितः॥४॥

(तदैक्षत बहुस्याम् प्रजायेय) इस श्रुति का अर्थ—मैं एकसे बहुत रूप हूं प्रजा रूप करके पैदा हूं ऐसी ईश्वर की इच्छा को ईक्षण कहते हैं (अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य) इस श्रुति का अर्थ—प्रवेश है अर्थात् संघात में जो जीव रूपता से आत्मा का प्रवेश है। उसे प्रवेश कहते हैं ईक्षण से आदि लेकर प्रवेश पर्यन्त सृष्टि ईश्वर ने रची है और जाग्रत् अवस्था से लेकर मोक्ष पर्यन्त संसार जीव ने रचा है॥४॥

अयाधिष्ठानभूतात्मा कूटस्थासंगचिद्वपुः॥
अन्योन्याध्यासतोऽसंगधीस्थजीवोऽत्रपूरुषः॥५॥

अर्थ—अब पुरुष शब्द का अर्थ सुन। देह इंद्रिय आदि में तादात्म्याध्यास रूप भ्रम का अधिष्ठान जो असंग निर्विकार कूटस्थ चैतन्य है, सो परमात्मरूप असंग हुआ भी तादात्म्याध्यास से अपने साथ वास्तव संग से रहित जो बुद्धि है, उस में स्थित हुआ जीव रूपता को प्राप्त होता है, सो इस श्रुति में पुरुष नाम से कहा है, तहां श्रुति (सवाअयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः) अर्थ—सोई यह पुरुष सब पुरों में मैं सोता है इसी से इसको पुरुष कहते हैं॥५॥

साधिष्ठानो विमोक्षादौ जीवोधिक्रियते न तु॥
केवलो निरधिष्ठान विभ्रांतेः क्काप्यसिद्धितः॥६॥

शंका—इस श्रुति में पुरुष नाम से चिदाभासरूप जीवका ही कथन हो। अधिष्ठानरूप कूटस्थ चैतन्य सहित चिदाभास रूप जीव का पुरुष नाम से कथन क्यों करते हो।

उत्तर—पुरुष ने मोक्ष को प्राप्त होना है। मोक्ष को वह प्राप्त हो जिस की मोक्ष अवस्था में स्थिति हो। चिदाभास की तो मोक्ष अवस्था में स्थिति नहीं होती, क्योंकि चिदाभास कल्पित है। इस से केवल चिदाभासरूप जीव का पुरुष नाम नहीं बनता, अधिष्ठानरूप कूटस्थ चैतन्य मोक्ष अवस्था में स्थित होता है, जिस से कूटस्थ चैतन्य शुद्ध पर ब्रह्म रूप है। तिस से अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य सहित चिदाभास का पुरुष नाम है, जिस से साधिष्ठान चिदाभासरूप जीव स्वर्ग मोक्ष आदि के साधन का अधिकारी है। केवल चिदाभासरूप जीव अधिकारी नहीं, जिस से अधिष्ठान से रहित भ्रम लोक में कहीं नहीं दीखता, चिदाभास भी भ्रमरूप है। तिससे चिदाभास रूप जीव भी अधिष्ठान कूटस्थ सहित है ॥ ६ ॥

अधिष्ठानांशसंयुक्तं भ्रमांशमवलंबते ॥
यदा तदाऽहं संसारीत्येवं जीवोऽभिमन्यते ॥७॥

उत्तर—जब जीव अधिष्ठानांश संयुक्त अर्थात् कूटस्थ सहित। भ्रमांश अर्थात् चिदाभासोपेत शरीरद्वय को स्वस्वरूप से स्वीकार करता है, अर्थात् चिदाभास सहित जो शरीरद्वय हैं। उन को प्रधानता से और अधिष्ठान चैतन्य को गौणता से जब जीव अपना स्वरूप मानता है। तब मैं संसारी हूँ, ऐसे जीव अभिमान करता है७

भ्रमांशस्य तिरस्कारादधिष्ठानप्रधानता ॥
यदा तदा चिदात्माऽहमसंगोऽस्मीति बुध्यते ॥८॥

उत्तर—और जब चिदाभास सहित दोनों शरीरों को मिथ्या जान कर उस में अहं बुद्धि का त्याग कर देता है। और उन के अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य को अपना स्वरूप मानता है। तब जीव यह जानता है कि मैं चैतन्य स्वरूप असंग आत्मा हूं ॥८॥

नासंगेऽहं कृतिर्युक्ता कथमस्मीति चेच्छृणु ॥
एकोमुख्यो द्वावमुख्यावित्यर्थस्त्रिविधोऽहमः ॥९॥

शंका—मैं असँग हूं मैं चैतन्य हूं यह जानना कूटस्थ में नहीं बनता, कूटस्थ को असंग होने से।

उत्तर—अहम् शब्द का अर्थ तीन प्रकार का है एक मुख्य और दो गौण।

अन्योन्याध्यासरूपेण कूटस्थाभासयोर्वपुः ॥
एकीभूय भवेन्मुख्यस्तत्र मूढैः प्रयुज्यते ॥१०॥

अर्थ—परस्पर अध्यास से कूटस्थ और चिदाभास की जो एकरूपता है, सोअहं शब्द का वाच्य मुख्य अर्थ है क्यों कि तत्र अर्थात् उस इकट्ठे हुये कूटस्थ और चिदा

भास के स्वरूप में मूढ अर्थात् विवेकज्ञान से रहित सब अहं शब्द का प्रयोग करते हैं ॥ १० ॥

पृथगाभासकूटस्थावमुख्यौ तत्र तत्त्ववित् ॥
पर्यायेण प्रयुंक्तेऽहं शब्दं लोके च वैदिके ॥११॥

अब गौण दो अर्थों को दर्शाता हूं आभास और कूटस्थ जो पृथक् २ हैं ।

अर्थ–सो अमुख्यार्थ हैं अर्थात् चिदाभास से भिन्न कूटस्थ और कूटस्थ से भिन्न केवलचिदाभास ये दोनों गौण अहंकार हैं, जिससे सब इन दोनों को नहीं जानते, और तत्ववित् क्रम से लौकिक और वैदिक व्यवहार में तत्र अर्थात् कूटस्थ चिदाभास वर्ती अहं शब्द को कहता है ॥ ११ ॥

लौकिकव्यवहारेऽहं गच्छामीत्यादिके बुधः ॥
विविच्यैव चिदाभासं कूटस्थात्तं विवक्षति ॥१२॥

अर्थ--जब तत्त्ववित् मैं जाता हूं, मैं नहाता हूं, मैं खाता हूं इत्यादि लौकिक व्यवहार में स्थित होता है तब कूटस्थ से चिदाभास को पृथक् कर उसी को अहंशब्द से कहने की इच्छा रखता है तात्पर्य यह है कि स्नान गमन भोजन आदि व्यवहार करने हारा स्थूल सूक्ष्म शरीर सहित चिदाभास है कूटस्थ नहीं, ऐसे सब व्यवहार करता हुआ विद्वान् जानता है ॥ १२ ॥

असंगोऽहंचिदात्माहमिति शास्त्रीयदृष्टितः ॥
अहं शब्दं प्रयुंक्तेऽयं कूटस्थे केवले बुधः ॥१३॥

अर्थ--और यही विद्वान् शास्त्रीय दृष्टि से अर्थात् वेदांतश्रवणजनितज्ञान से केवल अर्थात् चिदाभास से भिन्न कूटस्थ में मैं असंग हूं । मैं चिदात्मा हूं ऐसी लक्षणा से अहंशब्द का प्रयोग करता है, तात्पर्य यह है कि जब विद्वान् ज्ञान दृष्टि में स्थित, है । सो चिदाभास से भिन्न केवल कूटस्थ को अहंशब्द का अर्थ मानकर कहता है । जिस से यह सिद्ध हुआ कि लक्षणा से अहंशब्द कूटस्थ को जनावता है, तिस से मैं असँग हूं यह ज्ञान बन सकता है ॥१३॥

ज्ञानिताज्ञानितेत्वात्माभासस्यैव नचात्मनः ॥
तथा च कथमाभासः कूटस्थोऽस्मीति बुध्यताम् ॥१४॥

शंका—भिन्न २ चिदाभास और कूटस्थ अहँशब्द के गौण अर्थ हैं, यह जो आपने कहा है, उसमें हम पूछते हैं, मैं असंग हूं मैं चिदात्मा हूं, यह ज्ञान कूटस्थ को

होता है क्या चिदाभास को, जिसको यह ज्ञान होता है, उस का अज्ञान निवृत्त होता है, ऐसे कहना अवश्य चाहिये. कूटस्थ में तो यह जानना नहीं बनता, जिससे कूटस्थ में अज्ञान प्रथम ही नहीं, इसी से उसमें ज्ञान भी नहीं, जैसे सूर्य में अँधेरा और चाँदना नहीं होता और जो कूटस्थ में ज्ञान अज्ञान मानोगे तो कूटस्थ की असंगता न रहेगी इससे मैं असंग हूं मैं चिदात्मा हूं यह ज्ञान चिदाभास को होता है, उस से उसका अज्ञान नष्ट होजाता है, ऐसे कहना चाहिये; तथा च सति ऐसा होने पर, यह बात पाई जाती है, चिदाभास ऐसा कैसे जाने कि मैं कूटस्थ हूं अर्थात् कूटस्थ से भिन्न जो चिदाभास है सो जानता है कि मैं कूटस्थ हूं, ऐसा जो जानना है, सो परम भ्रमरूप है, जैसे कोई कंगाल यह जाने कि मैं राजा हूं सो जानना परम भ्रमरूप होता है ॥१४॥

नायं दोषश्चिदाभासः कूटस्थैकस्वभाववान् ॥
आभासत्वस्य मिथ्यात्वात्कूटस्थत्वावशेषणात् ॥१५॥

उत्तर—जो चिदाभास कूटस्थ से भिन्न हो तो यह जानना भ्रमरूप है, पर चिदाभास तो कूटस्थ से भिन्न नहीं, किंतु कूटस्थ एक स्वभाव वाला है, जिस से आभासरूपता मिथ्या है, और कूटस्थरूपता सत्य है, जो कल्पित के बाध होने पर पीछे शेष रहती है, जैसे दर्पण में प्रतीत होता हुआ जो मुखाभास है, उसका स्वरूप वास्तव से ग्रीवा में स्थित जो मुख है सोई है ॥१५॥

कूटस्थोस्मीतिबोधोऽपि मिथ्या चेन्नेति को वदेत् ॥
नहि सत्यतयाभीष्टं रज्जुसर्पविसर्पणम् ॥१६॥

शंका—चिदाभास मिथ्या होने पर, उस के आश्रय जो कूटस्थोस्मि यह ज्ञान है वह भी मिथ्या होना चाहिये।

उत्तर—तैंने ठीक कहा. कूटस्थ से भिन्न चिदाभास मिथ्या है, जिससे कूटस्थ से भिन्न सब वस्तु हम मिथ्या मानते हैं. तिससे कूटस्थोस्मि इस ज्ञान को जो तैंने मिथ्या कहा सो हम को इष्ट ही है, जैसे रस्सी में सर्प कल्पित है तो उसकी फुंकार और गति भी कल्पित है, तैसे चिदाभास कल्पित है, तो उसके आश्रय असंगोस्मि यह ज्ञान भी कल्पित है ॥१६॥

तादृशेनापि बोधेन संसारो हि निवर्तते ॥
यक्षानुरूपो हि बलिरित्याहुर्लौकिका जनाः ॥१७॥

शंका—ज्ञान मिथ्या रहते, उससे संसार निवृत्त न होना चाहिये ।

उत्तर—ज्ञान से निवृत्त होने वाला जो संसार है सो मिथ्या है, तिससे मिथ्या ज्ञान से मिथ्या संसार की निवृत्ति होजाती है, जैसे स्वप्न के शेर देखने से निद्रा की निवृत्ति होजाती है और जैसे स्वप्न की तलवार लेकर स्वप्ने के शेर को मार लेता है जैसा देव तैसी पूजा लौकिक जनभी ऐसा कहते हैं ॥१७॥

तस्मादाभासपुरुषः स कूटस्थोविविच्यतम् ॥
कूटस्थोस्मीति विज्ञातुमर्हतीत्यभ्यधाच्छ्रुतिः ॥१८॥

अर्थ—जिससे कूटस्थ ही चिदाभास का वास्तव स्वरूप है, तिससे पुरुषशब्द का अर्थ कूटस्थ सहित चिदाभास है, उस कूटस्थ को मिथ्याभूत चिदाभास से भिन्न जानकर लक्षणासे मैं कूटस्थ हूं ऐसा जाननेको समर्थ होता है, ऐसे श्रुति कहती भयी ॥ १८ ॥

असंदिग्धाविपर्यस्तबोधो देहात्मनीक्ष्यते ॥
तद्वदत्रेति निर्णेतुमयमित्यभिधीयते ॥१९॥

अर्थ—इस प्रकार उपपादित अर्थ का उपसंहार कर और पुरुषोस्मि इन दोनों पदों के प्रयोगों का अभिप्राय कह कर अयम् इस पद प्रयोग का अभिप्राय कहते हैं, मैं कूटस्थ हूं यह ज्ञान अत्यंत दृढ़ हुआ मोक्ष का कारण होता है ज्ञान की दृढ़ता यह है कि संशय विपर्यय उदय न होने जैसे देह में सँशय विपर्यय से रहित ज्ञान होता है, अज्ञानियों को तैसे कूटस्थ आत्मा में जो संशय विपर्यय से रहित ज्ञान है सो मोक्ष का साधन है इस निर्णय के लिये श्रुति ने अयं यह कहा है ॥१९॥

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञान बाधकम् ॥
आत्मन्येव भवेद्यस्य सनेच्छन्नपि मुच्यते ॥२०॥

अर्थ—इसी अर्थ को उपदेशसहस्री में भगवान् शंकराचार्य कहते हैं । अज्ञानियों को जैसे देहमें आत्मज्ञान मैं मनुष्य हूं यह सँशय विपर्ययसे रहितदृढ़ होता है, इसी तरह कूटस्थ आत्मा में संशय विपर्यय से रहित जो दृढ़ज्ञान है सो देह में आत्मज्ञान के नाश करने हारा है, ऐसा ज्ञान अर्थात् ब्रह्माहमस्मि यह ज्ञान जिस को होता है, सो मोक्ष की इच्छा न भी करे तौ भी मोक्ष को प्राप्त हो जाता है क्यों कि संसार का कारण अज्ञान उसका ज्ञान से नष्ट हो गया है ॥२०॥

अयमित्यपरोक्षत्वमुच्यते चेत्तदुच्यताम् ॥
स्वयंप्रकाशचैतन्यमपरोक्षं सदा यतः ॥२१॥

अर्थ—अयम् इस शब्द से अपरोक्षता कही है, जो ऐसा कहे, तो यही अर्थ हो इसमें दोष नहीं, जिस कारण स्वयं प्रकाश चैतन्य सदा ही अपरोक्ष है ॥२१॥

परोक्षमपरोक्षं च ज्ञानमज्ञानमित्यदः ॥

नित्यापरोक्षरूपेऽपि द्वयं स्याद्दशमे यथा ॥२२॥

शंका—स्वप्रकाश चैतन्यरूपता से आत्मा की सदा अपरोक्षता रहते आत्मा को परोक्ष विषयता अपरोक्षविषयता और ज्ञान अज्ञान की आश्रयता और ज्ञान अज्ञान की विषयता न बनेगी।

उत्तर—दशम पुरुष की नांई सभी कुछ बन जायगा जैसे सदा अपरोक्ष दशवाँ पुरुष है, उसमें अज्ञान भी होता है और परोक्षज्ञान भी होता है और अपरोक्ष ज्ञान भी होता है तैसे नित्य अपेक्ष आत्मा में भी अज्ञान और परोक्षज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान सभी कुछ बनता है ॥२२॥

नवसंख्याहृतज्ञानो दशमो विभ्रमात्तदा ॥

न वेत्ति दशमोऽस्मीति वीक्षमाणोऽपितान्नव ॥२३॥

अर्थ—दृष्टान्त कहते हैं, परगणनीय पुरुष निष्ठ नव संख्या से दूर होगया है विवेक ज्ञान जिसका ऐसा जो दशवां पुरुष है, उस समय उन परिगणनीय नव संख्याक पुरुषों को देखता हुआ भी भ्रम से गणना करने हारे आपको मैं दशवाँ हूं ऐसा नहीं जानता अर्थात् कोई दश मूर्ख पुरुष एक ग्राम से किसी काम के लिये दूसरे ग्राम को चले, उस मार्ग में एक नदी थी, उस नदी का बड़ा वेग था, उसको पार होकर आपस में यह कहने लगे कि यह नदी बड़े वेगवाली है न जाने इसमें कोई बह गया हो इससे हम अपने मनुष्यों को गिनले, तब गिनने वाला पुरुष इदंता से प्रतीत होते जो नव हैं उनको गिनता भया, और उन नवों का द्रष्टा जो अपने आप है उसको भ्रमसे न जानता भया, यहाँ दशवाँ नित्य अपरोक्ष है, और दशवें का अज्ञान भी है ॥२३

न भाति नास्ति दशम इति स्वं दशमं तदा ॥

मत्वा वक्ति तदज्ञानकृतमावरणं विदुः ॥२४॥

अर्थ—इस प्रकार दशवें में अज्ञान दिखलाकर उसका कार्य आवरण दिखलाते हैं दशवाँ भान नहीं होता दशवाँ नहीं है। उस समय दशवाँ होते हुये अपने को ऐसा मान कर यह कहता है। सो इस व्यवहार का जो कारण है सो अज्ञानकृत अर्थात् अज्ञान का कार्य आवरण बुद्धिमान् लोग जानते हैं। अर्थात् दशवां नहीं है ऐसे ज्ञान से

दशवाँ यह कहता है कि दशवाँ भासता है न दशवां है। इस कथनका कारण आवरण है अज्ञान का कार्य ॥ २४ ॥

नद्यां ममार दशम इति शोचन्प्ररोदिति ॥
अज्ञानकृतविक्षेपं रोदनादिं विदुर्बुधाः॥२५॥

अर्थ—और दुसरा अज्ञान का कार्य विक्षेप है। दशवाँ नदी में डूब गया ऐसा सोचता हुआ उच्चस्वर से आप ही दशवां अपने को रोता है। सो पण्डित लोग इस रोदन आदि को अज्ञान का कार्य विक्षेप कहते हैं ॥ २५ ॥

न मृतो दशमोऽस्तीति श्रुत्वाऽऽप्तवचनं तदा ॥
परोक्षत्वेन दशमं वेत्ति स्वर्गादिलोकवत् ॥२६॥

अर्थ-उस समय प्राप्त अन्य पुरुषके दशवाँ नहीं मराहै इस वचनको सुनकर दशवाँ परोक्षत्व से दशवें को जानता है स्वर्ग आदि लोक की नाईं। अर्थात् इस प्रकार अज्ञान अवरण विक्षेप इन तीनोंको प्राप्त जो दशवां है नदी के किनारे चिंतातुर। और उच्च स्वर से रोता था। उसी समय कोई दयावान् पुरुष नदी के प्रवाह की तरफ़ से आगया। और उसने पूछा कि तुम क्यों रोते हो। तब दशवाँ पुरुष बोला कि हमारा दशवां पुरुष नदी में डूब कर मर गया। इस लिये हम रोते हैं। जब दयावान् पुरुष ने अपनी दृष्टि से देखा तो उसे दश ही पुरुष दीखे। तब उसे दया आई कि ये मूर्ख तो व्यर्थ ही पड़े रोते हैं। इस से इनका दुःख दूर करना चाहिये। ऐसा बिचार कर यह कहता भया कि दशवाँ मरा नहीं तुम मत रोवो ऐसा उसका वचन सुनकर दशवाँ पुरुष यह मानता भया कि हमने कहीं नदी किनारे दशवें पुरुष को देखा होगा। इस प्रकार दशवाँ दशवें को परोक्षरूपता से जानता भया स्वर्ग आदि की नाईं। इस परोक्ष ज्ञान से दशवें में अज्ञान का कार्य अवरण का असत्तापादक अंश दूर हो गया अज्ञान का कार्य जो आवरण है उस के दो अंश हैं। असत्तापादक और अभाना पादक। परोक्षज्ञान से असत्तापादक अंश दूर होते हैं, और अपरोक्ष सेज्ञान दोनों अंश दूर होते हैं ॥ २६ ॥

त्वमेव दशमोसीति गणयित्वा प्रदर्शितः ॥
अपरोक्षतया ज्ञात्वा हृष्यत्येव न रोदिति ॥२७॥

अर्थ—अब उस दशवें के अभानांशनिवर्तक अपरोक्षज्ञान को दिखलाते हैं। परिगणित नवपुरुषों के साथ अपने को गिन कर तू ही दशवाँ है, यह दिखलाया।

अर्थात् मैं दशवाँ हूं इस अपरोक्षता से ऐसा ज्ञान कर हंसना ही है, रोना नहीं। अर्थात् जब दशवाँ पुरुष उस दयावान् पुरुष से पूछता भया कि दशवाँ कहाँ है मुझे दिखला दो, तब दयावान् बोला कि तू ही दशवाँ है। वह बोला कि मैं दशवाँ कैसे हूं, दयावान् बोला तू मेरे सन्मुख गिन, दशवाँ गिनता भया और कहने लगा कि मुझे तो नव पुरुष दीखते हैं, दयावान् बोला कि इन नवों के गिनने वाला दशवाँ तू है। जो तू दशवाँ न हो तो इन नवों को कौन जाने। तिस से इन नवों के जानने वाला दशवाँ तू ही है, इस प्रकार जब दशवें को अपरोक्ष ज्ञान हुआ कि मैं दशवाँ हूं, तब वह हर्ष को प्राप्त हुआ, और रुदन को त्यागता भया ॥ २७ ॥

अज्ञानावृत्तिविक्षेपद्विविधज्ञानतृप्तयः॥
शोकापगम इत्येते योजनीयाश्चिदात्मनि ॥२८॥

अर्थ—जैसे नित्य अपरोक्षरूप दशवें में सात अवस्था हैं, अज्ञान १ आवरण २ विक्षेप ३ परोक्षज्ञान ४ अपरोक्षज्ञान ५ हर्ष ६ शोकाभाव ७ तैसे ये सात अवस्था नित्य अपरोक्षरूप आत्मा में भी जाननी ॥ २८ ॥

संसारासक्तचित्तः संश्चिदाभासः कदाचन ॥
स्वयंप्रकाशकूटस्थं स्वतत्त्वं नैव वेत्त्ययम् ॥२९॥

अर्थ-उस आत्मा में अज्ञान आदि क्रम से दिखलाते हैं, यह चिदाभास विषयों के भोगों में आसक्तचित्त होता हुआ कभी श्रुतिविचार से पूर्व अपने वास्तवस्व-रूप स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप कूटस्थ प्रत्यक् आत्मा को नहीं जानता। यह जो न जानना है उस का नाम अज्ञान है ॥ २९ ॥

न भाति नास्ति कूटस्थ इति वक्ति प्रसंगतः ॥
कर्ता भोक्ताऽहमस्मीति विक्षेपं प्रतिपद्यते ॥३०॥

अर्थ—किसी एक स्थान में चैतन्य आत्मा का प्रसंग चल रहा था उस समय सुन कर अज्ञानी यह कहता है कि कूटस्थ चैतन्य आत्मा कोई नहीं। जिस से नहीं दीखता। जो कूटस्थ चैतन्यरूप आत्मा होता तो मुझे दीखता, यह जो अज्ञानी का कथन है सो अज्ञान का कार्य आवरण है, सो दूसरी अवस्था है। फिर यह चिदाभास मैं करता हूं मैं भोक्ता हूं इस विक्षेप को प्राप्त होता है, अर्थात् कूटस्थ की असत्ता और अभान के कथन की नाईं आत्मा में मैं करता हूँ मैं भोक्ता हूं इस कल्पना का कारण देहद्वयसहित चिदाभास है। तिस का नाम विक्षेप है। सो चिदाभास की तीसरी अवस्था है।

शंका—आप शरीरद्वयसहित चिदाभास को विक्षेपरूप कहते हो और साथ ही चिदाभास की विक्षेपरूप अवस्था कहते हो। सो यह बात तो विरुद्ध है।

उत्तर—जीव की ये सात अवस्था हैं। जीव नाम लिंगशरीर और चिदाभास और कूटस्थ चैतन्य का है तिनसे त्रितयरूप जो जीव है सो अवस्था वाला है, और देहद्वय सहित चिदाभास अवस्था है तिस से अवस्था और अवस्था वाले का भेद सिद्ध हुआ ॥ ३० ॥

अस्ति कूटस्थ इत्यादौ परोक्षं वेत्ति वार्तया ॥
पश्चात्कूटस्थ एवास्मीत्येवं वेत्ति विचारतः॥३१॥

अर्थ—कूटस्थ है ऐसे दूसरे से बोधित हुआ कूटस्थ है ऐसा जानता है, यह परोक्ष ज्ञान है, फिर श्रवण आदि के परिपाक वश से मैं ही कूटस्थ हूं ऐसा जानता है यह उपरोक्त ज्ञान है अर्थात् ज्ञानवान् से बोध को प्राप्त हुआ कूटस्थ की सत्तामात्र को जानता है। इसका नाम उपरोक्ष ज्ञान है, सो जीव की चौथी अवस्था है और जब श्रवण मनन निदिध्यासन की परिपाकता से मैं कूटस्थ हूं। यह जानता है। इस का नाम अपरोक्ष ज्ञान है। सो जीव की पांचवीं अवस्था है ॥ ३१ ॥

कर्ता भोक्तेत्येवमादि शोकजातं प्रमुंचति ॥
कृतंकृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तुष्यति ॥३२॥

अर्थ—और कूटस्थ असंग आत्मा के ज्ञान से मैं कर्ता हूं मैं भोक्ता हूं इस से लेकर शोक समुदाय को त्याग देता है इस का नाम शोकाभाव है। सो जीव की छटी अवस्था है और उस के पश्चात् यह जानता है कि जो करने योग्य था सो मैंने कर लिया है और जो प्राप्त होने के योग्य था सो मुझे प्राप्त हो गया है। इस प्रकार प्रसन्न होता है, इसका नाम निरंकुशा तृप्ति है। सो जीव की सातवीं अवस्था है ॥३२

अज्ञानमावृत्तिस्तद्वद्विक्षेपश्च परोक्षधीः ॥
अपरोक्षमतिः शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरंकुशा ॥३३॥

अर्थ—अज्ञान आवृत्ति तैसे ही विक्षेप और परोक्षज्ञान अपरोक्षज्ञान और शोकाभाव और निरंकुशा तृप्ति ॥३३॥

सप्ताऽवस्था इमाः सन्ति चिदाभासस्य तास्विमौ ॥
बंधमोक्षौ स्थितौ तत्र तिस्रो बंधकृतः स्मृताः ॥३४॥

अर्थ—ये सात अवस्था हैं, सो चिदभास की हैं कूटस्थ की नहीं तिन में ये बंध मोक्ष स्थित हैं तहाँ तीन अवस्था बन्धन के करने वाली कहीं हैं अब इसी अर्थ को शंका समाधान पूर्वक लिखते हैं

शंका—इन सात अवस्थाओं का यहाँ कथन व्यर्थ है, क्यों कि इस में कुछ फल नहीं दीखता ॥

उत्तर—ये सात अवस्था बन्धमोक्षरूप फल को जताती तिससे बंध मोक्ष का ज्ञान हो इन के निरूपण का फल है तिस से इनका निरूपण निष्फल नहीं ।

शंका-ये सात अवस्था बंध मोक्ष इन दोनोंका कारण हैं, या और कोई प्रकारहै।

उत्तर-और प्रकार है, इन में आदि को अज्ञान आवरण और विक्षेप रूप तीन अवस्था बंध का कारण हैं ॥ ३४ ॥

न जानामीत्युदासीनव्यवहारस्य कारणम् ॥
विचारप्रागभावेन युक्तमज्ञानमीरितम् ॥३५॥

अर्थ-इन तीनों की बंध कारणता कार्य द्वारा कहते हैं, प्रथम अज्ञान का स्वरूप दिखलाते हैं, मैं कूटस्थ को नहीं जानता, यह जो उदासीन व्यवहार है ; इस का जो कारण है, विचार के प्रागभाव सहित , उस को महात्मा अज्ञान कहते हैं ॥ ३५ ॥

अमार्गेण विचार्याथ नास्ति नो भाति चेत्यसौ ॥
विपरीतव्यवहृतिरावृतेः कार्यमिष्यते ॥३६॥

अर्थ—अब आवरण और उस का कार्य दिखलाते हैं, शास्त्रोक्त प्रकारका उल्लंघन कर, केवल तर्कों से विचार कर पीछे से यह जानना कि कूटस्थ नहीं है क्यों कि भान नहीं होता ऐसा जो विपरीत व्यवहार है सो आवरण का कार्य है ॥ ३६ ॥

देहद्वयचिदाभासरूपो विक्षेप ईरितः ॥
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्योऽस्य बंधकः ॥३७॥

अर्थ--अब विक्षेप का स्वरूप और उसका कार्य दिखलाते हैं , स्थूल सूक्ष्म शरीर सहित चिदाभास का नाम विक्षेप है , और बंध का हेतु संसार है नाम जिस का ऐसा जो मैं कर्ता हूं मैं भोक्ता हूँ, इत्यादि सब शोक है ,सो विक्षेप का कार्य है, आदि शब्द से प्रमातृ त्वादि लेने ॥३७॥

अज्ञानमावृतिश्चैते विक्षेपात् प्राक् प्रसिध्यतः ॥
यद्यप्यथाप्यवस्थेते विक्षेपस्यैव नात्मनः ॥३८॥

शंका—यह जो आपने कहा कि सात अवस्था चिदाभास की हैं सो अयुक्त है क्यों कि अज्ञान और आवरण इन दोनों की विक्षेप की उत्पत्ति से पूर्व विद्यमानता है और चिदाभास विक्षेप के अंतर्गत है इससे विक्षेप भी चिदाभास की अवस्था नहीं बनती ।

उत्तर—यद्यपि ये दोनों विक्षेप की उत्पत्ति से पूर्व सिद्ध हैं तो भी वे दोनों अवस्थां विक्षेप ही की हैं आत्मा की नहीं, क्यों कि आत्मा तो असंग है ॥३८॥

विक्षेपोत्पत्तितः पूर्वमपि विक्षेपसंस्कृतिः ॥
अस्त्येव तदवस्थात्वमविरुद्धं ततस्तयोः ॥३९॥

शंका—विक्षेप की उत्पत्ति से पूर्व तो विक्षेप ही नहीं है, इससे विक्षेप की ये दोनों अज्ञान और आवरणरूप अवस्था कैसे हों क्योंकि अवस्था वाला रहते अवस्था होती हैं, अवस्था वाले का अभाव रहते अवस्था नहीं बनती, जैसे पुत्र का जन्म रहते उसकी बालक युवा आदि अवस्था होती हैं, और उसका जन्म न रहते बालक युवा आदि अवस्था नहीं बनती, तैसे अज्ञान आवरण और विक्षेप ये चिदाभास की अवस्था नहीं बनती ।

उत्तर—यद्यपि विक्षेप की उत्पत्ति से पूर्व स्थूलरूपता से विक्षेप का स्वरूप नहीं, तौभी सूक्ष्मरूपता से विक्षेप विद्यमान है. तिससे अज्ञान और आवरण को विक्षेप की अवस्था कहना दोष नहीं ॥३९॥

ब्रह्मण्यारोपितत्त्वेन ब्रह्मावस्थे इमे इति ॥
न शंकनीयं सर्वासां ब्रह्मण्येवाधिरोपणात् ॥४०॥

शंका—अप्रसिद्ध सूक्ष्मरूप को अंगीकार कर विक्षेप की अवस्था वर्णन करने से अधिष्ठानरूपता से प्रसिद्ध जो ब्रह्म है, उसकी ये दो अवस्था हैं ऐसा कथन श्रेष्ठ है ।

उत्तर—अधिष्ठानरूपता से प्रसिद्ध जो ब्रह्म है जो उसकी अवस्था कहें तो सब अवस्था का अधिष्ठान ब्रह्म है, उसकी सब अवस्था कहो, अज्ञान और आवरण ये दो अवस्था ब्रह्म की क्यों कहते हो ॥४०॥

संसार्यहं विबुद्धोऽहं निःशोकस्तुष्ट इत्यपि ॥
जीवगा उत्तरावस्था भांति न ब्रह्मगा यदि ॥४१॥

शंका—यद्यपि ब्रह्म में सब कल्पित हैं, क्यों कि ब्रह्म सब अवस्थाओं का अधि-

ष्ठान है तौभी विक्षेप की उत्पत्ति से पीछे होने वाली जो अवस्था है चार, उन का जीव में अनुभव होता है इससे ये ४ अवस्था जीव की हैं, ब्रह्म में उनका अनुभव नहीं होता, इससे ये चारों अवस्था ब्रह्म की नहीं वे ४ अवस्था ये हैं कि मैं संसारी हूं अर्थात् मैं कर्तृत्व आदि धर्म वाला हूं और मैं ज्ञानवान् हूं अर्थात् मैं तत्व साक्षात्कार करने हारा हूं २ और मैं शोक से रहित हूं ३ और मैं कृतकृत्य हूं यह निरंकुशा तृप्तिरूप ४ अवस्था हैं ॥४१॥

तत्त्वज्ञोऽहं ब्रह्मसत्त्वभानेदमदृष्टितो नहि ॥
इति पूर्वे अवस्थे ते भासेते जीवगे खलु ॥४२॥

उत्तर—जैसे जीव में अनुभव होने से जीव की ये चार अवस्था मानता है तैसे अज्ञान और आवरण को भी जीव में अनुभव होने से जीव की अवस्था मान क्यों कि जीव यह कहता है कि मैं अज्ञानी हूं इस प्रतीति से जीव में अज्ञान भासता है, और ब्रह्मकी सत्ता और भान मेरी दृष्टिमें नहीं है, इस प्रतीति से जीव में आवरण भासता है, तिससे ये दोनों अवस्था जीव की सिद्ध हुई ॥४२॥

अज्ञानस्याश्रयोब्रह्मेत्यधिष्ठानतया जगुः ॥
जीवावस्थात्वमज्ञानाभिमानित्वादवादिपम् ॥४३॥

शंका—जो अनुभव से जीव की ये दोनों अवस्था सिद्ध होती हैं, तो पिछले आचार्यों ने अज्ञान और आवरण को ब्रह्म के आश्रय क्यों कहा है।

उत्तर—अधिष्ठान रूपता से इन दोनों का आश्रय ब्रह्म है, यह तात्पर्य पूर्व ले आचार्यों का है, और इन दोनों का अभिमानी जीव है, इस से जीव की ये दोनों अवस्था हैं यह तात्पर्य हमारा है, इससे पूर्वले आचार्यों के वचन साथ हमारे वचन का विरोध नहीं ॥४३॥

ज्ञानद्वयेन नष्टेऽस्मिन्नज्ञाने तत्कृतावृतिः ॥
न भाति नास्ति चेत्येषा द्विविधाऽपि विनश्यति ॥४४॥

अर्थ—जैसे आदि की तीन अवस्था बंध का कारण हैं, तैसे परोक्षज्ञान और अपरोक्षज्ञानरूप दो अवस्था अज्ञान का कार्य आवरण निवृत्ति द्वारा मोक्ष का हेतु हैं।

अर्थ—ज्ञानद्वय से यह अज्ञान नष्ट होने पर उस अज्ञान से पैदा हुआ जो कूटस्थ न भान होता है और न है इस व्यवहार का कारण दो प्रकार का आवरण है, सो कारण के अभाव से नष्ट होजाता है ॥४४॥

परोक्षज्ञानतो नश्येदसत्त्वावृतिहेतुता ॥

अपरोक्षज्ञाननाश्याह्यभानावृतिहेतुता ॥४५॥

अर्थ—परोक्षज्ञान से असत्तापादक आवरण का कारण अज्ञान नष्ट हो जाता है और अपरोक्षज्ञान से अभानापादक आवरण का कारण अज्ञान नष्ट होजाता है ॥४५॥

अभानावरणे नष्टे जीवत्वारोपसंक्षयात् ॥

कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्यो निवर्तते ॥४६॥

अर्थ—और शोकाभाव और निरंकुशा तृप्ति ये दो अवस्था ज्ञान का फलरूप हैं, उनमें भी अभानापादक आवरण नष्ट होने पर भ्रांति जो जीवरूपता प्रतीत होती थी, सो नष्ट हो जाती है, उस जीवरूपता के नष्ट होने से मैं कर्त्ता हूँ मैं भोक्ता हूं इत्यादि लक्षण है जिसका और संसार है नाम जिसका ऐसा जो शोक है सो सब नष्ट होजाता है ॥४६॥

निवृत्ते सर्वसंसारे नित्यमुक्तत्वभासनात् ॥

निरंकुशा भवेत्तृप्तिः पुनः शोकासमुद्भवात् ॥४७॥

अर्थ—सब संसार निवृत्त होने पर आत्मा की नित्य मुक्तता प्रतीत होती है, उससे निरँकुशा तृप्ति होती है फिर शोक कभी पैदा नहीं होता ॥४७॥

अपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्त्याख्ये उभे इमे ॥

अवस्थे जीवगे ब्रूत आत्मानं चेदिति श्रुतिः ॥४८॥

अर्थ—आपने ग्रंथ के आरंभ में बृहदारण्यक उपनिषद् की श्रुति के अर्थ करने की प्रतिज्ञा करी थी, उसको छोड़ कर जो सात अवस्थाओं का वर्णन है, सो प्रसंग असंगत है, ।

उत्तर—श्रुति के तात्पर्य कथन के प्रसंग में उस की सात अवस्था अंगरूप कहीं हैं, इससे अवस्थाओं का वर्णन प्रसंग से असंगत नहीं क्यों कि (आत्मानं चेद्विजानीयात्) यह श्रुति अपरोक्षज्ञान और शोकाभावरूप ये दो अवस्था जीव की हैं ऐसा आप कहती है उसमें जिज्ञासु के मन में ऐसा संशय हुआ कि जीव की अवस्था दोई हैं, जो श्रुति कहती है, या जीव की अवस्था और भी हैं; तब हमने जीव की सात अवस्था कहीं, तिससे पांच, अवस्थाओं का अधिक वर्णन करना असंगत नहीं, जैसे कोई स्वामी अपने किसी सेवक को आज्ञा दे कि इस अतिथि को भोजन करवाओ

तब उस सेवक ने उस अभ्यागत को चरण धोवने के लिये जल दिया और बैठने को आसन दिया और पत्तल दी और पीने को जल दिया यह सब सेवक का व्यवहार स्वामी की आज्ञा से विरुद्ध नहीं, और मूर्खों को उस में शंका उठती है कि इस सेवक ने स्वामी की आज्ञा नहीं मानी। तैसे श्रुति ने जिज्ञासु को अपरोक्ष ज्ञान और शोकाभावरूप दो अवस्था कहीं उस के अनुकूल हमने पाँच अवस्था और कहीं तिससे सात अवस्था का निरूपण विरुद्ध नहीं ॥४८॥

अयमित्यपरोक्षत्वमुक्तं तद्द्विविधं भवेत् ॥
विषयस्वप्रकाशत्वात् धियाऽप्येवं तदीक्षणात् ॥४९॥

शंका--आपने (अयमित्यपरोक्षत्वम्) यहाँ अयम् इस पद से आत्मा को अपरोक्षत्व कहा था अर्थात् आत्मा स्वप्रकाशता से सदा अपरोक्ष है, तिससे आत्मा अपरोक्षज्ञान का विषय हो, और परोक्षज्ञान का विषय न हो।

उत्तर--आत्मा की अपरोक्षता दो प्रकार की है एक स्वप्रकाशरूपतासे अपरोक्षता है, क्योंकि विषय अर्थात् चिद्रूप आत्मा स्वप्रकाश होनेसे अपनी सिद्धि में और किसी साधन को नहीं चाहता और दूसरी आत्मा की अपरोक्षता यह है कि बुद्धि से आत्मा को स्वप्रकाश जानना ॥४९॥

परोक्षज्ञानकालेऽपि विषयस्वप्रकाशता ॥
समा ब्रह्मस्वप्रकाशमस्तीत्येवं विबोधनात् ॥५०॥

शंका--अपरोक्षता दो तरह की हो, इससे परोक्षज्ञान विषयत्व में क्या आया

उत्तर--परोक्षज्ञान काल में भी विषय अर्थात् आत्मा की स्वप्रकाशरूपता से जो अपरोक्षता है, सो निवृत्त नहीं होती जिससे अपरोक्षज्ञानकाल में आत्मा स्वप्रकाश है, ऐसे प्रतीति होती है ॥ ५० ॥

अहं ब्रह्मेत्यनुल्लिख्य ब्रह्मास्तीत्येवमुल्लिखेत् ॥
परोक्षज्ञानमेतन्न भ्रांतं बाधानिरूपणात् ॥५१॥

शंका--आत्मा से अभिन्न जो ब्रह्म है, उस में ज्ञान को परोक्षता किससे है।

उत्तर--आत्मरूपता से ब्रह्म का ज्ञान नहीं होना और ब्रह्मरूपता से ब्रह्म का ज्ञान होता है, इससे ब्रह्मज्ञान को परोक्षता है।

शंका--ब्रह्म आत्मरूप है और आत्मा सदा अपरोक्ष है तिससे अपरोक्षरूप ब्रह्म आत्मा में परोक्षज्ञान भ्रमरूप है।

उत्तर--ब्रह्मरूप आत्मा में जो तू परोक्षज्ञान को भ्रमरूप कहता है। सो किस कारण कहता है, ज्ञान की भ्रमरूपता में चार कारण हैं, एक तो कारण यह है कि ज्ञान का बाध हो जाना है। जैसे सीपी में चान्दी ज्ञान का बाध हो जाता है, दूसरा ज्ञान का विषय प्रत्यक्ष नहीं दीखना, तीसरा अपरोक्षरूपता से ग्रहण योग्य पदार्थ का परोक्षरूपता से ग्रहण होना, चौथा ज्ञान का जो विषय है उसका कोई एक अंश प्रतीत होना और कोई एक अंश न प्रतीत होना जो कहे पहिला पक्ष तो नहीं बनता जिससे परोक्ष ज्ञान का बाध नहीं होता, जैसे सीपी में चान्दी ज्ञान का बाध हुआ था नेदं रजतम् इस ज्ञान से ॥ ५१ ॥

ब्रह्म नास्तीति मानं चेत् स्याद् बाध्येत तदा ध्रुवम् ॥
न चैवं प्रबलं मानं पश्यामोऽतो न बाध्यते ॥५२॥

अर्थ—जैसे जो ब्रह्म नास्ति यह किसी प्रमाण से प्रतीत हो तो ब्रह्म अस्ति इस अपरोक्ष ज्ञान का बाध हो, सो ऐसा बलवान् प्रमाण तो हम कोई नहीं देखते इससे ब्रह्म अस्ति इस परोक्षज्ञान का बाध नहीं होता ॥ ५२ ॥

व्यक्त्यनुल्लेखमात्रेण भ्रमत्वे स्वर्गधीरपि ॥
भ्रांतिःस्याद्व्यक्त्यनुल्लेखात् सामान्योल्लेखदर्शनात् ॥५३॥

अर्थ—और दूसरा पक्ष भी नहीं बनता क्यों कि कुरुक्षेत्र में स्थित जो पुरुष है उसको मथुरा प्रत्यक्ष नहीं दीखती पर उसको मथुरा का ज्ञान भ्रमरूप नहीं किंतु उस पुरुष को मथुरा का ज्ञान परोक्षरूप यथार्थ है, और जैसे अयँ स्वर्ग इस प्रकार के आकार से ग्रहण नहीं होता किंतु स्वर्गोऽस्ति इस प्रकार के सामान्य आकार से स्वर्ग प्रतीत होता है तो इस स्वर्ग बुद्धि को भी भ्रमरूपता होगी अर्थात् जैसे पृथ्वी में स्थित पुरुष को स्वर्ग प्रत्यक्षरूपता से प्रतीत न रहते भी स्वर्ग का जो परोक्षज्ञान है सो यथार्थ है ॥ ५३ ॥

अपरोक्षत्वयोग्यस्य न परोक्षमतिर्भ्रमः ॥
परोक्षमित्यनुल्लेखादर्थात्परोक्ष्यदर्शनात् ॥५४॥

अर्थ—और तीसरा पक्ष भी नहीं बनता क्यों कि ब्रह्म परोक्ष है, ऐसी प्रतीति नहीं होती तो फिर ब्रह्मज्ञान की परोक्षरूपता क्यों कर है ? ब्रह्म अस्ति ऐसी सत्ता मात्ररूपता से ब्रह्म भान होता है और इदं ब्रह्म वा अहं ब्रह्म इस रूपता से ब्रह्म का स्वरूप नहीं प्रतीत होता इस लिये अर्थ से ब्रह्म ज्ञान की परोक्षता है ॥ ५४ ॥

अंशागृहीते भ्रांतिश्चेद्‌ घटज्ञानं भ्रमो भवेत् ॥
निरंशस्यापि सांशत्वं व्यावर्त्यांशविभेदतः ॥५५॥

शंका--तीन कारणों से ज्ञान को भ्रमरूपता न हो पर चौथे कारण से परोक्ष ब्रह्मज्ञान को भ्रमरूपता बनती है, क्यों कि परोक्षज्ञान में आत्मअंश का ग्रहण न हुआ। और ब्रह्म अंश का ग्रहण हुआ जिस से एक अंश का ग्रहण हुआ और एक अंश का ग्रहण न भया तिससे परोक्षब्रह्मज्ञान को भ्रमरूपता सिद्ध हुई।

उत्तर—जो एक अंश के ग्रहण से और एक अंश के न ग्रहण से ब्रह्म ज्ञान को भ्रमरूपता हो तो घट पट आदि के ज्ञान को भी भ्रमरूपता होनी चाहिये क्यों कि घटज्ञान से घट के सब अंशों का ग्रहण नहीं होता घट के अन्तर जो अवयव हैं उन के साथ नेत्रों का संबन्ध नहीं होता इस से घट के सब अंशों का ग्रहण नहीं होता।

शंका--घट सावयव पदार्थ है, इस से किसी अंश का ग्रहण रहते भी किसी अंश का अग्रहण बन जाता है पर ब्रह्म तो निरंश है इससे ब्रह्म में अंश को ग्रहण होना नहीं बनता।

उत्तर—दूर करने योग्य जो अंश हैं सोई हुई उपाधि उस से ब्रह्मभी अंशों वाला बनजाता है सो दूर करनेयोग्य ब्रह्म में दो अंश हैं एक असत्ता १ दूसरा अभाव २ ५५

असत्त्वांशोनिवर्तेत परोक्षज्ञानतस्तथा ॥
अभानांशनिवृत्तिः स्यादपरोक्षधिया कृता ॥५६॥

अर्थ--परोक्षज्ञान से असत्ता दूर होती है और अपरोक्षज्ञान से अभान दूर होता है ॥ ५६ ॥

दशमोऽस्तीति विभ्रांतं परोक्षज्ञानमीक्ष्यते ॥
ब्रह्मास्तीत्यपि तद्वत्स्यादज्ञानावरणं समम् ॥५७॥

अर्थ--और अपरोक्ष रूपतासे ग्रहण योग्य पदार्थ में परोक्षज्ञान भ्रमरूप नहीं होता जैसे अपरोक्षरूप दशवें पुरुष में परोक्षज्ञान भ्रमरूप नहीं तैसे अपरोक्षरूप ब्रह्म में भी परोक्षज्ञान भ्रमरूप नहीं क्यों कि अज्ञान का कार्य असत्तापादक आवरण दशम पुरुष में और ब्रह्म में तुल्य है और अपरोक्ष ज्ञान से उसकी निवृत्ति भी तुल्य है ॥ ५७ ॥

आत्मा ब्रह्मेति वाक्यार्थे निःशेषेण विचारिते ॥
व्यक्तिरुल्लिख्यते यद्वद्दशमस्त्वमसीत्यतः ॥५८॥

शंका--जो वाक्य से परोक्षज्ञान होता है तो अपरोक्षज्ञान किस से होता है।

उत्तर—विचार सहित महावाक्य से अपरोक्ष ज्ञान होता है, यह आत्मा ब्रह्म है, इस महावाक्य के अर्थ का भले प्रकार से विचार करने पर प्रथम परोक्षता से जाना जो ब्रह्म है। उस में आत्मा के साथ अभिन्नरूपता साक्षात् करी जाती है, जैसे दशवाँ तू है। इस वाक्य से दशम पुरुष ने अपनी दशमरूपता साक्षात् करी है॥ ५८॥

दशमः कइति प्रश्ने त्वमेवेति निराकृते।
गणयित्वा स्वेन सह स्वमेव दशमं स्मरेत् ॥५९॥

अर्थ—विचार सहित वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति जिस प्रकार होती है उस को दृष्टान्तसहित कहते हैं, दशवाँ कौनसा है ऐसा प्रश्न करने पर उस का तू ही दशवां है ऐसा परिहार होने पर अपने साथ और नव पुरुषों को गिन कर मैं दशवाँ हूं ऐसे अपने ही को दशवाँ जानता भया॥ ५९॥

दशमोऽस्मीति वाक्योत्था न धीरस्य विहन्यते॥
आदिमध्यावसानेषु न नव स्वस्य संशयः ॥६०॥

अर्थ-इस दशवें पुरुष का मैं दशवाँ हूं इस वाक्य से उठा जो ज्ञान है, सो नष्ट नहीं होता। आदि मध्य अन्त में जो नव पुरुष हैं, उन में इस को संशय नहीं होता। इस से यह ज्ञान दृढ़ अपरोक्ष रूप है॥ ६०॥

सदेवेत्यादिवाक्येन ब्रह्मसत्त्वं परोक्षतः॥
गृहीत्वा तत्त्वमस्यादि वाक्याद्व्यक्तिं समुल्लिखेत् ॥६१॥

अर्थ—इस सब को दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं।

(तहाँ श्रुतिः) सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्)

अर्थ—जगत् की उत्पत्ति से पूर्व सब जगत् ब्रह्म मात्र था, सो ब्रह्म सजातीय विजातीय स्वगत भेद से रहित है, इत्यादि वाक्य से जिज्ञासु प्रथम ब्रह्म की सत्ता को परोक्षरूपता से जाने, पीछे जीवरूपता से संघात में प्रवेशआदिरूप युक्ति के विचार से ब्रह्म की आत्मरूपता की संभावना करे, पीछे से ब्रह्म तू है, इस वाक्य से अद्वितीय ब्रह्म रूप अपने को (अहं ब्रह्मास्मि) इस वाक्य से साक्षात् निश्चय करे, अर्थात् मैं ब्रह्म हूं, ऐसे साक्षात्कार को प्राप्त हो, क्योंकि ब्रह्म का लक्षण सच्चिदानन्द रूपता आत्मा में अपरोक्ष करके दीखता है॥ ६१॥

आदिमध्यावसानेषु स्वस्य ब्रह्मत्वधीरियम्॥
नैव व्यभिचरेत्तस्मादापरोक्ष्यं प्रतिष्ठितम् ॥६२॥

अर्थ-पाँच कोशों के आदि मध्य अन्त में आत्मा का व्यवहार रहते भी आत्मा की सच्चिदानन्दरूपता दूर नहीं होती, तिस से मैं सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म हूं, इस ज्ञान को दृढ़ अपरोक्षरूपता है ॥ ६२ ॥

जन्मादिकारणत्वाख्य लक्षणेन भृगुःपुरा ॥
पारोक्ष्येण गृहीत्वाऽथ विचाराद्व्यक्तिमैक्षत ॥६३॥

शंका—प्रथम विचार रहित केवल वाक्य से परोक्षज्ञान पैदा हुआ, और पीछे विचार सहित वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान पैदा होता है, इस बात को तुम कैसे जानते हो।

उत्तर-तैत्तिरीय आदि उपनिषदों की श्रुति के अर्थ विचार द्वारा हम जानते हैं, सो प्रथम तैत्तिरीय उपनिषद् की श्रुति (यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयंत्यभिसंविशंतीति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म) अर्थ—कथा सहित वरुण नाम एक ब्रह्म वेत्ता था उस का पुत्र भृगुनाम करके था, सो भृगु ब्रह्म जिज्ञासा को धार कर पिता के पास आया, और उसने कहा, हे पिता जी! मुझे ब्रह्म उपदेश करो, तब वरुण बोला! हे पुत्र! जिस से ये सब भूत पैदा होते हैं। और जिस से सब स्थिति को प्राप्त होते हैं, और जिस में सब लय हो जाते हैं। सो ब्रह्म है, ऐसे तू जान, इस वाक्य के सुनने से जगत् के जन्म आदि का कारणरूप ब्रह्म को परोक्षरूप से जान कर, पीछे से पंच कोशों के विचार से आत्मरूप ब्रह्म को देखता भया अर्थात् प्रत्यगात्मरूप करके अपरोक्ष ब्रह्म को जानता भया ॥ ६३ ॥

यद्यपि त्वमसीत्यत्र वाक्यं नोचे भृगोःपिता ॥
तथाप्यन्नंप्राणमिति विचार्य स्थलमुक्तवान् ॥६४॥

शंका—भृगु और वरुण के संवाद में वरुण ने भृगु के प्रति तू ब्रह्म है, ऐसा महावाक्य का उपदेश तो नहीं किया, तिस से भृगु को आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कैसे हुआ।

उत्तर—यद्यपि तू ब्रह्म है। ऐसा महा वाक्य भृगु के प्रति वरुण ने नहीं कहा, तौ भी आत्मसाक्षात्कार का कारण जो पंच कोशों का विचार है उस को कहा है तिस से भृगु को आत्मसाक्षात्कार हुआ ॥ ६४ ॥

अन्नप्राणादिकोशेषु सुविचार्य पुनःपुनः ॥
आनंदव्यक्तिमीक्षित्वा ब्रह्मलक्ष्माप्यपूजयत् ॥६५॥

शंका—अन्नमय आदि पाँच कोशों का विचार करने पर आत्मा का साक्षात्कार हो, पर ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे हुआ ।

उत्तर—आत्मा ब्रह्मरूप है तिससे पंचकोशों के विचार से आनन्दरूप आत्मा का साक्षात्कार कर ब्रह्म का लक्षण जो जगत् उत्पत्ति स्थिति लय कारणतारूप है उसको आनन्दरूप आत्मा में ही जोड़ता भया तहाँ श्रुति (आनन्दाद्धेव खल्विमानि भूतानि जायंते आनंदेन जातानि जीवंति आनंदं प्रयंत्यभिसंविशंतीति) अर्थ--आनन्द सोही ये सब भूत पैदा होते हैं, आनन्द से ही जीवते हैं और आनन्द में ही लय हो जाते हैं सुषुप्ति काल में ऐसे जानता भया ॥ ६५ ॥

सत्यं ज्ञानमनंतं चेत्येवं ब्रह्मस्वलक्षणम् ॥
उक्त्वा गुहाहितत्वेन कोशेष्वेतत्प्रदर्शितम् ॥६६॥

शंका--ब्रह्मका लक्षण आनन्दरूप आत्मा में नहीं घटता क्यों कि ब्रह्म भिन्न है और आत्मा भिन्न है।

उत्तर--आत्मा और ब्रह्म का भेद नहीं सच्चिदानन्द ब्रह्म लक्षण की आत्मरूपता करके स्थिति श्रवण करने से । ब्रह्म सच्चिदानंदरूप है। यह जो ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। उसको कहकर सो सच्चिदानंद लक्षण ब्रह्म पंच.कोशरूप गुहा में स्थित है। ऐसा कथन किया । तहाँ श्रुति (यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्) इस वाक्य से जाना जाता है कि सच्चिदानंदरूप आत्मा है। क्योंकि पंचकोशरूप गुहा में स्थित आत्मा है ॥६६॥

पारोक्ष्येण विबुध्येंद्रो य आत्मेत्यादिलक्षणात् ॥
अपरोक्षीकर्तुमिच्छंश्चतुर्वारं गुरुं ययौ ॥६७॥

अर्थ—इस प्रकार तैत्तिरीय श्रुति के विचार से भृगु को प्रथम परोक्षज्ञान हुआ, और पश्चात् विचार से अपरोक्षज्ञान हुआ, और छांदोग्य उपनिषद् की श्रुति के विचार से भी यह जाना जाता है कि इंद्रिय आत्मा इत्यादि लक्षण से आत्मा को परोक्षरूपता से जान कर अपरोक्ष करने के लिये चारवार गुरु ब्रह्मा जी के पास गया अब छांदोग्य उपनिषद् में अष्टमाध्याय की कथा कहते हैं ब्रह्मा जी अपनी सभा में बैठे थे उन्हों ने यह श्रुति पढ़ी (य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकः) अर्थ—जो आत्मा है उसको पापों का स्पर्श कभी नहीं होता और उसको विक्षेप प्राप्त कभी नहीं होता और वह मृत्यु से रहित है और खान पान की इच्छासे रहित है और सत्यकाम है और संकल्प है, इंद्र को इस वाक्य के सुनने से परोक्षज्ञान प्राप्त हुआ,

फिर विचार से तीन शरीरों को आत्मरूपता के निषेध करने से उन तीन शरीरों का साक्षीरूप आत्मा के जानने वास्ते, चार वार गुरु जो ब्रह्मा जी हैं उनके पास गया ॥६७॥

आत्मा वा इदमित्यादौ परोक्षं ब्रह्म लक्षितम् ॥
अध्यारोपापवादाभ्यां प्रज्ञानं ब्रह्म दर्शितम् ॥६८॥

अर्थ—अब ऐतरेय उपनिषद् की श्रुति में उस बात को दिखाते हैं तहाँ श्रुति (आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचनमिषद्) अर्थ—यह सब जगत् उत्पत्ति से पूर्व आत्मरूप था, और आत्मा से भिन्न और कुछ भी सत्तायुक्त न था, इस वाक्य से ब्रह्म का लक्षण कह कर पश्चात् यह कहा तहाँ श्रुति (स ईक्षतलोकान्नुसृजा इति) अर्थ—मैं लोकोंको रचूं ऐसा इच्छा आत्मा करता भया, ऐसा आरंभ कर फिर यहकहा तहाँ श्रुति (तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथः) अर्थ—आत्मा के तीन स्थान हैं; एक जाग्रत्, दूसरा स्वप्न, तीसरी सुषुप्ति, सो तीनों स्वप्नरूप हैं, परमार्थ दृष्टि से, इस वाक्य करके परमात्मा में जगत् के आरोप को कह कर फिर यह कहा तहाँ श्रुति (स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषत्) अर्थ—सो परमात्मा पैदा हुआ और जिज्ञासु को प्राप्त होकर यह विचार करता भया इन पृथिवी आदि पंचभूतों की सत्ता परमात्मा से भिन्न है क्या नहीं ऐसा विचार कर परमात्मासे भिन्न किसीकी सत्ता नहीं है यह निश्चय करता भया इस तरह आरोपित जगत् का अपवाद अर्थात् निषेध कर फिर यह कहा तहाँ श्रुति (स एतमेव पुरुषं ब्रह्मततमपश्यदिदमदर्शमिति) अर्थ—सो आत्मा अपने आपको व्यापक ब्रह्मरूप देखता भया इस प्रकार आत्माकी ब्रह्मरूपता कही और फिर (पुरुषेहवे इत्यादि वाक्य से ज्ञान का साधन जो वैराग्य है उस की प्राप्ति के लिये पुरुष के शरीर में जीव का चार महीने वास और स्त्री शरीरमें दश महीने वास इसमें अनेक प्रकारके दुःख कहे उन को जान कर जब वैराग्य हो गया तब जिज्ञासु कहने लगा तहाँ श्रुति (कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे) अर्थ—कौन है यह आत्मा जिसकी हम उपासना करें, इत्यादि वाक्यों के विचार से तत् पदार्थ और त्वँ पदार्थ का शोधन कर (प्रज्ञानं ब्रह्म) अर्थ—चैतन्य रूप आत्मा ब्रह्म है इस वाक्य से चैतन्यरूप आत्मा की ब्रह्मरूपता को निश्चय करता भया ॥६८॥

अवांतरेण वाक्येन परोक्षाब्रह्मधीर्भवेत् ॥
सर्वत्रैव महावाक्यविचारादपरोक्षधीः ॥६९॥

अर्थ—इसी तरह और उपनिषदों में भी यह कहा है कि अवांतर वाक्यों से परोक्ष ब्रह्म ज्ञान होता है और महावाक्यके विचार से अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान होता है ॥६९॥

ब्रह्मापरोक्ष्य सिद्ध्यार्थं महावाक्यमितीरितम् ॥
वाक्यवृत्तावतो ब्रह्मापरोक्ष्ये विमतिर्नहि ॥७०॥

शंका—महावाक्य के विचार से अपरोक्षज्ञान होता है, आप इस बातको अपने मुख से बना कर कहते हो, और पूर्व आचार्यों ने तो इस अर्थ को नहीं कहा, तिससे आपके कथन को कोई नहीं मानता ।

उत्तर—वाक्यवृत्ति नाम ग्रंथ में शंकराचार्य ने यह अर्थ कहा है कि महावाक्य से अपरोक्षज्ञान होता है इससे ब्रह्म की अपरोक्षता में विवाद नहीं ॥७०॥

आलंबनतया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः ॥
अंतःकरणसंभिन्नवोधः सत्वं पदाभिधः ॥७१॥

अर्थ—वाक्यवृत्ति में जो उपपादन प्रकार है उसे दिखाते हैं अहं इस शब्द से और अहं इस ज्ञान से जो प्रतीत होता है अंतः करण उपाधि सहित चैतन्यरूप आत्मा सो त्वं पदका [वाच्य] अर्थ है ॥७१॥

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञ त्वादिलक्षणः ॥
पारोक्ष्यशवलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः ॥७२॥

अर्थ—पारोक्ष्यशवल अर्थात् परोक्षतारूप धर्म से युक्त इस प्रकार तटस्थ लक्षण कह कर स्वरूप लक्षण कहते हैं, सत्याद्यात्मक) इति सत्य है आदि में जिन ज्ञान आदि की वे सत्य आदि हैं आत्मा स्वरूप [जिसका सो तथाभिधआत्मा तत्पदा-भिध तत्पद है अभिदावाचक जिसका सो तत्पदाभिध है । अर्थात् तत् पदका वाच्य अर्थ है अ र श्लोकार्थ—और माया उपाधिवाला जगत् का कारण परोक्षताधर्म करके युक्त सर्वज्ञता आदि धर्म युक्त सच्चिदानन्दरूप आत्मा तत्पद का वाच्य अर्थ है ॥ ७२ ॥

प्रत्यक् परोक्षतैकस्य सद्वितीयत्वपूर्णता ॥
विरुध्येते यतस्तस्माल्लक्षणा संप्रवर्त्तते ॥७३ ॥

अर्थ—इस प्रकार त्वंपद और तत्पद के वाच्य अर्थों को जान कर उनके अभेद वास्ते लक्षणा करनी योग्य है, सो लक्षणा महावाक्य में भाग त्यागरूप है (जैसे सोयं

देवदत्तः, इस वाक्य में भाग त्याग लक्षणा है और जहत् लक्षणा भी नहीं और अजहल्लक्षणा भी नहीं।

शंका—महावाक्य में लक्षणा क्यों आश्रय करनी।

उत्तर—जिससे वाच्य अर्थ की एकता नहीं बनती इससे लक्षणा करनी योग्य है आत्मरूपता और परोक्षता एक को नहीं बनती और सद्वितीयता और पूर्णता एक को नहीं बनती तिस कारण लक्षणा करनी योग्य है क्यों कि बिना लक्षणा के अखंडार्थ बोध नहीं होता ॥७३॥

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा ॥
सोयमित्यादिवाक्यस्थ पदयोरिव नापरा ॥७४॥

अर्थ—तत्त्वमसि इत्यादि वाक्यों में लक्षणा हैं परंतु भाग त्याग लक्षणा है, तहाँ दृष्टांत, जैसे सोयं देवदत्तः। इत्यादि वाक्य में स्थित जो सोयं ये पद हैं इनमें जहदजहल्लक्षणावृत्ति आश्रित है नापरा नजहल्लक्षणा और न अजहल्लक्षणा ॥ ७४ ॥

संसर्गोवा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र संमतः ॥
अखंडैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥७५॥

शंका—जैसे गाय का ले आ। इत्यादि वाक्यों में लक्षणा के बिना ही वाक्य के अर्थ का ज्ञान होता है, तैसे महावाक्य में भी लक्षणा से बिना ही वाक्यार्थ बोध क्यों न हो।

उत्तर—लोक में गाय ले आ इत्यादि वाक्यों में पदों ने स्मरण करवाये जो आकांक्षा योग्यता सान्निध्यादिवाले गवादि पदार्थ हैं उन का परस्पर संबंध वाक्य की अर्थ रूपता से स्वीकार किया है और जैसे नील महत् सुगंध वाला कमल है, इत्यादि वाक्यों में नीलता आदि गुण विशिष्ट कमल को वाक्य की अर्थरूपता से अंगीकार किया है तैसे महावाक्य में संबंध और विशिष्ट इन दोनों में एक को वाक्य की अर्थ रूपता अंगीकार नहीं करी किंतु सजातीय विजातीय स्वगत भेद से रहित वस्तुमात्र रूप से वाक्य का अर्थ ज्ञानवान् अंगीकार करते हैं इससे महावाक्य में लक्षणा स्वीकार करनी योग्य है, जब लक्षणा मानी तब त्वं पद का वाच्य अर्थ जो था अंतः करण उपाधि सहित चैतन्यरूप आत्मा उसमें अंतः करण उपाधि को छोड़ देना और चैतन्यरूप आत्मा का ग्रहण करना और तत् पद का वाच्य अर्थ जो था जगत्कारण सर्वज्ञादि सहित सच्चिदानंदरूप आत्मा उसमें जगत् कारण सर्वज्ञत्वादि को छोड़ देना और सच्-

आनंदरूप आत्मा का ग्रहण करना इसतरह एक भाग को छोड़ने पर अद्वय एकभाग यको लेने पर जो ज्ञान होता है उसको सुन ॥७५॥

प्रत्यग्बोधो य आभाती सोऽद्वयनंदलक्षणः

अद्वयानंदरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः ॥७६॥

अर्थ—अखंडैकरस वाक्यार्थ को दिखाते हैं, जो चैतन्य जो चैतन्यरूपआत्मा सब से परे बुद्धि आदि का साक्षी रूपता से प्रतीत होता है सो अद्वयानन्द स्वरूप है अर्थात् अद्वितीय आनन्दस्वरूप परमात्मा है और जो अद्वितीय आनन्दरूप परमात्मा है सो बुद्धि आदि का साक्षी चैतन्य एकस्वभाव है, इस तरह अखंडार्थ का बोध होता है ॥ ७६ ॥

इत्थमन्योन्यतादात्म्य प्रतिर्यदा भवेत् ॥

अब्रह्मत्व त्वमर्थस्यव्या वर्तेत तदैव हि ॥७७॥

शंका—ऐसे अखंडरस बोध से क्या फल मिलता है।

उत्तर—जब इस प्रकार दोनों का परस्पर तादात्म्य बोध होता है तब त्वंपदार्थ की जो भ्रम से अरूपता प्रतीत होती है, सो दूर हो जाती है॥ ७७ ॥

तदर्थस्य च पारोक्ष्यं यद्येवं किं ततः शृणु ॥

पूर्णानन्दैकरूपेण प्रत्यग्बोधोवऽतिष्ठते ॥७८॥

अर्थ—और तत्पदार्थ की जो भ्रमसिद्ध परोक्षता थी वह भी दूर हो जाती है।

शंका—तिस से क्या फल मिला।

उत्तर—जो उससे फल मिलता है, सो सुन) बुद्धि आदि का साक्षी जो आत्मा है सो पूर्णानन्दरूपता में स्थित होता है और उस की दुःखरूपता और परिछिन्न रूपता नष्ट हो जाती है ॥ ७८ ॥

एवं सति महावाक्यत्परोक्षज्ञानमीर्यते ॥

यैस्तेपां शास्त्रसिद्धांवविज्ञानं शोभतेतराम् ॥७९॥

शंका—(समयबलेन सम्यक् परोक्षानुभवसाधनमागमः

अर्थ—संकेत के बल से यथार्थ अनुभव का जो साधन हो उसका नाम शास्त्र है ऐसे शास्त्रकार आगम अर्थात् शास्त्रका लक्षण करते हैं, इस से वाक्यको अपरोक्ष ज्ञान कारणता नहीं बनती आप कैसे कहते हो वाक्य अपरोक्ष ज्ञान का कारण है।

उत्तर—तुझको सिद्धाँत के रहस्य की खबर नहीं इससे तू वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान नहीं मानता ॥ ७९ ॥

आस्तां शास्त्रस्य सिद्धाँतो युक्त्या वाक्यात्परोक्षधीः ॥
स्वर्गादिवाक्यवन्नैवं दशमे व्यभिचारतः ॥८०॥

शंका—सिद्धांत रहो। हमतो युक्ति से अर्थ का निर्णय किया चाहते हैं सो युक्ति से वाक्य को अपरोक्षज्ञान कारणता प्रतीत होती है, जैसे स्वर्ग आदि का कथन करने हारा जो वाक्य है उनसे स्वर्ग आदि की परोक्षरूपता करके प्रतीति होती है, तैसे महा वाक्य भी वाक्य है, उससे अपरोक्ष अर्थ की प्रतीति नहीं होती।

उत्तर—यह नियम नहीं जो सब वाक्यों से परोक्ष अर्थ की प्रतीति हो क्योंकि दशवाँ तू है इस वाक्य से अपरोक्ष अर्थ की प्रतीति होती है ॥ ८० ॥

स्वतोऽपरोक्षजीवस्य ब्रह्मत्वमभिवांछतः ॥
नश्येत्सिद्धापरोक्षत्वमिति युक्तिर्महत्यहो ॥८१॥

अर्थ—त्वं पदार्थ जो जीव है सो स्वभाव से अपरोक्ष रूप है, उसको जब ब्रह्म होने की इच्छा हुई तब उसने महावाक्य सुना सो महावाक्य जो परोक्ष ज्ञान पैदा करे तो उसकी प्रथम सिद्ध जो अपरोक्षता थी, सो नष्ट हो जाय, इस से यह जो तू कहता है कि महावाक्य से युक्ति करके परोक्षज्ञान पैदा होता है सो तेरी युक्ति बड़ी सुन्दर है, इस की महिमा कुछ कही नहीं जाती ॥ ८१ ॥

वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि नष्टमितीदृशम् ॥
लौकिकं वचनं सार्थं संपन्नं त्वत्प्रसादतः ॥८२॥

अर्थ—लोकों का यह जो वचन था कि वृद्धि की इच्छा करने हारे का मूल भी नष्ट हो गया, सो तेरी कृपा से आज अर्थ वाला हुआ क्योंकि ब्रह्म भाव रूप वृद्धि की इच्छा करने हारा जो जीव था, उसका मूलरूप जो प्रथम सिद्ध अपरोक्षता थी सो भी नष्ट हो गई ॥ ८२ ॥

अंतःकरणसंभिन्न बोधो जीवोऽपरोक्षताम् ॥
अर्हत्युपाधिसद्भावान्न तु ब्रह्मानुपाधितः ॥८३॥

शंका—जीव को अपरोक्षता तो बनती है क्यों कि जीव उपाधिवाला है सो उपाधि अन्तः करण है और ब्रह्म की अपरोक्षता नहीं बनती क्यों कि ब्रह्म उपाधि से रहित है ॥ ८३ ॥

नैवं ब्रह्मत्वबोधस्य सोपाधिविषयत्वतः ॥
यावद्विदेहकैवल्यमुपाधेरनिवारणात् ॥८४॥

उत्तर--ब्रह्म उपाधि से रहित नहीं जीव को जो ब्रह्मरूपता का ज्ञान होता है सो ज्ञान उपाधिसहित वस्तु में है क्यों कि विदेह मुक्ति से पूर्व उपाधि का अभाव नहीं होता ॥ ८४ ॥

अंतःकरणसाहित्यराहित्याभ्यां विशिष्यते ॥
उपाधिर्जीवभावस्य ब्रह्मतायाश्च नान्यथा ॥८५॥

शंका--तो जीव ब्रह्म की उपाधि विलक्षण अर्थात् भिन्न २ कहनी चाहिये।

उत्तर--अन्तः करण सहितता जीवभाव में उपाधि है, अन्तःकरण रहितता अभाव में उपाधि है ॥ ८५ ॥

यथाविधिरुपाधिः स्यात्प्रतिषेधस्तथा न किम् ॥
सुवर्णलोहभेदेन शृंखलात्वं न भिद्यते ॥८६॥

शंका--अन्तःकरण सम्बन्ध को भावरूप होने से उपाधित्व हो, पर अन्तःकरण रहितता को अभाव रूप होने से उपाधित्व उचित नहीं।

उत्तर-जब तक जीव है तब तक अन्तः करण सहितता है तैसे जब तक है तब तक अन्तःकरण रहिता है। (यावत्कालमवस्थापिभेदहेतो रुपाधितः) यह जो उपाधि का लक्षण है जब तक उपहित हो तब तक जो स्थित हो और उपाहितका इतरोंसे भेद करे सोअन्तःकरण सहितता और अन्तःकरण रहितता इन दोनों में एक ऐसा है तिस से जैसे जीव भाव की अन्तः करण सहितता उपाधि है तैसे ब्रह्मभाव की अन्तःकरण रहितता भी उपाधि है, भावरूपता और अभावरूपता से अन्त करणसहितता औरअन्त करणरहितता का भेद रहते भी उपाधिरूपता में भेद कुछ नहीं। जैसे सोने की एक बेड़ी है और एक लोहे की है। उन दोनों का स्वर्णरूपता और लोहरूपता से भेद रहते भी बेड़ीरूप में कुछ भेद नहीं। लोहे की बेड़ी जिस के पड़ी हुई हैं वह भी क़ैदी है, और जिस के सोने की बेड़ी पड़ी हुई हैं यह भी क़ैदी है। तैसे अन्तः करण सहित भी उपाधि वाला है अन्तःकरण रहित भी उपाधि वाला ॥ ८६ ॥

अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन च ॥
वेदांतानां प्रवृत्तिः स्याद्विधेत्याचार्यभाषितम् ॥८७ ॥

अर्थ—जैसे भावरूप उपाधि ब्रह्मज्ञान का कारण है, तैसे अभावरूप उपाधि को भी ब्रह्मज्ञान में कारणता है। इस अर्थ को दृढ करने के लिये शँकराचार्य जी ने भाव और अभाव दोनों को ब्रह्मज्ञान की साधनता कही है, दो प्रकार से वेदान्तों की प्रवृत्ति है, एक विधिमुखता से और एक निषेधरूपता से, विधिमुखता से प्रवृत्ति तो यह है कि जो वेदान्त उपदेश करते हैं, ब्रह्म सत्यरूप चैतन्यरूप आनन्दरूप है, और निषेधरूपता से वेदान्तों की प्रवृत्ति यह है कि जो नेति नेति इस वाक्य से अनात्म प्रपञ्च का ब्रह्म में निषेध करना ॥ ८७ ॥

अहमर्थपरित्यागादहं ब्रह्मेति धीः कुतः ॥
नैवमंशस्य हि त्यागो भागलक्षणयोदितः ॥८८॥

शँका—जो वेदान्त अनात्मप्रपञ्च के निषेधद्वारा ब्रह्म को जनावते हैं; तो अह शब्दार्थ जो कूटस्थ है, उस का भी निषेध होगा, तिस से अहं ब्रह्मास्मि यह ज्ञान समानाधिकरणता से उदय न होगा, अर्थात् कूटस्थ और ब्रह्म का अभेद ज्ञान न होगा क्यों कि अहं शब्द का अर्थ जो कूटस्थ उस का तो त्याग कर दिया है।

उत्तर—सब अहं शब्द के अर्थ का त्याग नहीं करा, जिस कारण भाग त्याग लक्षण से अर्थात् जहदजहल्लक्षण से अहं शब्द के अर्थ का एक अंश जड़रूप त्यागा है, और एक अंश जो चैतन्यरूप कूटस्थ है उसका त्याग नहीं ताही इससे अहं ब्रह्म यह ज्ञान पैदा होता है ॥ ८८ ॥

अंतःकरणसंत्यागादवशिष्टे चिदात्मनि ॥
अहं ब्रह्मेति वाक्येन ब्रह्मत्वं साक्षिणीक्ष्यते ॥८९॥

अर्थ—अंतःकरण मात्र अंश के त्याग ने से बाकी रहा जो चिदात्मा साक्षी रूप उसमें मैं ब्रह्म हूं इस महा वाक्य से ब्रह्म रूपता का अनुभव होता है ॥८६॥

स्वप्रकाशोऽपिसाक्ष्येव धीवृत्त्या व्याप्यतेऽन्यवत् ।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ॥ ९० ॥

शंका—अंतःकरण से रहित केवल आत्मा को स्वप्रकाश होने से। सो बुद्धि वृत्ति का विषय नहीं होता।

उत्तर—स्वप्रकाश आत्मा साक्षी रूप घट आदि कीनाईं बुद्धिवृत्ति का विषय होता है। क्यों कि मैं स्वप्रकाश हूं ऐसे बुद्धि की वृत्ति उदय होती है।

शंका—बुद्धि की वृत्ति का जो विषय होता है सो दृश्य होता है। उस को

स्वप्रकाशता नहीं बनती।

उत्तर--बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिंबभाव को प्राप्त हुआ जो चैतन्य उसका नाम फल है। उस फल का जो विषय है सो स्वप्रकाश नहीं होता और वही दृश्य होता है साक्षीरूप आत्मा फल का विषय नहीं, और वृत्ति का जो विषय है, उसकी स्वप्रकाशता दूर नहीं होती। ऐसा पूर्व के आचार्यों ने माना है इस से यह अपसिद्धांतापात नहीं होता॥ ९०॥

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्॥

तत्राज्ञानंधिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्॥९१॥

अर्थ—वृत्ति ने अज्ञान नष्ट किया, और फल ने उस पदार्थ को प्रकाशित किया है। साक्षी तो पूर्व ही प्रकाशरूप है। उसे फल नहीं प्रकाशित करता और अनात्म पदार्थ जो घट आदि हैं वे फल और वृत्ति इन दोनों का विषय होते हैं वृत्ति से अज्ञान दूर हो जाता है, और फल से घट का प्रकाश होता है, क्यों कि घट आदि जड़रूप होने से स्वयं प्रकाश नहीं॥ ९१॥

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता॥

स्वयं स्फुरणरूपत्वान्नाभासउपयुज्यते॥९२॥

अर्थ--और ब्रह्म में अज्ञान नाश वास्ते वृत्तिमात्र की प्राप्ति होती है। क्योंकि अज्ञान से ब्रह्म ढका हुआ है, इससे अज्ञान दूर करने के लिये वृत्ति चाहिये महावाक्य जन्य अहम् ब्रह्म अस्मि इस वृत्ति ने ब्रह्म में अज्ञान नाश किया है, और ब्रह्म को आप प्रकाश रूप होने से उसमें फल की अपेक्षा नहीं, इससे वृत्ति में प्राप्त हुआ चिदाभास ब्रह्म के प्रकाश करने में समर्थ नहीं होता॥ ९२॥

चक्षुर्दीपावपेक्ष्येते घटादेर्दर्शने यथा॥

न दीपदर्शने किंतु चक्षुरेकमपेक्ष्यते॥९३॥

अर्थ—जैसे घट आदि पदार्थों के देखने में नेत्र और दीपक दोनों चाहिये, और दीपक के देखने में एक नेत्र ही चाहिये, दीपक हाथ में लिया हुआ भी दीपक के देखने में कुछ सहायता नहीं करता, तैसे ब्रह्म के अज्ञान नाश वास्ते वृत्ति एक चाहिये॥ ९३॥

स्थितोऽप्यसौ चिदाभासो ब्रह्मण्येकीभवेत्परम्॥

न तु ब्रह्मण्यतिशयं फलं कुर्याद्‌ घटादिवत्॥९४॥

अर्थ—और वृत्ति में विद्यमान भी चिदाभासरूप फल ब्रह्म के प्रकाश करने को समर्थ नहीं होता, जैसे घट आदि के प्रकाश करने को समर्थ होता है, इस से चिदाभास का ब्रह्म के साथ अभेद हो जाता है, ब्रह्म से भिन्न हो कर नहीं प्रकाशता जैसे बहुत तेज धूप में स्थित दीपक धूप के साथ एकता को प्राप्त हो जाता है धूप से भिन्न हो कर धूप के प्रकाश वे को समर्थ नहीं होता ॥ ९४ ॥

अप्रमेयमनादिं चेत्यत्र श्रुत्येदमीरितम् ॥
मनसैवेदमाप्तव्यमिति धीव्याप्यता श्रुता ॥९५॥

शंका—ब्रह्म फल का विषय नहीं और वृत्ति का विषय है, इस में क्या प्रमाण है

उत्तर—इस में वेद प्रमाण है, अमृतबिन्दु वा ब्रह्मबिन्दु नाम जो उपनिषद् है उस में यह कहा है, तहां श्रुति (निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टांतवर्जितम् ॥ अप्रमेयमनादिंच ज्ञात्वा मुच्यते बुधः) अर्थ—निर्विकल्प और अनंत और हेतु से रहित और दृष्टाँत से रहित अप्रमेय और अनादि जो परम शिव है, उसको जानकर ब्रह्मरूप हो जाता है इस उपनिषद् में जो अप्रमेय शब्द है, इस से यह कहा है कि ब्रह्मफल का विषय नहीं और कठवल्ली उपनिषद् में भी यह कहा है कि; तहां श्रुति (नेह नानास्ति किंचन) अर्थ—जिस ब्रह्म में सजातीय विजातीय स्वगत भेद किंचित् नहीं सो ब्रह्म मन से जानने योग्य है, इस वाक्य से यह प्रतीत होता है, कि ब्रह्म बुद्धि वृत्ति का विषय है, तिस से ब्रह्म फल का विषय नहीं, इसमें ब्रह्म बिन्दु उपनिषद्का वाक्य प्रमाण है, और बुद्धि वृत्ति का विषय है, इस में कठवल्ली उपनिषद् वाक्य प्रमाण है ऐसी व्यवस्था रहते दोनों वचनों का परस्पर विरोध निवृत्त हो जाता है ॥ ९५ ॥

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति वाक्यतः ॥
ब्रह्मात्मव्यक्तिमुल्लिख्य यो बोधः सोऽभिधीयते ॥९६॥

शंका—आत्मा को जो जाने इत्यादि जो बृहदारण्यक का मन्त्र आपने कहा है उस के अर्थ करने के समय आपने यह कहा है कि अपरोक्ष ज्ञान और शोक का अभाव ये दो अवस्था जीव की इस मंत्र ने कही हैं, उस में हम पूछते हैं अपरोक्ष ज्ञान मंत्र के कितने अंश ने कहा है, और शोक का अभाव मंत्र के कितने अंश ने कहा है।

उत्तर—मंत्र के पूर्वार्द्ध ने अपरोक्षज्ञान कहा है, और मंत्र के उत्तरार्द्ध ने शोक का अभाव कहा है, सो अपरोक्षज्ञान का स्वरूप यह है, सच्चिदानन्द लक्षण ब्रह्म से अभिन्न बुद्धि आदि का साक्षी आत्मा को जानना ॥ ९६ ॥

अस्तु बोधोऽपरोक्षोऽत्र महावाक्यात्तथाऽप्यसौ ॥
न दृढः श्रवणादीनामाचार्यैः पुनरीक्षणात् ॥९७॥

शंका--जो ऐसे जानने का नाम अपरोक्ष ज्ञान है। तो वह अपरोक्ष ज्ञान एक बार वाक्य के विचार से होता है। तिस से श्रवण मनन का बार बार कर्तव्य जो व्यासजी सूत्रों में लिखते हैं। तहां सूत्रम् (आवृत्तिरसकृदुपदेशात्) इत्यादि सूत्रों में विहित जो श्रवण आदि का आवर्त्तन है सो न करना चाहिये।

उत्तर—यद्यपि एक बार महावाक्य के विचार से अपरोक्षज्ञान होता है पर तौ भी वह दृढ नहीं होता, तिस से ज्ञान की दृढ़ता के लिये बार २ श्रवण मनन आदि करने। ऐसा श्रीशंकराचार्य जी ने कहा है, इससे एक बार महावाक्य के विचार से अपरोक्षज्ञान होने पर भी पश्चात् उस ज्ञान की दृढ़ता के लिये जिज्ञासु बार २ श्रवण मनन आदि करे ॥ ९७ ॥

अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थबोधो यावद्दृढी भवेत् ॥
शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥९८॥

शंका—शंकराचार्य जी ने किस वाक्य से बार २ श्रवण मनन आदि की कर्तव्यता कही है।

उत्तर--वाक्यवृत्तिनाम ग्रंथ में शंकराचार्य जी का यह वचन है, अहं ब्रह्म इस वाक्य के अर्थ का ज्ञान जब तक दृढ़ न हो, तब तक शम दम आदि साधन सहित होकर जिज्ञासु श्रवण मनन आदि का अभ्यास करे॥ ९८ ॥

बाढं संति दृढाभावस्य हेतवः श्रुत्यनेकता ॥
असंभाव्यत्वमर्थस्य विपरीता च भावना ॥९९॥

शंका--वेद वाक्य से पैदा हुआ जो ज्ञान है। उसकी दृढता क्यों नहीं।

उत्तर--उसकी दृढ़ता नहोने के तीन कारण हैं एक तो श्रुतियों की अनेकता और दूसरा अखंड एक रस अद्वितीय ब्रह्म को सब लोकों को से न प्रसिद्ध होने से उस की असंभावना और तीसरा विपरीत भावना अर्थात् मैं करता हूं मैं भोक्ता हूं इस प्रतीति की दृढ़ता इन तीन कारणों से अपरोक्षज्ञान दृढ़ नहीं होता इससे अपरोक्ष ज्ञान की दृढ़ता के लिये बार २ श्रवण आदि करने चाहिये ॥ ९९ ॥

शाखाभेदात्कामभेदाच्छ्रुतं कर्मान्यथान्यथा ॥
एवमत्रापि माशंकीत्यतः श्रवणमाचरेत् ॥१००॥

उत्तर—ये जो अपरोक्ष ज्ञान की अदृढता के तीन कारण हैं, उनकी तीन ही कारणों से निवृत्ति होती है, सो सुना श्रुतियों की अनेकता से जो अदृढता है सो यह है जैसे कर्मकांड में वेदों की शाखा के भेद से कर्म का भेद होता है, सो इस प्रकार है (यद्दचैव हौत्रं क्रियते यजुषाऽध्वर्यवं साम्नोद्गीथम्)

अर्थ—ऋग्वेद से हौत्र नामकर्म होता है, और यजुर्वेद से अध्वर्यव नाम कर्म होता है और सामवेद से उद्गीथ नाम कर्म होता है, और जैसे कामना के भेद से कर्म का भेद होता है। सो इस प्रकार है तहां श्रुति, (कारीर्या वृष्टिकामो यजेत शत कृष्णलमायुष्कामः) अर्थ—वर्षा की कामना वाला कारीरी नाम यज्ञ करे, और बहुत जीवने की कामना वाला शतकृष्णलनाम यज्ञ करे इसी प्रकार उपनिषदों में कहा जो ब्रह्म तत्व है सो भिन्न २ है ऐतरेय उपनिषद् में ब्रह्म चैतन्यरूप कहा है। और तैत्तरीय उपनिषद् में ब्रह्म आनन्दरूप कहा है और छांदोग्यउपनिषद् में ब्रह्म सत् रूप कहा है और कहीं जन्म मरण निवृत्ति रूप फल है और कहीं शोक निवृत्ति रूप फल सुना है और कहीं पापनिवृत्तिरूप फल सुना है तिस से फलका भी भेद है; और प्रतिपाद्य ब्रह्म वस्तु का भी भेद है जिस को ऐसी शंका उदय होती हैं उसको ब्रह्म का अपरोक्षज्ञान दृढ़ नहीं तिससे इन शंकाओं के निवारण करने के लिये बार २ श्रवण करना चाहिये। श्रवण से ये सब शंका नष्ट हो जाती हैं ॥१००॥

वेदान्तानामशेषाणामादिमध्यावसानतः ॥
ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमिति धीः श्रवणं भवेत् ॥१०१॥

अर्थ—श्रवण का क्या लक्षण है, सब उपनिषदों का आदि मध्य अंत में आत्मा ब्रह्मस्वरूप है, और सच्चिदानंदरूप है, उसमें द्वैतसत्ता कदापि नहीं इस अर्थ में तात्पर्य है, ऐसा जो निश्चय है उसका नाम श्रवण है ॥१०१॥

समन्वयाध्याय एतत्सूक्तं धीस्वास्थ्यकारिभिः ॥
तर्कैः संभावनार्थस्य द्वितीयाध्यायईरिता ॥१०२॥

अर्थ—ऐसा श्रवण शारीरिक भाष्य के प्रथम अध्याय में कहा है, और अर्थ की असंभावना की निवृत्ति के लिये मनन शारीरिक भाष्य के दूसरे अध्याय में कहा है प्रमेयगतानुपपत्तिपरिहारद्वारा अर्थात् ब्रह्म तत्व में सब शंका के दूर करने करके बुद्धि की स्थिरता करने हारी जो अनेक प्रकार की युक्तियाँ हैं, उनसे अखंड अद्वितीय ब्रह्म की संभावनारूप मनन कहा है, तिससे यह सिद्ध हुआ कि मनन करके बोध की अदृढ़ता का कारण असंभावना नष्ट हो जाती है ॥१०२॥

बहुजन्मदृढाभ्यासाद्देहादिष्वात्मधीःक्षणात् ॥
पुनःपुनरुदेत्येवं जगत्सत्यत्वधीरपि ॥१०३॥

अर्थ—अब विपरीत भावना को और उसकी निवृत्ति के साधन को दिखाते हैं विपरीत भावना दो तरह की है एक तो यह है कि अन्वयव्यतिरेक से आत्मा को देह आदि से भिन्न जानने पर भी अनेक जन्मों के दृढ़ अभ्यास से देह आदि में बार २ क्षण २ में अहँ बुद्धि का उदय होना और दूसरी विपरीत यह है, अचिंत्यरचनारूपता करके प्रपंच की मिथ्यारूपता के अनुभव होने पर भी अनेक जन्मों के दृढ अभ्यास से जगत् में बार २ क्षण २ सत्य बुद्धि का उदय होना ॥१०३॥

विपरिता भावनेयमैकाग्र्यात्सा निवर्तते ॥
तत्त्वोपदेशात्प्रागेव भवत्येतदुपासनात् ॥१०४॥

अर्थ—सो यह दो प्रकार की विपरीतभावना चित्त की एकाग्रता से नष्ट होती है।

शंका— विपरीतभावना के नाश का कारण चित्त की एकाग्रता किस साधन से प्राप्त होती है।

उत्तर—चित्त की एकाग्रता दो साधनों से प्राप्त होती है, एक तो सगुण ब्रह्म की उपासना से और दूसरे ब्रह्म अभ्यास से ॥१०४॥

उपास्तयोऽतएवात्र ब्रह्मशास्त्रेऽपि चिंतिताः ॥
प्रागनभ्यासिनः पश्चाद्‌ब्रह्माभ्यासेन तद्भवेत् ॥१०५॥

अर्थ—दो प्रकार के मनुष्य हैं, एक तो ऐसे हैं कि जिन्हों ने निर्गुण ब्रह्मतत्त्व का उपदेश आज तक नहीं सुना उनको सगुण ब्रह्म की उपासना से चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है, इसी कारण से वेदांत शास्त्र में भी उपासना के विचार अनेक प्रकार के करे हैं, और दूसरे मनुष्य ऐसे हैं कि जिन्हों ने निर्गुण ब्रह्म का उपदेश सुना है, और प्रथम सगुणब्रह्म की उपासना नहीं करी उनके चित्त की एकाग्रता ब्रह्म अभ्यास से होती है ॥१०५॥

तच्चिंतनं तत्कथनमन्योऽन्यं तत्प्रबोधनम् ॥
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥१०६॥

अर्थ—ब्रह्म अभ्यास का क्या स्वरूप है? जगत् की मिथ्यारूपता और देह आदि की अनात्मरूपता का चिंतन करना, अर्थात् मन में और कोई संकल्प उदय

न होना, इसी चिंता में लगे रहना और मुख से जब कुछ कहना तब यही कहना कि जगत् मिथ्या है और देह आदि अनात्मा हैं, और जब आप जैसा मिले तब परस्पर यही निर्णय करना कि जगत् मिथ्या है और देह आदि अनात्मा हैं, इन तीनों का नाम एकपरता है, और इन तीनों का नाम ब्रह्म अभ्यास है ऐसा बुद्धिमान् जानते हैं ॥१०६

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ॥
नानुध्यायाद्बहूंश्छब्दान्वाचोविग्लापनं हि तत् ॥१०७॥

अर्थ—यह ब्रह्म अभ्यास वसिष्ठ नाम ग्रंथ के उत्पत्ति प्रकरण में लीला के प्रसंग में कहा है, और श्रुति भी कहती है कि ब्रह्म होने की इच्छा जिस जिज्ञासु को है सो ब्रह्मचर्य आदि साधनों से युक्त हुआ श्रवण मनन करके आत्मा को ब्रह्मरूप जानकर ब्रह्म और आत्मा की एक रूपता के ग्रहण करने हारी जो चित्त की वृत्ति है। उसकी प्रवाह रूपता को नदी धारा की नाईं करे और अनात्म पदार्थों का विषय करने हारे जो शब्द हैं उनको न कहे अर्थात् अपने मुख से बहुत शब्द न कहे और मन से अनात्म पदार्थों का चिंतन न करे, जिससे अनात्म पदार्थों के चिंतन करने से मन को केवल श्रम होता है, और उनके कहने से वाणी को श्रम होता है ॥१०७॥

अनन्याश्चिंतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते ॥
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥१०८॥

और गीता की स्मृति भी चित्त की एकाग्रता को कहती है, हे अर्जुन जो जन मैं सच्चिदानंदरूप ब्रह्म हूं इस ज्ञान से मेरे से अभिन्न हुए अभेदरूप से मेरा चिंतन करते हैं अर्थात् मेरी उपासना करते हैं, अर्थात् सब काल में मेरा रूप हुये स्थित होते हैं, इस प्रकार सदा मेरे में चित्त के स्थित करने हारे जो मनुष्य हैं, उनको आत्मरूपता से स्थित हुआ अर्थात् प्राप्त हुआ मैं उनकी विपरीतभावना को नष्ट करदेता हूं, और अपरोक्ष दृढ़बोध सिद्ध करदेता हूं ॥१०८॥

इतिश्रुतिस्मृती नित्यमात्मन्येकाग्रतां धियः ॥
विधत्तो विपरीताया भावनायाः क्षयाय हि ॥१०९॥

अर्थ-यह जो बृहदारण्य उपनिषद् की श्रुति है, और गीता की स्मृति है, ये दोनों सदा ही आत्मा में चित्त की एकाग्रता को कहती हैं, विपरीत भावना के नाश वास्ते ॥१०९॥

यद्यथा वर्तते तस्य तत्त्वं हित्वाऽन्यथात्वधीः ॥
विपरीता भावना स्यात्पित्रादावरिधीर्यथा ॥११०॥

शंका- देह आदि को आत्मरूप जानना और जगत् सत्यरूप जानना यह विपरीत भावना कैसे है।

उत्तर--विपरीत भावना का लक्षण इसमें आता है, इस से यह विपरीत भावना है विपरीत भावनाका क्या लक्षण है, जो वस्तु जिस रूप से स्थित है, उसको उस रूप से न जानना और और रूपसे जानना इसका नाम विपरीत भावना है, जैसे सीपी सीपी रूप से स्थित है, उसे सीपीरूप न जानना और रूपा जानना, और दृष्टांत, जैसे माता पिता आदि में शत्रु बुद्धि अर्थात् उनको शत्रु रूप जानना ॥११०॥

आत्मा देहादिभिन्नोऽयं मिथ्या चेदं जगत् तयोः ॥
देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधीर्विपर्यय भावना ॥१११॥

अर्थ--अब दार्ष्टांत सुनो, आत्मा वास्तव से देह आदि से भिन्न है; उसको देह आदिरूप जानना और जगत् वास्तव से मिथ्या है उसको सत्यरूप जानना, सो यह विपरीत भावना है ॥१११॥

तत्त्वभावनया नश्येत्साऽतोदेहातिरिक्तताम् ॥
आत्मनो भावयेत्तद्वन्मिथ्यात्वं जगतोऽनिशम् ॥११२॥

अर्थ--सो विपरीतभावना तत्त्वभावना से नष्ट होजाती है, इससे जिज्ञासु आत्मा की देह आदि से अतिरिक्तता को तैसे ही जगत् के मिथ्यात्व को दिन रात्रि याद करे। अर्थात् उस विपरीत भावना का तत्त्वभावना से नाश हो जाता है, तत्त्व भावना कहिये, आत्मा की देह आदि से भिन्न भावना और जगत् की मिथ्यारूपभावना, तिससे विपरीत भावना के नाश वास्ते जिज्ञासु को चाहिये कि दिन रात्रि उठता बैठता जागता सोता हुआ आत्मा का देह आदि से भेद चिंतन करे और जगत् की मिथ्या रूपता का चिंतन करे ॥११२॥

किं मंत्रजपवन्मूर्त्तिध्यानवद्वाऽऽत्मभेदधीः ॥
जगन्मिथ्यात्वधीश्चात्र व्यावर्त्या स्यादुतान्यथा ॥११३॥

शंका--जैसे गायत्री आदि मंत्रों के जप करने में और देवता के ध्यान करने में पूर्व मुख आदि नियम आवश्यक हैं, तैसे आत्मा की देहआदि से भिन्न रूपता के चिंतन में और जगत् की मिथ्यारूपता के चिंतन में नियम आवश्यक हैं, अथवा नियम नहीं चाहते, जैसे हल बाहना और वनज करना इसमें नियम नहीं चाहिये ॥११३॥

अन्यथेति विजानीहि दृष्टार्थत्वेन भुक्तिवत्॥
बुभुक्षुर्जपवद्भुंक्ते न कश्चिन्नियतः क्वचित् ॥११४॥

उत्तर—विपरीत भावना के दूर करने वास्ते जो ब्रह्म अभ्यास है उस में कोई नियम नहीं, नियम तो उन में होता है, जिन का फल मर कर मिलता है, और ब्रह्म अभ्यास का फल तो प्रत्यक्ष है। इस से उस में नियम की चाहना कोई नहीं, जैसे क्षुधा की निवृत्त वास्ते जो भोजन किया है, उस में नियम नहीं, खड़ा होकर चाहे बैठ कर जैसे चाहे वैसे भोजन करे।

शंका—क्षुधा की निवृत्ति है प्रत्यक्ष फल जिस का ऐसा जो भोजन, उस में श्रुति स्मृतियों ने नियम कहे हैं कि पूर्वाभिमुख हो कर भोजन करे, और हाथ पैर धो कर भोजन करे, और म्लेच्छ आदि की दृष्टि जहाँ न पड़े तहाँ भोजन करे, इत्यादि नियम भोजन में कहे हैं, आप कैसे कहते हो कि प्रत्यक्ष फल वाले भोजन में नियम नहीं, तिस से यह सिद्ध अर्थात् निश्चय हुआ कि प्रत्यक्ष है क्षुधानिवृत्तिफल जिस का, ऐसा जो भोजन है, जैसे उस में नियम है, तैसे विपरीत भावनानिवृत्तिफल प्रत्यक्ष है जिस का ऐसा जो ब्रह्म अभ्यास है उस में भी नियम चाहिये।

उत्तर—क्षुधा का दूर करना है फल जिस का, ऐसा जो भोजन उस में कोई नियम नहीं, और जो श्रुति स्मृतियों ने नियम कहे हैं, वे परलोक में सुख के कारण हैं, और क्षुधा निवृत्ति के कारण, नहीं. इसी से क्षुधा मिटाने के लिये भोजन करने हारा नियम से भोजन नहीं करता दशग्रास वा बीस ग्रास किन्तु जितने ग्रासों से क्षुधा दूर हो तितने ग्रास खाता है, और जप करने हारा जैसे १० माला वा ५ माला का नियम करता है, तैसे भोजन करने हारे का नियम नहीं ॥ ११४ ॥

अश्नाति वा न वाऽश्नाति भुंक्ते वा स्वेच्छयाऽन्यथा ॥
येन केन प्रकारेण क्षुधामपनिनीषति ॥११५॥

क्षुधा की निवृत्ति की इच्छा वाला जो मनुष्य है, सो अन्न के प्राप्त होने पर खाता है, और अन्न न मिलने पर सतरंज चौसर आदि में चित्तको परचाता है, जिस से क्षुधा के क्लेश को भूल जाय, इस तरह चार घड़ी वा प्रहर भर विता देता है, और फिर भोजन मिलने पर बैठा व चलता वा सोता हुआ अपनी इच्छापूर्वक खाता है, जिस प्रकार भूख का दुःख न मालूम हो। ऐसा उपाय करता है ॥११५॥

नियमेन जपं कुर्यादकृतौ प्रत्य वायतः ॥
अन्यथा करणेऽनर्थः स्वरवर्ण विपर्ययात् ॥११६॥

अर्थ—और जप आदि में नियम अवश्य है, क्योंकि जप को न करे तो पाप की प्राप्ति होती है, और जप मंत्र के स्वर अक्षर विपरीत होजायं तो अनर्थ होता है।

तहां श्रुति भाष्य की । (मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्) अर्थ—जो मंत्र स्वर वा वर्ण से हीन हुआ मिथ्या कहा जाता है सो अपने अर्थ को ठीक २ सिद्ध नहीं करता सो वाणी वज्ररूप होकर यजमान का नाश करे है। जैसे इंद्रशत्रु अर्थात् वृत्रासुर स्वर के अपराध से मारागया। अर्थात् एक समय इंद्र के मारने वास्ते त्वष्टा ने मंत्र का जप किया था। उस मंत्र के स्वर के विपरीत होने से त्वष्टा के पुत्र को इंद्र ने मार दिया, तिससे जपमंत्र में नियम चाहिये, और भोजन में कोई नियम नहीं चाहिये ॥११६

क्षुधेव दृष्टबाधाकृद्विपरीता च भावना
जेया केनाप्युपायेन नास्त्यत्रानुष्ठितेः क्रमः ॥११७॥

शंका—क्षुधा से प्रत्यक्ष दुःख प्रतीत होता है, इस से क्षुधा के दूर करने को भोजन में नियम नहीं चाहिये, भोजन ही किया चाहिये, और विपरीत भावना तो प्रत्यक्ष दुःख का कारण नहीं है जिस से बिपरीत भावना के दूर करने हारा जो ब्रह्म अभ्यास है, उसका फल परलोक में होगा, तिससे ब्रह्म अभ्यास नियम सहित करना,

उत्तर—भूखकी तरह विपरीत भावना भी दृष्टबाधाकृत् है, इससे इसको किसी उपाय से जीतना चाहिये, यहां अनुष्ठान का क्रम कुछ नहीं, अर्थात् विपरीत भावना तो प्रत्यक्ष दुःख देनेहारी है, जैसे क्षुधा प्रत्यक्ष दुःख देने हारी है, तिस से जिस तरह ब्रह्म अभ्यास से विपरीत भावना दूर हो, तिसी प्रकार शीघ्र ही चलते फिरते बैठते उठते ब्रह्म अभ्यास करना, इसमें नियम की चाहना नहीं ॥११७॥

उपायः पूर्वमेवोक्तस्तच्चिंता कथनादिकः ॥
एतदेकपरत्वेऽपि निर्बन्धो ध्यानवन्न हि ॥११८॥

अर्थ-सो विपरीत भावना के दूर करने का उपाय ब्रह्म अभ्यास पूर्वही कहा है कि प्रपंचकी मिथ्यारूपता चिंतन करनी और देह आदि की अनात्मरूपता सोचनी इत्यादि।

शंका—मंत्रजप की नाईं पूर्व दिशा को मुख करना इत्यादि नियम मत हो परंतु देवताध्यान की नाईं ब्रह्म अभ्यास में एक परतारूप एकाग्रता का नाम नियम चाहिये

उत्तर—ब्रह्म अभ्यास एक परतारूप है, इससे उस में एकपरता का नियम नहीं, क्योंकि अपने में अपना नियम नहीं होता, तिस से जैसे ध्यान में नियम चाहिये तैसे ब्रह्म अभ्यास में नियम नहीं चाहिये ॥ ११८ ॥

मूर्तिप्रत्ययसांतत्यमन्यानंतरितं धियः ॥
ध्यानं तत्रातिनिर्बंधोमनसश्चंचलात्मनः ॥११९॥

शंका—ध्यान ध्येयचिंतामात्ररूप होता है, उस में नियम कौन है।

उत्तर—ध्यान में निबंध दिखलाने को प्रथम ध्यान का स्वरूप कहते हैं, पश्चात् ध्यान में नियम कहेंगे, विजातीय प्रत्यय से रहित देवता के स्वरूप में जो सजातीय प्रत्ययों का प्रवाह होता है, तैलधारा की नाँई अनवच्छिन्न। उसका नाम ध्यान है, अब ध्यान में नियम को सुन, जैसे हाथी घोड़े आदि जो बड़े चंचल हैं उनका एक स्थान में बन्धन होने पर और जगह न जाने का नियम है तैसे ध्यान में चंचलरूप मन के और जगह न जाने का अर्थात् रोकने का नियम है॥ ११९॥

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ॥
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥१२०॥

अर्थ—मन की चंचलता अर्जुन ने गीता में भी कही है हे भगवन्? हे कृष्ण? यह मन बहुत चँचल है, ध्यान को मथन कर देता है और पुरुष को व्याकुल कर देता है जैसे रई आदि दही को व्याकुल कर देते हैं वा जैसे मैथुन आदि शरीर को व्याकुल कर देते हैं, और यह मन बड़े बलवाला है, इसका निरोध नहीं हो सकता है और जिस अच्छे वा बुरे में मन जाय लगे। उस में से मन को हटाना कठिन है, जैसे सहत ऊपर बैठी हुई मक्खी को सहद के ऊपर से हटाना कठिन है। अर्थात् जैसे मक्खी सहद को छोड़ नहीं सकती तैसे मन भी विषयों को छोड़ नहीं सकता इससे विषयों से मन का रोकना मैं कठिन मानता हूं जैसे पवन का रोकना कठिन है तैसे विषयों से मन का रोकना बहुत कठिन है॥ १२०॥

अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि ॥
अपि वन्ह्यशनात्साधो विषमश्चित्तनिग्रहः ॥१२१॥

अर्थ—यह वसिष्ठ जी ने भी कहा है, हे राम जी? समुद्र का पी जाना और सुमेरु पर्वत का मूर्ई की नाईं उखाड़ लेना और आग का खा जाना। यद्यपि ये तीनों बड़े कार्य भी हैं ये हो जाँय, पर हे साधो? मन का रोकना बहुत कठिन है। ये तीनों सुख साध्य हैं॥ १२१॥

कथनादौ न निर्बंधः शृंखलाबद्धदेहवत् ॥
किंत्वनंतेतिहासाद्यैर्विनोदो नाट्यवद्धियः ॥१२२॥

अर्थ—और ब्रह्म अभ्यास में कुछ नियम नहीं चाहिये, जिस से ब्रह्म अभ्यास देह आदि की अनात्मरूपता और जगत् की मिथ्यारूपता चिंतन और कथन और

अन्योन्य प्रबोधनरूप है, तिससे जो इस की इच्छा होवो चिंतन आदि करे । इस ब्रह्म अभ्यास में किसी बात का नियम नहीं, जैसे शंकलों से बन्धा हुआ है शरीर जिसका उस मनुष्य का इधर उधर नजाना और एक स्थान में बैठ रहने का नियमहै, तैसे ब्रह्म अभ्यास में मन के इधर उधर न जाने का और एक जगह ही स्थित रहने का नियम नहीं, किंतु जैसे शंकलों से वे बन्धा हुआ है शरीर जिसका वह मनुष्य अपनी इच्छा पूर्वक विचरता है उसकी इच्छा होती है तो बाग बगीचे में चला जाता है, सभा की इच्छा हुइ तो सभा में चला गया बैठने की इच्छा हुई तो अपने घर में बैठरहा तैसे ब्रह्म अभ्यास में स्थित हुआ मन भी जैसे चाहे वैसे विचरे जो कहने की इच्छा हो तो देह आदि की अनात्मता और जगत् की मिथ्यारूपता कहे और जो चिंतन की इच्छा हो तो इसी अर्थ का चिंतन करे और जो प्रबोधन की इच्छा होतो इसी अर्थ का परस्पर प्रबोधन करे ब्रह्म अभ्यास में केवल नियम का ही अभाव नहीं किन्तु जैसे मेले तमाशे में देखने से बुद्धि का हर्ष प्राप्त होता है तैसे कथन आदि में अनेक पूर्व मुनीश्वर और राजाओं की ज्ञाननिष्ठा को याद करने से और अनेक प्रकार की लौकिक कथाओं के देखने तथा सुन ने से और तरह २ के दृष्टांत और अनुकूल युक्तियों के स्मरण से बुद्धि को हर्ष प्राप्त होता है ॥ १२२ ॥

चिदेवात्मा जगन्मिथ्येत्यत्रपर्यवसाकृतः ॥
निदिध्यासनविक्षेपो नेतिहासादिभिर्भवेत् ॥१२३॥

शंका—कथन आदि से एक परता का अभाव हो जायगा ।

उत्तर—आत्मा चैतन्यरूप है देह आदिरूप नहीं और जगत् मिथ्या है सत्य नहीं इस अर्थ में इतिहासों का तात्पर्य है इस से एक परतारूप निदिध्यासन में इतिहास आदि से विक्षेप नहीं होता ॥ १२३ ॥

कृषिवाणिज्यसेवादौ काव्यतर्कादिकेषु च ॥
विक्षिप्यते प्रवृत्या धीस्तैस्तत्त्वस्मृत्यसंभवात् ॥१२४॥

शंका—जो निदिध्यासन में इतिहास आदि से विक्षेप नहीं होता इस से इतिहास आदि अंगीकार करोगे तो खेती और वणज और सेवा आदि में और काव्य कोश व्याकरण न्याय मीमांसा सांख्य आदि के पठन पाठन में बुद्धि प्रवृत्त होने से विक्षिप्त होगी क्यों कि उन से तत्त्व स्मृति का अभाव होगा अर्थात् ये सब निदिध्यासन में विक्षेप करेंगे ऐसे स्वीकार करना चाहिये ।

उत्तर—जो तैंने खेती आदि कर्म कहे, उन से बुद्धि को विक्षेप प्राप्त होता है जिस से उन कर के तत्व की स्मृति नहीं रहती । इससे वे सब छोड़ दें ॥ १२४ ॥

अनुसंदधतैवात्र भोजनादौ प्रवर्तितुम् ॥
शक्यतेऽत्यंतविक्षेपाभावादाशु पुनः स्मृतेः ॥१२५॥

शंका—जो खेती आदि सब त्यागने योग्य हैं, तत्व स्मरण के विरोधी होने से तो भोजन आदि का भी त्याग करना चाहिये । क्यों कि भोजन आदि भी तत्व स्मरण के विरोधी हैं ।

उत्तर—तत्व का स्मरण करने पर भी भोजन आदि में प्रवृत्ति हो सक्ती है क्यों कि उन में अत्यन्त विक्षेप नहीं होता शीघ्र ही फिर तत्व का स्मरण हो आता है ॥१२५

तत्वविस्मृतिमात्रान्नानर्थः किंतु विपर्ययात् ॥
विपर्येतुं न कालोऽस्ति झटिति स्मरतः क्वचित् ॥१२६॥

शंका—यद्यपि भोजन आदि में प्रवृत्त रहते अत्यन्त विक्षेप नहीं तो भी तत्व की विस्मृति तो उस काल में भी होती है क्यों कि मन दश बीस तो नहीं मन तो एक है चाहे वह तत्व का स्मरण करे चाहे भोजन करे तिससे भोजन में प्रवृत्ति रहते निदिध्यासन का अभाव होगा ॥

उत्तर—यथार्थ है कि भोजन में प्रवृत्ति रहते तत्व की विस्मृति होती है, परन्तु तत्व की विस्मृतिमात्र से अनर्थ नहीं होता, किंतु अनर्थ तो विपर्यय से होता है । विपर्यय नाम जगत् में सत्यबुद्धिता और देह आदि में आत्मबुद्धिता ।

शंका—तत्व का विस्मरण होने पर विपर्यय भी होजायगा ।

उत्तर—बहुत काल तत्व का विस्मरण रहते विपर्यय होता है, और शीघ्र तत्व के स्मरण करने हारे पुरुषों को विपर्यय प्राप्त होने का कोई काल नहीं, न तो उनको देह आदि में आत्मबुद्धिरूप विपर्यय होता है, और न जगत् में सत्यबुद्धिरूप विपर्यय होता है ॥१२६॥

तत्वस्मृतेरवसरोनास्त्यन्याभ्यासशालिनः ॥
प्रत्युताभ्यासघातित्वाद्बलात्तत्वमुपेक्ष्यते ॥१२७॥

शंका—जैसे भोजन आदि में प्रवृत्त हुए को शीघ्र तत्व का स्मरण होता है, तैसे न्याय शास्त्र आदिके अभ्यास करने हारे पुरुषको भी शीघ्र तत्व का स्मरण क्यों न हो ।
उत्तर—न्याय शास्त्र आदि के अभ्यास में लगे हुए पुरुष का तत्व के स्मरण का समय

ही नहीं मिलता केवल यही बात नहीं, किंतु न्यायशास्त्र और काव्य आदि के अभ्यास का और ब्रह्म अभ्यास का परस्पर धूप और छाँह की नाई विरोध है, तिससे न्याय काव्य आदि के अभ्यास काल में दैव योग से स्मरण को प्राप्त हुआ जो तत्व है, उस का बल से अनादर करता है, उस तत्वस्मरण से न्याय काव्य आदि के अभ्यास का विरोध जान कर ॥१२७॥

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्यावाचो विमुंचथ ॥
इतिश्रुतं तथाऽन्यत्र वाचो विग्लापनंत्विति ॥१२८॥

अर्थ--तिससे ब्रह्म अभ्यास में लगा हुआ जो मनुष्य है उसको न्याय आदि का अभ्यास छोड़ देना चाहिये। जो तत्व के स्मरण का विरोधी वाणी का व्यापार है उसका त्याग करना चाहिये, इस अर्थ को मुंडक उपनिषद् की श्रुति कहती है. तहां श्रुतिः(तमेवैकं जानीथ आत्मानमन्यावाचो विमुंचथ अमृतस्यैषसेतुः अर्थ-ब्रह्म रूप जो आत्मा है उस एक को जानों और जितनी वाणी हैं अनात्मा के कहने हारी काव्य कोश व्याकरणादि रूप उनका त्याग करो आत्म ज्ञान ही मोक्ष की प्राप्ति का साधन है, उसके विना और किसी अभ्यास में लगोगे तो संसार नदी में डूब मरोगे; जैसे वर्षाकाल की नदी के पार होने को पुल साधन है पुलको छोड़ कर और रास्ते में पड़ा हुआ पुरुष डूब मरता है, और बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा है। तहाँ श्रुति। (नानुध्यायाद्बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं तत्) अर्थ--अनात्म अर्थ के जनाव ने हारे जो शब्द हैं, उनको बहुत मत पढ़ और न उनको मन से याद कर, क्यों कि उनके पढ़ने से वाणी को श्रम पहुंचता है स्मरण से मनको श्रम होता है ॥१२८॥

आहारादित्यजन्नैव जीवेच्छास्त्रांतरं त्यजन् ॥
किं न जीवसि येनैवं करोष्यत्र दुराग्रहम् ॥१२९॥

शंका—तत्वस्मरण से भिन्न भोजन आदि जैसे नहीं छोड़ते, तैसे तत्व अभ्यास से भिन्न जो काव्य कोश व्याकरण न्याय आदि का अभ्यास है, सो भी मुझको न त्यागना चाहिये, अर्थात् वह भी करना चाहिये।

उत्तर--भोजन आदि का त्याग करता हुआ मनुष्य जीवता नहीं, तू भी जो और शास्त्रों के अभ्यास का त्याग करता हुआ न जा सके तो ऐसा खोटा हठ कर, तात्पर्य यह है कि और शास्त्रों के छोड़ने से तू मरता नहीं, इससे खोटा हठ मत कर ॥१२९॥

जनकादेः कथं राज्यमिति चेद्दृढबोधतः ॥
तथा तवापि चेत्तर्कं पठ यद्वा कृषिं कुरु ॥१३०॥

शंका--जो और शास्त्रों का अभ्यास तत्त्व अभ्यास का विरोधी है तो जनक आदि ज्ञानवानों ने राज्यपालन आदि क्यों कर करे ।

उत्तर--जनक आदि को दृढ़ अपरोक्षज्ञान था इससे उनको राज्य पालन आदि विक्षेप प्राप्त न हुआ ।

शंका--मेरे को भी दृढ अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति है,

उत्तर-- जो तेरे को दृढ़ अपरोक्ष बोध है तो तू भी जो चाहे सो कर, चाहे न्याय शास्त्र आदि को पढ़ चाहे खेती कर ॥१३०॥

मिथ्यात्ववासनादार्ढ्यं प्रारब्धक्षयकांक्षया ॥
अक्लिश्यंतः प्रवर्तंते स्वस्वकर्मानुसारतः ॥१३१॥

शंका—तत्ववेत्ता तो संसार की असारता को जानने हारे हैं, उनकी राज्यपालन आदि में प्रवृत्ति क्यों होवे ।

उत्तर--तत्ववेत्ता की यह दृष्टि होती है कि प्रारब्धकर्म का फल अवश्य भोगना है तिससे हमारा प्रारब्धकर्म भिक्षा माँगने का है; तो भिक्षा मांगना है और जो राज्य का है तो राज्य करना है, तिससे जैसा प्रारब्धकर्म है तसे प्रवृत्ति होवे, व इससे भोग द्वारा प्रारब्ध कर्म के नाश वास्ते राज्य आदि में तत्ववेत्ता की प्रवृत्ति होती है; प्रारब्ध के अनुसार राज्य आदि में लगा हुआ भी तत्ववेत्ता जगत् की मिथ्यारूपताज्ञान की दृढ़ता से क्लेश को प्राप्त नहीं होता ॥१३१॥

अतिप्रसंगो मा शंक्यः स्वकर्मवशवर्तिनाम् ॥
अस्तु वा केन शक्येत कर्म वारयितुंवद ॥१३२॥

शंका--जो प्रारब्ध कर्म से राज्य आदि में तत्ववेत्ताओं की प्रवृत्ति मानोगे, तो प्रारब्ध कर्म के वश से पापों में भी प्रवृत्ति माननी चाहिये ।

उत्तर--अपने कर्म के वश वर्तने हारे जो तत्ववेत्ता हैं उनमें अतिप्रसंग की शंका न करनी चाहिये अतिप्रसंग का अर्थ पापकर्म में प्रवृत्ति ।

शंका-प्रारब्ध के वश से तत्ववेत्ता में अतिप्रसंग भी प्राप्त होगा।

उत्तर- प्रारब्धकर्म से अतिप्रसंग होता है तो हो प्रारब्ध कर्म के दूर करने को कोई भी समर्थ नहीं ॥१३२॥

ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समे प्रारब्धकर्मणी ॥
न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यान्मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः ॥१३३॥

शंका--जैसे ज्ञानी प्रारब्ध कर्म भोगता है, तैसे अज्ञानी भी प्रारब्ध कर्म भोगता है, तिससे ज्ञानी और अज्ञानी की समानता हुई, इन दोनों का भेद क्यों कर कहते हो।

उत्तर--प्रारब्धकर्म के फल भोगने में हम ज्ञानी और अज्ञानी का भेद नहीं कहते किंतु क्या कहते हैं कि ज्ञानवान् प्रारब्धकर्म को भोगता हुआ भी अपने धीरज से क्लेश को नहीं प्राप्त होता, और अज्ञानी अधैर्य से दुखी होता है ॥१३३॥

मार्गे गंत्रोर्द्वयोः श्रांतौ स मायामप्यदूरताम् ॥
जानन् धैर्याद्द्रुतं गच्छेत् अन्यस्तिष्ठति दीनधीः ॥१३४॥

अर्थ--तहाँ दृष्टांत कहते हैं, दश या पाँच कोश कोई ग्राम है उस ग्राम को दो पुरुष चले जाते हैं, उनमें से एक ग्राम के जानने हारा है और एक न जानने हारा है। उन दोनों को मार्ग के चलनेका श्रम एक जैसा है, परन्तु जो जानने हारा है वह धीरज सहित धूप आदि के दुःख से रहित हुआ चला जाता है, और न जानने हारा दीनता को प्राप्त हुआ बारंबार बैठता है मार्ग में और लोगों से पूछता है कि कितनी दूर ग्राम है कितनी दूर ग्राम है इससे धूप आदि के दुःखको अधिक प्राप्त होता है ॥१३४॥

साक्षात्कृतात्मधीः सम्यगविपर्ययबाधितः ॥
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१३५॥

अर्थ--इतने ग्रंथ से (आत्मानं चेत्) इस श्रुति के पूर्व अर्द्ध का अर्थ कहा उसका अर्थ संक्षेप से अब सुन। जब यह पुरुष यथार्थ आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त होता है, तब इस पुरुष की जगत् में सत्यता बुद्धि और देह आदि में आत्मबुद्धि नहीं रहती, अब श्रुति के उत्तर अर्द्ध के अर्थ को सुन, दृढ़ अपरोक्ष आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त हुआ जो मनुष्य है, सो पदार्थ की इच्छा करता हुआ, और किसको कामना के लिये, शरीर के ताप से ताप को प्राप्त हो अर्थात् शरीर के ताप से ताप को प्राप्त नहीं होता ॥१३५॥

जगन्मिथ्यात्वधी भावादाक्षिप्तौ काम्यकामुकौ ॥
तयोरभावे संतापः शाम्येन्निःस्नेहदीपवत् ॥१३६॥

अर्थ--अब इस आधे मंत्र के तात्पर्य को सुन। दृढ़ अपरोक्ष ज्ञानवान् पुरुष को जगत् में मिथ्याबुद्धि उदय होती है, इससे उसको कामना करने लायक कोई पदार्थ नहीं दीखता, और कामना करने हारा भी कोई प्रतीत नहीं होता, इन दोनों का अभाव रहते तापों का अभाव होजाता है, क्यों कि ताप तो कामना से ही प्राप्त होते हैं, जैसे तेल का अभाव होने पर दीपक एक निर्वाण हो जाता है ॥१३६॥

गंधर्वपत्तने किंचिन्नेंद्रजालिकनिर्मितम् ॥
जानन् कामयते किंतु जिहासति हसन्निदम् ॥१३७॥

शंका—कामना के विषयों का अभाव रहते कामना नहीं, रहती, यह बात आपने कहां देखी है।

उत्तर—मायावी पुरुष ने माया से रचा जो नगर है, उसमें अनेक प्रकार के स्थित जो पदार्थ हैं, उनको जिस पुरुष ने मिथ्या रूप जाना है, ये सब पदार्थ इंद्रजाल से रचे हुये हैं, इनमें सत्य पदार्थ कोई नहीं, ऐसे जानने हारा पुरुष उन पदार्थों की इच्छा नहीं करता, तिससे कामना के विषयों का अभाव रहते कामना का अभाव सिद्ध हुआ, केवल कामना का ही अभाव नहीं होता, किंतु उन पदार्थों को मिथ्या जानने हारा पुरुष हंसता हुआ त्याग देता है ॥१३७॥

अपातरमणीयेषु भोगेष्वेवं विचारवान् ॥
नानुरज्यति किंत्वेतान् दोषदृष्ट्या जिहसति ॥१३८॥

अर्थ—इसी तरह बिना विचार से सुन्दर जो ये विषय भोग हैं, पुष्प माला चन्दन स्त्री आदि उन में मिथ्या दृष्टि वाला जो पुरुष है सो उन पदार्थों में प्रीति नहीं करता, किन्तु दोषों के देखने से इन को छोड़ देता है ॥ १३८ ॥

अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने ॥
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः ॥१३९॥

अर्थ—वे दोष कौन से हैं विषयों में जिनको देखकर विषयों को छोड़ देता है? प्रथम धन के दोष कहते हैं, धन के एकट्ठे करने में विदेश का जाना और नीचों की सेवा करनी और झूंठ बोलना इत्यादि अनेक अनर्थ प्राप्त होते हैं, और तैसे ही धन की रक्षा करने में भी अनेक क्लेश होते हैं, धनवान् को चोर तथा राजा का डर नित्य रहता है, और उस को सभी लोक चोर दीखते हैं, इस से बड़ा पाप प्राप्त होता है। और धन की रक्षा करने में सदा दुःखी रहता है, और धन के नाश होने तथा खर्च करने में बड़ा दुःख प्राप्त होता है, इस तरह सब प्रकार से धन क्लेश का देने हारा है, इस को धिक्कार है ॥ १३९ ॥

मांसपांचालिकायास्तु यंत्रलोलेंगपंजरे ॥
स्नाय्वस्थिग्रंथि शालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥१४०॥

अर्थ—अब स्त्री के दोष और असुन्दरता सुन! नाड़ी अस्थि और ग्रन्थि अर्थात् मांस समूह रूप नितंब स्तन आदि इन्हों करके सहित जो मांस की पुतली रूप स्त्री है

उस का जो यन्त्र की नाईं चंचल स्वभाव वाला अँगरूप जो पंजर है उस शरीर में क्या कुछ सुन्दरता है अर्थात् कुछ भी नहीं, अब तात्पर्य कहते हैं, स्त्री का जो शरीर है, सो बड़ा चञ्चल है।

अर्थ—उसमें सुन्दरता कुछ नहीं है, क्यो कि वह तो माँस की एक पुतली है। नाड़ियाँ और अस्थियाँ और जो स्तन आदि स्थानों में मांस की गाँठ, हैं, इनसे रचा हुआ जो स्त्री का शरीर है; उसमें सुन्दरता कुछ नहीं है और कामरूपी सर्प से डसा हुआ जो कामी पुरुष है, सो स्त्री को बहुत सुन्दर मानता है, जैसे जिसको सर्प ने डस लिया है वह सर्पदंष्ट मिरचों को मीठी मानता है, जिन पदार्थों से स्त्री का शरीर बना है, उनको भिन्न २ देखने पर जो स्त्री का शरीर सुन्दर हो तो बेशक स्त्री के शरीर को तू देख बिना विचार से व्यर्थ क्यों मोह को प्राप्त होता है, स्त्रीका शरीर किन पदार्थों से बना है, त्वचा माँस रक्त आदि जो परम अपवित्र पदार्थ हैं, उनसे स्त्री का शरीर बना है ॥१४०॥

एवमादिषु शास्त्रेषु दोषाःसम्यक् प्रपंचिताः ॥
विमृशन्ननिशं तानि कथं दुःखेषु मज्जति ॥१४१॥

अर्थ—इत्यादि शास्त्रों में विषयों के दोष विस्तार पूर्वक अच्छी तरह से कहे हैं, उन शास्त्रों को सदा विचारने हारा पुरुष दोष वाले विषयोंमें कैसे डूबे ॥१४१॥

क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तु मिच्छति ॥
मिष्टान्नध्वस्ततृड्जानन्न मूढस्तज्जिधत्सति ॥१४२॥

अर्थ—जिस विषय में जिस पुरुष को दोष प्रतीत होता है उस विषय की उस पुरुष को इच्छा नहीं होती इसमें युक्ति सहित दृष्टाँत सुन कोई पुरुष क्षुधा से बड़ा दुखी हो और कोई उसको विष के मिले हुए लड्डु लादे और दूसरा पुरुष कहदे कि इन लड्डुओं में जहर मिला हुआ है, तो वह पुरुष क्षुधा के क्लेश को तो सहार लेगा पर उन लड्डुओं को न खायगा, और जिस पुरुष की बहुत सुन्दर मीठे अन्न से क्षुधा निवृत्त होगयी है, और अपने विवेक से जानता है कि इन मोदकों में जहर पड़ा है, सो पुरुष उन मोदकों के देखने की इच्छा नहीं करता इसका तो क्या कहना है ॥१४२॥

प्रारब्धकर्मप्राबल्याद्भोगेष्विच्छा भवेद्यदि ॥
क्लिश्यन्नेव तदाप्येष भुंक्ते विष्टिगृहीतवत् ॥१४३॥

शंका—प्रारब्धकर्म की प्रबलता से ज्ञानवान् की भी भोगों में इच्छा होती है।

उत्तर—प्रारब्धकर्म की प्रबलता से ज्ञानवान् को जो भोगों की इच्छा होती है। तो भी ज्ञानवान् क्लेश को प्राप्त हुआ भोक्ता है, अज्ञानी की नाईं प्रसन्न होता हुआ नहीं भोक्ता, जैसे बिगारी पकड़ा हुआ बिगार ढोता है पर प्रसन्नता से नहीं ढोता क्लेश से ढोता है, और मजूरी लेने हारा प्रसन्नता से ढोता है ॥१४३॥

भुंजाना वा अपि बुधाः श्रद्धावंतः कुटुंबिनः ॥
नाद्यापि कर्म नश्छिन्नमिति क्लिश्यंति संततम् ॥१४४॥

शंका—कैसे इस बात को आप जानते हो कि ज्ञानवान् भोगों को भोक्ता हुआ क्लेश पाता है, बिगारी की नाईं।

उत्तर—जो गृहस्थी ज्ञानवान् कुटुम्ब वाले और शास्त्र में श्रद्धा करने हारे हैं। वे भोगों को भोगते हुए इस प्रकार सदा दुखी होते हैं कि अब तक भी हमारा कर्म क्षीण न हुआ ऐसा लोक में नजर आता है, इससे हम जानते हैं कि ज्ञानवान् भोगों को भोक्ता हुआ दुखी होता है ॥१४४॥

नायं क्लेशोऽत्र संसारतापः किंतु विरक्तता ॥
भ्रांतिज्ञाननिदानोहि तापः सांसारिकः स्मृतः ॥१४५॥

शंका—जो तत्ववेत्ताओं को भी क्लेश होता है तो ज्ञान की व्यर्थता हुई।

उत्तर—यह जो ज्ञानवान् को क्लेश प्राप्त होता है, सो संसार ताप नहीं, किंतु भोगों में उसका वैराग्य है संसारताप वह होता है जो भ्रांति ज्ञान से हो अर्थात् विषयों में स्नेह का कारण जो ताप है सो संसार ताप है, ऐसा आचार्यों ने निर्णय किया है तिससे ज्ञानवान् को जो क्लेश है सो विवेक से पैदा हुआ है, सो संसार ताप नहीं ॥१४५॥

विवेकेन परिक्लिश्यन्नल्पभोगेन तृप्यति ॥
अन्यथाऽनंतभोगेऽपि नैव तृप्यति कर्हिचित् ॥१४६॥

शंका—यह क्लेश विवेकजन्य है, और अविवेक जन्य नहीं यह आपने कैसे जाना।

उत्तर—यह क्लेश कामना की निवृत्ति का कारण है इससे जाना जाता है कि विवेक से पैदा होता है, विवेक से क्लेश को प्राप्त होता हुआ थोड़े ही भोग करके तृप्त हो जाता है, और बिना विवेक अनंत भोगों के मिलने पर भी कदापि तृप्त नहीं होता ॥१४६॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ॥
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयएवाभिवर्द्धते ॥१४७॥

अर्थ--जैसे विवेकी पुरुष की भोगों से तृप्ति होजाती है तैसे अविवेकी पुरुष की भी भोगों से ही तृप्ति हो तिससे विवेक तृप्ति में कारण नहीं।

उत्तर--भोग तृप्ति का कारण नहीं, इस अर्थ को श्रुति कहती है कि विषयों के भोगने से चित्त कदी भी तृप्त नहीं होता, किन्तु विषयों के भोगने की कामना बढ़ती जाती है, जैसे अग्नि में आहुति गेरने से अग्नि बढ़ता है, तैसे भोगों के भोगने से तृष्णा बढ़ती है शाँत नहीं होती ॥१४७॥

परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये ॥
विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम् ॥१४८॥

अर्थ--और विवेक से भोगों को जानकर उनके भोगने पर चित्त शाँत होजाता है, जैसे चोर को जब जानले कि यह चोरी है, तब वह चोरी नहीं करता किन्तु मित्रता करता है तिससे तृष्णा वृद्धि का कारण जो भोगों का भोगना था सो विवेक के प्रभाव से तृष्णा की वृद्धि का कारण नहीं होता ॥१४८॥

मनसोनिगृहीतस्यलीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः ॥
तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद्बहु मन्यते ॥१४९॥

शंका--मनका तो स्वभाव ही है कामना करना तिससे मन थोड़े भोग करके कैसे तृप्ति को प्राप्त होता है।

उत्तर--निदिध्यासन से रुका हुआ जो मन है, उसका स्वभाव कामना करने हारा नहीं रहता, तिस कारण निदिध्यासन में स्थित जो मन है, सो थोड़े भोग से तृप्त होजाता है, उस मन को थोड़ा भी लीलारूप भोग बहुत प्रतीत होता है, जिस से विस्तार को प्राप्त नहीं हो सका तिससे क्लेश युक्त होने से थोड़े भोग को भी बहुत मानताहै और पहिले बहुत नहीं मानता था ॥१४९॥

बद्धमुक्तो महीपालो ग्राममात्रेण तुष्यति ॥
परैर्नबद्धो नाक्राँतो न राष्ट्रं बहु मन्यते ॥१५०॥

अर्थ--जैसे कोई बहुत देशका राजा हो और उस राजा को अन्य कोई राजा जीतले और क़ैद करले और पीछे से उसको एक ग्राम देवे तब वहक़ैद से छूटा हुआ राजा एक ग्राम से प्रसन्न होजाता है, और जब तक वह शत्रुओं से जीता नहीं जाता और क़ैद में नहीं पड़ता तबतक वह राजा देशको बहुत नहीं मानता, तैसे मन भ

जबतक विवेकरूप राजा ने निदिध्यासन रूप क़ैद खाने में क़ैद नहीं किया तबतक सब त्रिलोकी के भोगों से भी मन तृप्ति नहीं होता, और निदिध्यासन रूप क़ैद से छूटा हुआ थोड़े भोग को भी बहुत मानता है ॥१५०॥

विवेके जाग्रति सति दोषदर्शनलक्षणे ॥
कथमारब्धकर्मापि भोगेच्छां जनयिष्यति ॥१५१॥

शंका—पूर्व आपने कहा था कि प्रारब्ध कर्म की प्रबलता से ज्ञानवान् को भी भोगों में इच्छा होती है, सो आपका कथन अयुक्त है । क्यों कि भोगों में इच्छा का नाश करने हारा जो विवेक है उस के प्रकट रहते भोगों में इच्छा पैदा नहीं हो सकती १५१

नैषदोषो यतोऽनेकविधं प्रारब्धमीक्ष्यते ॥
इच्छाऽनिच्छा परेच्छा च प्रारब्धं त्रिविधं स्मृतम् ॥१५२॥

उत्तर—विषयों में दोषदर्शन रहते भी इच्छा की उत्पत्ति होती है । क्योंकि प्रारब्धकर्म तीन प्रकार का है एक स्वेच्छारूप है १ एक अनिच्छारूप है २ एक परेच्छा रूप है ॥ १५२ ॥

अपथ्यसेविनश्चोरा राजदाररताअपि ॥
जानंत एव स्वानर्थमिच्छंत्यारब्धकर्मतः ॥१५३॥

अर्थ—अपथ्यसेवी और चोर और राजदाररत ये तीनों अनर्थ को जानते भी हैं पर प्रारब्ध कर्म के वश से अनर्थ करने की इच्छा करते हैं इसी का नाम इच्छा प्रारब्ध है जैसे रोगी पुरुष कुपथ्य को खाता है सो स्वेच्छाप्रारब्ध है क्यों कि अपनी इच्छा से वह रोग बढ़ने के कारण में प्रवृत्त हुआ है, और चोर जानता भी है कि जो मैं चोरीकरूंगा तो पकड़ा जाऊंगा और क़ैद आदि दण्ड मुझे मिलेंगे पर फिर भी प्रारब्धकर्म के वश से चोरी करने की इच्छा करता है और राजा की स्त्री के साथ प्रीति करने हारा अपने अनर्थ को जानता भी है कि खबर होने पर मुझे सज़ा मिलेगी पर प्रारब्धकर्म के वशीभूत हो कर उसी इच्छा को करता है ॥ १५३ ॥

न चात्रैतद्वारयितुमीश्वरेणापि शक्यते ॥
यत ईश्वर एवाह गीतायामर्जुनं प्रति ॥१५४॥

शंका—अपथ्यसेवा और चोरी और जो राजा की स्त्री के साथ प्रीति करनी यह प्रारब्धकर्म का फल है यह आपने कैसे जाना ।

उत्तर—जिसले ये किसी से भी दूर नहीं किये जाते ईश्वर भी इनके दूर करने को समर्थ नहीं। इससे जाना जाता है कि इस लोक में यह प्रारब्धकर्म का फल है जिससे ईश्वर आप ही अपने मुख से अर्जुन के प्रति गीता में कहते भये हैं ॥ १५४ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ॥
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥१५५॥

अर्थ—हे अर्जुन जैसा जिसका प्रारब्ध होता है तैसी ही उसकी प्रवृत्ति है। अज्ञानियों का तो क्या कहना है, ज्ञानी भी अपने प्रारब्ध के अनुसार प्रवृत्त होता है। सब प्राणी अपने प्रारब्धकर्म को प्राप्त होते हैं उस में प्रवृत्ति के दूर करने का प्रयत्न निष्फल है ॥ १५५ ॥

अवश्यं भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यपि ॥
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः ॥१५६॥

अर्थ—तीव्र प्रारब्ध किसी से दूर नहीं होता इस में और वचन की सम्मति कहते हैं, अवश्य भोग ने के योग्य जो सुख दुःख हैं। वे जो कभी दूर होते तो राजा नल और रामचन्द्र और राजा युधिष्ठिर दुःख न पाते ॥ १५६ ॥

न चेश्वरत्वमीशस्य हीयते तावता यतः ॥
अवश्यं भाविताऽप्येषामीश्वरेणैव निर्मिता ॥१५७॥

शंका—जो प्रारब्धकर्म के निवारण करने को ईश्वर समर्थ नहीं। तो ईश्वर को अनीश्वरता प्राप्त हुई, जिस से ईश्वर का लक्षण ईश्वर में न घटा। ईश्वर का लक्षण यह है कि जो करने को और न करने को और अन्यथा करने को समर्थ हो सो ईश्वर कहाता है, तिससे इस लक्षण का अभाव होने से ईश्वर को अनीश्वरता प्राप्त हुई।

उत्तर—प्रारब्धकर्म के न दूर करने से ईश्वर को अनीश्वरता की प्राप्ति नहीं होती। जिस कारण प्रारब्धकर्म की अवश्यभाविता भी ईश्वर ने रची है अपने किये को आप कैसे दूर करे जो अपने किये को आप दूर करे तो ईश्वर का महत्व दूर हो हो जाय, लोक में भी जो अपने किये को आप नहीं पालता उस पुरुष का महत्व नहीं रहता ॥१५७॥

प्रश्नोत्तराभ्यामेवैतद्गम्यतेऽर्जुनकृष्णयोः ॥
अनिच्छापूर्वकं चास्ति प्रारब्धमिति तच्छृणु ॥१५८॥

अर्थ—गीता में अर्जुन के प्रश्न और भगवान् के उत्तर करके अनिच्छाप्रारब्ध जाना जाता है सो जिस प्रकार अर्जुन का प्रश्न है और भगवान् का उत्तर है सो सुन॥ १५८॥

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापंचरति पूरुषः ॥
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥१५९॥

अर्थ—हे वृष्णि वंश में अवतार को प्राप्त भगवन् कृष्ण यह पुरुष किस कर के प्रेरा हुआ पापकी इच्छा को न करताहुआ भी पाप को करता है जैसे राजा का नौकर राजा करके प्रेरा हुआ किसी पुरुष के अनादर करने की इच्छा उसकी नहीं भी है पर अनादर करता है मेरे इस प्रश्न का उत्तर कहो ॥१५८॥

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ॥
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥१६०॥

अर्थ—श्री भगवान् कहते हैं, पुरुष की पापों में प्रवृत्ति कराने हारा. यह काम है और यह काम ही किसी एक निमित्त से क्रोधरूप हो जाता है जैसे किसी पुरुष को किसी से दश रुपये लेने की इच्छा हुई और उसने उसको दश रुपये न दिये तब वह पुरुष क्रोधित होता है तिस से काम ही क्रोधरूप को प्राप्त हुआ सो काम रजोगुण से पैदा होता है और विषयरूप बहुत जिसका भोजन है किसी विषय से भी तृप्त नहीं होता जैसे अग्नि आहुतियों से तृप्त नहीं होता और यह काम बड़े पापों का कारण है तिस से काम को मोक्षमार्ग में वैरी जान इस प्रश्न उत्तर से अनिच्छाप्रारब्ध प्रतीत होता है क्यों कि इच्छा से बिना ही पुरुष की प्रवृत्ति कहीं है। १६० ॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ॥
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥१६१॥

शंका—भगवान् के उत्तर में काम क्रोध को पुरुष प्रवृत्ति की कारणता प्रतीत होती है अनिच्छाप्रारब्ध को पुरुष प्रवृत्ति की कारणता नहीं प्रतीत होती।

उत्तर—प्रारब्धकर्म को पुरुषप्रवृत्ति में कारणता कथन करने हारे .गीता वाक्य को सुन। हे अर्जुन ? अपना जो प्रारब्ध कर्म है उस से बन्धा हुआ जिस के करने की इच्छा नहीं करता प्रारब्धकर्म के आधीन हुआ अविवेक से उसे भी करेगा जिससे प्रारब्धकर्म शरीर के साथ पैदा हुआ है तिससे अनिच्छा प्रारब्ध सिद्ध हुआ ।१६१॥

नानिच्छंतो नचेच्छंतः परदाक्षिण्यसंयुताः ॥
सुखदुःखे भजंत्येतत्परेच्छापूर्वकर्म हि ॥१६२॥

अर्थ--अब परेच्छा प्रारब्ध सुन किसी पुरुष के यहां विवाह आदि कार्य होता है, तब वह अपने भाई चारे को एकट्ठा करता है उनमें जो मुख्य होता है उसको सब काम सौंप देता है सो पुरुष उस काम में लगा हुआ सुख दुःख पाता है यह सुख दुःख की प्राप्ति उसको अपनी इच्छा और वे इच्छा से नहीं हुई किन्तु जिसके यहां विवाह है उसकी इच्छा से है तिससे यह जो कर्म है से परेच्छा कर्म है इसी कारण से विषयों में दोषादर्शन के रहते भी प्रारब्ध के हटाने का कोई भी समर्थ नहीं होता, तिससे प्रारब्ध कर्म इच्छा को उत्पन्न कर देता है ॥१६२॥

कथं तर्हि किमिच्छन्नित्येवमिच्छा निषिध्यते ॥
नेच्छानिषेधः किंत्विच्छा बाधोभर्जितबीजवत् ॥१६३॥

शंका--जो तत्ववेत्ता को भी तुम इच्छामानते हो तो इच्छा के निषेध करने हारी जो (किमिच्छन्) यह श्रुति है इसका विरोध आवेगा।

उत्तर--श्रुति इच्छा के अभाव को नहीं कहती किन्तु क्या कहती है तत्ववेत्ता को इच्छा होती हैं परउसकी इच्छा सफल प्रवृत्तिवाली नहीं होती श्रुति यह कहती है उस में दृष्टान्त सुन जैसे भुना हुआ बीज अंकुर को पैदा नहीं करता तैसे तत्ववेत्ता।१६३। की इच्छा जन्मों को नहीं देती, क्यों कि उस को सब पदार्थों में मिथ्या ज्ञान होता है ॥१६४॥

भर्जितानि तु बीजानि संत्यकार्यकराणि च ॥
विद्वदिच्छा तथेष्टव्याऽसत्त्वबोधान्न कार्यकृत् ॥१६४॥
दग्धबीजमरोहेऽपि भक्षणायोपयुज्यते ॥
विद्वदिच्छाऽप्यल्पभोगं कुर्यान्न व्यसनं बहु ॥१६५॥

शंका--तत्व वेत्ता विषयक इच्छा न माननी चाहिये। क्योंकि उसका फल कुछ नहीं।

उत्तर--तत्व वेत्ता की इच्छा फल से रहित नहीं। तत्काल भोगरूप फलके देने वाली है। जैसे भुना अन्न वे उगे हुए भी पेट को भर देता है। तैसे ज्ञानवान् की इच्छा अल्पभोगरूप कार्य को कर देती है। और बहुत व्यसनं नहीं करती। (व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपजे)

अर्थ—व्यसन शब्द एक तो विपद १ और भ्रंश २ और काम और क्रोध से पैदा हुआ जो विकार इन चार अर्थों में वर्ते है ; अर्थात् ज्ञानवान् इच्छा से देह आदि में अध्यास को नहीं प्राप्त होता , और ,ब्रह्मानन्द के अनुभव से रहित नहीं होता। और कामजन्य दोष से वर्ण आश्रम की मर्यादा को नहीं छोड़ता , और क्रोध से अन्य जीवों के प्राणों को नष्ट नहीं करता ॥ १६५ ॥

भोगेन चरितार्थत्वात्प्रारब्धं कर्म हीयते ॥
भोक्तव्यसत्यता भ्रांत्या व्यसनं तत्र जायते ॥१६६॥

शंका—प्रारब्धकर्म ही भोग द्वारा व्यसन को भी उत्पन्न कर देगा।
उत्तर—प्रारब्धकर्म का स्वभाव भोग देने का है व्यसन को उत्पन्न करने कानहीं।
शंका—जो प्रारब्ध कर्म व्यसन को पैदा नहीं करता तो कौन पैदा करता है।
उत्तर—भोग पदार्थ में जो सत्यता भ्रम है, सो व्यसन को पैदा करता है।१६६

मा विनश्यत्वयं भोगो वर्धतामुत्तरोत्तरम् ॥
मा विघ्नाः प्रतिबध्नंतु धन्योऽस्म्यस्मादिति भ्रमः ॥१६७॥

अर्थ—अब व्यसन का हेतु जो भ्रम है उसे दिखाते हैं, यह भोग नष्ट मत हो और दिन २ बढ़ता जाय, और इन को कोई विघ्न प्राप्त न हो इसी से मैं धन्य हूं अर्थात् इन भोगों से ही मैं बड़ाई को प्राप्त हुआ हूं ऐसा जो भ्रम है, उस से व्यसन पैदा होता है ॥ १६७ ॥

यदभावि न तद्भावि भाविचेन्न तदन्यथा ॥
इति चिंताविषघ्नोयं बोधो भ्रमनिर्वतकः ॥१६८॥

अर्थ—अब प्रसंग से इस भ्रम के नाश का जो साधन है उसे कहते हैं , जो नहीं होने हारा सो कभी नहीं होता और जो होनहार है सो दूर नहीं होता ऐसा जो ज्ञान है सो यह जो चिंता है कियह इष्ट पदार्थ मुझे कब मिलेगा और यह दुःख मेरा कब दूर होगा सोई हुई विष उस के नाश करने हारा है , जैसे कोई मनुष्य जहर के खाने से मर जाता है , तैसे चिंता भी विषरूप कहाती है , उस चिंतारूप विष के नाश करने हारा जो बोध है, सो भ्रम के नाश करने हारा है ॥ १६८ ॥

समेऽपि भोगे व्यसनं भ्रांतोगच्छेन्न बुद्धवान् ॥
अशक्यार्थस्य संकल्पाद्भ्रांतस्य व्यसनं बहु ॥१६९॥

शंका—ज्ञानवान् को भोग भोगते हुये भी व्यसन नहीं होता और अज्ञानी को व्यसन होता है , इस बात को तुमने कैसे जाना ।

उत्तर—ज्ञानवान् को जगत् में मिथ्याज्ञान होता है तिस से उस को व्यसन पैदा नहीं होता है, और अज्ञानी को जगत् में सत्यरूपता ज्ञान है तिस से अज्ञानी को व्यसन पैदा होता है, तात्पर्य यह है कि जिस को भ्रम है उस को व्यसन होता है और भोगमात्र से व्यसन नहीं होता ज्ञानी को भ्रम नहीं है तिस से व्यसन भी नहीं होता और अज्ञानी को भ्रम है, तिस से व्यसन होता है, भ्रम व्यसन का कारण कैसे है? भ्रम करके अशक्य अर्थों का संकल्प उदय होता है अज्ञानको तिस से वह व्यसन को प्राप्त होता है, और विवेकी को अशक्य अर्थों का संकल्प नहीं होता तिस से उस को व्यसन कैसे हो॥ १६९॥

मायामयत्वं भोगस्य बुद्ध्वाऽऽस्थामुपसंहरन्॥
भुंजानोऽपि न संकल्पं कुरुते व्यसनं कुतः॥१७०॥

अर्थ—ज्ञानवान् सब भोग्य पदार्थों को मिथ्या जान कर उन में आस्था का त्याग कर देता है, इस से भोक्ता हुआ भी भोगों के संकल्प को नहीं करता तिस से उस को व्यसन कैसे हो॥ १७०॥

स्वप्नेन्द्रजालसदृशमचिंत्यरचनात्मकम्॥
दृष्टनष्टं जगत्पश्यन् कथं तत्रानुरज्यते॥१७१॥

अर्थ—भोगपदार्थों को मिथ्या जानने पर भी उन को तत्काल सुख का हेतु होने से उन में आस्था का अभाव नहीं बनता।

उत्तर—भोगों में अनेक प्रकार के दोषों के देखने से ज्ञानवान् की उनमें आस्थानहीं रहती जिस से ज्ञानवान् सब भोग्यपदार्थों को स्वप्न और इंद्रजाल के पदार्थों के तुल्य देखता है जैसे मदारी के बनाये हुए पदार्थ अचिंत्य रचनारूप हैं और देखते २ ही नष्ट होजाते हैं, तैसे सब पदार्थ अचिंत्यरचनारूप हैं, और देखते २ नष्ट होजाते हैं ऐसे जानता हुआ ज्ञानवान् जगत् के पदार्थों में आस्था नहीं करता आस्था नाम प्रीति का है॥१७१॥

स्वस्वप्नमपारोक्ष्येण दृष्ट्वा पश्यन् स्वजागरम्॥
चिंतयेदप्रमत्तः सन्नुभावनुदिनं मुहुः॥१७२॥

शंका—जाग्रत् के पदार्थों में स्वप्न और इंद्रजाल की सदृशता का ज्ञान रहते उनमें आस्था का अभाव हो स्वप्न और इंद्रजाल की सदृशता का ज्ञान किसको होता है।

उत्तर—जाग्रत् के पदार्थों में स्वप्न और इंद्रजाल के पदार्थों की सदृशता के ज्ञान का कारण सुन. जिस समय पुरुष सोता उठे उस समय यह विचार करे स्वप्न

में जैसे पदार्थ प्रतीत होते हैं अपरोक्षरूपता से तैसे जाग्रत् के पदार्थ भी अपरोक्ष रूपता से प्रतीत होते हैं तिससे जाग्रत् और स्वप्न इन दोनों को वार २ विचारे ॥१७२॥

चिरं तयोः सर्वसाम्यमनुसंधाय जागरे ॥
सत्यत्वबुद्धिं संत्यज्य नानुरज्यति पूर्ववत् ॥१७३॥

अर्थ--चिरकाल पर्यन्त जाग्रत् और स्वप्न के पदार्थों की तुल्यता को देखकर जाग्रत् के पदार्थों में सत्यता बुद्धि को त्याग कर अज्ञान दशा की नाईं जाग्रत् के पदार्थों में रागद्वेष नहीं करता ॥१७३॥

इंद्रजालमिदं द्वैतमचिंत्यरचनात्वतः ॥
इत्यविस्मरतो हानिः का वा प्रारब्धभोगतः ॥१७४॥

शंका--जगत् में जो मिथ्यारूपता का ज्ञान है और प्रारब्धकर्म का जो भोग है, इन दोनों का परस्पर विरोध है, क्यों कि प्रारब्धकर्म तो जगत् की सत्ता को चाहता है तिससे जगत् में मिथ्यारूपता का ज्ञान रहते प्रारब्धकर्म से भोगसिद्धि नहीं बनती।

उत्तर--भोग विषयों की सत्यता को नहीं चाहता इससे तत्वज्ञान का और प्रारब्ध का विरोध नहीं यह सब जगत् इंद्रजाल में प्रतीत होते जो पदार्थ हैं, उन की नाईं मिथ्या है, जिससे इनकी उत्पत्ति का स्वरूप नहीं चिंतन किया जाता इस प्रकार जिसको जगत् की मिथ्यारूपता कहीं भी नहीं विस्मृत होती अर्थात् जो जगत् की मिथ्यारूपता को कहीं भी नहीं भूलता, उस पुरुष की प्रारब्धकर्म के भोग से कुछ हानि नहीं तात्पर्य यह कि ज्ञानवान् को सुख दुःख के अनुभव से जगत् की मिथ्या रूपता का अभाव नहीं होता, और जगत् की मिथ्यारूपता जानने से प्रारब्धकर्म का जो फल है सुख दुःख उनका अभाव नहीं होता जिससे इन दोनों का विषय भिन्न २ है अर्थात् प्रारब्ध का विषय तो यह है कि जीव को सुख दुःख देना और तत्वज्ञान का विषय यह है कि जगत् को मिथ्या जना देना ॥१७४॥

निर्बंधस्तत्त्वविद्याया इन्द्रजालत्वसंस्मृतौ ॥
प्रारब्धस्याग्रहो भोगे जीवस्य सुखदुःखयोः ॥१७५॥

अर्थ--ब्रह्मज्ञान का इतने मात्र में आग्रह है, कि मैंने जगत् को मिथ्या दिखलाना इंद्रजाल की नाईं और जीव के सुखदुःखरूप भोग दूर करने में हठ नहीं और प्रारब्धकर्म का जीव को सुख दुःख भुगावने में हठ है और इस बात में उसका हठ नहीं कि जगत् को सत्य करना ॥१७५॥

विद्यारब्धे विरुध्येते न भिन्नविषयत्वतः ॥
जानद्भिरप्यैन्द्रजाल विनोदो दृश्यते खलु ॥१७६॥

अर्थ—जिससे इनका विषय भिन्न है, तिससे ब्रह्मविद्या का और प्रारब्धकर्म का विरोध नहीं, रसना और घ्राण की नाईं, जैसे एक शरीर में रसना और घ्राण रहते हैं उनका विरोध नहीं रसना रसको ग्रहण करती है, और गंध को नहीं, और घ्राण इंद्रिय गँध ग्रहण करता है, रस को नहीं।

शंका—भोगने योग्य पदार्थों में जो मिथ्यारूपता का ज्ञान है, सो सुख दुःख के भोग को दूर नहीं करता यह बात तुमने कहाँ देखी है।

उत्तर—हमने इंद्रजाल से रचे हुए पदार्थों में मिथ्यारूपता का ज्ञान रहते हर्ष शोकरूप भोग देखा है, तात्पर्य यह है कि दो पुरुष मदारी के तमाशे को देखने लगे, और वे जानते हैं कि यह सब जाल है, और उसने एक पुरुष को एक मोहर दी और कहा कि इसको बेचला में तुझे एक रुपया दूंगा, वह पुरुष इस बात को सुनकर बहुत राजी हुआ दूसरे पुरुष के कपड़ों में जब आग लगाई तब वह दुखी हुआ, जैसे यहां मोहर का देना और आग का लगाना मिथ्या हैं, पर हर्ष शोक को देते हैं; तैसे ज्ञानवान् को मिथ्यारूप पदार्थ भी सुख दुःख देते हैं ॥१७६॥

जगत्सत्यत्वमापाद्य प्रारब्धं भोजयेद्यदि ॥
तदा विरोधि विद्याया भोगमात्रान्न सत्यता ॥१७७॥

अर्थ—कुछ और सुन, जो प्रारब्धकर्म प्रथम जगत् की सत्ता को सिद्ध कर जीव के भोग भुगावे तो विद्या का विरोधि हो सो ऐसा तो प्रारब्धकर्म नहीं करता। और केवल भोग से जगत् की सत्यता नहीं बनती, तात्पर्य यह है कि प्रारब्धकर्म और ब्रह्मविद्या का विरोध है, ऐसे कहने वाले से हम पूछते हैं, कि प्रारब्ध कर्मब्रह्मविद्या का नाश करने द्वारा है अथवा ब्रह्मविद्या प्रारब्धकर्म के नाश करने द्वारा है प्रथम पक्ष तो नहीं बनता, प्रारब्धकर्म ब्रह्मविद्याके नाश करने द्वारा तबहो जब जगत्की सत्ता को पहिले सिद्ध करके जीव को भोग भुगावे सो ऐसा तो प्रारब्धकर्म नहीं करता, किंतु जीव को भोग मात्र देता है. और जगत् की सत्ता को नहीं बनावता इससे प्रारब्ध कर्म ब्रह्म विद्या का विरोधी नहीं।

शंका—भोग के बल से ही भोगने योग्य पदार्थों की सत्यता भी हो।

उत्तर—भोगमात्र से भोगने योग्य पदार्थों की सत्यता नहीं होती, क्योंकि इस

में दृष्टाँत कोई नहीं है, और मिथ्या पदार्थों से भोग होता है इस में अनेक दृष्टाँत हैं भोगकार अर्थ सुख दुःख का अनुभव ॥ १७७ ॥

अबूनो जायते भोगः कल्पितैः स्वप्नवस्तुभिः ॥
जाग्रद्वस्तुभिरप्येवमसत्यैर्भोग इष्यताम् ॥१७८॥

शंका—मिथ्या पदार्थों से भोग होता है इस में भी दृष्टाँत कोई नहीं।

उत्तर—जैसे मिथ्यारूप स्वप्न के पदार्थों से भोग सिद्ध होताहै, तैसे जाग्रत् अवस्था के पदार्थों से भी भोग सिद्ध होता है, जाग्रत् और स्वप्न के भोग में कुछ न्यूनता और अधिकता नहीं है मिथ्या जो सीपी का रूप है उस से हर्ष शोक फलरूप भोग दीखता है मिथ्या जो रस्सी में सर्प है उससे डररूप भोग दीखता ॥ १७८ ॥

यदि विद्याऽपन्हुवीत जगत्प्रारब्धघातिनी ॥
तदास्यान्न तु मायात्वबोधेन तदपन्हवः ॥१७९॥

अर्थ—जो कहो कि ब्रह्मविद्या प्रारब्ध के नष्ट करने हारी है तो यह भी वार्ता नहीं बनती। जो भोगने योग्य जगत् के पदार्थों को दूर करे जैसे सीपी में रूपे के भ्रम से अनन्तर यह रूपा नहीं यह ज्ञान रूपे के स्वरूप को दूर कर देता है तो ब्रह्मविद्या प्रारब्ध के नाश करने हारी हो सो तो ब्रह्मविद्या जगत् के स्वरूप का नाश नहीं करती किन्तु मिथ्यात्व को बताती है। इस से प्रारब्ध का नाश करने हारी ब्रह्मविद्या नहीं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मविद्या प्रारब्ध के नाश करने हारी तब हो जब भोगने योग्य जगत् के पदार्थों को दूर करे जैसे सीपी में रूपे के भ्रम से अनन्तर यह रूपा नहीं यह ज्ञान रूपे के स्वरूप को दूर कर देता है तैसे ब्रह्मविद्या भी भोगने योग्य पदार्थों के स्वरूप को जो दूर करे तो प्रारब्धकर्म का जो भोग है सुख दुःखका अनुभव उसके साधन के अभाव होने से, प्रारब्ध के नाश करने हारी हो तो ब्रह्मविद्या जगत् के स्वरूप को नाश नहीं करती किन्तु जगत् की मिथ्यारूपता को जनावतीहै तिससे ब्रह्मविद्या प्रारब्ध कर्म के नाश करने हारी नहीं।

शंका—जिससे ब्रह्मविद्या जगत् को मिथ्या रूप जनाती है तिसी से जगत् के स्वरूप को भी नाश करो।

उत्तर—ब्रह्मविद्या जगत् को मिथ्यारूप ही जनाती है, और उसके स्वरूप को नाश नहीं करती जैसे मदारी के रचे हुये पदार्थों को तत्त्वज्ञान मिथ्या जनाता है और तत्त्वज्ञान उन के स्वरूप का नाश नहीं करता ॥ १७९ ॥

अनपन्हुत्य लोकास्तदिन्द्रजालमिदंत्विति ॥
जानंत्येवानपन्हुत्य भोगं मायात्वधीस्तथा ॥१८०॥

अर्थ—और मदारी के कौतुक को देखने वाले जो मनुष्य हैं वे उन पदार्थों के स्वरूप को दूर किया चाहते और उनको झूठा जान लेते हैं, तैसे ब्रह्मविद्या भोगने योग्य पदार्थों के स्वरूप को दूर नहीं करती किन्तु जगत् को झूठा जना देती है ॥ १८० ॥

यत्रत्वस्य जगत्स्वात्मा पश्येत्कस्तत्र केन किम् ॥
किं जिघ्रेत् किं वदेद्वेति श्रुतौ तु बहुघोषितम् ॥१८१॥

शंका—(श्रुति का सहारा लेकर) तहाँ श्रुति (सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येदित्यादि श्रुतिः) अर्थ—श्रुति यह वार्ता कहती है कि जिस अवस्था में ज्ञानवान् को सब जगत् आत्मारूप हो जाता है। उस अवस्था में किस नेत्र इंद्रिय से किस वस्तु को देखे। इस तरह द्रष्टा दर्शन दृश्य के अभाव को बोधन करती है इस से मालूम होता है कि ब्रह्मविद्या उत्पन्न हुई जगत् के स्वरूप का नाश कर देती है। त्रिपुटी का अभाव रहते ज्ञानवान् को प्रारब्ध कर्म का भोग सिद्ध नहीं होता। इसी तरह किस घ्राण इंद्रिय से कौन किस गंध को संघे। और किस वाक् इंद्रिय से किस वचन को कहे किस श्रोत्र इंद्रिय से किस वचन को सुने इसी तरह सब त्रिपुटियों का अभाव जानना। इस प्रकार श्रुति में बहुत बार कहा है ॥१८१॥

तेनद्वैतमपन्हुत्य विद्योदेति न चान्यथा ॥
तथा च विदुषो भोगः कथं स्यादिति चेच्छृणु ॥१८२॥

अर्थ—तिस से यह जाना जाता है कि ब्रह्म विद्या पैदा हुई द्वैत के स्वरूप का नाश करती है बिना द्वैत के नाश किये ब्रह्म विद्या उदय नहीं होती द्वैत का नाश होने पर ज्ञानवान् को प्रारब्ध भोग सिद्ध नहीं होता ॥१८२॥

सुषुप्तिविषया मुक्ति विषया वा श्रुतिस्त्विति ॥
उक्तंस्वाप्ययसंपत्त्योरिति सूत्रे ह्यतिस्फुटम् ॥१८३॥

उत्तर—तैंने जो श्रुति कही है उसका अर्थ तेरे को नहीं आता जिस कारण से सूत्रकार भगवान् व्यासदेव जी इस श्रुति का अर्थ कहते भये हैं सो सुन। पुरुष सुषुप्ति अवस्था में और विदेह मुक्ति अवस्था में किसी इन्द्रिय से किसी विषय को नहीं जानता ॥ १८३ ॥

अन्यथा याज्ञवल्क्यादेराचार्यत्वं न संभवेत् ॥
द्वैतदृष्टा च विद्वत्ता द्वैतादृष्टौ न वाग्भवेत् ॥१६४॥

अर्थ—और जो इस श्रुति को इन दोनों अवस्थाओं में द्वैत के अभाव कथन पर न मानों किन्तु ज्ञानवान् को द्वैत के दर्शन के अभाव कथन पर मानों तो याज्ञवाल्क्य आदि को आचार्यता न बनेगी क्योंकि याज्ञवल्क्य को द्वैत नजर आता है अब याज्ञवल्क्य को अद्वैत ज्ञान न भया तो आचार्य कैसे होगा। और जो कहो याज्ञवल्क्य आदि द्वैत को नहीं देखते तो उपदेश के योग्य शिष्य की प्रतीति का अभाव होने से गुरू का उपदेश किसके प्रति होगा जब शिष्य की प्रतीति हो तब उपदेश बने उपदेश का अभाव रहते ब्रह्म विद्या की संप्रदाय का अभाव होगा ॥ १८४ ॥

निर्विकल्पसमाधौ तु द्वैतादर्शनहेतुतः ॥
सैवापरोक्षविद्येति चेत्सुषुप्तिस्तथा न किम् ॥१८५॥

शंका—याज्ञवल्क्य आदि को आचार्यता समय में विद्यमान जो ज्ञान है उस को ब्रह्मविद्यारूपता तो है परन्तु अपरोक्ष ब्रह्मविद्या रूपता नहीं द्वैत की प्रतीति होने से और अब वे निर्विकल्प समाधि में स्थित होते हैं, तब द्वैत की प्रतीति के अभाव होता है उनको द्वैत की प्रतीति के अभाव कानाम ब्रह्मविद्या है।

उत्तर—जो द्वैत की प्रतीति के अभाव का नाम अपरोक्ष ब्रह्मविद्या है ऐसा मानेगा तो सुषुप्ति में द्वैत की प्रतीति का अभाव होता है। तिस से सुषुप्ति अपरोक्ष ब्रह्मविद्या होनी चाहिये ॥ १८५ ॥

आत्मतत्त्वं न जानाति सुप्तौ यदि तदा त्वया ॥
आत्मधीरेव विद्येति वाच्यं न द्वैतविस्मृतिः ॥१८६॥

शंका—मैं केवल द्वैत की प्रतीति के अभाव का नाम अपरोक्ष ब्रह्मविद्या नहीं कहता किन्तु आत्मज्ञान और द्वैतप्रतीति का अभाव इन दोनों का नाम मैं अपरोक्ष ब्रह्मविद्या कहता हूं; तिस से सुषुप्ति को ब्रह्मविद्यारूपता नहीं।

उत्तर—द्वैत की प्रतीति का अभाव रहते भी सुषुप्ति में आत्मज्ञान के अभाव से जो सुषुप्ति को अपरोक्ष ब्रह्मविद्या नहीं तो आत्मज्ञान को अपरोक्ष ब्रह्मविद्या रूपता माननी चाहिये और द्वैत की न प्रतीति होने का नाम अपरोक्ष ब्रह्मविद्या न कहना चाहिये ॥१८६॥

उभयं मिलितं विद्या यदि तर्हि घटादयः ॥

अर्धविद्याभाजिनः स्युः सकलद्वैतविस्मृतेः ॥१८७॥

शंका—एक २ को अपरोक्षब्रह्मविद्यारूपता नहीं, किंतु द्वैत का न प्रतीत होना और आत्मज्ञान इन दोनों मिल हुए का नाम अपरोक्षब्रह्म विद्या है,

उत्तर—तेरे मत में द्वैत की प्रतीति न होनी आधी विद्या तो यह है और आधी विद्या आत्मज्ञान है घट आदि को आत्मज्ञान नहीं और द्वैतप्रतीति का अभाव है, तिससे वे भी आधी विद्या वाले होने चाहिये जिससे उनको कदाचित् भी किसी प्रकार का द्वैत नहीं होता ॥१८७॥

मशकध्वनिमुख्यानाँ विक्षेपाणां बहुत्वतः ॥

तवविद्या तथा न स्याद् घटादिनां यथा दृढा ॥१८८॥

अर्थ—और तेरेमत में समाधि वाले पुरुषों को आधी ब्रह्मविद्या भी न होनी चाहिये क्यों कि उनको मच्छर के शब्द से आदि लेकर विक्षेप बहुत हैं और घट आदि को कोई विक्षेप नहीं है, इस वास्ते तेरे मत में उनको द्वैत की प्रतीति के अभाव की दृढ़ता से आधी ब्रह्मविद्या होनी चाहिये ॥१८८॥

आत्मधीरेव विद्ये ति यदि तर्हि सुखी भव ॥

दुष्टचित्त' निरुंध्याच्चेन्निरुंधित्वं यथासुखम् ॥१८९॥

शंका—आत्मज्ञान ही ब्रह्मविद्या है द्वैत की अप्रतीति विद्या नहीं।

उत्तर—यह वार्ता तो इष्ट है, तिससे इस निश्चय को धार कर सुखी हो।

शंका—आत्मज्ञान ही विद्या है परंतु सो दुष्टचित्त में पैदा नहीं होती इस कारण चित्त के दोषों को दूर करने के लिये चित्त वृत्ति को रोकना चाहिये मैं ऐसे कहता हुं।

उत्तर—जो तेरा चित्त दुष्ट है तो चित्त को सुखपूर्वक रोक हमको भी यह वार्ता इष्ट है ॥ १८९ ॥

तदिष्टमेष्टव्यमायामयत्वस्यं समीक्षणात् ॥

इच्छन्नप्यज्ञवन्नेच्छेत्किमिच्छन्निति हि श्रुतम् ॥१९०॥

अर्थ—जिस कारण चित्त के दोष दूर होने पर अद्वितीय आत्मज्ञान के लिये जानने योग्य जो जगत् की मिथ्यारूपता है सो अच्छीतरह जानी जाती है इस से चित्त का निरोध हमारे को भी इष्ट है इस प्रकार किसकी इच्छा करता हुआ इस मन्त्र के अंश से कहने योग्य जो अर्थ था सो कहा। अब उसके अर्थ का समाप्ति करते हैं

तिस से यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानवान् इच्छा करता हुआ भी अज्ञानी की नाईं इच्छा नहीं करता इस कारण कि मिच्छन् यह श्रुति ने कहा है ॥ १८० ॥

रागो लिंगमबोधस्य संतु रागादयोबुधे ॥
इति शास्त्रद्वयं सार्थमेवं सत्यविरोधतः ॥१९१॥

शंका—श्रुति के अक्षरों का अर्थ तो यह प्रतीत हुआ था कि ज्ञानवान् किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करता उस अर्थ को छोड़ कर जो आपने यह अर्थ किया कि ज्ञानवान् इच्छा करता हुआ भी अज्ञानी की नाईं इच्छा नहीं करता इस में क्या कारण है

उत्तर—इस प्रकार व्याख्यान करने में इन दोनों शास्त्रों का विरोध परस्पर नहीं आता एक शास्त्र ज्ञानवान् को राग आदि के अभाव के कहने हारा है सो यह है (रागो लिंगमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु ॥ कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः

अर्थ—चित्त की प्रवृत्ति का स्थान जो विषय हैं उन में राग है सो अज्ञान का चिन्ह है विषयों में जो राग वाले चित्त को ज्ञान नहीं होता जैसे जिस वृक्ष की खोड़ में अग्नि है उस में हरयाई नहीं होती ॥१॥ और दूसरा शास्त्र ज्ञानवान् को राग आदि का कहने हारा है सो यह है (शास्त्रार्थस्य समाप्तत्वान्मुक्तिः स्यात्तावता मितेः रागादयः सँतु कामं न तद्भावोऽपराध्यते ॥२॥

अर्थ—जगत् के मिथ्या के जानने से आत्मा को असंग निर्विकारता जानने से शास्त्र का उपदेश समाप्त होजाता है, अर्थात् आगे शास्त्र का उपदेश करने योग्य कुछ नहीं रहता इतने मात्र से मोक्ष की प्राप्ति होजाती है और रागद्वेष आदि चित्त में जैसे हैं तैसे रहो, उनसे मोक्ष का अभाव नहीं होता, जो शास्त्र तत्ववेत्ता को राग कहता है, उसका अर्थ यह है कि अज्ञानी की नाईं ज्ञानवान् को रागद्वेष दृढ़ नहीं होता किंतु रागाभास होता है, और जो शास्त्र राग के अभाव को कहता है उसका अर्थ यह है कि ज्ञानवान् को जगत् की सत्ता लेकर राग नहीं होता इस प्रकार दोनों शास्त्रों का अविरोध होजाता है ॥१९१॥

जगन्मिथ्यात्ववत्स्वात्मा संगत्वस्य समीक्षणाद् ॥
कस्यकामायेति वचो भोक्त्रभावविवक्षया ॥१९२॥

अर्थ—इस प्रकार इतने ग्रंथ से किमिच्छन् इस श्रुति वाक्य का अर्थ कहा। आगे कस्य कामाय इस वाक्य का अर्थ कहते हैं जैसे ज्ञानवान् को जगत् में मिथ्या रूपता का ज्ञान होता है उससे कामना करने योग्य पदार्थ कोई नहीं रहता इस अर्थके

जनावने वास्ते किमिच्छन् यह कहा इसी प्रकार आत्मा की असंगता के ज्ञान से वास्तव भोक्ता कोई नहीं रहता इस अर्थ के जनावने वास्ते श्रुति ने किस की कामना के लिये यह कहा ॥ १९२ ॥

पतिजायादिकं सर्वं तत्तद्भोगाय नेच्छति ॥
किंत्वात्मभोगार्थमिति श्रुतावुद्घोषितं बहु ॥१९३॥

शंका—आत्मा को भोक्ता रूपता का निषेध तब बने जब प्रथम आत्मा में भोक्ता रूपता की प्राप्ति हो, सो तो कदापि नहीं बनती आत्मा को असंग होने से।

उत्तर—आत्मा को भोक्ता रूपता की प्राप्ति अज्ञानियों के अनुभव से सिद्ध है। इस अर्थ को बृहदारण्य उपनिषद् की श्रुति भी कहती है, अरे मैत्रेयी भर्ता की कामना के लिये भर्ता स्त्री को प्यारा नहीं लगता, यहाँ से लेकर आत्मा की कामना के लिये सब प्यारे लगते हैं, यहाँ तक जो वाक्य समुदाय हैं उससे भर्त्ता और स्त्री से आदि लेकर प्रपंच को आत्मा के भोग की साधनता कही है, तिससे यह मालूम होता है कि आत्मा को अज्ञान करके भोक्ता रूपता की प्राप्ति है इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् की श्रुति में बहुत घोषण किया है, अर्थात् बहुत बार कहा है ॥ १९३ ॥

किं कूटस्थश्चिदाभासोऽथवा किं चोभयात्मकः ॥
भोक्तात्र न कूटस्थोऽसंगत्वाद्भोक्तृतां व्रजेत् ॥१९४॥

अर्थ—और आत्मा में भोक्ता रूपता के निषेध के लिये भोक्ता में विकल्प कर के पूछते हैं। भोक्ता कौन है यह निर्णय करना चाहिये, कूटस्थ भोक्ता है अथवा चिदाभास भोक्ता है अथवा कूटस्थ और चिदाभास दोनो मिले हुये भोक्ता हैं, तिन में कूटस्थ तो भोक्ता नहीं बनता असंग होने से ॥ १९४ ॥

सुखदुःखा भिमानाख्यो विकारो भोग उच्यते ॥
कूटस्थश्च विकारी चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ॥१९५॥

शंका—कूटस्थ असंग भी हो और भोक्ता भी हो इस में क्या दोष है।

उत्तर—असंग नाम निर्विकार का है और भोक्ता विकारी होता है क्योंकि सुख दुःखका अभिमान रूप जो विकार है उसकानाम भोग है। निर्विकारता और सविकारता इन दोनों की एक में प्राप्ति नहीं होती जैसे एक सूर्य के अन्धकार और प्रकाश ये दोनों नहीं होते तैसे कूटस्थ निर्विकार असंग में भोगरूप विकार की प्राप्ति नहीं होती १९५

विकारि बुद्ध्यधीनत्वादाभासे विकृतावपि ॥
निरधिष्ठानविभ्रांतिः केवला न हि तिष्ठति ॥१९६॥

शंका—जो कूटस्थ भोक्ता नहीं तो विकारी चिदाभास भोक्ता हो ।

उत्तर—यद्यपि चिदाभास विकारी है तौ भी अधिष्ठान के बिना चिदाभास की सिद्धि नहीं होती । तिस से अधिष्ठान रूप कूटस्थ को छोड़ कर चिदाभास की स्थिति नहीं बनती इस से केवल चिदाभास भी भोक्ता नहीं बनता ॥ १९६ ॥

उभयात्मक एवातो लोके भोक्ता निगद्यते ॥
तादृगमात्मानमारभ्य कूटस्थः शेषितः श्रुतौ ॥१९७॥

अर्थ—तिस से चिदाभास और कूटस्थ दोनों मिले हुये भोक्ता हैं, यह व्यवहार दशा में कहा है, परमार्थ दृष्टि से उभय आत्मकता नहीं बनती ।

शंका—उभय आत्मकता भोक्ता व्यवहार दृष्टि से सिद्ध है परमार्थिक नहीं। आपका यह कथन अयुक्त है क्योंकि बृहदारण्यक उपनिषद् में यह कहा है । तहाँ श्रुतिः (असंगोह्ययं पुरुषः) अर्थ—यह जो जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति के प्रकारने हारा पुरुष है सो असंग है, जैसे ऐसे असंग पुरुष को कहा है । तैसे उभयात्मक चिदाभास को भी कहा है तहाँ श्रुतिः । (योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु) अर्थ—प्राणों के विद्यमान रहते जो यह विज्ञानमय हृदय में प्रतीत होता है इस से बुद्धि उपाधिक चिदाभास वास्तव है कूटस्थ की नाईं श्रुति करके प्रतिपादित होने से ।

उत्तर—चिदाभास की वास्तवता में श्रुति का तात्पर्य नहीं, क्यों कि बुद्धि उपाधिक जो भोक्ता उभयात्मक है उसका आरम्भ कर बुद्धि आदि की कल्पना का अधिष्ठान रूप कूटस्थ चिदात्मा शेषित स्थापन किया है बुद्धि आदि अनात्मवस्तुओं का निषेध करके बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में ॥ १९७ ॥

आत्मा कतम इत्युक्ते याज्ञवल्क्यो विबोधयन् ॥
विज्ञानमयमारभ्यासंगंपर्यशेषयत् ॥१९८॥

अर्थ—सो जिस प्रकार स्थापन किया है सो सुन उस में प्रथम बृहदारण्यक उपनिषद् का प्रसंग । राजा जनक याज्ञवल्क्य मुनीश्वर से यह पूछना भया कि आत्मा कौन है, तब वे उत्तर देते भये कि प्राणों के विद्यमान रहते जो यह विज्ञानमय हृदय में प्रतीत होता है ऐसे विज्ञानमय का आरम्भ कर पीछे से कहते भये यह पुरुष असंग है उसका बुद्धि आदि के साथ संग नहीं, इस प्रकार असंग कूटस्थ को शेष स्थापन करते भये ॥ १९८ ॥

कोऽयमात्मेत्येवमादौ सर्वत्रात्मविचारतः ॥
उभयात्मक मारभ्य कूटस्थः शेष्यते श्रुतौ ॥१९९॥

अथ ऐतरेय उपनिषद् का प्रसँग।

शंका—(शिष्यकी) कौन है यह आत्मा जिस की हम उपासना करें देह इंद्रिय प्राण मन बुद्धि कूटस्थ इनके बीच आत्मा कौन है, इस प्रकार सनकादि मुनीश्वर गुरू अन्तः करण उपाधि सहित आत्मा का आरम्भ कर कहते भये। चैतन्यमात्रस्वरूप आत्मा है, इस प्रकार कूटस्थ शेष स्थापन किया है इसी प्रकार और उपनिषदों में भी कहा है। इस प्रकार श्रुतियों और युक्तियों के विचार से उभयात्मक भोक्ता की मिथ्या रूपता सिद्ध हुई। और सत्यरूप कूटस्थ असँग की अभोक्ता रूपता सिद्ध हुई ॥ १९९ ॥

कूटस्थसत्यतां स्वस्मिन्नध्यस्यात्माऽविवेकतः ॥
तात्त्विकीं भोक्तृतां मत्वा न कदाचिज्जिहासति ॥२००॥

शंका—आपने कही जो श्रुतियाँ और युक्तियाँ हैं, उन से भोक्ता की मिथ्या रूपता के सिद्ध रहते लोकों को भोक्ता में सत्यत्व बुद्धि क्यों हो रही है।

उत्तर—लोक प्रसिद्ध जो भोक्ता है सो कूटस्थ के विवेकज्ञान के अभाव से कूटस्थ की सत्यता को अपने में कल्पकर उसद्वारा अपने में भोक्ता रूप की सत्यता को मान कर कभी भी भोग के छोड़ने की इच्छा नहीं करता ॥ २०० ॥

भोक्ता स्वस्यैव भोगाय पतिजायादिमिच्छति ॥
एष लौकिकवृत्तांतः श्रुत्या सम्यगनूदितः ॥२०१॥

शंका—जो आत्मा भोक्ता नहीं तो आत्मा की कामना के लिये सब प्यारे होते हैं इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा के शेषरूपता से भोग्य को क्यों कहा है

उत्तर—श्रुति ने कूटस्थ आत्मा के शेष रूपता कर के भोग्य को नहीं कहा। किन्तु अज्ञानियों के अनुभव से सिद्ध जो उभयात्मक भोक्ता है उसका शेष रूप सब भोग्य है, ऐसे श्रुति ने अनुवाद किया है अर्थात् अज्ञानियों के अनुभव को श्रुतियों ने कहा है अपने हृदय से नहीं कहा, तिस से लोक प्रसिद्ध जो भोक्ता है सो अपने भोग के लिये भर्त्ता स्त्री पुत्रादिक रूप जो भोग के साधन हैं, उनकी इच्छा करता है यह जो अज्ञानियों का अनुभव है सो श्रुति ने प्रकट किया है और कूटस्थ आत्मा को भोक्ता रूप से नहीं कहा है ॥ २०१ ॥

भोग्यानाँ भोक्तृशेषत्वान्मा भोग्येष्वनुरज्यताम् ॥
भोक्तर्येव प्रधानेऽतोऽनुरागं तं विधित्सति ॥२०२॥

शंका—अज्ञानियों के अनुभव सिद्ध आत्मा की भोक्ता रूपता को श्रुति ने क्यों कहा:—

उत्तर—इस लिये श्रुति ने कहा अज्ञानियों का प्रेम भोग्य में बहुत था उससे वे दुःख पाते थे उस दुःख को देख श्रुति को दया आई, तब श्रुति ने उनके ताईं यह उपदेश किया हे लोकों! तुम भोग्य में प्रीति मत करो, जिस भोक्ता के लिये भोग्य है उसमें प्रीति करो, इस लिये श्रुति ने अज्ञानियों के अनुभव सिद्ध आत्मा की भोक्ता रूपता कही ॥२०२॥

यामतीरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ॥
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माऽपसर्पतु ॥२०३॥

अर्थ—भोग्य में प्रेम को छोड़कर आत्मा में प्रेम करना चाहिये। इसमें दृष्टांत रूपता से ईश्वर में प्रेम प्रार्थना सहित पुराण बचन कहते हैं, हे लक्ष्मीपते। हे परमेश्वर आत्मज्ञान से रहित अज्ञानियों की जो विषयों में दृढ़ प्रीति है सो प्रीति मेरे हृदय से दूर होजाय तेरा स्मरण करने लगूं अर्थात् मेरा मन विषयों में प्रीति को छोड़ कर सदा तेरे में स्थित हो अथवा अविवेकियों की जैसी दृढ़ प्रीति विषयों में है तैसी मेरी दृढ़ प्रीति तेरे में हो, अर्थात् तेरे भजन में लगा हुआ जो मैं हूं, सो मेरी प्रति तेरे भजन से दूर मत हो सब कामों को करते हुए भी मेरे हृदय में सदा ही तेरे भजन की प्रीति बनी रहे ॥२०३॥

इत्यन्यायेन सर्वस्माद्भोग्यजाताद्विरक्तधीः ॥
उपसंहृत्य तां प्रीतिं भोक्तर्येनं बुभुत्सते ॥२०४॥

शंका—पुराण में इस प्रकार का बचन हो श्रुति में क्या आया।

उत्तर—यह जो पुराण में युक्ति कही है उससे सब स्त्री पुत्र धनादिरूप भोग्य से विरक्त होगया है चित्त जिसका ऐसा जो पुरुष है सो भोग्य में प्रीति को छोड़कर भोक्ता आत्मा में प्रीति करता हुआ उसके तत्त्व के जानने की इच्छा करता है ॥१०४॥

स्रक्चंदनवधूवस्त्रसुवर्णादिषु पामरः ॥
अप्रमत्तो यथा तद्वन्न प्रमाद्यति भोक्तरि ॥२०५॥

जैसे पामर जीव माला चन्दन स्त्री वस्त्र सुवर्ण आदि में तत्पर रहता है, तैसे

मुमुक्षु भी भोक्ता में प्रमाद कभी नहीं करता, सदा उसके स्वरूप को विचारता रहता है ॥२०५॥

काव्यनाटकतर्कादिमभ्यस्यति निरंतरम् ॥
विजिगीषुर्यथा तद्वन्मुमुक्षुः स्वं विचारयेत् ॥२०६॥

और जैसे विद्यार्थी सभा में औरों के जीतने की इच्छा वाला काव्य नाटक तर्क आदि का निरँतर अभ्यास करता है, तैसे जन्म मरण के जीतने की इच्छा वाला जो जिज्ञासु है सो सदा निरंतर आत्मा का विचार करे ॥२०६॥

जपयागोपासनादि कुरुते श्रद्धया यथा ॥
स्वर्गादिवाँछया तद्वच्छ्रद्दध्यात्स्वे मुमुक्षया ॥२०७॥

अर्थ--और जैसे स्वर्ग आदि चाहने द्वारा श्रद्धा से जपयज्ञ उपासना आदि करता है तैसे मुमुक्षु आत्मज्ञान के लिये सदा आत्मा का विचार करे ॥२०७॥

चित्तैकाग्र्यं यथा योगी महायासेन साधयेत् ॥
अणिमादिप्रेप्सयैवं विविच्यात् स्वं मुमुक्षया ॥२०८॥

अर्थ--और जैसे योगी अणिमा महिमा आदि सिद्धियों के चाहने द्वारा अति-यत्न से समाधि करता है, तैसे जिज्ञासु मोक्ष का चाहने द्वारा यत्न से आत्मा का विचार करे अर्थात् आत्मा को देह आदि से भिन्न जान ॥२०८॥

कौशलानि विवर्धंते तेषामभ्यासपाटवात् ॥
यथा तद्वद्विवेकोऽस्याप्यभ्यासाद्विशदायते ॥२०९॥

अर्थ—जैसे इस प्रकार सदा अभ्यास में लगे हुए जो विद्यार्थी स्वर्गार्थी और योगी हैं उनको अपने आप कार्य में चतुराई बढ़ती जाति है दिन २ में, तैसे मुमुक्षु का विवेक भी दिन २ में निर्मल होता जाता है ॥२०९॥

विविंचिता भोक्तृतत्त्वं जाग्रदादिष्वसंगता ॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां साक्षिण्यध्यवसीयते ॥२१०॥

अर्थ--अभ्यास की दृढ़ता से विवेक की निर्मलता के प्राप्त होने पर क्या फल होता है, भोक्ता के वास्तव स्वरूप के विवेक करने द्वारा जो जिज्ञासु है, उसने अन्वय व्यतिरेक से जाग्रत् आदि में साक्षी की असंगता जानी है, अर्थात् जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति मे एक रसता जानी है, और जाग्रत् का स्वप्न में अभाव और स्वप्न का सुषुप्ति में अभाव और सुषुप्ति का जाग्रत् में अभाव जाना है ॥२१०॥

यत्र यद्दृश्यते द्रष्ट्रा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ॥
तत्रैव तन्नेतरत्रेत्यनुभूतिर्हि संमता ॥२११॥

अर्थ–यह अन्वयव्यतिरेक श्रुति ने स्पष्ट दिखाया है, जाग्रत् में जो स्थूल प्रपंच दीखता है सो जाग्रत् में ही रहता है, स्वप्न और सुषुप्ति में नहीं मिलता, और स्वप्न में जो सूक्ष्म प्रपंच वासनामय दीखता है सो स्वप्न में ही रहता है जाग्रत् और सुषुप्ति में नहीं प्राप्त होता और जो आनँद सुषुप्ति में दीखता है सो स्वप्न और जाग्रत् में नहीं और जिस द्रष्टाने इन तीनों का अनुभव किया है सो द्रष्टा इन तीनों में एक है; इस प्रकार द्रष्टा के अन्वय को और जाग्रत् आदि अवस्थाओं के व्यतिरेक को सभी लोग अनुभव करके जानते हैं ॥२११॥

सयत्तत्रेक्षते किंचित्तेनानन्वागतो भवेत् ॥
दृष्ट्वैव पुण्यं पापं चेत्येवं श्रुतिषु डिंडिमः ॥२१२॥

अर्थ–इस अर्थ में केवल अनुभव ही प्रमाण नहीं किन्तु वेद भी प्रमाण है। तहाँ श्रुति (स यत्तत्र किंचित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसंगोह्ययं पुरुषः सवाएष एतस्मिन् संप्रसादेरत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्यौं द्रवतीत्यादि वाक्यद्वयम्) अर्थ.–सो द्रष्टा जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति में जो कुछ देखता है. उसको ग्रहण कर अवस्थान्तर में नहीं जाता इसी कारण से यह द्रष्टा पुरुष असंग है, सो यह आत्मा सुषुप्ति में गमन कर और रमण कर और सुख और द्वैत भाव को देख कर फिर जाग्रत् और प्राप्त होता है और पुण्य का फल जो सुख है और पाप का फल जो दुःख है इन को देख कर ग्रहण नहीं करता इस प्रकार श्रुतियों में ढंढोरा पिटरहा है। २१२॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपंचं यत्प्रकाशते ॥
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबंधैः प्रमुच्यते ॥२१३॥

अर्थ–जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिरूपप्रपंच को जो सच्चिदानंद ब्रह्म प्रकाशता है सो ब्रह्म मैं हूं बुद्धि और चिदाभास रूप मैं नहीं, इस प्रकार श्रुति और अपने अनुभव से निश्चय को प्राप्त हुआ जो पुरुष है, सो सब बंधनों से रहित हो जाता है ॥२१३॥

एकएवात्मा मंतव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ॥
स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥२१४॥

अर्थ–एक ही आत्मा जानने योग्य है। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति में उन अवस्थाओं

से असंग जो साक्षी है सो मैं हूं इस प्रकार जानने हारे पुरुष का फिर जन्म नहीं होता ॥२१४॥

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ॥
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदा शिवः ॥२१५॥

अर्थ–जाग्रत् आदि तीनो अवस्थाओं में जो भोग्य रूपता को प्राप्त होताहै, अर्थात् जाग्रत् में जो स्थूल भोग्यरूप को प्राप्त होता है, और स्वप्न में जो वासनामय सूक्ष्म भोग्य को प्राप्त होता है; सुषुप्ति में जो आनंदरूप भोग्य को प्राप्त होता, और उन अवस्थाओं में जो विश्व तैजस प्राज्ञरूपता को प्राप्त होता है, और उनमें जो भोगरूप को प्राप्त होता है, अर्थात् जाग्रत् में जो स्थूल पदार्थों के अनुभव रूप भोग को प्राप्त होता है, और स्वप्न में वासनामय सूक्ष्म पदार्थों के अनुभव रूप भोग को प्राप्त होता है, और सुषुप्ति में आनंद के अनुभव रूप भोग को प्राप्त होता है, और वास्तव से जो जाग्रत् आदि चारों पदार्थों से भिन्न है, अर्थात् जाग्रत् आदि चारों पदार्थों की कल्पना का जो अधिष्ठान है चैतन्य मात्ररूप साक्षी निरतिशयानंद रूपता करके शोभायमान जो परमात्मा है सो मैं हूं ॥२१५॥

एवं विवेचिते तत्त्वे विज्ञानमयशब्दितः ॥
चिदाभासो विकारी यो भोक्तृत्वं तस्य शिष्यते ॥२१६॥

अर्थ—इस प्रकार विवेक से आत्मतत्व के असंग निश्चय होने पर, भोक्ता रूपता किस को हुई विज्ञानमय है नाम जिसका ऐसा जो चिदाभास है सो विकारी होने से भोक्ता है ॥२१६॥

मायिकोऽयं चिदाभासः श्रुतेरनुभवादपि ॥
इंद्रजालं जगत्प्रोक्तं तदंतः पात्ययं यतः ॥२१७॥

शंका—जो चिदाभास भोक्ता मानोगे तो पूर्व कहा हुआ आप का वचन जो है कि किस की कामना के लिये यह वचन भोक्ता के अभाव को कहने के लिये है उसका विरोध आवेगा।

उत्तर—उस वचन का विरोध नहीं आता। क्यों कि उसका अर्थ यह है कि सत्य भोक्ता कोई नहीं। और यह भोक्ता चिदाभास मिथ्या है इसकी मिथ्या रूपता श्रुति ने भी कही है। महामाया जीव ईश्वर को आभासरूप से करती है। और अनुभव से भी चिदाभास मिथ्या जाना जाता है। द्रष्टा दर्शन दृश्य रूप त्रिपुटी के

अतर्गतता से अनुभव होना है चिदाभास का। इससे चिदाभास मिथ्या है। जैसे मदारी के रचे हुए पदार्थ मिथ्या होते हैं। तैसे अचिंत्य रचना रूप होने से जगत् मिथ्या है। उस जगत् के अंतर्गत होने से चिदाभास भी मिथ्या है। ऐसा ज्ञानवान् जानते हैं ॥२२७॥

विलयोऽप्यस्य सुप्त्यादौ साक्षिणा ह्यनुभूयते ॥
एतादृशं स्वस्वभावं विविनक्ति पुनः पुनः ॥२१८॥

अर्थ--और जैसे जगत् का अभाव हो जाता है। तैसे सुषुप्ति और मूर्छा में चिदाभास का भी अभाव हो जाता है। सो साक्षी ने अनुभव किया है। इस से चिदाभास मिथ्या है।

शंका—चिदाभास मिथ्या हो तिस से क्या सिद्ध हुआ।

उत्तर--जब चिदाभास आत्मा जो कूटस्थ है उस से भिन्न अपने आप को बारंबार मिथ्या रूप निश्चय करता है ॥२१८॥

विविच्य नाशं निश्चित्य पुनर्भोगं न वांछति ॥
मुमुर्षुः शायितो भूमौ विवाहं कोऽभिवांछति ॥२१९॥

अर्थ--और अपने नाश को निश्चय करता है। यव फिर भोगों की वांछा नहीं करता। जैसे अतिरोगी पुरुष को जब पृथिवी में उतार लेते हैं। तब वह विवाह की इच्छा नहीं करता। तैसे चिदाभास भी भोगों की इच्छा नहीं करता ॥ २१६ ॥

जिन्हेति व्यवहर्तुं च भोक्ताहमिति पूर्ववत् ॥
छिन्ननासइव्रहीतः क्लिश्यन्नारब्धमश्नुते ॥२२०॥

अर्थ--और चिदाभास अज्ञान दशा की नाईं मैं भोक्ता हूं इस व्यवहार करने में लज्जा करता है। जैसे नकटा पुरुष सभा में वार्ता करता हुआ लज्जा को प्राप्त होता है। अब तक भी मेरा कर्म क्षय न हुआ। ऐसे क्लेश को प्राप्त हुआ प्रारब्ध कर्म के फल को भोक्ता है ॥२२०॥

यदा स्वस्यापि भोक्तृत्वं मंतुं जिहेत्ययं तदा ॥
साक्षिण्यारोपयेदेतदिति कैव कथा वृथा ॥२२१॥

अर्थ--और ज्ञान से उपरांत अपनी भोक्तारूपता को साक्षी में कल्पने को समर्थ नहीं होता। क्योंकि जब अपने में भी भोक्ता रूपता के मानने में लज्जा करता है। तब अपनी भोक्ता रूपता को साक्षी में कल्पे यह तो कथा ही व्यर्थ है ॥२२१॥

इत्यभिप्रेत्य भोक्तारमाक्षिपत्यविशंकया ॥
कस्य कामायेति ततःशरीरानुज्वरो नहि ॥२२२॥

अर्थ—इस अभिप्राय को लेकर किस की कामना वास्ते यह जो श्रुति वचन है सो भोक्ता का निषेध करे है। शंका से रहित होकर। तिस से शरीर के ताप के ताप की प्राप्ति नहीं होती ॥२२२॥

स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च शरीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥
अवश्यं त्रिविधोऽस्त्येव तत्र तत्रोचितो ज्वरः ॥२२३॥

अर्थ—ये शरीर तीन प्रकार के हैं। एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म तीसरा कारण। उन में जो २ उचित ताप हैं सो सुन ॥२२३॥

वातपित्तश्लेष्मजन्यव्याधयः कोटिशस्तनौ ।
दुर्गंधित्वकुरूपत्वदाहभंगादयस्तथा ॥ २२४ ॥

अर्थ—स्थूल देह में वात पित्त कफ से पैदा हुए करोड़ों रोग हैं। और दुर्गन्धता और कुरूता और दाह और अंग भंग इत्यादि अनेक प्रकार के ताप हैं ॥२२४॥

कामक्रोधादयः शांतिदांत्याद्यालिंगदेहगाः ।
ज्वरादयेऽपि बाधंते प्राप्त्याऽप्राप्त्या नरं क्रमात् ॥२२५ ॥

अर्थ—और सूक्ष्म शरीर में काम क्रोध आदि ताप हैं। और शांति दांति आदि ताप हैं। क्योंकि काम क्रोध आदि प्राप्त हुए पुरुष को दुःख देते हैं। और शांति दांति आदि न प्राप्त हुये पुरुष को दुःख देते हैं। जैसे जाग्रत् में जानता है कि यह मैं हूं और अन्य भूतों को भी नहीं जानता। इस से दोनों प्रकार के ताप ही हैं। क्यों कि दुःख के कारण हैं ॥२२५॥

स्वं परंच न वेत्यात्मा विनष्ट इव कारणे ।
आगामिदुःखबीजं चेत्येतदिंद्रेण दर्शितम् ॥ २२६ ॥

अर्थ—और कारण शरीर में जो ताप हैं सो छांदोग्यउपनिषद्‌ में कहते हैं। तहां श्रुतिः। (न हि खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापी तो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति)अर्थ—देवराज इंद्र जो ब्रह्मा जी का शिष्य है। उसने ब्रह्मा जी के तांई कहा है। हे भगवन् ! सुषुप्ति में यह पुरुष अपने आप को नहीं जानता और मृत हुए की नांई होजाता है। और सुषुप्ति में भोगने योग्य पदार्थ किसी को भी मैं नहीं देखता। इस प्रकार स्वपर के ज्ञान के अभाव का और अज्ञान में मरण तुल्यता का और अगले दिन में होने हारे जो दुःख हैं। उन का कारण वासना के सद्भाव को इन्द्र ने अपने गुरु ब्रह्मा से कहा है ॥ २२६ ॥

एते ज्वराः शरीरेषु त्रिषु स्वाभाविका मताः ।
वियोगे तु ज्वरैस्तानि शरीराण्येव नासते ॥ २२७ ॥

अर्थ—ये जो तीन शरीरों में ताप हैं वे स्वाभाविक हैं। इससे किसी प्रकार से दूर नहीं हो सकते। जिससे इन तापों के साथ शरीरों का बियोग रहते शरीर स्थिर नहीं रहते इससे शरीरों में ताप स्वभाव सिद्ध हैं ॥ २२७ ॥

तंतोर्विंयुज्येत पदोवालेभ्यः कम्बलो यथा ।
मृदो घटस्तथा देहो ज्वरेभ्योऽपीति दृश्यताम् ॥ २२८ ॥

अर्थ—तहाँ दृष्टांत सुन। जैसे तंतुओं से रहित वस्त्र नहीं होता जैसे बालों से रहित कम्बल नहीं होता और जैसे मृत्तिका से रहित घट नहीं होता। जैसे तापों से रहित शरीर भी नहीं होते। ऐसे देख ॥ २२८ ॥

चिदाभासे स्वतः कोऽपि ज्वरो नास्ति यतश्चितः ।
प्रकाशैकस्वभावत्वमेव दृष्टं न चेतरत् ॥ २२९ ॥

अर्थ—ये ताप शरीरों में हैं। चिदाभास में वास्तव से कोई भी ताप नहीं। जिससे चैतन्य का प्रकाश एक स्वभाव दीखता है और स्वभाव नहीं दीखता। तिससे चैतन्य का प्रतिबिम्बरूप जो चिदाभास है उसका भी और स्वभाव नहीं। जो चिदाभास में भी ताप नहीं बनते तो साक्षी में ताप नहीं बनते यह तौ क्या कहना है॥२२९॥

चिदाभासेऽप्यसंभाव्या ज्वरा साक्षिणि का कथा ।
एवमप्येकतां मेने चिदाभासो ह्यविद्यया ॥ २३० ॥

अर्थ—जो चिदाभास में भी ताप संभव नहीं तो साक्षी में ताप कैसे बने।

शंका—जो चिदाभास में ताप नहीं तौ मैं ताप को प्राप्त हुआ हूं इस अनुभव की क्या व्यवस्था है।

उत्तर—वास्तव से चिदाभास में तापों का अभाव रहते भी वह ताप वाले शरीरों के साथ अविद्या से अपनी एकता को मानता है ॥ २३० ॥

साक्षिसत्यत्वमध्यस्य स्वेनो पेते वपुस्त्रये ।
तत्सर्वं वास्तवं स्वस्य स्वरूपमिति मन्यते ॥ २३१ ॥

अर्थ—चिदाभास अपने करके सहित जो तीन शरीर हैं उनमें साक्षी की सत्यता को कल्प कर उनतापी वालेशरीरोंको अपनावास्तवस्वरूप मानता है ॥ २३१ ॥

एतस्मिन् भ्रांतिकालेऽयं शरीरेषु ज्वरे त्स्वथ ।
स्वयमेव ज्वरामीति मन्यते हि कुटुंबिवत् ॥ २३२ ॥

अर्थ—इस प्रकार चिदाभास को भ्रम होने पर यह चिदाभास शरीरों के दुखी रहते मैं दुखी हूं ऐसा मानता है। कुटुम्बी की नाईं ॥ २३२ ॥

पुत्रदारेषु तप्यत्सु तपामीति वृथा यथा ।
मन्यते पुरुषस्तद्वदाभासोऽप्यभिमन्यते ॥ २३३ ॥

अर्थ—जैसे कुटुम्बी पुरुष पुत्र स्त्री आदि के दुखी रहते मैं दुखी हूं ऐसे व्यर्थ ही मानता है। तैसे चिदाभास भी शरीरों के दुखी रहते मैं दुखी हूं ऐसे व्यर्थ मानता है ॥ २३३ ॥

विविच्य भ्रांतिमुज्झित्वा स्वमप्यगणयन्सदा ।
चिंतयन्साक्षिणं कस्मांच्छरीरमनुसंज्वरेत् ॥ २३४ ॥

अर्थ—इस प्रकार चिदाभास अविवेक काल में भ्रम से अपने में तापों को मानता है और जब चिदाभास को विवेक प्राप्त होता है तब भ्रांति को छोड़ देता है। और अपने आपको मिथ्यारूपता से कुछ भी नहीं गिनता हुआ अपना वास्तव रूप तापों से रहित जो साक्षी है उसको सदा चिन्तन करता हुआ तापों वाले शरीर के साथ तादात्म्याध्यास को प्राप्त होकर शरीरों के तापों को नहीं मानता अपने में ॥ २३४ ॥

अयथा वस्तु सर्पादिज्ञानं हेतुः पलायने ।
रज्जुज्ञानेऽहिधीध्वस्तौ कृतमप्यनुशोचति ॥ २३५ ॥

अर्थ—भ्रांति ज्ञान तापों का कारण है, और तत्वज्ञान तापों के अभाव का कारण है, इसमें दृष्टांत सुन। रस्सी में सर्प के ज्ञान से पुरुष को डर और भागना आदि दुःख मिलते हैं, और जब रस्सी का यथार्थज्ञान होता है, तब सर्प ज्ञान दूर हो जाता है, और स्थाणु में चोर ज्ञान से भी भय आदि दुःख प्राप्त होता है, और जब स्थाणु का ठीक ज्ञान होता है, तब चोरज्ञान दूर हो जाता है, सर्प आदि ज्ञान के दूर होने पर पूर्व किया था जो भय आदि उससे लज्जा को प्राप्त होता है कि मैंने व्यर्थ भय आदि किया, ऐसे मानता है ॥२३५॥

मिथ्याभियोगदोषस्य प्रायश्चित्तप्रसिद्धये ।
क्षमापयन्निवात्मानं साक्षिणं शरणं गतः ॥ २३६ ॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष भ्रम से किसी उत्तम पुरुषको चोर बतादे और पीछेसे और पुरुष के पास उसकी चीज निकल आती है तब उत्तम पुरुष के पास जाकर क्षमा मांगताहै, तैसे चिदाभास अपने दोषोंको क्षमा कराता हुआ साक्षीकी शरणको प्राप्त होताहै॥२३६॥

आवृत्तपापनुत्त्यर्थं स्नानाद्यावर्त्यते यथा ।
आवर्तयन्निव ध्यानं सदा साक्षिपरायणः ॥ २३७ ॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष बारंबार किया जो पाप है उसके दूर करने को गंगा स्नान व्रत जप आदि बारंबार करता है, तैसे चिदाभास भी साक्षी में आरोपण किये हुए जो संसाररूप दोष थे वेही हुए पाप उनके दूर करने को सदा साक्षी में तत्पर होता है ॥२३७॥

उपस्थकुष्ठिनी वेश्या विलासेषु विलज्जते ।
जानतोऽग्रे तथाभासः स्वप्रख्यातौ विलज्जते ॥ २३८॥

अर्थ—जैसे गुह्य स्थान में कुष्ठ वाली वेश्या जानने वाले पुरुष के साथ हास्य विलास करने में लज्जा करती है, तैसे चिदाभास साक्षी का ध्यान करता हुआ अपने गुणों के प्रकट करने में लज्जा करता है ॥२३८॥

गृहीतो ब्राह्मणो म्लेच्छैः प्रायश्चित्तं चरन्पुनः ।
म्लेच्छैः संकीर्यते नैव तथाभासः शरीरकैः ॥ २३९ ॥

अर्थ—जैसे म्लेच्छों के संग से दोष को प्राप्त हुआ जो ब्राह्मण है सो उस दोष के दूर करने को प्रायश्चित्त करता हुआ, फिर म्लेच्छोंके साथ संग नहीं करता तैसे चिदाभास विवेक से उन शरीरों से अपने को भिन्न जानता हुआ फिर शरीरों के साथ तादात्म्य भ्रम को प्राप्त नहीं होता ॥२३९॥

यौवराज्ये स्थितो राजपुत्रः साम्राज्यवाँछया ।
राजानुकारी भवति तथा साक्ष्यनुकार्ययम् ॥ २४० ॥

अर्थ—यह जो कहा था कि चिदाभास साक्षी की शरण लेता है, सो केवल अपने अपराध के दूर करने को ही नहीं किन्तु साक्षी की शरण में चिदाभास को बड़ा फल मिलता है, जैसे यौवराज्य में स्थित जो राजा का पुत्र है, सो चक्रवर्ती राज्य मिलने को राज्य का अनुसारी होता है ॥२४०॥

यो ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवत्येव इति श्रुतिः ।
श्रुत्वा तदेकचित्तः सन् ब्रह्म वेत्ति न चेतरत् ॥ २४१ ॥

शंका—युवराज को राजा का अनुसारी होने में चक्रवर्ती राज रूप फल मिलता है, तैसे चिदाभास को साक्षी की शरण में कुछ फल नहीं। इस से चिदाभास साक्षी की शरणागत क्यों होता है।

उत्तर—चिदाभास ने साक्षी की शरण में श्रुतियों से कहे हुये बहुत फल सुने हैं। उन फलों के लिये साक्षी की शरण लेता है। तहां श्रुति:। (सयो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्या ब्रह्मवित्कुले भवति तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहा ग्रंथिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति) अर्थ—जो पुरुष ब्रह्म को जानता है सो ब्रह्मरूप

हो जाता है । और जिस को ब्रह्मवेत्ताउपदेश करता है उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है और ब्रह्मवेत्ता शोक को तरजाता है। और पाप को तर जाता है। अर्थात् शोक और पाप से रहित हो जाता है। और ब्रह्म वेत्ता पाँचों कोशों के साथ तादात्म्याध्यास से रहित हुआ मोक्ष को प्राप्त होता है। इस प्रकार ब्रह्मरूपता की प्राप्त से आदि लेकर फलों को सुनकर चिदाभास उनकी प्राप्ति के लिये साक्षी का ही सदा चिंतन करता है। और मिथ्यारूप जगत् का चिन्तन नहीं करता ॥ २४१ ॥

देवत्वकामाह्यग्न्यादौ प्रविशन्ति यथा तथा ।
साक्षित्वे नावशेषाय स्वविनाशं स वांछति ॥ २४२ ॥

शंका—ब्रह्मज्ञान से ब्रह्मरूपता की प्राप्ति होने पर चिदाभास की चिदाभासरूपता नष्ट हो जायगी तिस से अपने नाश वास्ते ब्रह्मज्ञान के यत्न को कैसे करेगा।

उत्तर—जैसे देवतारूप के चाहने हारे मनुष्य अग्नि आदि में प्रवेश करजाते हैं जो अपने नाश का कारण है। अर्थात् अनेक प्रकार के क्लेशों वाले मनुष्य शरीर को त्याग कर। अनेक प्रकार के सुख युक्त देव भाव की प्राप्ति वास्ते अपने नाश के कारण में प्रवृत्त होते हैं। तैसे चिदाभास भी साक्षी रूपता करके स्थित के लिये अपने नाश के कारण ब्रह्मज्ञान में प्रवृत्त होता है ॥ २४२ ॥

यावत्स्वदेहदाहं सनरत्वं नैव मुंचति ।
यावदारब्धं देहं स्यान्नाभासत्वविमोचनम् ॥ २४३ ॥

शंका—जो ब्रह्मज्ञान से चिदाभास की चिदाभासता दूर हो जाता है। तो ज्ञानवानों में जीव व्यवहार कैसे होता है।

उत्तर—जैसे जिस पुरुष ने अग्नि में प्रवेश किया है उस में पुरुष व्यवहार तब तक रहता है जब तक उसका देह दाह आदि से अदृश्य भाव को प्राप्त नहीं होता। तैसे ज्ञानवान् में भी प्रारब्धक्षयपर्यंन्त चिदाभास व्यवहार रहता है। औ शरीर के अदृश्य भाव को प्राप्त हुये चिदाभासव्यवहार विदेह मुक्ति में दूर हो जाता है ॥ २४३ ॥

रज्जुज्ञानेऽपि कंपादिः शनैरेवोपशाम्यति ।
पुनर्मंदांधकारे सा रज्जुःक्षिप्तोरगी भवेत् ॥ २४४ ॥

शंका—मैं भोक्ता हूं इस भ्रम का कारण जो अज्ञान है उस का नाश होने से ज्ञानवान् को भोगों की प्रतीति कैसे होती है और मैं मनुष्य हूं यह विपरीत ज्ञान कैसे होता है।

उत्तर—जैसे रस्सी में सर्पज्ञान से पुरुष का शरीर भय से काँप ने लगता है. उस काँपने का कारण रस्सी का अज्ञान है तिसका नाश होने पर भी काँपना उसी

क्षण में नष्ट नहीं होता किंतु धीरे २ नष्ट होता है, और मंद अंधकार में स्थित हुई रस्सी फिर भी सर्प रूप कर प्रतीत हो जाती है ॥२४४॥

एवमारब्धभोगोऽपि शनैः शाम्यति नो हठात् ।
भोगकाले कदाचित्तु मर्त्योऽहमिति भासते ॥ २४५ ॥

अर्थ—तैसे प्रारब्ध भोग भी अज्ञान के नाश मात्र से नष्ट नहीं होता किंतु प्रारब्ध के फल भोगने से नष्ट होता है उसका हठ से नाश नहीं होता और कदाचित् भोग काल में मैं मनुष्य हूं ऐसे ज्ञानवान् कहता है ॥२४५॥

नैतावताऽपराधेन तत्त्वज्ञानं विनश्यति ।
जीवन्मुक्तिव्रतं नेदं किंतु वस्तुस्थितिः खलु ॥ २४६ ॥

शंका—जो ज्ञानवान् को मैं मनुष्य हूं इस बुद्धि का उदय हुआ, तो उससे तत्त्व ज्ञान का नाश हो जायगा।

उत्तर—कदाचित् व्यवहार काल में मैं मनुष्य हूं इस बुद्धि के उदय मात्र से वेद प्रमाण से पैदा हुआ जो ज्ञान है, सो नष्ट नहीं होता क्यों कि मैं मनुष्य हूं इस बुद्धि का दूरकरणरूप जीवन्मुक्ति व्रत नहीं, जैसे रसना के साथ अन्न के संबंध दूर करण रूप एकादशी का व्रत होता है, तात्पर्य यह है कि जैसे रसना के साथ अन्न का संबंध होने पर एकादशी का व्रत नष्ट हो जाता है, तैसे कदाचित् व्यवहार काल में मैं मनुष्य हूं इस बुद्धि के उदय होने से ज्ञान नाश नहीं होता, किंतु सम्यक् ज्ञान से भ्रम ज्ञान का नाश होता है, यह ज्ञान का स्वभाव है, इस कारण से कदाचित् व्यवहार काल में मैं मनुष्य हूं इस बुद्धि की उत्पत्ति रहते भी, मैं ब्रह्म हूं इस बुद्धि के पैदा होने से मनुष्य बुद्धि का अभाव हो जाता है ॥२४६॥

दशमोऽपि शिरस्ताडं रुदन्बुद्ध्वा न रोदिति ।
शिरोव्रणस्तु मासेन शनैःशाम्यति नो तदा ॥ २४७ ॥

शंका—रस्सी आदि में सर्प आदि के भ्रम स्थान में सर्प आदि के ज्ञान का अभाव होने पर भी भ्रम का कार्य शरीर का कांपना आदि कुछकाल रहते हैं यह वार्ता तो ठीक है, परन्तु दशम पुरुष को यह किसी पुरुष ने उपदेश किया कि दशवाँ तू है इस वाक्य के विचार से उसको पैदा हुआ जो यह ज्ञान है कि दशवाँ मैं हूं, तिससे भ्रम दूर होने पर भ्रम का कार्य रहता नहीं दीखता।

उत्तर—यहतो ठीक है कि दशवाँ शिर को पीटता हुआ और रोता हुआ अपने को जान कर नहीं रोता परन्तु शिर की ताड़ना से पैदा हुआ जो घाव है, सो तो शीघ्र दूर नहीं होता किन्तु महीने भर में दूर होता है तैसे ज्ञानवान् का प्रारब्ध कर्म भी अज्ञान के नाश नहीं होता किंतु प्रारब्ध का फल भोगने से धीरे २ नष्ट होता है ॥२४७॥

दशमामृतिलाभेन जातो हर्षो व्रणव्यथाम्।
तिरोधत्ते मुक्तिलाभस्तथा प्रारब्धदुःखिताम् ॥ २४८॥

शंका—ज्ञान की प्राप्ति होने पर भी जो संसार की प्रतीत हुई तो मोक्ष की पुरुषार्थता कैसे सिद्ध हुई।

उत्तर—ज्ञान की प्राप्ति के रहते ज्ञानवान् को संसार की प्रतीति में क्लेश नहीं भान होता। मोक्ष की प्राप्तिरूप हर्ष संसार प्रतीतिरूप दुःख को ढक लेता है। जैसे दशवें पुरुष को दशवें पुरुष के वे मरण के ज्ञान से पैदा हुआ जो हर्ष है सो शिर घावों की पीड़ा को ढक लेता है ॥ २४८ ॥

व्रताभावाद्यदाऽध्यासस्तदा भूयो विविच्यताम्।
रससेवी दिने भुंक्ते भूयो भूयो यथा तथा ॥ २४९ ॥

अर्थ—और घृत के अभाव से जो अध्यास होजाय तो फिर विचार करे। जैसे रससेवी दिन में बारम्बार भोजन करता है। तात्पर्य यह है कि जब जीवन्मुक्ति घृत हुआ। तब जो अध्यास प्राप्त होवे अर्थात् मैं मनुष्य हूँ। जब देसी बुद्धि पैदा होवे और प्रारब्ध भोग की प्रतीत होवे तब फिर विचार करना जैसे रस के भक्षण करने हारे भूखके क्लेश को दूर करनेके लिये एक दिनमें बारम्बार भोजन करते हैं। तैसे अध्यास की निवृत्त वास्ते बारम्बार विचारकरना २४९

शमयत्यौषधेनायं दशमः स्वं व्रणं यथा।
भोगेन शमयित्वैतत्प्रारब्धं मुच्यते तथा ॥ २५० ॥

अर्थ—ज्ञान से जिसका नाश नहीं हुआ। ऐसा जो प्रारब्ध कर्म का फल है। उसका नाश किससे होता है।

उत्तर—भोग से प्रारब्ध कर्म के फल का नाश होता है। जैसे दशवें पुरुष के शिर का घाव औषधि से दूर होता है ॥ २५० ॥

किमिच्छन्निति वाक्योक्तः शोक मोक्ष उदिरतः।
आभासस्यत्ववस्थैषा षष्ठी तृप्तिस्तु सप्तमी ॥ २५१ ॥

अर्थ—इतने ग्रन्थ से किसकी इच्छा करता हुआ और किसकी कामना के लिये तत्ववेत्ता शरीर के तापों से ताप को प्राप्त हो। इस श्रुतिवाक्य ने कहा जो ज्ञानवान् को शोक का अभावहै सो कथन किया। यह शोक की निवृत्तिरूपचिदाभास की छठी अवस्था है और चिदाभास की तृप्तिरूप जो सातवीं अवस्था है सो सुन २५१

सांकुशा विषयैस्तृप्तिरियं तृप्तिर्निरंकुशा।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तृप्यति ॥ २५२ ॥

अर्थ—विषयों से जो तृप्ति होता है सो अंकुश सहित होती है। क्योंकि

और विषय की कामना से उस तृप्ति का नाश होजाता है और अपरोक्ष ज्ञानजन्य जो तृप्ति है सो निरंकुशा है। क्योंकि उसका अभाव किसी से नहीं होता। तृप्ति का अभाव दो प्रकार से होता है। एक तो जब कोई कार्य करने में योग्य प्रतीत होता है तब तृप्ति का अभाव होजाता है। और दूसरा जब प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त प्रतीत होती है। तब तृप्तिका अभाव होता है। सो ज्ञानवान् को करने योग्य कार्य कोई प्रतीत नहीं होता। संसारमें मिथ्या बुद्धि होने से संसारके व्यवहारकार्य नहीं प्रतीत होते और मोक्ष की प्राप्ति होने से मोक्ष वास्ते कोई साधन करने योग्य नहीं प्रतीत होता निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति होने से उसको अप्राप्त वस्तुप्राप्त होने योग्य कोई नहीं रहती। इससे ज्ञानवान् की तृप्ति निरंकुशा है ॥ २५२ ॥

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये।
बहुकृत्यं पुराऽस्याभूत्तत्सर्वं मधुना कृतम् ॥ २५३ ॥

अर्थ—ज्ञान की प्राप्ति से पूर्व इस लोक में इष्ट की प्राप्ति के लिये और अनिष्ट के दूर करने को कृषि बणज सेवा आदि अनेक कार्य करने योग्य प्रतीत होते थे। और स्वर्ग ब्रह्म लोक आदि की प्राप्ति के लिये और नरक के दूर करने को यज्ञ योग उपासना आदि अनेक कार्य करने योग्य प्रतीत होते थे। और मोक्ष के लिये ज्ञान के अनेक साधनश्रवण मनन आदि करने योग्य प्रतीत होते थे। और अब ज्ञान की प्राप्ति के रहते कोई साधन करने योग्य नहीं प्रतीत हो॰ा। क्योंकि उसने संसार को मिथ्या जाना है। तिस से संसार सुखों की इच्छा नहीं रहती। और जिस से उसको मोक्ष मिल गई है। तिस से उसको मोक्ष साधन भी करने योग्य नहीं रहे यह ज्ञानवान् की कृतकृत्यतारूप निरंकुशा तृप्ति है ॥ २५२ ॥

तदेतत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम्।
अनुसंदधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥ २५४ ॥

अर्थ—अब इस तृप्ति का फल रूप जो तृप्ति है। उसे दिखाते हैं। ज्ञानवान् इस कृत कृत्यतारूप तृप्ति को चिंतन करता हुआ प्रति योगी आदि चिंतन सहित इस प्रकार नित्य ही तृप्ति को प्राप्त होता है ॥ २५४ ॥

दुःखिनोऽज्ञाःसंसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया।
परमानंदपूर्णोहं संसरामि किमिच्छया ॥ २५५ ॥

अर्थ—अज्ञानी दुखी हैं वे कुत्ते और शूकर आदि की नाईं पुत्र आदि की इच्छा से कुत्ते और शूकर आदि के जन्मों को पावें। और परमानन्द से परिपूर्ण जो मैं हूं। सो किसकी इच्छा से जन्म लूं ॥ २५५ ॥

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ॥
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥ ५६

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोति च।
द्रष्टारश्चेत्कल्पयंति किं मे स्यादन्य कल्पनात् ॥ २५८ ॥

शंका—अक्रिय तो तू नहीं। क्योंकि अपने शरीर के लिये भिक्षा आदि कर्मकर्ता प्रतीत होता है और परलोक के लिये स्नान आदि कर्ता प्रतीत होता है।

उत्तर—निद्रा भिक्षा स्नान शौचादि कर्मों को मैं कदाचित् नहीं करता। और उनकी इच्छा भी मैं नहीं करता मूर्ख अज्ञानी मेरे में स्नान आदि कर्मों को कल्पते हैं। उससे मेरे को क्या। अर्थात् उससे मैं क्रियावान् नहीं होता ॥ २५८ ॥

गुंजा पुंजादि दह्येत नान्यारोपितवन्हिना।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥ २५९ ॥

अर्थ—जैसे वानरों ने चोंटलियों के समूह में अग्नि की कल्पना करी है। उस से चोंटलियाँ जल नहीं जातीं। तैसे अज्ञानियों ने मेरे में क्रिया की कल्पना करी तो उससे मैं क्रिया वाला नहीं होता ॥ २५९ ॥

शृण्वंत्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम्।
मन्यंतां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥ २६० ॥

शंका—संसार सुखों की इच्छा का अभाव करते यज्ञ आदि कर्मों की कर्तव्यता तेरे को मत हो। पर ब्रह्म साक्षात्कार के लिये श्रवण आदि तो करने चाहिये।

उत्तर—जिनको जिस वस्तु का अज्ञान है उन्होंने अज्ञान के दूर करने को श्रवण आदि करने चाहिये। और जिनको संशय है किसी वस्तु में उस संशय के दूर करने को वे मनन करें। और मैं तो अज्ञान और संशय से रहित हूँ। सो मैं किस कारण से श्रवण और मनन करूं ॥ २६० ॥

विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानमविपर्ययात्।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥ २६१ ॥

अर्थ—और जिनको देह आदि में आत्मता बुद्धि रूप और जगत् में सत्य बुद्धि रूप विपर्यय है। सो पुरुष इस विपर्यय के दूर करने को निदिध्यासन करे। और मेरे को तो विपर्यय नहीं है मैं निदिध्यासन किस लिये करूं ॥ २६१ ॥

अहं मनुष्य इत्यादि व्यवहारो विनाऽप्यमुम्।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥ २६२ ॥

शंका—जो तेरे को विपर्यय नहीं। तो मैं मनुष्य हूं मैं ब्राह्मण हूं इत्यादि व्यवहार तेरा कैसे होगा।

उत्तर—विपर्यय का अभाव रहते भी चिरकाल की वासना से मैं मनुष्य हूं इत्यादि व्यवहार बन जाता है ॥ २६२ ॥

प्रारब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते।
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥ २६३ ॥

आचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥ ५७

शंका—जो वासना से मैं मनुष्य हूं यह व्यवहार होता है तो इस व्यवहार के दूर करने को ध्यान करना चाहिये ।

उत्तर—प्रारब्ध कर्म पर्यंत यह व्यवहार रहेगा और उसका नाश होने पर मैं मनुष्य हूं यह व्यवहार निवृत्त हो जायगा । और प्रारब्ध के नाश के बिना यह व्यवहार सहस्र ध्यानों से भी दूर नहीं होता । एक ध्यान का तो क्या कहना है ॥२६३॥

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चे द्धयानमस्तु ते ।
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन् ध्यायाम्यहं कुतः ॥ २६४ ॥

शंका—मैं मनुष्य हूं इस व्यवहार की विरलता के लिये ध्यान करना चाहिये ॥

उत्तर—जिसको व्यवहार बाधक प्रतीत होता है । उसको ध्यान कर्तव्य है । और मेरे को ना यह व्यवहार क्लेश का कारण नहीं प्रतीत होता । इस से इस के दूर करने को मुझे ध्यान करना योग्य नहीं ॥२६४॥

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततोमम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥२६५॥

शंका—विक्षेप के दूर करने को समाधि तो तेरे को अवश्य करनी चाहिये ।

उत्तर—जिससे मेरे को विक्षेप नहीं है । तिससे मुझे समाधि कर्तव्य नहीं । विक्षेप और समाधि ये दोनो मनके धर्म हैं । मुझ में तो विक्षेप नहीं । तिससे विक्षेप का निवारक समाधि भी मुझे करने योग्य नहीं ॥२६५॥

नित्यानुभवरूपस्य को मे वाऽनुभवः पृथक् ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ॥२६६॥

शंका—समाधि का फल जो अनुभव है उसके लिये तुझे यत्न करना चाहिये ।

उत्तर—अनुभव तो मेरा स्वरूप है । तिस से उस के लिसे कुछ यत्न करना न चाहिये । जो करने योग्य था सो तो मैंने कर लिया । और जो प्राप्त होने योग्य था सो मैंने पालिया यह तत्ववेत्ता का निश्चय होता है ॥२६६॥

व्यवहारो लौकिकोवा शास्त्रीयो वाऽन्यथाऽपिवा ।
ममाकर्तुरलेपस्य यथाऽरब्धं प्रवर्तताम् ॥२६७॥

प्रश्न—जो तत्ववेत्ता को किसी प्रकार भी कुछ करने योग्य नहीं तो उस की शास्त्र निषिद्ध प्रवृत्ति होगी ॥

उत्तर—मैं कर्ता मैं भोक्ता हूं इस अभिमान से रहित जो तत्ववेत्ता है । उस का जैसा प्रारब्ध कर्म है तैसा व्यवहार हो । चाहे भिक्षा माँगना आदि रूप लौकिक व्यवहार । चाहे शास्त्र विहित जपसमाधि आदि व्यवहार । चाहे शास्त्र निषिद्ध हिंसा आदि व्यवहार हो । परंतु तत्ववेत्ता को किसी व्यवहार का स्पर्श नहीं होता । जैसे स्वप्न से जागे हुए पुरुष को स्वप्न का कोई व्यवहार स्पर्श नहीं होता यह वेदान्तों का असल सिद्धांत कहा ॥२ ७॥

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया ।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं कामप्रक्षतिः ॥२६८॥

अर्थ—तत्ववेत्ता यह कहता है कि मेरी दृष्टि में सब जगत् झूँठा है, और मेरे को कुछ कर्तव्य नहीं, तथापि जब तक शरीर की स्थिति है तब तक कुछ करना ही होता है, तिससे लोकों के कल्याण के लिये शास्त्र विहित व्यवहार को ही मैं करूं, इससे भी मेरी कुछ हानि नहीं ॥२६८॥

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक् तद्वत्पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥ २६९ ॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानंदे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥ २७० ॥

अर्थ—सो शास्त्रीय व्यवहार तीन प्रकार का है, एक शरीर का एक वाणी का एक मन का, देवताओं का पूजन करना और स्नान शौच भिक्षा आदि, यह शरीर का शास्त्रीय व्यवहार है, और प्रणव का जपना और उपनिषदों का पढ़ना, यह वाणी का शास्त्रीय व्यवहार है, और बुद्धि चाहे नारायण का ध्यान करे और चाहे निर्विकल्प समाधि करके ब्रह्मानंद में लीन हो जाय, यह मन का शास्त्रीय व्यवहार है, इस प्रकार तत्ववेत्ता इस व्यवहार को करता हुआ भी इस दृढ़ निश्चय में स्थित रहता है कि मैं साक्षीरूप हूं न मैं कुछ करता हूं और न कुछ कराता हूं ॥ २६९ ॥ २७० ॥

एवं च कलहः कुत्र संभवेत्कार्मिणो मम ।
विभिन्नविषयत्वेन पूर्वापरसमुद्रवत् ॥ २७१ ॥

अर्थ-इस प्रकार ऐसे होने पर ज्ञानवान् का और अज्ञानी का विवाद किसी वस्तु में नहीं होता, क्योंकि ज्ञानीका विषय भिन्न है, और अज्ञानीका विषय भिन्न है; जैसे जगन्नाथवासियों का और द्वारिका वासियों का विवाद नहीं होता ॥२७१॥

वपुर्वाग्धीपुनिर्ग्रंथः कर्मिणो न तु साक्षिणि ।
ज्ञानिनः साक्ष्यलेपत्वे निर्बंधो नेतरत्र हि ॥ २७२ ॥

अर्थ—साक्षी असंग है, और शरीर वाणी मन मिथ्या है, यहतो ज्ञानीका विषय है, और शरीर आदि सत्य हैं, यह अज्ञानी का विषय है, और अज्ञानी को साक्षी की कुछ खबर नहीं ॥२७२॥

एवं चान्योन्यवृत्तांतानभिज्ञौ बधिराविव ।
विवदेताम् बुद्धिमंतो हसंत्येव विलोक्य तौ ॥ २७३ ॥

अर्थ—इस प्रकार बहरे मनुष्यों की नाई परस्पर वृत्तांत को न जानते हुए जो लड़ते हैं उनको बुद्धिमान् देख कर हसते हैं, अर्थात् ऐसे होने पर भी जो ज्ञानी और कर्मी विवाद करते हैं, वे तत्ववेत्ताओं करके हाँसी के योग्य हैं, जैसे दो बहरे परस्पर वृत्तांतको न जानते हुए कलह करें एक बहरा बकरियोंके चरावने हारा था, सो किसी वृक्ष की छाया में सो गया और उसकी बकरियाँ कहीं चली गयीं, जब वह उठा तब उसको बकरियाँ नजर न आईं सो उनको ढूंढने लगा, एक राहगीर बहरा पुरुष उसे मिला, उससे उसने पूछा कि तैंने कहीं हमारी बकरियाँ देखी हैं तब राहगीर बहरे ने

यह समझा कि यह मुझसे पूछता है कि तू कहां से आया है, तब उसने जिस तरफ़ से आया था उधर अपना हाथ कर दिया, तब बकरियों का चरावने हारा समझा कि यह कहता है तेरी बकरियाँ इधर हैं, उधर वह गया दैवयोग से उसकी बकरियाँ मिल गयीं तब वह एक लंगड़ी बकरी उसको देने लगा उसको उपकार मान कर तब वह राहगीर बहरा कहने लगा कि मैंने तेरी बकरी की टाँग नहीं तोड़ी तब बकरियों वाला समझाकि यह यों कहता है कि मैं लंगड़ी बकरी नहीं लेता, इस प्रकार परस्पर वृत्तांत को न जानकर कलह करते भये तिससे हाँसी के योग्य हैं जिससे निर्विषय कलह करने हारे हैं ॥२७३॥

यं कर्मी न विजानाति साक्षिणं तस्य तत्त्ववित् ।
ब्रह्मत्वं बुध्यतां तत्र कर्मिणः किं विहीयते ॥ २७४ ॥

अर्थ—कर्मी जिस साक्षी आत्मा को नहीं जानता, कैसा भी साक्षी आत्मा है देह इन्द्रिय आदि से भिन्न है, तत्ववेत्ता उस साक्षी की ब्रह्मरूपता को जो जानता है उससे कर्मी का कुछ घटता नहीं ॥२७४॥ तिससे कर्मी की कलह व्यर्थ है

देहवाग्बुद्ध्यस्त्यक्ता ज्ञानिनाऽनृतबुद्धितः ।
कर्मी प्रवर्तयत्वाभिर्ज्ञानिनो हीयतेऽत्र किम् ॥ २७५ ॥

अर्थ—और ज्ञानी ने मिथ्या जानकर त्यागे जो हैं शरीर इन्द्रिय मन आदि, इन के साथ कर्मी वर्तो अर्थात् कर्म करे, तिससे ज्ञानवान् का कुछ घटता नहीं, इस से ज्ञानी जो कर्मी के साथ कलह करे सो व्यर्थ है, इससे क्लेश करने हारे दोनों को बुद्धिमान् हंसते हैं ॥२७५॥

प्रवृत्तिर्नोपयुक्ताचेन्निवृत्तिः कोपयुज्यते ।
बोधहेतुर्निवृत्तिश्चेद्बुभुत्सा यां तथेतरा ॥ २७६ ॥

शंका—ज्ञानवान् को कर्मों के करने में कुछ फल नहीं इससे कर्मों का त्याग करना चाहिये ।

उत्तर—ज्ञानवान् को कर्मों के त्याग में भी कुछ फल नहीं तिससे कर्म करने चाहिये ।

शंका—कर्मों का त्याग निष्फल नहीं, क्योंकि उससे बोध की प्राप्ति होती है ।

उत्तर-कर्मोंका करनाभी निष्फल नही क्योंकि उससे बोधकी इच्छा पैदा होती है २७६

बुद्धश्चेन्न बुभुत्सेत नाप्यसौ बुध्यते पुनः ।
अबाधादनुवर्तेत बोधो न त्वन्यसाधनात् ॥ २७७ ॥

शंका—जिसको बोध है उसको बोध की इच्छा नहीं होती ।

उत्तर—ज्ञानवान् को फिर बोध भी प्राप्त नहीं होता जिससे प्रथम प्राप्त हुआ है, तिससे ज्ञानवान् को बोध के लिये कर्मों का त्याग नहीं बनता ।

शंका—एक वादी पैदा हुआ जो बोध है उसकी स्थिरता के लिये ज्ञानवान् को कर्मों का त्याग करना चाहिये ।

उत्तर—बोध की स्थिरता तो बाधक के अभाव को चाहती है । और साधन को नहीं चाहती । जैसे चूहों का फिरना या किलोल करना बिल्लीके अभाव को चाहत

है। वेद वाक्य प्रमाण से पैदा हुआ जो ज्ञान है उसका और किसी प्रबल प्रमाण से अभाव नहीं होता क्यों कि वेद प्रमाण से प्रबल और कोई प्रमाण नहीं । तिससे बोध की स्थिरता के लिये और कोई साधन करने योग्य नहीं ॥ २७७ ॥

नाविद्या नापि तत्कार्यं बोधं बाधितुमर्हति ।
पुरैव तत्त्वबोधेन बाधिते ते उभे यतः ॥ २७८ ॥

शंका—और प्रमाण से बोध का अभाव मत हो। पर अविद्या और उसका कार्य जो मैं कर्ता हूं यह अध्यास है उससे बोध का अभाव हो जायगा ।

उत्तर—अविद्या और उसका कार्य बोध के नाश करने को समर्थ नहीं जिस कारण से प्रथम ही बोधने व दोनों नष्ट कर छोड़े हैं ॥ २७८ ॥

बाधितं दृश्यतामक्षैस्तेन बाधो न शक्यते ।
जीवन्नाखुर्न मार्जारं हंति हन्यात्कथं मृतः ॥ २७९ ॥

शंका—अविद्या का अभाव तो होता है और उसके कार्य का अभाव नहीं होता जिससे बोध के होने पर भी अविद्या का कार्य दीखता है। तिससे अविद्या के कार्य से बोध का नाश हो जायगा ।

उत्तर—अविद्या के कार्य का अविद्या उपादान कारण है, उसका नाश होने पर उसके कार्य की सत्ता नहीं रहती जैसे आकाश की निराकारता का ज्ञान होने पर उस की कटाहाकारता की सत्ता नहीं रहती, पर कटाहाकारता नेत्रों से प्रतीत होता है तिससे रास्ते नहीं रुक जाते, तैसे अविद्या का कार्य सत्ता से रहित मिथ्या हुआ प्रतीत हो पर उससे बोध के नाशकी शंका नहीं होती, जब अविद्या के कार्य में सत्यता प्रतीत होती थी तब तो वह बोध की उत्पत्तिका प्रतिबंधक नहीं हुआ और अब बोध से मिथ्यारूपता को प्राप्त हुआ बोध के नाश को करेगा यह कहना तो ऐसा है जैसे कोई कहे कि जीते चुहे ने बिल्ली को नहीं मारा तो भी मरा हुआ चुहा बिल्ली को मारलेगा ॥ २७८ ॥

अपि पाशुपतास्त्रेण विद्धश्चेन्न ममार यः ।
निष्फलेषु वितुन्नांगो नङ्क्ष्यतीत्यत्र का प्रमा ॥ २८० ॥

अर्थ—जो पुरुष शिवजी के अस्त्र से घायल हुआ भी न मरा सो नोंक से रहित सीक मात्र रूप बालक ने चलाया जो तीर है, उससे मरेगा ऐसे इस में कोई प्रमाण नहीं ॥ २८० ॥

आदावविद्यया चित्रैः स्वकार्यैर्जृंभमाणया ।
युद्ध्वा बोधोऽजयत्सोऽद्य सुदृढो बाध्यतां कथम् ॥ २८१ ॥

अर्थ—तैसे अनेक प्रकार के विचित्र जो अपने कार्य हैं, उनसे विस्तार को प्राप्त हुई जो अविद्या है उनके साथ बोधरूप राजा श्रवण मनन निदिध्यासन समय में युद्ध कर अविद्या को और उसके प्रमातृत्व आदि कार्य को जीतलेता भया। अर्थात् अविद्या का स्वरूप से नाश कर देता भया और उनके कार्य को मिथ्या कर देता भया सो बोध अब अभ्यास की दृढ़ता से अविद्या को नष्ट कर अत्यन्त दृढ़ता को प्राप्त हुआ

सत्तासे रहित मिथ्यारूप जो अविद्या का कार्य है अध्यास उससे कैसे बाधको प्राप्त होवे, अर्थात् नष्ट नहीं होता ॥ २८१ ॥

तिष्ठंत्वज्ञानतत्कार्यशवाबोधेन मारिताः ॥
न भीतिर्बोधसम्राजः कीर्तिः प्रत्युत तस्य तैः ॥२८२॥

अर्थ—अज्ञान और उसके कार्य रूप जो मुर्दे हैं, से बोध रूपी राजा करके मारे हुए प्रारब्ध की स्थिति रूप में रास्तेमें पड़े रहें। उससे बोधरूप चक्रवर्ती राजा की हानि नहीं होती किन्तु उसकी कीर्ति होती है ॥ २८२ ॥

य एवमतिशूरेण बोधेन न वियुज्यते ॥
प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या वा देहादिगतयाऽस्यकिम् ॥२८३॥

अर्थ—ऐसे हो पर प्रसंग में कथा आया। अविद्या और उसके कार्य के नाशकर ने द्वारा जो बोधरूप सूरमा है, जो उसके साथ वियोग को नहीं प्राप्त होता अर्थात् मैं ब्रह्म हूं यह ज्ञान जिन के हृदय में सदा दृढ़ है उसको शरीर इन्द्रिय आदि की प्रवृत्ति और निवृत्ति से कुछ इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति नहीं होती ।। २८३ ॥

प्रवृत्तावाग्रहोन्याय्यो बोधहीनस्य सर्वथा ॥
स्वर्गाय वाऽपवर्गाय यतितव्यं यतो नृभिः ॥२८४॥

शंका—जो ज्ञानवान् की प्रवृत्ति में आग्रह नहीं। तो अज्ञानी का भी प्रवृत्ति में आग्रह नहीं चाहिये।

उत्तर—अज्ञानी को प्रवृत्ति में आग्रह करना सदा चाहिये। जिससे मनुष्य जन्म को धार कर स्वर्ग अथवा मोक्षके लिये यत्न करना योग्यहै और जो मनुष्य शरीर पाकर स्वर्ग अथवा मोक्ष के लिये यत्न न करे तो मनुष्य शरीर भी गधे और कुत्ते आदि के तुल्य हुआ ॥ २८४ ॥

विद्वांश्चेतादृशां मध्ये तिष्ठेत्तदनुरोधतः ॥
कायेन मनसा वाचा करोत्येवाऽखिलाः क्रियाः ॥२८५॥

शंका—यह जो आपने कहा कि ज्ञानवान् की प्रवृत्ति में आग्रह नहीं होताजब ज्ञानवान् कर्मियों के मध्य में स्थित हो तब उसको क्या कर्तव्य है।

उत्तर—जब ज्ञानवान् कर्मियों के मध्यमें रहता है तब उनके अनुसार मन से वाणी से शरीर से सब कर्म करता है ॥ २८५ ॥

एव मध्ये मुमुक्षूनां यदा तिष्ठेत्तदा पुनः ॥
बोधायैषां क्रियाः सर्वा दूषयंस्त्यजतु स्वयम् ॥२८६॥

अर्थ—और जब ज्ञानवान् जिज्ञासुओं के मध्य में स्थित होता है तब उनको बोध की प्राप्ति के लिये सब कर्मों में दोष को करता हुआ आप भी सब कर्मों को छोड़ देता है॥ २८६ ॥

अविद्वदनुसारेण वृत्तिर्बुद्धस्य युज्यते ॥
स्तनंधयानुसारेण वर्तते तत्पिता यतः ॥२८७॥

अर्थ—ज्ञानवान् इस प्रकार क्यों वर्तता है जैसे बालक के अनुसार उसका पिता वर्तता है तैसे अज्ञानियों के अनुसार तत्त्ववेत्ता का वर्तना योग्य है ॥ २८७ ॥

अधिक्षिप्तस्ताडितो वा बालेन स्वपिता तदा ॥
न क्लिश्नाति न कुप्येत बालं प्रत्युत लालयेत् ॥२८८॥

अर्थ जैसे बालक करके धक्का दिया हुआ अर्थात् उलटा गिरा हुआ और ॥ ॥ ॥ प्राप्तहुआ उसका पिता क्लेश और क्रोध को प्राप्त नहीं होता। बलके बालक पर लाड करता है ॥२८८॥

निंदितः स्तूयमानो वा विद्वानज्ञैर्न निंदति ।
न स्तौति किंतु तेषांस्याद्यया बोधस्तथाऽऽचरेत् ॥२८९॥

अर्थ—तैसे ज्ञानवान् भी अज्ञानियों का निंदा को सुनकर निंदा नहीं करता। और स्तुति को सुनकर स्तुति नहीं करता। किंतु उन अज्ञानियों को जैसे बोध की प्राप्ति हो तैसे करता है ॥२८९॥

येनायं नटने नात्र बुध्यते कार्यमेव तत् ।
अज्ञप्रबोधा न्नैवान्यत्कार्यमस्त्यत्र तद्विदः ॥ २९० ॥

अर्थ--जिस कारण से तत्त्ववेत्ता को इतना कर्तव्य है कि अज्ञानी को बोध कराना। तिस से जिस प्रकार से उस अज्ञानी को बोध हो सोई प्रकार करना चाहिये ज्ञानवान् को। अज्ञानी को बोध कराने से भिन्न ज्ञानवान् को और कोई कर्तव्य नहीं२९०

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्त प्राप्यतया पुनः ।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरंतरम् ॥२९१॥

अर्थ—इस प्रकार कृतकृत्यता से तृप्त हुआ और जो प्राप्त होने योग्य वस्तु है उसकी प्राप्ति से तृप्त होता हुआ ज्ञानवान् अपने मन से सदा ऐसे मानता है ॥२९१॥

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमंजसावेद्मि ।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानंदो विभाति मे स्पष्टम् ॥२९२॥

अर्थ—क्या मानता है कि धन्योऽहं धन्योऽहं जिस से मैं सदा ही देश काल वस्तु के परिछेद से रहित आत्मा को बिना ही यत्न से अनुभव करता हूं इस कारण से मैं कृतकृत्य हूं इस प्रकार आत्मज्ञान के लाभ से तृप्ति को प्राप्त होता हैं अब आत्मज्ञान के लाभ का जो फल है उस फल को मिलने से जो तृप्ति होती है उसे सुन धन्योऽहंधन्योऽहं जिस से मेरे को ब्रह्मानन्द स्पष्ट प्रतीत होता है इस से मैं कृतकृत्य हूं यह दो प्रकार की तृप्ति इष्ट की प्राप्ति से होती है ॥ २९२ ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥२९३॥

अर्थ --अब अनिष्टकी निवृत्ति से जो तृप्ति होता है उसे सुन। धन्योऽहं२ जिस से दुःख रूप संसार को मैं नहीं देखता अब तिससे मैं कृतकृत्य हूं। दुःखरूप संसार

को मैं नहीं देखता अब तिससे मैं कृतकृत्य हूं। दुःखरूप संसार की प्रतीति मुझे क्यों नहीं होती ? मेरा अनेकवासना वाला अज्ञान नष्ट होगया है। इस कारणसे मुझे दुःख रूप संसार प्रतीत नहीं होता इस से मैं धन्य हूं २ ॥२९३॥

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित् ।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य सम्पन्नम् ॥२९४॥

अर्थ—और अज्ञान की निवृत्ति होने से अब मुझे करने योग्य कुछ नहीं रहा इससे मैं धन्य हूं और प्राप्त होने योग्य अब मुझे मिल गया है अप्राप्त कुछ वस्तु नहीं रही इस से मैं धन्य हूँ ॥ २९४ ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः धन्यः ॥२९५॥

अर्थ—और मुझको जो प्राप्त हुई है तृप्ति उसका दृष्टान्त संसार में कोई नहीं दीखता इससे मैं धन्य हूं २ इससे परे और कहने योग्य कुछ नहीं अब तृप्ति ही सब तरफ नजर आती है, इससे धन्य हूं २ धन्य हूं २ बारंबार मैं धन्य हूं ॥२९५॥

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ॥
अस्य पुण्यस्य सम्पत्तेरहो वयमहो वयम ॥२९६॥

अर्थ—यह जो मैंने सब प्रकार की कृतकृत्यता कही है तिसका कारणजो पुण्य का फल है, उसको याद करता हुआ ज्ञानवान् तृप्त होता है; बड़े उत्तम मेरे पुण्य हैं बड़े उत्तम मेरे पुण्य हैं, जिनका फल मुझे तृप्तिरूप मिला है, और इस पुण्य के करने हारा जो मैं हूं सो भी उत्तम हूं उत्तम हूँ ॥२९६॥

अहो शास्त्रमहोशास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ॥
अहो ज्ञानमहोज्ञानमहो सुखमहोसुखम् ॥२९७॥

अर्थ—शास्त्र धन्य है शास्त्र धन्य है, और शास्त्र के उपदेश करने हारे गुरु धन्य हैं २ और ज्ञान धन्य है २ और ज्ञान से मिला जो सुख है सो आश्चर्य रूप है २ जिससे उसके तुल्य और सुख कोई नहीं है ॥२९७॥

तृप्तिदीपमिमं नित्यं येऽनुसंदधते बुधाः ।
ब्रह्मानंदे निमज्जंतस्ते तृप्यंति निरंतरम् ॥ २८९ ॥

अर्थ—जो बुद्धिमान् इस तृप्तिदीप प्रकरण को नित्य विचारते हैं वे ब्रह्मानंद में मग्न रहते हैं, और निरंतर तृप्त होते हैं, और जो तृप्ति पूर्व कही है उसको प्राप्ति होते हैं ॥२९८॥

इति श्री विद्यारण्य कृत पंचदश्यां तृप्तिदीपप्रकरणम् समाप्तम् ७

* समाप्तम् श्चेदंपूर्वार्धम् *

॥ श्रीः ॥

॥ श्रीगणेशायनमः ॥

अथ कूटस्थदीप प्रकरणम् ८

——(:०:)——

खादित्यदीपिते कुड्येदर्पणादित्यदीप्तिवत् ॥
कूटस्थ भासितो देहोधीस्थजीवेन भास्यते ॥ १ ॥

श्रीगणेशायनमः ॥ अथ कूटस्थदीप व्याख्या ॥
नत्वा श्रीभारतीतीर्थ विद्यारण्य मुनीश्वरौ ॥
कुर्वे कूटस्थदीपस्य व्याख्यां तात्पर्य दीपिकाम् ॥ १ ॥

अर्थ—अब कूटस्थ नाम जो पञ्चदशी का आठवाँ प्रकरण है उसका आरंभ करते हैं, जिज्ञासुओं के मोक्ष का कारण ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान है। सो ज्ञान त्वं पदार्थ शोधन से पैदा होता है। इस कारण से त्वं पदार्थ का शोधन करना चाहिये। शोधन नाम वाच्य अर्थ और लक्ष्य अर्थ निर्णय करने का है। सो लक्ष्य अर्थ त्वं पद का कूटस्थ है। और वाच्य अर्थ चिदाभास है। सो दोनों भिन्न २ करके कहते हैं। इस स्थूल शरीर के प्रकाशक दो चैतन्य हैं। एक कूटस्थ और एक चिदाभास कूटस्थ ने प्रथम सामान्य रूपता से शरीर प्रकाशित किया है। सो और चिदाभास जो अन्तःकरण में चैतन्य का प्रतिबिंब रूप है। उस ने पश्चात् विशेष रूपता से प्रकाशित किया है। जैसे आकाश में स्थित जो प्रसिद्ध सूर्य है उस ने प्रथम दिवार आदि को सामान्य रूपता से प्रकाशा है और जल या दर्पण में जो सूर्य का प्रतिबिंब है उसने विशेष रूपता से दिवार आदि का प्रकाश किया है॥ १॥

अनेकदर्पणादित्यदीप्तीनां बहुसंधिषु ॥
इतराव्यज्यते तासामभावेऽपि प्रकाशते ॥ २ ॥

शंका—दिवार आदि में प्रतिबिंब रूप सूर्य के प्रकाश से भिन्न आकाश में स्थित सूर्य का प्रकाश नहीं दीखता।

उत्तर—दिवार आदि में दश बीस प्रतिबिंब रूप सूर्य्यों का प्रकाश दीखता है। परन्तु उन संधि रूप स्थानों के प्रकाश ने द्वारा आकाश में स्थित सूर्य्य का प्रकाश सामान्य प्रतीत होता है। जो संधियों के स्थान में आकाशस्थित सूर्य का प्रकाश न

हो तो संधियों के स्थान के रूप की प्रतीति न हो क्यों कि विना प्रकाश से रूप की प्रतीति नहीं होती। और प्रतिविंब रूप सूर्य्यों का अभाव रहते आकाश स्थित सूर्य का प्रकाश दिवार आदि में प्रतीत होता है ॥ २ ॥

चिदाभास विशिष्टानां तथाऽनेकधियामसौ ॥
संधिंधियामभावं च भासयन् प्रतिविच्यताम् ॥३॥

अर्थ—तिसी प्रकार बुद्धि में चैतन्य का प्रतिविंब रूप चिदाभास के प्रकाश से युक्त जो अनेक बुद्धि की वृत्तियाँ हैं घटज्ञान पटज्ञान आदि रूप। उनकी संधिको जाग्रत्-अवस्था में और स्वप्न अवस्था में प्रकाश ने द्वारा और बुद्धि वृत्तियों के अभाव को सुषुप्ति और समाधि में प्रकाश ने द्वारा जो कूटस्थ चैतन्य है उसको चिदाभास से भिन्न जान ॥ ३ ॥

घटैकाकारधीस्था चिद् घटमेवावभासयेत् ॥
घटस्य ज्ञातता ब्रह्म चैतन्येनावभासते ॥ ४ ॥

अर्थ—जैसे देह के बाहर घट आदि के प्रकाशक चिदाभास और ब्रह्म भिन्न २ हैं। तैसे देह के भीतर देह के प्रकाशक चिदाभास और कूटस्थ भिन्न २ हैं। सो जैसे हैं तैसे सुन। एक घट के प्रकाश ने द्वारा जो बुद्धि में स्थित चिदाभास है। सो घट मात्र का प्रकाश करता है। और घट में जो ज्ञातता रूप धर्म है। चिदाभास से पैदा होता हुआ ज्ञातोघटः इस व्यवहार का कारण। उस ज्ञातता रूप धर्म को घट की कल्पना का अधिष्ठान जो ब्रह्म चैतन्य है। उसने प्रकाशित किया है ॥ ४ ॥

अज्ञातत्वेन ज्ञातोऽयं घटः बुद्ध्युदयात्पुरा ॥
ब्रह्मणैवोपरिष्टात्तु ज्ञातत्वेनेत्यसौभिदा ॥ ५ ॥

शंका—बुद्धि में चिदाभास है। उस को अंगीकार करना व्यर्थ है। क्योंकि घट की ज्ञातता के प्रकाश ने द्वारे ब्रह्म चैतन्य से घट की प्रतीति बनजाती है।

उत्तर—जो बुद्धिवृत्तिमें प्रतिविंब रूप चिदाभासको न मानेगा। तो घटका ज्ञातता और अज्ञातता रूप भेद सिद्ध न होगा। सो जिसप्रकार है सो सुन। घटमें ज्ञातता रूप धर्म और अज्ञातता रूप धर्म रहता है काल भेद से। जिस से सभी लोक कहते हैं कि मैं घट को नहीं जानता और मैं जानता हूं। तिस से यह भेद तेरे मत में कैसे सिद्ध होगा जो बुद्धि की वृत्ति में चैतन्य का प्रतिविंब रूप चिदाभास न मानेगा। तिस से जब बुद्धि की वृत्ति में चैतन्य के प्रतिविंब रूप चिदाभास की घट में प्रकटता होती है

तब घट में ज्ञातता रूप धर्म की उत्पत्ति होती है और उस की प्रकटता से पूर्व घट में अज्ञातता रूप धर्म रहता है। तिस से ज्ञातता और अज्ञातता रूप धर्म के भेद वास्ते घट का प्रकाशक बुद्धि वृत्ति में चैतन्य का प्रतिबिंब रूप चिदाभास अवश्य मानना चाहिये ॥ ४ ॥

चिदाभासांतधीवृत्तिर्ज्ञानं लोहांतकुंतवत् ॥
जाड्यमज्ञानमेताभ्यां व्याप्तः कुंभो द्विधोच्यते ॥ ६ ॥

शंका—एक घट में ज्ञातता और अज्ञातता रूप विरूद्ध दो धर्म कैसे रहते-हैं।

उत्तर—घट में ज्ञातता की स्थिति का कारण ज्ञान है और अज्ञातता की स्थिति का कारण अज्ञान है। ज्ञान और अज्ञान किसे कहते हैं? बुद्धि की वृत्ति के अग्र भाग में चैतन्य के प्रतिबिंब रूप चिदाभास सहित जो बुद्धि की वृत्ति है सो ज्ञान है जैसे अग्रभाग में लोहे सहित बाण होता है। तिस ज्ञान से व्याप्त होता हुआ घट ज्ञात कहता है और जड़ता का नाम अज्ञान है तिस से व्याप्त होता हुआ घट अज्ञान कहाता है। इस से एक घट में ही ज्ञान और अज्ञान रूप कारण से ज्ञातता और अज्ञातता रूप विरुद्ध धर्म बनजाते हैं। अर्थात ज्ञातता का कारण ज्ञान है और अज्ञातता का कारण अज्ञान है ॥ ६ ॥

अज्ञातो ब्रह्मणाभास्यो ज्ञातः कुंभस्तथा न किम् ॥
ज्ञातत्वजननेनैव चिदाभासपरिक्षयः ॥ ७ ॥

शंका—अज्ञान करके व्याप्त होने से अज्ञात घट को ब्रह्म कर के प्रकाश्यता हो पर ज्ञान से व्याप्त जो ज्ञात घट है उसको ब्रह्म करके प्रकाश्यता किस कारण से है।

उत्तर—जैसे अज्ञान घट में अज्ञातता को उत्पन्न करता है और अज्ञातता को प्रकाशता नहीं तैसे ज्ञान भी घट में ज्ञातता को पैदा कर देता है और ज्ञातता को प्रकाशता नहीं। तिससे जैसे अज्ञात घट का प्रकाशक ब्रह्म चैतन्य है तैसे ज्ञात घट का प्रकाशक भी ब्रह्म चैतन्य है जिस से ज्ञातता के पैदा करने से ही ज्ञान नाश हो जाता है ॥७॥

आभासहीनया बुद्ध्या ज्ञातत्वं नैव जन्यते ॥
तादृग्बुद्धेर्विशेषः को मृदादेः स्याद्विकारिणः ॥ ८ ॥

शंका—जैसे अज्ञान अज्ञातताको पैदा करता है तैसे बुद्धि ज्ञातता को पैदा करे चिदाभास सहित बुद्धि ज्ञातता को पैदा करती है ऐसे क्यों कहते हो।

उत्तर—चिदाभास रहित जो बुद्धि है सो ज्ञातता के पैदा करने में समर्थ नहीं उसको अप्रकाश रूप होने से जैसे मिट्टी आदि अप्रकाश रूप हैं विकारी होने से तैसे विकारी बुद्धि भी चिदाभास से रहित हुई अप्रकाश रूप है। तिससे ज्ञातता के पैदा करने में बुद्धि समर्थ नहीं ॥८॥

ज्ञात इत्युच्यते कुंभो मृदा लिप्तो न कुत्र चित् ॥
धीमात्रव्याप्तकुंभस्यज्ञातत्वं नेष्यते तथा ॥ ९ ॥

अर्थ—जैसे लाल काली आदि मिट्टी से लिपा हुआ घट किसी देश में किसी काल में ज्ञातता प्राप्त नहीं होता तैसे बुद्धि मात्र से युक्त घट ज्ञात नहीं होता ॥९॥

ज्ञातत्वं नाम कुंभेऽस्मिश्चिदाभासफलोदयः ॥
न फलं ब्रह्मचैतन्यं मानात्प्रागपि सत्त्वतः ॥ १० ॥

अर्थ—जिस से केवल बुद्धि को ज्ञातता पैदा करने की समर्थ नहीं इससे घटमें चिदाभास रूप फल की जो प्रकटता है सोई घटमें ज्ञातता है।

शंका—जो केवल बुद्धि ज्ञातता के पैदा करने को समर्थ नहीं तौ भी चिदाभास नहीं मानना चाहिये ब्रह्म चैतन्य रूप फल के विद्यमान होने से।

उत्तर—फल नाम घट आदि की प्रतीति का है। सो फल ब्रह्म चैतन्य नहीं होता जिस से नेत्र आदि के प्रमाण की प्रवृत्ति से पूर्व भी ब्रह्म चैतन्य विद्यमान है इस से ब्रह्म चैतन्य फल नहीं होता फल को उत्तर काल में होने से तिस से नेत्र आदि प्रमाण की प्रवृत्ति से उत्तर घट में प्रकट हुआ जो चिदाभास है सोई फल है तिस से चिदाभास अवश्य मानना चाहिये ॥ १० ॥

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता ॥
संवित्सैवेह मेयोर्थोवेदांतोक्तिप्रमाणतः ॥ ११ ॥

शंका—यह जो आपका कथन है कि ब्रह्म चैतन्य फल नहीं सो सुरेश्वराचार्य के वचन से विरुद्ध है। क्यों कि अनात्म पदार्थों में प्रमाण की प्रवृत्ति के रहते प्रमाण की फल रूपता से माना जो चैतन्य वस्तु है वेदांत वाक्य रूप प्रमाण से जानने योग्य अर्थ है। यह सुरेश्वराचार्य का वचन है तिस से ब्रह्म चैतन्य फल रूप प्रतीत होता है जिस से वेदांत वाक्य प्रमाण से जानने योग्य ब्रह्म है ॥ ११ ॥

इति वार्तिककारेण चित्सादृश्यं विवक्षितम् ॥
ब्रह्मचित्फलयोर्भेदः सहस्र्यां विश्रुतो यतः ॥ १२ ॥

उत्तर—सुरेश्वराचार्य के वचनका अर्थ यह है कि फल ब्रह्म चैतन्य जैसा होता है।

शंका—सुरेश्वराचार्य के वचन का यह तात्पर्य आपने कैसे जाना।

उत्तर—सुरेश्वराचार्य के गुरु जो श्रीमत् शंकराचार्य हैं उन्होंने उपदेश सहस्री नाम ग्रंथ में ब्रह्म चैतन्य और फल चेतन्य का भेद कहा है इस से हम जानते हैं कि सुरेश्वराचार्य का यह तात्पर्य है जो इस प्रकार सुरेश्वराचार्य के वचन की व्यवस्था न करी जायगी तो गुरुके वचन साथ सुरेश्वराचार्यके वचनका विरोध आवेगा १२

आभास उदितस्त स्माज्ज्ञातत्वं जनयेद्ध घटे ॥

तत्पुनर्ब्रह्मणाभास्यमज्ञातत्ववदेवहि ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस कारण से ब्रह्म चैतन्य और फल चैतन्य का भेद है तिस कारण से घट में प्रकट हुआ चिदाभास घट में ज्ञातता को पैदा करे है। और पैदा हुई ज्ञातता को फिर ब्रह्म चैतन्य प्रकाशता है। जैसे ब्रह्म चैतन्य अज्ञातता को प्रकाशता है ॥ १३ ॥

धीवृत्त्याभासकुंभानां समूहो भास्यते चिदा ॥

कुंभमात्रफलत्वात्स एक आभासतः स्फुरेत् ॥ १४ ॥

अर्थ—बुद्धि की वृत्ति और चिदाभास और घट इन के समूह को ब्रह्म चैतन्य प्रकाशता है। और चिदाभास एक घट मात्र को प्रकाशता है जिस से चिदाभास एक घट मात्र में फल रूपता से प्रकट हुआ है ॥ १४ ॥

चैतन्यं द्विगुणं कुंभे ज्ञातत्वेन स्फुरत्यतः ।

अन्येऽनुव्यवसायाख्यमाहुरेतद्यथोदितम् ॥ १५ ॥

अर्थ—घट चिदाभास और ब्रह्म दोनों से प्रकाशित होता है इस में कारण सुन, घट को ब्रह्म और चिदाभास इन दोनों करके प्रकाशमान होने से घट में ज्ञातता रूप करके द्विगुण चैतन्य प्रतीत होता है घट की ज्ञातता का प्रकाशक जो ब्रह्म चैतन्य है उस को नैयायिक अनुव्यव साय कहते हैं। अर्थात् ज्ञानांतर कहते हैं ॥ १५ ॥

घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसादतः ॥

विज्ञातोघट इत्युक्ति र्ब्रह्मानुग्रहतो भवेत् ॥ १६ ॥

अर्थ-घट में दो प्रकार का व्यवहार होता है, एक अयंघट और दूसरा ज्ञातोघटः अयं घट यह व्यवहार चिदाभास से सिद्ध होता है, और ज्ञातो घट यह व्यवहार ब्रह्म चैतन्य से सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

आभासब्रह्मणी देहाद्बहिर्यद्विवेचिते ॥
तद्वदाभासकूटस्थौ विविच्येतां वपुष्यपि ॥ १७ ॥

अर्थ–जैसे देह से बाह्य घट आदि पदार्थों में चिदाभास और ब्रह्म भिन्न २ प्रकाशक कहे हैं, तैसे देह के भीतर चिदाभास और कूटस्थ विवेक से भिन्न २ जानने योग्य हैं ॥ १७ ॥

अहंवृत्तौ चिदाभासः कामक्रोधादिकासु च ॥
संव्याप्य वर्तते तप्ते लोहे वन्हिर्यथा तथा ॥ १८ ॥

शंका–देह से बाहर घट आदि में चिदाभास सहित घटाकार वृत्ति की नाईं देह के भीतर विषय वृत्ति तो नहीं होती इससे वृत्ति सहित चिदाभास को तुम कैसे मानतेहो

उत्तर–भीतर विषय वृत्ति का अभाव रहते भी अन्दर वृत्तियाँ तो होती हैं, अहं वृत्ति काम वृत्ति क्रोध वृत्ति लोभवृत्ति, उन में चिदाभास व्याप रहा है, जैसे तप्त लोहे में अग्नि व्याप रही है ॥ १८ ॥

स्वमात्रं भासयेत्तप्तं लोहं नान्यत्कदाचन ॥
एवमाभाससहिता वृत्तयः स्वस्वभासिकाः ॥ १९ ॥

अर्थ–तप्त लोहे में जो अग्नि है सो उस लोहे के प्रकाश ने को समर्थ है, और पदार्थों के पकाशने को समर्थ नहीं, इसी प्रकार चिदाभास सहित वृत्तियां अपने आप के प्रकाशने को समर्थ हैं और पदार्थों के प्रकाशने को समर्थ नहीं इस प्रकार अन्तर वृत्तियों में चिदाभास सिद्ध हुआ ॥ १६ ॥

क्रमाद्विच्छिद्य विच्छिद्य जायंते वृत्तयोऽखिलाः ॥
सर्वा अपि विलीयंते सुप्ति मूर्च्छा समाधिषु ॥ २० ॥

अर्थ–अब अन्तर कूटस्थ की सिद्धि का प्रकार सुन, सब वृत्तियाँ एक काल में पैदा नहीं होती, क्रम से धीरे २ पैदा होती हैं। और सब वृत्तियाँ सुषुप्ति मूर्छा और समाधि में लीन हो जाती हैं॥ २० ॥

संधयोऽखिलवृत्तीनामभावाश्चावभासिताः ॥
निर्विकारेण येनासौ कूटस्थ इति चोच्यते ॥ २१ ॥

शंका–इस प्रकार से सुषुप्ति आदि वृत्तियों का अभाव हो पर उस से कूटस्थ कैसे जाना जाय।

उत्तर–सब वृत्तियों की संधियां और सब वृत्तियों के अभाव जिस निर्विकार चैतन्य से प्रकाशित होते हैं सो कूटस्थ जानने योग्य है ॥ २१ ॥

घटे द्विगुण चैतन्यं यथा बाह्ये तथांतरे ॥
वृत्तिष्वपि ततस्तत्र वैशद्यं संधितोऽधिकम् ॥ २२ ॥

अर्थ–ऐसा होने पर यह सिद्ध हुआ कि जैसे शरीर के बाहर घट आदि में द्विगुण चैतन्य है एक घट मात्र का प्रकाशक चिदाभास दूसरा घट की ज्ञातता का प्रकाशक ब्रह्म चैतन्य, तैसे शरीर के भीतर अहं आदि रूप वृत्तियों में भी कूटस्थ चैतन्य और वृत्तियों का प्रकाशक चिदाभास इस प्रकार द्विगुण चैतन्य है, तिसी कारण से वृत्तियों में संधियों के साथ अधिक प्रकाश दीखता है ॥ २२ ॥

ज्ञातता ज्ञातते न स्तो घटवद्वृत्तिषु क्वचित् ॥
स्वस्य स्वेनागृहीतत्वात्ताभिश्चाज्ञाननाशनात् ॥ २३ ॥

शंक–जैसे घट आदि में ज्ञातता और अज्ञातता का प्रकाशक ब्रह्म चैतन्य माना है। तैसे वृत्तियों में भी ज्ञातता और अज्ञातताका।कूटस्थ चैतन्य प्रकाशकक्योंनहींमानते

उत्तर–वृत्तियों में ज्ञातता और अज्ञातता नहीं हैं। इस से वृत्तियों में ज्ञातता और अज्ञातता का प्रकाशक कूटस्थ चैतन्य हम नहीं मानते। और घट आदि में ज्ञातता और अज्ञातता अनुभव सिद्ध हैं। तिस से उस का प्रकाशक ब्रह्म चैतन्य हम मानते हैं, वृत्तियों में ज्ञातता और अज्ञातता क्यों नहीं ? वृत्तियों में ज्ञान और और अज्ञानकी प्राप्ति नहीं हैं इस से वृत्तियों में ज्ञातता और अज्ञातता नहीं हैं ज्ञान की प्राप्ति उसमें होती है। जो चिदाभास सहित वृत्तियों का विषय होता है। और वृत्ति तो वृत्ति का विषय नहीं। इससे वृत्ति में ज्ञातता नहीं। और अज्ञातता अज्ञान की प्राप्ति से होती है। सो अज्ञान की प्राप्ति वृत्तियों में नहीं है। जिस से वृत्ति की उत्पत्ति मात्र से वृत्ति में अज्ञान नष्ट होजाता है। और जो वृत्तियों में में भी अज्ञान हो। तो वृत्तियों से घट आदि का अज्ञान नष्ट न होना चाहिये। तिस से वृत्तियों में अज्ञातता भी नहीं। इसी कारण से वृत्तियों में ज्ञातता और अज्ञातता का प्रकाशक कूटस्थ चैतन्य हम नहीं मानते ॥ २३ ॥

द्विगुणीकृतचैतन्ये जन्मनाशानुभूतितः ॥
अकूटस्थं तदन्यत्तु कूटस्थमविकारतः ॥ २४ ॥

शंका–कूटस्थ और चिदाभास दोनों को चैतन्य रूपता की समानता के रहते एक को कूटस्थता और दूसरे को अकूटस्थता किस कारण से है।

उत्तर—चिदाभास की उत्पत्ति और विनाश का अनुभव होता है इस कारण से चिदाभास को अकूटस्थता है और कूटस्थ की उत्पत्ति और विनाश में कोई प्रमाण नहीं है इस कारण से कूटस्थ को कूटस्थता है ॥ २४ ॥

अंतःकरण तद्वृत्ति साक्षी त्यादावनेकधा ॥
कूटस्थ एव सर्वत्र पूर्वाचार्यैर्विनिश्चितः ॥ २५ ॥

शंका—चिदाभास से भिन्न कूटस्थ अपने मुख से तुम कल्पते हो तिस से उस को हम नहीं मानते ।

उत्तर पूर्व बड़े आचार्यों ने कूटस्थ का निरूपण किया है कि अन्तः करण और उसकी वृत्तियों का जो साक्षी है चैतन्य रूप और आनन्द रूप और सत्य आत्मा उसको तू क्यों नहीं प्राप्त होता, इत्यादि वाक्य में, तिससे तू ऐसे मत कहे कि तुम कूटस्थ को अपने मुख से कल्पते हो ॥२५॥

आत्माभासाश्रयाश्चैवं मुखा भासाश्रया यथा ॥
गम्यंते शास्त्रयुक्तिभ्यामित्याभासश्च वर्णितः ॥ २६ ॥

अर्थ—और पूर्व आचार्यों ने चिदाभास भी कहा है सो कूटस्थ से भिन्न वर्णन किया है, जैसे मुख और उसका प्रति बिंबरूप मुखाभास और उसका आश्रय दर्पण आदि ये तीनों प्रत्यक्ष मालूम होते हैं, तैसे आत्मा जो कूटस्थ है और चिदाभास और उसका आश्रय अंतःकरण आदि ये तीनों भी शास्त्र और युक्तियों से जाने जाते हैं, इस वाक्य में आभास नाम से कूटस्थ भिन्न चिदाभास कहा है, मन का साक्षी है और बुद्धि का साक्षी है यह कूटस्थ के कहने द्वारा शास्त्र है, और कूटस्थ उत्पत्ति विनाश रूप विकार से रहित है, और चिदाभास उत्पत्ति विनाश रूप विकारवान् है इत्यादि युक्तियां तो पूर्व कह आए हैं ॥ २६ ॥

बुद्ध्यवच्छिन्नकूटस्थो लोकांतरगमागमौ ॥
कर्तुं शक्तो घटाकाश इवाभासेन किं वद ॥ २७ ॥

शंका—जिससे बुद्धि अवच्छिन्न कूटस्थ लोकांतर में गमनागमन करने का समर्थ है । जैसे घटावच्छिन्न आकाश का देशांतर में गमनागमन होता है । तिस से चिदाभास का मानना व्यर्थ है ॥ २७ ॥

शृण्वसंगः परिच्छेदमात्राज्जीवो भवेन्नहि ॥
अन्यथा घटकुड्याद्यैरवच्छिन्नस्य जीवता ॥ २८ ॥

उत्तर—असंग कूटस्थ को बुद्धि के अवच्छेद मात्र से जीव रूपता नहीं बनती और जो असंग को बुद्धि के अवच्छेद मात्र से जीव रूपता मानोगे तो घट दिवार आदि से अवच्छिन्न को भी जीवरूपता होनी चाहिये ॥ २८ ॥

न कुड्यसदृशी बुद्धिः स्वच्छत्वादिति चेत्तथा ॥
अस्तु नाम परिच्छेदे किं स्वाच्छ्ये न भवेत्तव ॥ २९ ॥

शंका—बुद्धि स्वच्छ है इस से बुद्धि अवच्छिन्न को जीवरूपता बनती है और घट कुड्य आदि अस्वच्छ हैं तिस से घट कुड्य आदि से अवच्छिन्न को जीवरूपता नहीं बनती।

उत्तर-बुद्धि में स्वच्छता और घट दिवार आदि में अस्वच्छता हो पर स्वच्छता परिच्छेद में कारण नहीं होती॥ २९ ॥

प्रस्थेन दारुजन्येन कांस्यजन्येन वा न हि ॥
विक्रेतुस्तंडुलादीनां परिमाणं विशिष्य ते ॥ ३० ॥

अर्थ-जैसे किसी ने अन्न के मापने को दो पात्र बनाये एक काष्ठ का और एक कांसी का काष्ठ का अस्वच्छ है और कांसी का स्वच्छ है तो काष्ठ के बरतन से मापा हुआ तंडुल आदि अन्न घट नहीं जाता और कांसी के ४८ अंगुल के चौड़े बरतन से मापा हुआ तंडुल आदि अन्न बढ़ नहीं जाता ॥ ३० ॥

परिमाणविशेषेऽपि प्रतिबिंबो विशिष्यते ॥
कांस्येयदि तदा बुद्धावप्याभासो भवेद्बलात् ॥ ३१ ॥

शंका- कांसी के बरतन में चावल आदि की अधिकता का अभाव होने पर भी कांसी के बरतन में चावल आदि का प्रतिबिंब पड़ता है इतनी अधिकता है ॥ ३१ ॥

ईषद्भासनमाभासः प्रतिबिंबस्तथाविधः ॥
बिंबलक्षणहीनः सन् बिंबवद्भासते सहि ॥ ३२ ॥

उत्तर-तो बुद्धि में चिदाभास तैंने माना, क्योंकि कांसी के बरतन में चावलों के प्रतिबिंब की नांई बुद्धि में चैतन्य के प्रतिबिंब को तू मानता है, प्रतिबिंब और आभास का अर्थ एक है, बिंब लक्षण से रहित और बिंब की नांई जो प्रतीत हो सो प्रतिबिंब कहाता है, और आभास का भी अर्थ यहीं है कि जो थोड़ा सा भासे सो आभास कहाता है ॥ ३२ ॥

ससंगत्वविकाराभ्यां बिंबलक्षणहीनता ॥
स्फूर्तिरूपत्वमेतस्य बिंबवद्भासनं विदुः ॥ ३३ ॥

अर्थ—चिदाभास संगवाला और विकारी है इस से बिंब रूप असंग और अविकारी कूटस्थ चैतन्य के लक्षण से रहित है और प्रकाश रूप होने से बिंबरूप कूटस्थ चैतन्य की नाईं प्रतीत होता है।

अर्थ—जैसे हेतु लक्षण से रहित और हेतु की नाईं प्रतीत होने वाले हेत्वाभास कहाते हैं, तिस से चिदाभास मानना व्यर्थ नहीं ॥ ३३ ॥

नहि धीभावभावित्वाद्राभासोऽस्ति धियः पृथक् ॥
इति चेदल्पमेवोक्तं धीरप्येवं स्वदेहतः ॥ ३४ ॥

शंका—चिदाभास हो पर वह बुद्धि से भिन्न नहीं क्यों कि बुद्धि के रहते ही होता है।

उत्तर—यह तो तैंने अल्प शंका करी क्यों कि तेरे को यह शंका करनी चाहिये थी कि बुद्धि देह से पृथक् नहीं, जिस से देह के होने पर ही बुद्धि होती है ॥ ३४॥

देहे मृतेऽपि बुद्धिश्चेच्छास्त्रादस्ति तथा सति ॥
बुद्धेरन्यश्चिदाभासः प्रवेशश्रुतिषु श्रुतः ॥ ३५ ॥

शंका—देहके नष्ट होने परभी बुद्धि रहती है, जिससे शास्त्र कहता है, तहाँ श्रुतिः (सविज्ञानो भवति) अर्थ—देह को त्याग कर बुद्धि सहित जीव होता है ।

उत्तर—जो शास्त्र प्रमाण से देह से भिन्न तू बुद्धि को मानता है तो देह में प्रवेश के कहने हारी श्रुति करके बुद्धि से भिन्न चिदाभास भी मानना चाहिये ॥३५॥

धीयुक्तस्य प्रवेशश्चेन्नैतरेये धियः पृथक् ॥
आत्मा प्रवेशं संकल्प्य प्रविष्ट इति गीयते ॥ ३६ ॥

शंका—बुद्धि युक्त का ही प्रवेश बनता है बुद्धि से भिन्न का प्रवेश नहीं बनता ।

उत्तर—ऐतरेय उपनिषद् में बुद्धि से भिन्न का प्रवेश कहा है, आत्मा प्रवेश के संकल्प को कर शरीर में प्रवेश करता भया, तिस से ऐसा मत कहो कि बुद्धि युक्त का प्रवेश होता है ॥ ३६ ॥

कथंन्विदं साक्षदेहं मद्ते स्यादितीरणात् ॥
विदार्यमूर्धसीमानं प्रविष्टः संसरत्ययम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—इंद्रिय और बुद्धि आदि से सहित यह शरीर मेरी चैतन्य रूपता के विना व्यवहार करने को समर्थ नहीं इस से मुझको शरीरमें प्रवेश करना चाहिये ऐसे विचार कर शिरके कपालत्रय के मध्यदेश को फोड़कर शरीर में प्रवेश करता हुआ जाग्रत् आदि अवस्थाओं का अनुभव करता है ॥ ३७ ॥

कथं प्रविष्टोऽसंगश्चेत्सृष्टिर्वाऽस्य कथं वद ॥
मायिकत्वं तयोस्तुल्यं विनाशश्च समस्तयोः ॥ ३८ ॥

शंका—असंग आत्मा का प्रवेश नहीं बनता ।

शंका—(सिद्धाँती की) असंग को जगत्कारणता नहीं बनती ।

उत्तर—(पूर्वपक्षीका) जो जगत् का कारण है सो माया वाला है ।

उत्तर—(सिद्धान्ती का) प्रवेश कर्ता भी माया वाला है, क्यों कि सृष्टिकर्ता और प्रवेशकर्ता दोनों का विनाश होजाता है ॥ ३८ ॥

समुत्थायैप भूतेभ्यस्तान्येवानु विनश्यति ॥
विस्पष्टमिति मैत्रेय्यै याज्ञवल्क्य उवाच ह ॥ ३९ ॥

अर्थ—याज्ञवल्क्य मुनीश्वर ने मैत्रेयी के तांई कहा है, हे मैत्रेयि ! आत्मा वास्तव से चैतन्य घन रूप है, भूतों के कार्य देह इंद्रिय अन्तः करण में प्रवेशरूप निमित्त से जीवरूपता को प्राप्त हो जाता है। और जब अन्तः करण आदि नष्ट हो जाते हैं, तव जीव संज्ञा नष्ट हो जाती है, उपाधि के त्याग से जीव संज्ञा नहीं रहती, इस प्रकार उपाधि वाला जो जीव रूप था उस का विनाश कहा ॥ ३९ ॥

अविनाश्ययमात्मेति कूटस्थः परिवेचितः ॥
मात्रासंसर्ग इत्येवमसंगत्वस्य कीर्तनात् ॥ ४० ॥

अर्थ—और कूटस्थकी अविनाशता को कथन किया है,अरे मैत्रेयि यह आत्मा अविनाशी है जिस से इस का धर्म के नाश से नाश नहीं होता इस प्रकार चिदाभास से भिन्न कूटस्थ कहा है. कूटस्थ की नित्यता का कारण कूटस्थ की देह इंद्रिय अन्तः करण से असंगता है ॥ ४० ॥

जीवापेतं वाव किल शरीरं म्रियते न सः ॥
इत्यत्र न विमोक्षार्थः किंतु लोकांतरे गतिः ॥ ४१ ॥

शंका—छांदोग्य उपनिषद्में चिदाभास की नित्यता कही है जब चिदाभास शरीर को त्याग देता है तब शरीर मरता है और चिदाभास रूप नहीं मरता ।

उत्तर–छांदोग्य श्रुति का यह तात्पर्य नहीं है कि चिदाभास रूप जीव नित्य है किन्तु यह अर्थ है कि जब शरीर का नाश हो जाता है तब चिदाभास का नाश नहीं होता और मोक्ष अवस्था में जीव का नाश होता है, क्योंकि चिदाभास रूप जीव की उपाधि लिंग शरीर का नाश हो जाता है संचित कर्म के नष्ट होने से ब्रह्म ज्ञान करके तिस से चिदाभास रूप जीव अनित्य है॥ ४१ ॥

नाहं ब्रह्मेति बुध्येत स विनीशाति चेन्न तत् ॥
सामानाधिकरण्यस्य बाधायामपि संभवात् ॥ ४२ ॥

शंका–जो जीव विनाशी हैतो उस का अविनाशी ब्रह्म के साथ समानाधिकरणता रूप अभेद ज्ञान न होगा। क्योंकि विनाशी और अविनाशी की एकता नहीं बनती।

उत्तर–अहं ब्रह्म यह जो समानाधिकरण है सो मुख्य समानाधिकरण नहीं जैसे सोऽयं देवदत्त यह मुख्य समानाधिकरण है किन्तु बाध में समानाधिकरण है॥ ४२ ॥

योयं स्थाणुः पुमानेषपुं धिया स्थाणुधीरिव ॥
ब्रह्मास्मीति धियाशेषाप्यहंबुद्धिर्निवर्त्यते ॥ ४३ ॥

अर्थ–जैसे किसी पुरुष को स्थाणु और चोर में भ्रम हुआ और पश्चात् तत्त्व ज्ञान के होने पर वह पुरुष कहता है कि जो चोर था सो स्थाणु है इस वाक्य में समानाधिकरण बाध है। अर्थात् चोर का बाध करके स्थाणु शेष रहता है। तैसे भ्रम से प्रतीत हुई जो जीव रूपता थी उस का बाध करके ब्रह्म रूपता शेष प्रतीत होती है॥ ४३ ॥

नैष्कर्म्यसिद्धावप्येवमाचार्यैः स्पष्टमीरितम् ॥
सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वमतोऽस्तु तत् ॥ ४४ ॥

अर्थ–इस प्रकार नैष्कर्म सिद्धि नाम ग्रन्थ में सुरेश्वराचार्य ने स्पष्ट कहा है, इस से अहं ब्रह्मास्मि इस वाक्य में बाध रहते समानाधिकरण हो॥ ४४ ॥

सर्वं ब्रह्मेति जगता सामानाधिकरण्यवत् ॥
अहं ब्रह्मेति जीवेन सामानाधिकृतिर्भवेत् ॥ ४५ ॥

शंका—नैष्कर्म सिद्धि में सुरेश्वराचार्य ने बाध समानाधिकरण कहा भी है पर श्रुतियों में बाध समानाधिकरण कहीं नहीं प्रतीत होता।

उत्तर–सब यह ब्रह्म है इस श्रुति वाक्यमें जगत् का और ब्रह्मका समानाधिकरण बाध में दीखता है तैसे अहं ब्रह्म यह जीवके साथ ब्रह्म का समानाधिकरण है॥ ४५ ॥

समानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं निराकृतम् ॥
प्रयत्नतो विवरणे कूटस्थस्य विवक्षया ॥ ४६ ॥

शंका—जो बाध समानाधिकरण भी बनता है तो विवरणाचार्य ने बहुत यत्न से बाध समानाधिकरण का खंडन क्यों करा है।

उत्तर—विवरणाचार्य ने अहं शब्द का अर्थ कूटस्थ माना है इस से खंडन किया है ॥ ४६ ॥

शोधितस्त्वं पदार्थोयः कूटस्थो ब्रह्मरूपताम् ॥
तस्य वक्तुं विवरणे तथोक्तमितरत्र च ॥ ४७ ॥

अर्थ—शोधन किया हुआ जो त्वं पद का लक्ष्य अर्थ कूटस्थ है उस कूटस्थ की ब्रह्म रूपता के कहने को तैसे और ग्रंथों में भी कहा है। और हमने अहं शब्द का अर्थ चिदाभास मानकर बाध समानाधिकरण कहा है, चिदाभास बाध के योग्य है मिथ्या होने से इस से हमारा कहना ठीक है और कूटस्थ सच्चिदानँदरूप है तिस से उसका बाध नहीं होता इस से विवरणाचार्य का कहना ठीक है तिस से विवरणाचार्यके वचन का और हमारे वचन का विरोध नहीं ॥ ४७ ॥

देहेन्द्रियादियुक्तस्य जीवाभासभ्रमस्ययया ॥
अधिष्ठानचितिः सैषा कूटस्थात्र विवक्षिता ॥ ४८ ॥

अर्थ—अब कूटस्थ की ब्रह्म के साथ एकता बन सकी है इसके निश्चय करने को कूटस्थ शब्द का अर्थ कहते हैं, स्थूल सूक्ष्म शरीर सहित चिदाभास रूप भ्रम का जो अधिष्ठान चैतन्य है सो कूटस्थ है ॥ ४८ ॥

जगद्भ्रमस्य सर्वस्य यदधिष्ठानमीरितम् ॥
त्रय्यंतेषु तदत्र स्याद्ब्रह्म शब्द विवक्षितम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—और सब जगत् की कल्पना का अधिष्ठान जो चैतन्य है सो इस वेदांत में ब्रह्म शब्द करके विवक्षित है अर्थात् सो ब्रह्म है ॥ ४९ ॥

एतस्मिन्नेव चैतन्ये जगदारोप्यते यदा ॥
तदा तदेकदेशस्य जीवाभासस्य का कथा ॥ ५० ॥

शंका—जीव भ्रम का अधिष्ठान चैतन्य कूटस्थ है यह कथन अयुक्त है क्यों कि जीव की कल्पितता नहीं।

उत्तर—जो चैतन्य में सब जगत् कल्पित है, तो जगत् का एक अंश रूप चिदाभास कल्पित है इस वार्ता का क्या कहना है जैसे जिस जल में बकरी नहीं डूबती उस में हाथी नहीं डूबता इसका क्या कहना है यह कैमुतिक न्याय है ॥ ५० ॥

जगत्तदेकदेशाख्य समारोप्यस्य भेदतः ॥
तत्त्वं पदार्थौ भिन्नौ स्तो वस्तुतस्त्वेकता चितिः ॥५१॥

शंका—जगत् की कल्पना का अधिष्ठान एक चैतन्य है इस से तत्पद के अर्थ का और त्वं पद के अर्थ का भेद नहीं । तिस से महावाक्य में तत्पद और त्वं पद ये दो न कहने चाहियें पुनरुक्ति प्रसंग से ।

उत्तर—तत्पद के अर्थ का और त्वं पद के अर्थ का औपाधिक भेद है वास्तव एकता है । सो उपाधि कौन है ? सब जगत् की कल्पना का अधिष्ठान तत्पदार्थ ब्रह्म है और जगत् का एक देश चिदाभास की कल्पना का अधिष्ठान त्वं पदार्थ कूटस्थ है इस प्रकार उपाधि से तत्त्वं पदार्थ का भेद है तिस से पुनरुक्ति नहीं वास्तव से चैतन्य एक है ॥ ५१ ॥

कर्तृत्वादीन्बुद्धिधर्मान् स्फूर्त्याख्यां चात्मरूपताम् ॥
दधद्विभाति पुरतआभासोऽतो भ्रमो भवेत् ॥ ५२ ॥

शंका—चिदाभास कल्पित नहीं सीपी में रूपे की नाईं जिससे अधिष्ठान और आरोप दोनों धर्म वाला प्रतीत होता है ।

उत्तर—चिदाभास दोनों धर्म वाला प्रतीत होता है इस से कल्पित है बुद्धि रूप उपाधि द्वारा मैं कर्ता हूँ मैं भोक्ता हूँ मैं प्रमाता हूं इत्यादि कल्पित धर्म वाला प्रतीत होता है और प्रकाश रूप आत्मा के धर्म वाला प्रतीत होता है ॥ ५२ ॥

का बुद्धिःकोऽयमाभासः कोवात्माऽत्र जगत् कथम् ॥
इत्यनिर्णयतोमोहः सोऽयं संसारइष्यते ॥५३॥

अर्थ—चिदाभास रूप भ्रम का क्या कारण है ? बुद्धि और चिदाभास और आत्मा और आत्मा में जगत् कैसे है इन चार पदार्थों का निर्णय न होना उस से जो प्राप्त हुआ अज्ञान सो चिदाभास रूप भ्रम का कारण है और जन्म मरण रूप अनर्थों का कारण है तिस से पुरुषार्थ करके अज्ञान का नाश करना चाहिये ॥ ५३ ॥

बुद्ध्यादीनां स्वरूपं यो विविनक्ति स तत्त्ववित् ॥
स एवमुक्त इत्येवं वेदांतेषु विनिश्चयः ॥ ५४ ॥

अर्थ—अज्ञान के नाश का कारण क्या है ? बुद्धि और चिदाभास और कूटस्थ आत्मा और जगत् इन चारों के स्वरूप का विवेक अज्ञान के नाश का कारण है और इनके स्वरूप को जो जानता है सो ज्ञानी है और इनके विवेक ज्ञान से जन्म मरण रूप अनर्थ का अभाव हो जाता है और पुरुष मोक्ष को प्राप्त हो जाता है यह वेदांत शास्त्र का सिद्धांत है ॥ ५४ ॥

एवं च सति बंधः स्यात्कस्येत्यादिकुतर्कजाः ॥
विडंबना दृढं खंड्याः खंडनोक्तिप्रकारतः ॥ ५५ ॥

अर्थ—ऐसा होने पर नैयायिक आदि ने कुतर्कों को लेकर को जो अनेक प्रकार के हास्य किये हैं सो कौन से हैं ? बंध मोक्ष को अविवेक कार्यता के होने पर अद्वैतवाद में किसको बंध है और किस को मोक्ष है और कौन गुरु है और कौन शिष्य है इत्यादि हास्य हैं सो नैयायिकों के हास्य खंडन ग्रंथ में कही हुई जो युक्तियाँ हैं उन युक्तियों से नैयायिकों को निरुत्तर कर दूर करने ॥ ५५ ॥

वृत्तेःसाक्षितया वृत्तिप्रागभावस्य च स्थितः ॥
बुभुत्सायां तथाऽज्ञोऽस्मीत्याभासाज्ञान वस्तु नः ॥ ५६ ॥

अर्थ—यह कूटस्थ का जो बुद्धि आदि से विवेक है श्रुतियों और युक्तियों से कहा हुआ सो पुराणों में भी कहा है। काम क्रोध रूप आदि वृत्तियों की उत्पत्ति के होने पर वृत्तियों का साक्षीरूपता करके स्थित कूटस्थ है और वृत्तियों की उत्पत्ति से पूर्व वृत्तियों के प्रागभाव का साक्षी रूपता करके स्थित कूटस्थ है और वृत्तियों के नष्ट होने पर वृत्तियों के ध्वंस का साक्षी रूपता करके स्थित कूटस्थ है और आत्मा जिज्ञासा की प्राप्ति के होने पर जिज्ञासा का साक्षी रूपता करके स्थित कूटस्थ है और जिज्ञासा से पूर्व मैं अज्ञानी हूँ ऐसे अनुभव किया जो अज्ञान है इस अज्ञान का साक्षी रूपता करके स्थित कूटस्थ है ॥ ५६ ॥

असत्यालंबनत्वेन सत्यः सर्वजडस्य तु ॥
साधकत्वेन चिद्रूपः सदा प्रेमास्पदत्वतः ॥ ५७ ॥

अर्थ—सो कूटस्थ असत्य जगत् का अधिष्ठान होने से सत्य है और सब जड़का प्रकाशक होने से चैतन्य रूप है और सदा प्रेम का विषय होने से आनंद रूप है ॥५७॥

आनंदरूपः सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना ॥
सर्वसंबंधवत्त्वेन संपूर्णः शिवसंज्ञितः ॥ ५८ ॥

अर्थ—और सब अर्थों की प्रकाशता करके सब वस्तुओं के साथ सम्बन्ध वाला है और सब के साथ संबन्ध वाला होने से पूर्ण है। यहां ये अनुमान जानने कि कूटस्थ वृत्ति आदि से भिन्न है वृत्ति आदि का साक्षी होने से जो वृत्ति आदि से भिन्न नहीं होता सो वृत्ति आदिकी साक्षी भी नहीं होता जैसे वृत्ति आदि वृत्ति आदिसे भिन्न नहीं तो वृत्ति आदि वृत्ति आदि का साक्षी भी नहीं। कूटस्थ सत्य है मिथ्या वस्तु का अधिष्ठान होने से मिथ्या रूपे का अधिष्ठान सीपी की नाईं कूटस्थ चैतन्य रूप है सब जड़ वस्तु का प्रकाशक होने से जो चैतन्य रूप नहीं होता सो सब जड़ वस्तु का प्रकाश भी नहीं होता जैसे घट चैतन्य रूप नहीं तो सब जड़ वस्तु का प्रकाशक भी नहीं और कूटस्थ परमानन्द रूप है परम प्रेम का विषय होने से जो परमानन्द रूप नहीं होता सो परम प्रेम का विषय भी नहीं होता जैसे घट परमानन्द रूप नहीं तो परम प्रेम का विषय भी नहीं कूटस्थ पूर्ण है सब पदार्थों के साथ सम्बन्ध वाला होने से आकाश की नाईं कूटस्थ सब पदार्थों के साथ सम्बन्ध वाला है सब का प्रकाशक होने से जो सबके साथ सम्बन्ध वाला नहीं सो सब का प्रकाशक भी नहीं जैसे दीपक सब के साथ संबंधवाला नहीं तो सब का प्रकाशक भी नहीं ॥ ५८ ॥

इति शैवपुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः ॥
जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः ॥ ५९ ॥

अर्थ—इस प्रकार शैवपुराण में कूटस्थ का विवेक किया है सूत संहिता नाम ग्रंथ में सो कूटस्थ कैसा है जीव रूप और ईश्वर रूप कल्पना से रहित है और अद्वितीय है और स्वयं प्रकाश चैतन्य रूप है, और शिव है अर्थात् परमानंदरूप है ॥ ५९ ॥

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्त्वतः ॥
मायिकावेव जीवेशौ स्वच्छौ तौ काचकुंभवत् ॥ ६० ॥

अर्थ—कूटस्थ जीव ईश्वर रूपता से रहित है, सो कैसे है? श्वेताश्वतर उपनिषद् में श्रुति यह कहती है कि तीन गुणों की साम्यावस्था रूप जो महामाया है सो माया रूपता और अविद्या रूपता को प्राप्त होती है, माया में जो चैतन्य का प्रतिबिंब है उसको ईश्वर रूपता करके दिखाती है और अविद्या में जो चैतन्य का प्रतिबिंब है उसको जीव रूपता करके दिखाती है, तिससे मिथ्या रूप माया के आधीन जो चिदाभास रूप ईश्वर और मिथ्या रूप अविद्या के आधीन जो चिदाभास रूप जीव है सो मिथ्या रूप है, यह श्वेताश्वतर उपनिषद् की श्रुति जनाती है।

शंका—जो जीव ईश्वर मिथ्या हैं तो इन का देह आदि से भेद न होना चाहिये अर्थात् जड़ पदार्थों की प्रेरकता और प्रकाशकता न होनी चाहिये।

उत्तर—जैसे पृथिवी कार्यता करके तुल्य रहते भी मिट्टी के और कंच के घट को पर कँच के घट में प्रतिबिंब के ग्रहण करने की समर्थ है और मिट्टी के घट में नहीं। तैसे माया कार्यता करके जीव ईश्वर और जगत् की मिथ्या रूपता के तुल्य रहते भी जीव ईश्वर को चेतनता और प्रेरकता हैं और शरीर घट आदि जगत् को चेतनता और प्रेरकता नहीं॥ ६०॥

अन्नजन्यं मनोदेहात्स्वच्छं यद्वत्तथैव तौ॥
मायिकावपि सर्वस्मादन्यस्मात्स्वच्छतां गतौ॥ ६१॥

शंका—मृण्मय घट का कारण जो मिट्टी है सो कंच के घटका कारण नहीं होता और कंच के घट का कारण जो मिट्टी है सो मृण्मय घट का कारण नहीं होता, तिस से मृण्मय घट का और कंच के घटका कारण मृत्तिका का भेद होने से मृण्मय घटकी और कंच के घट की विलक्षणता बन सकती है पर जीव ईश्वर और जगत् का कारण माया तो एक है तिससे जीव ईश्वर की जगत् से विलक्षणता नहीं बनती।

उत्तर—जैसे एक अन्नसे पैदा हुए मन और शरीर की विलक्षणता है मन संकल्प विकल्प का कारण है और शरीर संकल्प विकल्प का कारण नहीं तैसे एक माया कार्यताके होने परभी जीव ईश्वरकी शरीर घट आदि रूप जगतसे विलक्षणता है॥६१॥

चिद्रूपत्वं च संभाव्यं चित्त्वेनैव प्रकाशनात्॥
सर्वकल्पनशक्तायां मायायां दुष्करं नहि॥ ६२॥

शंका—कंच के घट की नाईं जीव ईश्वर की स्वच्छता हो परन्तु चैतन्यरूपता किस कारण से है।

उत्तर—जीव ईश्वर की चैतन्य रूपता में कुछ विवाद नहीं क्यों कि चैतन्यरूपता से जीव ईश्वर का अनुभव होता है।

शंका—मिथ्या रूप जीव ईश्वरका चैतन्य रूपता करके अनुभव क्यों होता है।

उत्तर—जिस माया ने जीव ईश्वर से कल्पना करी है उसका यह भी स्वभाव है कि कल्पित को चैतन्य रूप करके दिखला देना इसमें कुछ आश्चर्य नहीं जिससे माया सब कल्पने को समर्थ है॥ ६२॥

अस्मन्निद्राऽपि जीवेशौ चेतनौ स्वप्नगौ सृजेत्॥
महामाया सृजत्येताविन्याश्चर्यं किमत्र ते॥६३॥

अर्थ—जीव में स्थित जो निद्रा है सो स्वप्न में जीव ईश्वर को चेतन कल्प देती है निद्रा में ऐसी समर्थ हुई तो महामाया जीव ईश्वर को चेतन कल्प देती है इस में तुझे क्या आश्चर्य है ॥ ६३ ॥

सर्वज्ञत्वादिकं चेशे कल्पयित्वा प्रदर्शयेत् ॥
धर्मिणं कल्पयेद्याऽस्याः को भारो धर्म कल्पने ॥६४॥

शंका—जो ईश्वर माया से रचा हुआ मिथ्या है तो उसमें जीव की नाईं सर्वज्ञता आदि न होने चाहियें ।

उत्तर—सर्वज्ञता आदि ईश्वर में माया कल्प कर दिखला देती है जो माया ईश्वर को कल्प सकती है उसको ईश्वर में सर्वज्ञता आदि रचने में क्या भार है ॥ ६४ ॥

कूटस्थेऽप्यति शंकास्यादिति चेन्माऽतिशंक्यताम् ॥
कूटस्थमायिकत्वे तु प्रमाणं न हि विद्यते ॥६५॥

शंका—जो जीव ईश्वर माया कल्पित हैं तो कूटस्थ भी माया कल्पित हो ।

उत्तर—ऐसी अति शंका करनी न चाहिये क्यों कि हठ से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता किंतु प्रमाण से अर्थ की सिद्धि होती है कूटस्थकी मिथ्या रूपतामें तो कोई प्रमाण नहींतिस से कूटस्थ मिथ्या नहीं ॥ ६५ ॥

वस्तुत्वं घोषयंत्यस्य वेदांताः सकला अपि ॥
सपत्नरूपं वस्त्वन्यन्न सहंतेऽत्र किंचन ॥६६॥

शंका—कूटस्थ की सत्यता में भी तो कोई प्रमाण नहीं ।

उत्तर—कूटस्थ की सत्यता में सब श्रुति प्रमाण हैं और उसकी सत्यता का विरोधि कोई और वस्तु श्रुतियाँ नहीं सहारतीं जैसे सूर्य अपनी प्रकाशक रूपता के विरोधी तम को नहीं सहारता ॥ ६६ ॥

श्रुत्यर्थं विशदीकुर्मो न तर्काद्वच्मि किंचन ॥
तेन तार्किकशंकानामत्रकोऽवसरो वद ॥६७॥

शंका—कूटस्थ की सत्यता में और जीव ईश्वर की मिथ्या रूपतामें तुम श्रुतियाँ ही पढ़ते हो और युक्तियों से कुछ अर्थ सिद्ध नहीं करते ।

उत्तर—जिज्ञासुओं को श्रुतियों के अर्थ की प्रकटता वास्ते हमारा उद्यम है इस से हम युक्तियों का कथन नहीं करते तिस से यहाँ नैयायिकों की शंकाओं का कुछ अवसर नहीं ॥ ६७ ॥

तस्मात्कुतर्कं संत्यज्य मुमुक्षुः श्रुतिमाश्रयेत् ॥
श्रुतौ तु मायाजीवेशौ करोतीति प्रदर्शितम् ॥६८॥

अर्थ—तिस से मुमुक्षु खोटी तर्कों को त्याग कर श्रुति का सहारा ले श्रुति में तो माया जीव ईश्वर को करती है यह दिखलाया है। अर्थात् मोक्ष की इच्छा वाले पुरुष को खोटी तर्कों को छोड़ कर श्रुति का आश्रय करना योग्य है। श्रुति में तो जीव ईश्वर झूठे कहे हैं जिस से माया और अविद्या में प्रतिबिंब रूप जीव ईश्वर हैं ऐसा श्रुति में कहा है ॥ ६८ ॥

ईक्षणादिप्रवेशांता सृष्टिरीशकृता भवेत् ॥
जाग्रदादि विमोक्षांतः संसारो जीवकर्तृकः ॥ ६९ ॥

अर्थ—मैं एक से बहुत रूप हूँ इस इच्छा से आदि लेकर शरीर में प्रवेश पर्यन्त सृष्टि ईश्वर करके रची हुई है। और जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति बंध मोक्ष रूप संसार जीव करके रचा हुआ है ॥ ६९ ॥

असंग एव कूटस्थः सर्वदा नास्य कश्चन ॥
भवत्यतिशयस्तेन मनस्येवं विचार्यताम् ॥ ७० ॥

अर्थ—और कूटस्थ असंग निर्विकार है और जन्ममरण आदि रूप सब व्यवहार मिथ्या है यह श्रुतियों में कहा है तिससे मुमुक्षु यह जो श्रुतियों में अर्थ कहा है इस को सदा विचारे ॥ ७० ॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्नबद्धो न च साधकः ॥
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ७१ ॥

शंका—कूटस्थ जन्म आदि विकारों से रहित है यह आपने कैसे जाना।

उत्तर—हम श्रुति वाक्य से जानते हैं सो सुन। परमार्थ दृष्टि में स्थित होकर देखने पर न उत्पत्ति है न विनाश है न कोई बंधन को प्राप्त होता है और न कोई मुक्त है और न कोई शमदम आदि साधन वाला है न कोई मुमुक्षु है ॥ ७१ ॥

अवाङ्मनसगम्यंतं श्रुतिर्बोधयितुं सदा ॥
जीवमीशं जगद्वापि समाश्रित्य प्रबोधयेत् ॥ ७२ ॥

शंका—जो वास्तव से उत्पत्ति विनाश आदि नहीं तो श्रुतियों में तहां तहां जीव ईश्वर और जगत् आदि के स्वरूप को क्यों कहा है।

उत्तर—मन वाणी से परे जो आत्मा का स्वरूप है इस के ज्ञान वास्ते श्रुति जीव और ईश्वर और जगत् आदि के स्वरूप को कहती है । क्योंकि जीव ईश्वर जगत् का स्वरूप अज्ञान दशा में प्रतीत होता है मन वाणी से उस की मिथ्या रूपता को कहकर । मन वाणी से परे जो आत्म तत्त्व है उसको श्रुति जनावे है ॥ ७२ ॥

यथा यथा भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ॥
सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वीत्याचार्यभाषितम् ॥७३॥

शंका—जो श्रुतियां वास्तव तत्त्व एकरूप बोधन करती हैं तो उनमें परस्पर विवाद क्यों है ।

उत्तर—तत्त्व में तो श्रुतियों का विवाद नहीं किन्तु तत्त्व बोधन के प्रकार में विवाद है सो भी जिन पुरुषों को तत्त्व बोधन करना है उनके चित्त की विषमता के अनुसार है ऐसे सुरेश्वराचार्य ने कहा है सो उनका वाक्य श्रवणकर । जिस २ प्रक्रिया से जिज्ञासुओं को आत्मज्ञान हो सोई सोई प्रक्रिया उस २ जिज्ञासु को श्रेष्ठ है इसी से श्रुतियों ने और आचार्यों ने अनेक प्रक्रिया कहीं हैं तिस से प्रक्रियाओं में विवाद है और तत्त्व में विवाद नहीं जैसे साठ मुद्रा के ग्रहण करने हारे जो पुरुष हैं उनका लेने में विवाद अनेक प्रकार का है और साठ मुद्रा में विवाद कुछ नहीं कोई बारह पंचे साठ कहता है कोई दश छक्के साठ कहता है कोई पंद्रह चौका साठ कहता है कोई बीस ती साठ कहता है ॥ ७३ ॥

श्रुतितात्पर्यमखिलमबुद्ध्वा भ्राम्यते जडः ॥
विवेकीत्वखिलं बुद्ध्वा तिष्ठत्यानंदवारिधौ ॥ ७४ ॥

शंका—जो श्रुतियों का अर्थ एक रूप है तो उन के कहने हारे पुरुषों का परस्पर विवाद क्यों है कोई कहता है कि श्रुतियों का अर्थ भेद है कोई कहता है अभेद है ।

उत्तर—मूर्ख पुरुष सब श्रुतियों के तात्पर्य को न जान कर भ्रम में पड़े हुए विवाद करते हैं । और विवेकी पुरुष श्रुतियों के तात्पर्य संपूर्ण को जानकर आनन्द के समुद्र में स्थित होते हैं और किसी के साथ विवाद नहीं करते ॥ ७४ ॥

मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्वेष यथा तथा ॥
चिदाकाशस्य नो हानिर्न वा लाभ इति स्थितिः ॥ ७५ ॥

अर्थ—तो उनका निश्चय कैसा है ? माया रूप मेघ है सो जगत्‌रूप जल की वर्षा जैसे चाहे तैसे करो। उस से चिदाकाश की हानि नहीं और उसको कुछ लाभ भी नहीं ॥ ७५ ॥

इमं कूटस्थदीपं योऽनुसंधत्ते निरंतरम् ॥
स्वयं कूटस्थरूपेण दीप्यतेऽसौ निरंतरम् ॥ ७३ ॥

अर्थ—अब कूटस्थ दीपके अभ्यास का फल कहते हैं। जो पुरुष इस कूटस्थदीप ग्रन्थ का निरन्तर विचार करता है सो निरंतर कूटस्थरूपता करके प्रकाशता है अर्थात् आप को सदा कूटस्थरूप जानता है ॥ ७६ ॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य विद्यारण्य स्वामि विरचित
पञ्चदश्यां कूटस्थदीपः समाप्तः ॥

* श्रीः पञ्चदशी *

❀ श्रीगणेशायनमः ❀

अथ ध्यानदीप प्रकरणम् ९

———(:o:)———

संवादिभ्रमवद्ब्रह्मतत्त्वोपास्त्यपि मुच्यते ॥
उत्तरे तापनीयेऽतः श्रुतोपास्तिरनेकधा ॥ १ ॥

श्रीगणेशायनमः ॥ अथ ध्यान दीपव्याख्या
नत्वा श्रीभारती तीर्थं विद्यारण्य मुनीश्वरौ ॥
क्रियते ध्यानदीपस्य व्याख्या संक्षेपतोमया ॥ १ ॥

अर्थ—अब ध्यान दीप नाम जो पञ्चदशी का नवां प्रकरण है उस का आरंभ करते हैं। जिस पुरुष ने उपनिषद् सुने हैं, उस को जो बुद्धि की मंदता आदि किसी प्रतिबंध से ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान न होता, तो उस पुरुष को ज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष का कारण जो उपासना है सो करनी चाहिये। क्योंकि निर्गुण ब्रह्म की उपासना से मोक्ष की प्राप्ति होती है, जैसे संवादी भ्रम करके प्रवृत्त हुये पुरुष को वांछितपदार्थ मिल जाता है, तैसे भ्रम रूप भी उपासना है, पर उस से जिज्ञासु को वांछित जो ब्रह्म रूपता करके स्थिति रूप मोक्ष है, उस की प्राप्ति हो जाती है, उपासना से मोक्ष मिलती है, इस में क्या प्रमाण है! नरसिंह तापनीय उपनिषद् की श्रुति इस में प्रमाण है, जिस से निर्गुण ब्रह्म की उपासना से भी मोक्ष होती है, इसी कारण से नरसिंह तापनीय उपनिषद् में अनेक प्रकार से ब्रह्म तत्त्व की उपासना कही है ॥ १ ॥

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याऽभिधावतो ॥
मिथ्याज्ञानविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥ २ ॥

अर्थ—भ्रम दो प्रकार का होता है एक संवादी एक विसंवादी जिस भ्रम से वांछित अर्थ की प्राप्ति हो। सो संवादी भ्रम है, और जिस भ्रम से वांछित अर्थ की प्राप्ति न हो सो विसंवादी भ्रम है, जैसे दो पुरुष थे। उन में एक को मणि की प्रभा में मणि भ्रम हुआ, और दूसरे को दीपक की प्रभा में मणि भ्रम हुआ। तब वे दोनों भ्रम से मणि के लेने को गये क्यों कि मणि में मणि ज्ञान दोनों को न था। मणि की प्रभा

में और दीपक की प्रभा में मणि ज्ञान हुआ था। परन्तु जिस को मणि की प्रभा में मणि ज्ञान भया है उस को उद्यम करने पर मणि का लाभ होता है। सो संवादी भ्रम है, और जिस को दीपक की प्रभा में मणि भ्रम है उस का उद्यम निष्फल है। क्यों कि उस को लाभ कुछ न हुआ। तैसे ब्रह्म तत्त्व में मन का लगाना रूप जो उपासन है सो भ्रम रूप है। क्यों कि ब्रह्म मन वाणीसे परे है। पर उस से ब्रह्म साक्षात्कार द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है, इस से ब्रह्म की उपासना भी संवादी भ्रम कहता है, और धन पुत्र स्त्री आदि में जो मन लगाना है उससे लाभ कुछ नहीं होता, तिससे सो विसंवादी भ्रम कहाता है ॥२॥

दीपोऽपवरकस्यांतर्वर्तते तत्प्रभा बहिः ॥
दृश्यते द्वार्यथान्यत्र तद्वद्दृष्टा मणेः प्रभा ॥३॥

अर्थ—पूर्व पठित वार्त्तिकके अर्थ को ही विस्तार पूर्वक फिर लिखते हैं तीन श्लोकों करके किसी एक मन्दिर में आलेके अंदर दीपक रक्खा है उसकी प्रभा बाहर द्वार प्रदेश में रत्न की नाईं गोल नजर आती है। तैसे और किसी मंदिर में आले आदि के अंदर स्थित रत्न की प्रभा बाहर द्वार प्रदेश में दीप की प्रभा की नाईं दीखती है रत्न के समान नहीं प्राप्त होती ॥ ३ ॥

दूरे प्रभाद्वयं दृष्ट्वा मणिबुद्ध्याभिधावतोः ॥
प्रभायांमणि बुद्धिस्तु मिथ्याज्ञानं द्वयोरपि ॥४॥

अर्थ—तथाविध दोनों प्रभाओं को दूर से देखकर यह मणि है यह मणि है इस बुद्धि से दो पुरुष दौड़ते हैं उन दोनों का जो प्रभाव में मणिज्ञान है सो भ्रम रूप ही है अर्थात् मिथ्या ही है ॥ ४ ॥

न लभ्यते मणिर्दीपप्रभांप्रत्यभिधावता ॥
प्रभायां धावताऽवश्यं लभ्येतैव मणिर्मणेः ॥५॥

अर्थ—जो दीप की प्रभा के सन्मुख दौड़ता है उसे मणि नहीं मिलती। और जो मणि प्रभा में मणि बुद्धि करके जाता है उसे मणि मिलती ही है ॥ ५ ॥

दीपप्रभामणिभ्रांतिर्विसंवादिभ्रमः स्मृतः ॥
मणिप्रभा मणिभ्रांतिः संवादिभ्रम उच्यते ॥६॥

अर्थ—वार्त्तिक का अर्थ ऐसा हो पर प्रसंग में क्या आया ? दीप प्रभा में जो मणि बुद्धि है सो भ्रम रूप है सो विसंवादी भ्रम कहा है। और मणि प्रभा में जो मणि भ्रांति है सो संवादी भ्रम कहा है ॥ ६ ॥

वाष्पधूमतया बुद्धा तत्राँगारानुमानतः ॥
वह्निर्यदृच्छयालब्धः स संवादि भ्रमो मतः ॥७॥

अर्थ—इस प्रकार प्रत्यक्ष विषय में संवादी भ्रमको दिखला कर। अनुमान विषय में भी उस संवादी भ्रम को दिखाते हैं। किसी पुरुष को अग्नि की चाहना थी उसने दूर से जल की भाफ़ देखी। और उसे धूआँ जाना। उस स्थानमें अग्नि का अनुमान किया कि स्थान अग्नि वाला है। धूएं वाला होने से। भोजन वाले स्थान की नाईं। इस प्रकार अग्नि का अनुमान करके प्रवृत्त हुए पुरुष को दैवयोग से जो अग्नि मिल जाय तो वह संवादी भ्रम कहाता है। क्यों कि जल की भाफ़ में धूएं का ज्ञान यथार्थ नहीं ॥७॥

गोदावर्युदकं गंगोदकं मत्वा विशुद्धये ॥
संप्रोक्ष्य शुद्धिमाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ॥८॥

अर्थ—और शास्त्र ने कहा जो अर्थ है उसमें भी संवादी भ्रम होता है। जैसे किसी पुरुष ने भ्रम से गोदावरी के जल को गंगाजल मानकर स्नान किया और पिया उस से वह शुद्धि को प्राप्त होजाता है क्योंकि गंगाजल की नाईं गोदावरी का जलभी शुद्धि का कारण है परन्तु गोदावरी के जलमें जो गंगाजल ज्ञान है सो भ्रम है ॥८॥

ज्वरेणाप्तः सन्निपातं भ्रान्त्या नारायणं स्मरन् ॥
मृतः स्वर्गमवाप्नोति स संवादिभ्रमोमतः ॥ ९ ॥

अर्थ—और जैसे कोई पुरुष ज्वर से सन्निपात को प्राप्त हुआ बकवाद करने लगे उसमें उसके मुख से नारायण का नाम निकले। नारायण को निकासो नारायण मुझे मारता है नारायण को आसन दो नारायण की पूजा करो। इत्यादि जो उसका कथन है सो भ्रमरूप है। क्योंकि उसको यह ज्ञान नहीं है कि नारायण का नाम मुझे स्वर्ग के देने हारा है केवल सन्निपात से भ्रम को प्राप्त हुआ वह और पुरुषोंकी नाईं नारायण का नाम लेता है। परन्तु भ्रम से भी नारायण का नाम स्मरण करने से वह पुरुष मर कर स्वर्ग को प्राप्त होता है। चाहे मलिन चित्त भी उसका स्मरण करे तो भी पापों का नाश करता है। हरि का नाम। जैसे अग्नि को न जानकर भी अग्नि के ऊपर पैर जल जाता है। तैसे परमेश्वर के नाम के महात्म के बेजाने भी परमेश्वर का नाम पापों का नाश करता है। उच्चारण किया हुआ। और पुराण में कहा भी है कि अजामिल बड़ा पापी था सो पुत्र को नारायण नाम से बुलाता हुआ मर कर मोक्ष को प्राप्त हुआ। जिस से अजामिल को नारायण के नाम में पुत्र नामता का ज्ञान भ्रम है। तिस

से भ्रम रूप भी नारायण के नाम का स्मरण मोक्ष का कारण है ॥ ९ ॥

प्रत्यक्षस्यानुमानस्य तथा शास्त्रस्य गोचरे ॥
उक्तन्यायेन संवादिभ्रमाः संति हि कोटिशः ॥ १० ॥

अर्थ–तिस से यह सिद्ध हुआ कि कहे हुए जो दृष्टांत हैं उनसे संवादी भ्रम किरोड़ों प्रकार के हैं। जिससे प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में भी संवादी भ्रम हैं। और अनुमान प्रमाण के विषय में भी संवादी भ्रम हैं। और शास्त्र प्रमाण के विषय में भी संवादी भ्रम हैं ॥ १० ॥

अन्यथा मृत्तिका दारु शिलाः स्युर्देवताः कथम् ॥
अग्नित्वादिधियोपास्या कथं वा योषिदादयः ॥ ११ ॥

अर्थ—और जो तू संवादी भ्रम को न मानेगा तो मृत्तिका और काष्ठ और शिला और कागज आदि की मूर्त्तियां फल सिद्धि के लिये पूजने योग्य तेरे मत में कैसे होंगीं। स्वतः देवता रूपता तो उनको नहीं है। छांदोग्य उपनिषद् में और बृहदारण्यक उपनिषद् में पंचाग्नि विद्या है। उस विद्या में प्रवाहण नाम राजा ने गौतम नाम ऋषि के ताईं कहा है। तहां श्रुतिः। (योषा वाव गोतमाग्निः पुरुषो वाव गोतमाग्निः पृथिवी वाव गोतमाग्निः पर्जन्यो वाव गोतमाग्निरसौ वाव द्युलोको गोतमाग्निरित्यादि)

अर्थ—स्त्री पुरुष पृथिवी मेघ स्वर्गलोक ये पांच अग्निरूप हैं। इन पाँचों को अग्निरूप जान कर उपासना करने पर ब्रह्म लोक की प्राप्ति होती है। सो संवादी भ्रम से फल की प्राप्ति के न मानने पर कैसे होगी स्त्री आदि में अग्नि ज्ञान तो भ्रमरूप प्रसिद्ध है और में और का ज्ञान होने से और मन आदि को ब्रह्मरूप माना है, तहां श्रुतिः। (मनोब्रह्मेत्युपासीत आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः इत्यादि)

अर्थ–मन को ब्रह्मरूप जानकर उपासना करनी, और सूर्य को ब्रह्म रूप जान कर उपासना करनी, इत्यादि उपासना हैं सो संवादी भ्रम रूप हैं ॥ ११ ॥

अयथा वस्तुविज्ञानात्फलं लभ्यत ईप्सितम् ।
काकतालीयतः सोऽयं संवादिभ्रम उच्यते ॥ १२ ॥

अर्थ–शास्त्र करके कथन किया हुआ और में और वस्तु का ज्ञान जैसे शालग्राम में विष्णुज्ञान अथवा लोक प्रसिद्ध और वस्तु में और ज्ञान जैसे मणि प्रभा में मणि ज्ञान उस भ्रम रूप ज्ञान से जब दैव योग करके वांछित फल की प्राप्ति हो जाय सो संवादी भ्रम कहाता है ॥ १२ ॥

स्वयं भ्रमोऽपि संवादी यथा सम्यक् फलप्रदः ।
ब्रह्मतत्त्वोपासनाऽपि तथा मुक्तिफलप्रदा ॥ १३ ॥

शंका–ब्रह्म की जो भ्रम रूप उपासना है उसको यथार्थ ज्ञान से प्राप्त होने योग्य जो मोक्ष है उस की कारणता कैसे है ।

उत्तर–संवादी भ्रम की नाईं उस को मोक्षप्राप्ति में कारणता है । जैसे संवादी भ्रम आप भ्रम रूप भी है । पर सम्यक् ज्ञान से जो फल मिलता है उस फल को देता है तैसे ब्रह्म तत्त्व की उपासना भ्रम रूप भी है, पर मुक्तिरूप फल के देने हारी है ॥१३॥

वेदांतेभ्यो ब्रह्मतत्त्वमखंडैकरसात्मकम् ॥
परोक्षमवगम्यैतदहमस्मीत्युपासते ॥१४॥

शंका–ब्रह्म तत्त्व को जान कर उपासना कही है अथवा न जान कर उपासना कही है । जो कहो जानकर उपासना कही है । तो यह बात नहीं बनती । क्योंकि जानने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है । तिस से उपासना करनी व्यर्थ है और जो कहो कि ब्रह्म तत्त्व के न जानने पर उसकी उपासना कही है, तो यह भी बात नहीं बनती, क्यों कि उपासना नाम चित्त की तदाकारता के करने का है, जब ब्रह्म तत्त्व जाना ही नहीं तो उस में चित्त की तदाकारता नहीं बनती ।

उत्तर–ब्रह्म की आत्मरूपता के अपरोक्ष ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है । ऐसा अपरोक्ष ज्ञान जिस को नहीं प्राप्त हुआ उस को उपासना व्यर्थ नहीं, और वेदांत शास्त्रों से परोक्षरूपता करके ब्रह्म तत्त्व को जान कर अखंड एक रस ब्रह्म तत्त्व मैं हूं ऐसी उपासना बन सकती है ॥ १४ ॥

प्रत्यग्व्यक्तिमनुल्लिख्य शास्त्राद्विष्ण्वादिमूर्तिवत् ॥
अस्ति ब्रह्मेति सामान्यज्ञानमत्र परोक्षधीः ॥१५॥

अर्थ–जिस ब्रह्म तत्त्व की उपासना करनी है उस ब्रह्म में परोक्ष ज्ञान का क्या रूप है ? बुद्धि आदि का साक्षी आनन्द रूप ब्रह्म है, ऐसा न जान कर, सच्चिदानन्द ब्रह्म है, ऐसा जो शास्त्र से पैदा हुआ ज्ञान है सो उपासना का कारण परोक्ष ज्ञान है जैसे शालग्राम आदि रूप प्रतिमा में शास्त्र द्वारा विष्णु रूपता का परोक्ष ज्ञान होता है व्यापकता को न अनुभव करके ॥ १५ ॥

चतुर्भुजाद्यवगतावपि मूर्तिमनुल्लिखन् ॥
अक्षैः परोक्षज्ञान्येव न तदा विष्णुमीक्षते ॥ १६ ॥

शंका—शास्त्र से विष्णु को चतुर्भुज जाना है। सो विष्णु चतुर्भुज यथार्थ है। तिससे शास्त्र से परोक्ष ज्ञान होता है। यह कैसे कहते हो।

उत्तर—शास्त्र से विष्णु को चतुर्भुज रूप जानने पर भी नेत्रों से विष्णु की चतुर्भुजता को न अनुभव करता हुआ पुरुष विष्णु के अपरोक्ष ज्ञान वाला नहीं होता। जिससे नेत्रों से विष्णु की प्रत्यक्षता को उपासना के समय अनुभव नहीं करता। इस से परोक्ष ज्ञानी कहाता है॥ १६॥

परोक्षत्वापराधेन भवेन्नातत्त्ववेदनम्॥
प्रमाणेनैव शास्त्रेण सत्त्वमूर्तेर्विभासनात्॥१७॥

शंका—विष्णु आदि का जो परोक्ष ज्ञान है सो भ्रम रूप है। जिस से विष्णु ज्ञान विष्णु रूप पदार्थ में नहीं मन की कल्पना रूप है।

उत्तर—ज्ञान को परोक्ष रूपता से भ्रम रूपता नहीं होती किन्तु जिस ज्ञान का विषय असत्य रूप हो सो ज्ञान भ्रम रूप होता है अप्रमाण से पैदा हुआ। और विष्णु में परोक्ष ज्ञान तो शास्त्र रूप प्रमाण से पैदा हुआ है शास्त्र करके जैसा विष्णु का स्वरूप है तैसा प्रतीत होता है परन्तु प्रत्यक्ष नहीं प्रतीत होता। तिस से विष्णु आदि के परोक्ष ज्ञान को भ्रम रूपता नहीं। जो परोक्षज्ञान को भ्रम रूपता मानोगे तो पर्वत आदि में अग्नि आदि के ज्ञान को भी भ्रम रूपता होनी चाहिये। तिस से सब व्यवहार का अभाव सिद्ध होगा॥ १७॥

सच्चिदानंदरूपस्य शास्त्राद्भानेऽप्यनुल्लिखन्॥
प्रत्यंचं साक्षिणं तत्तु ब्रह्म साक्षान्न वीक्षते॥ १८॥

शंका—सच्चिदानन्द रूपता के जनावने हारे शास्त्र से पैदा हुआ जो ब्रह्मज्ञान उसको परोक्ष रूपता किस कारण से है।

उत्तर—जिस से सर्व अन्तः करण वृत्तियों का साक्षी आत्मरूपता करके ब्रह्म को नहीं जाना। तिससे उस ज्ञान को परोक्षरूपता है। श्रुतिः। (सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म)

अर्थ—और ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है। और देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित है। श्रुतिः (नित्यः शुद्धोबुद्धः सत्यो मुक्तो निरंजनः सद्वीदं सर्वं तत्सदिति)

अर्थ—और नित्य है शुद्ध है चैतन्यरूप है सत्य है मुक्त है निरंजन है और जो इदंता करके प्रतीत होता है स्थूल अथवा सूक्ष्म भाव अथवा अभाव सो सब सत्य है और जो यह सब प्रतीत होता है सो चैतन्य रूप है। इत्यादि शास्त्र से सच्चिदानन्द

रूप ब्रह्म की प्रतीति होने पर भी आत्मरूपता के न जानने से उस ब्रह्म को साक्षात् अनुभव नहीं करता॥ १८॥

शास्त्रोक्तेनैव मार्गेण सच्चिदानंदनिश्चयात् ॥
परोक्षमपि तज्ज्ञानं तत्त्वज्ञानं नतु भ्रमः ॥ १९ ॥

शंका—जो परोक्षज्ञानी ब्रह्म की आत्म रूपता को नहीं जानता तो परोक्ष ब्रह्मज्ञान को तत्त्व ज्ञानता कैसे है।

उत्तर—शास्त्र ने कहा जो प्रकार उस से परोक्ष भी ब्रह्मज्ञान ब्रह्म की सच्चिदानंद रूपता को जनावता है अर्थात् निश्चय कराता है तिस से तत्व ज्ञान है भ्रम नहीं ॥१९॥

ब्रह्म यद्यपि शास्त्रेषु प्रत्यक्त्वेनैव वर्णितम् ॥
महावाक्यैस्तथाऽप्येतद्दुर्बोधम विचारिणः ॥२०॥

शंका—जैसे शास्त्र से ब्रह्म को सच्चिदानन्द रूपता को जाने है। तैसे महावाक्यों से ब्रह्म की साक्षी आत्मरूपता को भी जानता है। तिस से शास्त्र से पैदा हुआ जो ब्रह्मज्ञान है उसको अपरोक्ष ज्ञान रूपता क्यों न हो।

उत्तर—ब्रह्म यद्यपि शास्त्रों में महावाक्यों ने आत्म रूपता करके कहा है। पर तौ भी अन्वय व्यतिरेक करके तत्पदार्थ और त्वं पदार्थ के विवेक से रहित पुरुष ब्रह्म को आत्मरूपता करके नहीं जान सकता इस कारण केवल शास्त्र से अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता ॥ २० ॥

देहाद्यात्मत्वविभ्रांतौ जाग्रत्यां न हठात्पुमान् ॥
ब्रह्मात्मत्वेन विज्ञातुं क्षमते मंदधीत्वतः ॥२१॥

शंका—सम्यक् ज्ञान के कारण प्रमाण और वस्तु हैं। सो प्रमाण भी महावाक्य रूप विद्यमान है। और ब्रह्म आत्म रूप वस्तु भी विद्यमान है। तिस से वे विचार अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता यह क्यों कहते हो।

उत्तर—ब्रह्म और आत्मा की एकता के अपरोक्ष ज्ञान का विरोधी देह इंद्रियादि में आत्मता भ्रम है। उसके विद्यमान रहते पुरुष हठ से ब्रह्म को आत्मरूपता से जानने को समर्थ नहीं होता मन्द बुद्धि होने से। तिस से देह इन्द्रिय आदि में आत्म भ्रम के निवारण वास्ते विचार अवश्य करना चाहिये। क्यों कि वे विचार भ्रम दूर नहीं होता॥ २१ ॥

ब्रह्ममात्रं सुविज्ञेयं श्रद्धालोः शास्त्रदर्शिनः ॥
अपरोक्षाद्वैतबुद्धिः परोक्षाद्वैतबुद्ध्यनुत् ॥२२॥

शंका—जो देह इंद्रिय आदि में आत्मता भ्रम अपरोक्ष ब्रह्म आत्मज्ञान का प्रतिबंधक है। तो द्वैत भ्रम को अद्वितीय ब्रह्म के परोक्ष ज्ञान की भी प्रतिबंधकता हो।

उत्तर—अपरोक्ष द्वैत भ्रम अपरोक्ष अद्वैत ज्ञान का प्रतिबंधक है। और परोक्ष अद्वैत ज्ञान का प्रतिबंधक नहीं। तिस से शास्त्र में श्रद्धा वाले पुरुष को शास्त्र से परोक्ष ज्ञान होता है ॥ २२ ॥

अपरोक्षशिलाबुद्धिर्न परोक्षेशतां नुदेत् ॥
प्रतिमादिषु विष्णुत्वे कोवा विप्रतिपद्यते ॥२३॥

अर्थ—जैसे अपरोक्ष शिला ज्ञान परोक्ष ईश्वर ज्ञान का प्रतिबंधक नहीं प्रतिमा आदि की विष्णुरूपता में किसी का विवाद नहीं। अर्थात् प्रतिमा में परोक्ष विष्णु ज्ञान हो जाता है। २३ ॥

अश्रद्धालोर विश्वासो नोदाहरणमर्हति ॥
श्रद्धालोरेव सर्वत्र वैदिकेष्वधिकारतः ॥२४॥

शंका—कोई एक श्रद्धा से रहित पुरुष प्रतिमा में विष्णु की परोक्ष ज्ञानता में विवाद करते हैं। तिससे आप कैसे कहते हो कि प्रतिमा की विष्णुरूपता में कोई विवाद नहीं करता।

उत्तर—श्रद्धा से रहित पुरुष का विवाद दृष्टांत के योग नहीं। जिससे वेद कर करके कहे हुए कर्मों में और उपासनाओं में श्रद्धा वाले का अधिकार है ॥ २४ ॥

सकृदाप्तोपदेशेन परोक्षज्ञानमुद्भवेत् ॥
विष्णुमूर्त्युपदेशोहि न मीमांसामपेक्षते ॥ २५ ॥

अर्थ—तिस से श्रद्धा वाले पुरुष को यथार्थ वक्ता के उपदेश से एक वार ही परोक्ष ज्ञान होता है। शिला में विष्णु रूपता का उपदेश विचारको नहीं चाहता ॥२५॥

कर्मोपास्तीविचार्येते अनुष्ठेयाविनिर्णयात् ॥
बहुशाखाविप्रकीर्णं निर्णेतुं कः प्रभुर्नरः॥ २६ ॥

शंका—जो कर्म उपासना का उपदेश विचार को नहीं चाहता। तो शास्त्र में इनके विचार क्यों करे हैं।

उत्तर—करने योग्य कर्म और उपासना में अनेक संशय होते हैं, तिस से उन के निर्णय वास्ते विचार किया है, इनमें संशय क्यों होते हैं ? वेदों की अनेक शाखाओं में

तहां तहाँ कथन किया जो कर्म और उपासना है उसको एक स्थानमें एकट्ठा कर निर्णय करने को अल्प बुद्धि पुरुष समर्थ नहीं होता ॥ २६ ॥

निर्णीतोऽर्थः कल्पसूत्रैर्ग्रथितस्तावताऽस्ति कः ॥
विचारमंतरेणापि शक्तोऽनुष्ठातुमंजसा ॥ २७ ॥

शंका—जो कर्म और उपासना का स्वरूप निर्णय नहीं होता तो इनकी अकर्तव्यता प्राप्त हुई ।

उत्तर—जैमिनि आदि मुनीश्वरोंने कर्म और उपासनाके करने का प्रकार निश्चय कर के कल्प सूत्रों में लिखा है उनके लिखे में श्रद्धा वाला जो पुरुष है सो विचार से विना भी कर्म आदि के करने को अच्छी तरह समर्थ होता है ॥ २७ ॥

उपास्तीनामनुष्ठानमार्षग्रंथेषु वर्णितम् ॥
विचाराक्षममर्त्याश्च तच्छ्रुत्वोपासते गुरोः ॥ २८ ॥

शंका—जैमिनि आदि मुनीश्वरोंने कल्प सूत्रोंमें उपासना का विचार नहीं किया तिस से उपासना कैसे बने ।

उत्तर—ब्रह्म वसिष्ठ आदि मंत्र कल्प नाम ग्रंथों में उपासना की कर्तव्यता का प्रकार कहा है, उसके विचार में जो असमर्थ पुरुष हैं अस्मदादि सो कल्प ग्रंथों में कहा जो उपासना का प्रकार उस को गुरु के मुख से जानकर उपासना के करने को समर्थ होते हैं ॥ २८ ॥

वेदवाक्यानि निर्णेतुमिच्छन्मीमांसतां जनः ॥
आप्तोपदेशमात्रेण ह्यनुष्ठानं हि संभवेत् ॥ २९ ॥

शंका—जो कल्प ग्रंथों में कहे हुए प्रकार से उपासना करने को समर्थ होता है, तो अब कल्प ग्रंथों के बनाने हारे पुरुषों ने वेद वाक्यों का विचार क्यों करा है।

उत्तर—अपनी बुद्धि के पत्चावने को करा है और उपासना की कर्तव्यता की सिद्धि वास्ते नहीं करा, उपासना की कर्तव्यता तो यथार्थ वक्ता के उपदेश से सिद्ध होती है ॥ २९ ॥

ब्रह्मसाक्षात्कृतिस्त्वेवं विचारेण विना नृणाम् ॥
आप्तोपदेशमात्रेण न संभवति कुत्रचित् ॥ ३० ॥

शंका—ब्रह्म की उपासना की नाईं ब्रह्म साक्षात्कार भी उपदेश मात्र से ही सिद्ध हो ।

उत्तर—मनुष्यों को बे विचार के जैसे उपासना उपदेश मात्र से सिद्ध होती है तैसे ब्रह्म साक्षात्कार उपदेश मात्र से बे विचार के कदी भी सिद्ध नहीं होता । अर्थात् सत्ययुग में भी और कलियुग में भी और काशी में भी और कुरुक्षेत्र में भी विचार से ब्रह्म का अपरोक्षज्ञान होता है ।

अर्थ—किसी काल में और किसी देश में बे विचार के ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता ॥ ३० ॥

परोक्षज्ञानमश्रद्धा प्रतिबध्नाति नेतरत् ॥
अविचारोऽपरोक्षस्य ज्ञानस्य प्रतिबन्धकः ॥ ३१॥

अर्थ—जिस कारण से अश्रद्धा परोक्षज्ञान का प्रतिबंधक है, अविचार प्रतिबंधक नहीं, इसी कारण से अश्रद्धा के निवृत्त होने पर यथार्थ वक्ता के एक बार ही उपदेश से परोक्षज्ञान होता है, और अपरोक्ष ज्ञान का प्रतिबंधक अविचार है, सो विचार से निवृत्त होता है, तिस से अपरोक्ष ज्ञानके लिये विचार करना चाहिये ॥ ३१ ॥

विचार्याप्यपरोक्ष्येण ब्रह्मात्मानं न वेत्ति चेत् ॥
आपरोक्ष्यावसानत्वाद्भूयो भूयो विचारयेत् ॥ ३२ ॥

शंका—विचार करने पर भी जो अपरोक्ष ज्ञान न हो तो क्या करना योग्य है ।

उत्तर—फिर भी विचार करना योग्य है, विचारसे भिन्न और कोई अपरोक्ष ज्ञान का कारण नहीं, जब तक अपरोक्ष ज्ञान न प्राप्त हो तब तक ब्रह्म आत्मा की एकता के लिये, वारंवार विचार करना ॥ ३२ ॥

विचारयन्नामरणं नैवात्मानं लभेत चेत् ॥
जन्मांतरे लभेतैव प्रतिबन्धक्षये सति ॥ ३३ ॥

शंका—जो वारं वार विचार से भी इस जन्म में अपरोक्ष ज्ञान न हो तो विचार व्यर्थ होगा ।

उत्तर—जो पुरुष मरण पर्यन्त विचार को करता हुआ आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान को न प्राप्त हो तो जन्मांतर में आत्मा के साक्षात्कार को प्राप्त होता है प्रतिबंध के नष्ट होने पर ॥ ३३ ॥

इह वाऽमुत्र वा विद्येत्येवं सूत्रकृतोदितम् ॥
शृण्वंतोऽप्यत्र बहवो यन्न विद्युरिति श्रुतिः ॥ ३४ ॥

अर्थ—यह बात आपने कैसे जानी कि इस जन्म में विचार करने से जन्माँतर में आत्मसाक्षात्कार होता है, प्रतिबंध के नष्ट होने पर ? व्यास जी के वचन से हमने जाना है व्यास जी ने अपने ब्रह्म सूत्र में यह कहा है कि जो पुरुष ब्रह्म आत्माके विचार करने हारा है उस को जो इस जन्म में ज्ञान की उत्पत्ति में कोई प्रतिबंध न हो तो इसी जन्म में ब्रह्म साक्षात्कार होता है, जैसे जनक आदि को विचार से इसी जन्म में ब्रह्म साक्षात्कार हुआ, और जो इसजन्म में ब्रह्म साक्षात्कारमें कोई प्रतिबंध हो तो इस जन्म में किया जो विचार है उससे जन्माँतर में ब्रह्म साक्षात्कार होता है, जैसे वामदेव को इस जन्म के विचार से जन्माँतर में ब्रह्म साक्षात्कार हुआ, प्रतिबंध के रहते इस जन्म में ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता, इस में कठवल्ली उपनिषद् की श्रुति भी प्रमाण है सो कहती है कि श्रवण करते हुए भी विचार करते हुए भी ब्रह्म को अपरोक्ष नहीं जान सकते प्रतिबन्ध के वश से ॥ ३४ ॥

गर्भ एव शयानः सन् वामदेवोऽवबुद्धवान् ॥
पूर्वाभ्यस्तविचारेण यद्वदध्ययनादिषु ॥ ३५ ॥

अर्थ—प्रतिबन्ध के वश से इस जन्ममें श्रवण मनन निदिध्यासन करने हारे पुरुष को जो ब्रह्म साक्षात्कार न हो तो प्रतिबंध के नष्ट होने पर जन्मांतर में ब्रह्म अपरोक्ष ज्ञान होता है। इस अर्थ में ऐतरेय उपनिषद् की श्रुति भी प्रमाण है। उस में यह कहा है कि वाम देव नाम ऋषि गर्भ में वास करता हुआ ऐसे जानता भया कि मैं इन देवताओं के सब जन्म जानता हूँ। अर्थात् जो देवताओं के जन्म से पूर्व विद्यमान है सो उनके जन्म को जानता है उनके जन्म से पूर्व विद्यमान तो ब्रह्म तत्त्व है। सो ब्रह्म तत्त्व मैं हूँ। तिस से पूर्व जन्म में जो विचार किया था उस विचार से गर्भ में ही वामदेव को ब्रह्म साक्षात्कार होता भया। इस जन्म में ज्ञान की न उत्पत्ति और जन्मांतर में प्राप्ति इस में दृष्टान्त जैसे अध्ययन आदि में ॥ ३५ ॥

बहुवारमधीतेऽपि तदा नायाति चेत्पुनः ॥
दिनांतरेऽनधीत्यैव पूर्वाधीतं स्मरेत्पुमान् ॥३६॥

अर्थ—जैसे किसी पुरुष ने वेद की ऋचा कंठ करने का आरम्भ करा उस दिनमें बहुत वार घोष ने पर भी जो ऋचा याद न हुई। तो दूसरे दिन में ऋचा कंठ हो जाती है वे घोषे पूर्वदिन के घोषण के प्रभाव से ॥ ३६ ॥

कालेन परिपच्यंते कृषिगर्भादयो यथा ॥
तद्वदात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते ॥३७॥

अर्थ—और जैसे खेती और गर्भ आदि काल करके परिपक होते हैं एक दिन में नहीं पकते तैसे आत्मविचार भी एक दिन में परिपक्व नहीं होता। वारंवार विचार ने से धीरे २ परिपक्क होता है ॥३७॥

पुनः पुनर्विचारेऽपि त्रिविधप्रतिबंधतः ॥

न वेत्ति तत्त्वमित्येतद्वार्तिके सम्यगीरितम् ॥३८॥

अर्थ—बहुत बार आत्मतत्त्व को विचार ने पर भी प्रतिबंध के वश से आत्म साक्षात्कार नहीं होता, यह बात वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी कही है वारंवार विचार करने पर भी तीन प्रकार के प्रतिबंध से पुरुष तत्त्व के साक्षात्कार को नहीं प्राप्त होता ॥३८॥

कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बंधपरिक्षयात् ॥

असावपि च भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथवा ॥ ३९ ॥

पूर्व विचार के करने पर ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती और अब उत्पत्ति होती है इस में कारण क्या है इस प्रश्न का यह उत्तर है। पूर्व प्रतिबन्ध था उस से विचार करने पर भी ज्ञान न भया। अब प्रतिबंध नष्ट हो गया है इस से अपरोक्ष ज्ञान पैदा हुआ है। सो प्रतिबंध तीन प्रकार का है। एक भूत दूसरा भावी तीसरा वर्त्तमान ॥ ३९ ॥

अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते ॥

हिरण्यनिधिदृष्टान्तादिदमेव हि दर्शितम् ॥ ४० ॥

अर्थ—पढ़ा है वेद और वेद का अर्थ जिसने सो भी पुरुष इस तीन प्रकार के प्रतिबन्ध के विद्यमान होने से मोक्ष को नहीं प्राप्त होता। प्रतिबंध के रहते ज्ञान नहीं होता यह बात छांदोग्य उपनिषद् में भी कही है। तहाँ श्रुतिः (हिरण्यनिधिं निहितम क्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विंदेयुः एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्ब्रह्मलोकं गच्छंत्य एतं ब्रह्मलोकं न विंदंत्यनृतेन हि प्रत्यूढाः)

अर्थ—जैसे किसी पुरुष के घर में बहुत सारा सुवर्ण दब रहा है परन्तु उस पुरुष को उसका ज्ञान नहीं है। तो वह पुरुष उसके ऊपर फिरता हुआ भी उस स्वर्ण को नहीं प्राप्त होता। कंगाल रहता है। उस स्वर्ण के अज्ञान का कारण उसके ऊपर मिट्टी रूप प्रतिबंध है। इसी प्रकार ये सब प्रजा दिन २ में ब्रह्मलोक को प्राप्त होतीं हैं। परन्तु इस ब्रह्मलोक को नहीं जानतीं। मिथ्या रूप अज्ञान से ढकी हुई ॥ ४० ॥

अतीतेनापि महिषी स्नेहेन प्रतिबंधतः ॥
भिक्षुस्तत्त्वं न वेदेति गाथा लोके प्रगीयते ॥४१॥

अर्थ–अब अतीत प्रतीत प्रतिबन्ध कहते हैं । एक कोई संन्यासी संन्यास ग्रहण से पूर्व गृहस्थ अवस्था में एक भैंस में स्नेह वाला होता भया। पश्चात् वह संन्यास लेकर श्रवण करने लगा तब उसका चित्त भैंस में लगा रहे । आत्मतत्त्व मनन उसे न हो। जो गुरु ने उपदेश करा था उस मोह से पैदा हुआ जो प्रतिबन्ध उस से आत्म साक्षात्कार को न प्राप्त हुआ ऐसी कथा लोक में सुनी है ॥ ४१ ॥

अनुसृत्य गुरुः स्नेहं महिष्यां तत्त्वमुक्तवान् ॥
ततो यथावद्वेदैप प्रतिबंधस्य संक्षयात् ॥ ४२ ॥

अर्थ—जो अतीत पदार्थ भी प्रतिबन्ध करता है तो अतीत पदार्थ में मोहवाले पुरुष को ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है ? उस संन्यासी का जो गुरु आत्म तत्त्व के उपदेश के करने हारा सो अति दयालु था उसने उससे पूछा कि हमारे उपदेश से तुझे आत्म तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हुआ इस से हम जानते हैं कि तैने उसका मनन नहीं करा । तेरे मन में किसी और पदार्थ का चिंतन होता है। तब वह बोला कि भैंस में मेरा चित्त लगा हुआ है। तब उसके गुरु उसका भैंस में स्नेह जानकर यह कहते भये कि तू यह उपासना कर यह भैंस ब्रह्म मैं हूँ उस से उसका चित्त एकाग्र हुआ। उससे उसके चित्त में यह भावना दृढ़ हो गयी कि मैं भैंस हूँ तब उसके गुरु उससे कहते भये हे भैंस रूपे ब्रह्म हमारी बात को सुनकर हमारी कुटी से बाहर आ तब वह अपने गुरु से बोला। मेरा शरीर बड़ा मोटा है और मेरे सींग बड़े हैं और कुटी का दरवाजा छोटा है। तिससे मैं कैसे कुटी से बाहर जाऊं। तब उसके गुरु बोले कि तू महिषी रूप नहीं। उसकी भावना से तू अपने को महिषी रूप मानने लगा है। वास्तव से तू मनुष्य रूप है। जल के पात्र में अपने मुखको देख। ऐसे कहकर उसको जल पात्र दिया। उस में उस ने अपना मुख देखा। और जाना कि मैं मनुष्य हूं महिषी नहीं। तब उसका गुरु उससे बोला कि हे शिष्य ! जैसे महिषी की भावना से तू अपने को महिषी रूप मानता था तैसे ब्रह्म की भावना से तू ब्रह्म रूपता को प्राप्त होगा। ऐसे उपदेश करने से उस सन्यासी का महिषी में स्नेहरूप प्रतिबंध नष्ट हो गया। तिससे वह संन्यासी गुरु ने जो उपदेश करा था ब्रह्म तत्त्वका उसको अपरोक्षरूपता से जानता भया। तात्पर्य यह है कि उपासना से भूत प्रतिबन्ध का अभाव होता है ॥४२॥

प्रतिबंधो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः ॥
प्रज्ञामांद्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः ॥ ४३ ॥

अर्थ—इस प्रकार अतीतप्रतिबंध को दिखा कर, अब वर्तमान प्रतिबंध दिखाते हैं वर्तमान प्रतिबंध चार प्रकार का है, एक चित्त की विषयों में आसक्ति, दूसरा बुद्धि की मंदता, अर्थात् गुरु और शास्त्र के उपदेश को न समझना, तीसरा श्रुति विरुद्ध युक्तियों से श्रुतियों के अर्थों का अन्यथा चिंतन करना, अर्थात् पूर्वपक्ष की युक्तियों में बहुत रुचि होनी इसका नाम कुतर्क है, और चौथा दुराग्रह, अर्थात् आत्मा कर्ता है भोक्ता है और जगत् सत्य है, उसमें युक्ति से रहित हठ रखना, इन चार प्रतिबंधों में एक के रहते भी ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता ॥ ४३ ॥

शमाद्यैः श्रवणाद्यैश्च तत्र तत्रोचितैः क्षयम् ॥
नीतेऽस्मिन्प्रतिबंधेऽतः स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते ॥ ४४ ॥

अर्थ—इस वर्तमान चार प्रकार के प्रतिबंध की निवृत्ति किस से होती है ? शम दम उपरति तितिक्षा समाधि इस से विषयासक्तिरूप प्रतिबंध का नाश होता है, और वारंवार श्रवण करने से बुद्धि की मंदता नष्ट होती है, और आत्ममनन से कुतर्करूप प्रतिबंध का नाश होता है, और निदिध्यासन से विपर्यय दुराग्रहरूप प्रतिबंध का नाश होता, इन साधनों से प्रतिबंध के दूर होने पर आत्मा की ब्रह्मरूपता को अपरोक्ष अनुभव करता है ॥ ४४ ॥

आगामिप्रतिबंधश्च वामदेवे समीरितः ॥
एकेन जन्मना क्षीणो भरतस्य त्रिजन्मभिः ॥ ४५ ॥

अर्थ—अब आगामी प्रतिबंध को कहते हैं, अवश्य जन्मांतर के देने हारा जो प्रारब्ध कर्म है सो भावी प्रतिबंध है, सो वामदेव और जड़ भरत को हुआ है, उसका बे भोग नाश नहीं होता। तिससे उसके नाश में काल का नियम नहीं, जिससे वामदेव का एक जन्म कर के, और जड़ भरत का तीन जन्मों कर के भावी प्रतिबंध नष्ट हुआ है ॥ ४५ ॥

योगभ्रष्टस्य गीतायामतीते बहुजन्मनि ॥
प्रतिबँधक्षयः प्रोक्तो न विचारोऽप्यनर्थकः ॥ ४६ ॥

शंका—एक जन्म करके वामदेव का और तीन जन्मों करके जड़ भरत का भावी प्रतिबंध नष्ट हुआ यह काल नियम तो आप कहते हो, तिससे यह क्यों कहते हो कि भावी प्रतिबँध के नाश में काल नियम नहीं।

उत्तर—गीता में यह कहा है कि बहुत जन्मों के बीतने पर भी प्रतिबंध के नष्ट होने पर योग भ्रष्ट को मोक्ष की प्राप्ति होती है, योग भ्रष्ट नाम उसका है, जो पुरुष ब्रह्म साक्षात्कार करने को विचार में प्रवृत्त हुआ है, और ब्रह्म साक्षात्कार पर्यन्त विचार से रहित होने से ब्रह्म साक्षात्कार को न प्राप्त होता हुआ मर गया है।

शंका—जो योगभ्रष्ट को बहुत जन्मों के बीतने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है, तो उससे पूर्व करा जो तत्त्व विचार है सो निष्फल हुआ।

उत्तर—तत्त्वविचार निष्फल नहीं, प्रतिबंध के नाश होने से पीछे अपरोक्ष ज्ञान रूप फल उस विचार का है ॥ ४६ ॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानात्मतत्त्वविचारतः ॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे साभिलाषोऽभिजायते ॥ ४७ ॥

अर्थ—सो गीता में जैसे कहा तैसे सुन, योग भ्रष्ट पुरुष आत्मतत्त्व विचार के प्रभाव से ऐसे उत्तम स्वर्ग को प्राप्त होता है जिस स्वर्ग को अश्वमेध आदि यज्ञों के करने हारे पुरुष प्राप्त होते हैं उस स्वर्ग में बहुत काल सुख को अनुभव कर अंत में मनुष्य जन्मको प्राप्त होता है, स्वर्ग से गिरा जो योगभ्रष्ट है सो दो प्रकारका है, एक विषयों की कामना वाला एक विरक्तचित्त, विषयों की कामनावाला जो योग भ्रष्ट है सो माता पिता करके शुद्ध और अति धन वाले राजे आदि के घर में जन्म लेता है ॥ ४७ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ॥
निस्पृहो ब्रह्मतत्त्वस्य विचारात्तद्धि दुर्लभम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—और जो योगभ्रष्ट पुरुष विरक्तचित्त होता है, तो ब्रह्म विचार के प्रताप से आत्मज्ञानवान् और चित्त की एकाग्रता वाले विरक्त मुनीश्वरों के घर में जन्म लेता है यह जन्म अति दुर्लभ है, थोड़े पुण्यों से नहीं मिलता ॥ ४८ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ॥
यतते च ततो भूयस्तस्मादेतद्धि दुर्लभम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—उसकी दुर्लभता को कहते हैं, जिस कारण से पूर्व जन्म में करा जो ब्रह्म अभ्यास था इस जन्म में शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है, केवल ब्रह्म अभ्यास को ही नहीं प्राप्त होता, किंतु पूर्व जन्म के प्रयत्न से अधिक प्रयत्न करता है, अर्थात् ब्रह्म अभ्यास में बहुत पुरुषार्थ करता है तिस कारण से यह जन्म दुर्लभ है ॥ ४९ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ॥
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ५० ॥

अर्थ—पूर्व जन्म के अभ्यास के पुरुषार्थ से इस जन्म के अभ्यास के पुरुषार्थ की अधिकता में कारण कहते हैं, योग भ्रष्ट पुरुष अपने चित्त में यह विचारता है कि जो मैं उस अभ्यास में प्रमाद करूंगा तो जन्म आदि दुःखों की प्राप्ति होगी, इस से अभ्यास में अधिक पुरुषार्थ करता है, और जिस योग भ्रष्ट का चित्त विषयासक्त है उनको पूर्व अभ्यास ने जोरा जोरी ब्रह्म अभ्यास में जोड़ दिया है उसकी जो ब्रह्म अभ्यास में इच्छा न हो तौ भी जैसे नदी के प्रवाह में तरने हारा जो पुरुष है उस ने गोते खाने की वा बहने की इच्छा नहीं भी करी पर नदी के वेग से वह जोरा जोरी गोते खाताहै और वह भी जाता है इस प्रकार अनेक जन्मों में करा जो ब्रह्म अभ्यास का प्रयत्न है उस करके ब्रह्म साक्षात्कार को प्राप्त होता हुआ उस ब्रह्म साक्षात्कार में मोक्षको प्राप्त होताहै ॥५०॥

ब्रह्मलोकाभिवांछायां सम्यक् सत्यां निरुध्यताम् ॥
विचारयेद्य आत्मानं न तु साक्षात्करोत्ययम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—एक भावी प्रतिबंध और भी है उसे कहते हैं। जिस पुरुष को पूर्व ब्रह्म लोक की कामना थी उस करके ब्रह्म लोक की प्राप्ति वास्ते उपासना करी उस उपासना से चित्त एकाग्रता होने से, ब्रह्म लोक में वैराग्य हुआ तो वह ब्रह्मलोक की दृढ़ कामना को रोक कर आत्मा के विचार को करने लगा। ऐसा जो पुरुष है उस को आत्म साक्षात्कार नहीं होता ॥ ५१ ॥

वेदांतविज्ञानसुनिश्चितार्था इति शास्त्रतः ॥
ब्रह्मलोके स कल्पांते ब्रह्मणा सह मुच्यते ॥ ५२ ॥

शंका—जो ब्रह्मलोक की कामना वाले पुरुष को कामना के त्यागने से आत्मा के विचार करने पर भी आत्मसाक्षात्कार नहीं होता तो उसकी मोक्ष कहीं भी न होनी चाहिये।

उत्तर-ब्रह्म लोक में उसको ज्ञान की प्राप्त होता है, कल्प के अंत में ब्रह्मा जी के साथ वह विदेह मुक्ति को प्राप्त होजाता है, जिससे शास्त्र में यह कहा है, तथा शास्त्रम्। (वेदांत विज्ञान सुनानिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः ॥ ते ब्रह्मलोके तु परांतकाले परामृताः परिमुच्यंति सर्वे ॥ ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रति संचरे ॥ परस्यांते कृतात्मानः प्रविशंति परं पदम्)

अर्थ—वेदांत के विचार से यह ज्ञान जिनको निश्चित हुआ है कि जगत् झूठा है आत्मा ब्रह्म रूप है, ऐसे जो पुरुष हैं त्याग से और योग से शुद्ध हुआ है अंतःकरण जिन का ऐसे जो संन्यासी हैं सो ब्रह्मा जी के विदेह होने के समय ब्रह्मलोक में ब्रह्म साक्षात्कार को प्राप्त होते हुए सब ही विदेह मुक्ति को प्राप्त जाते हैं ॥ १ ॥ और स्मृति भी कहती है, जो पुरुष वेदांत के विचार से और त्याग और योग के बल से ब्रह्म लोक में प्राप्त हुए हैं सो सब उस लोक में ब्रह्म साक्षात्कार को प्राप्त होते हुए उस से कृतकृत्य हुए महाप्रलय के प्राप्त होने पर ब्रह्माजी के विदेह मुक्ति के समय ब्रह्माजी के साथ ही विदेह मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं, तात्पर्य यह है कि ब्रह्म लोक की वांछा ही उन को ब्रह्म ज्ञान में प्रतिबंधक था। और ब्रह्म लोकके भोग देने हारा प्रारब्ध कर्म प्रतिबंधक था, सो दोनों ब्रह्म लोक के मिलने पर निवृत्तहो जाते हैं। तिस से ब्रह्म लोक में उसको पूर्व विचार से चाहे ब्रह्माजी के उपदेश से ब्रह्म साक्षात्कार होता है, ब्रह्म साक्षात्कार को प्राप्त होता हुआ जीवन्मुक्ति को भोक्ता है, और अंतमें विदेह मुक्ति को प्राप्त हो जाता है, इतने कर के यह कहा कि विचार के करने पर भी प्रतिबंध के प्रभाव से इस जन्म में ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता ॥ ५२ ॥

केषांचित्स विचारोऽपि कर्मणा प्रतिबध्यते ॥
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य इति श्रुतिः ॥ ५३ ॥

अर्थ—और तीव्र पापों वाले पुरुषों को ब्रह्म विचार भी दुर्लभ है। अर्थात् उन को ब्रह्म विचार भी नहीं प्राप्त होता। इसी अर्थ को कठवल्ली उपनिषद् में कहा है। अनन्त पापों के प्रभाव से श्रवण रूप विचार के लिये भी परमात्मा का लाभ नहीं होता ॥ ५३ ॥

अत्यंतबुद्धिमांद्याद्वा सामग्र्या वाप्यसंभवात् ॥
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ॥ ५४ ॥

शंका—विचार में जिस की समर्थ नहीं और उस की इच्छा है उसको क्या कर्तव्य है।

उत्तर—इस का उत्तर तो हमने पूर्व कहा है कि विचार में असमर्थ जो पुरुष है सो गुरु श्रवण कर निर्गुण ब्रह्म की उपासना करे। अब उसके उत्तर को विस्तार से कहते हैं। विचार की न प्राप्ति में कारण दो हैं एक बुद्धि की अत्यन्त मंदता और दूसरा सामग्री का अभाव। सो समग्री का अभाव यह है। ब्रह्म तत्त्व के उपदेश करने हारे गुरु की प्राप्ति न होनी। और अध्यात्मशास्त्र प्राप्त न होना। और इनके न मिलने पर

भी शरीर में रोग लग जाना शिष्य के अथवा गुरु के अथवा गुरु शिष्य का विवाद हो जाना। जैसे याज्ञवल्क्य और वैसंपायन का। अथवा शिष्य की गुरु में दोष दृष्टि हो जानी। जैसे इन्द्र की दध्यंगाथर्वण ऋषि में अथवा गुरु की शिष्य में अनधिकारी बुद्धि हो जानी। अथवा देश में राज आदि का उपद्रव होना। अथवा शिष्य को उपदेश श्रवण का समय न मिलना। अथवा गुरू को उपदेश करने का समय न मिलना इस सामग्री के अभाव से जो विचार को नहीं प्राप्त हो सकता। सो पुरुष निर्गुण ब्रह्म की उपासना करे ॥५४॥

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्तेरसंभवः ॥
सगुणब्रह्मणी वात्र प्रत्ययावृत्तिसंभवात् ॥ ५५ ॥

शंका—निर्गुण ब्रह्म की उपासना नहीं बनती। जिससे यह गुणों से रहित है।

उत्तर—उपासना नाम तो चित्तवृत्तियों की नदी धारावत् प्रवाहाकारता का है। सो जैसे सगुणब्रह्म में होती है। तैसे निर्गुण ब्रह्म में भी होई सकती है ॥ ५५ ॥

अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमिति चेत्तदा ॥
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न च संभवेत् ॥ ५६ ॥

शंका—निर्गुण ब्रह्म की उपासना नहीं बन सकती। क्यों कि जो चित्त का विषय होता है उसकी उपासना होती है। और ब्रह्म तो मन वाणी का विषय नहीं।

उत्तर—यह दोष तो ज्ञान पक्ष में भी समान है। जिससे ज्ञान उसी वस्तु का होता है जो मन वाणी का विषय है। और ब्रह्म तो मन वाणी का विषय नहीं। तिस से ब्रह्म का ज्ञान भी नहीं बनता।

वागाद्यगोचराकारमित्येवं यदि वेत्त्यसौ ॥
वागाद्यागोचराकारमित्युपासीत नो कुतः ॥ ५७ ॥

शंका—ब्रह्म का ज्ञान तो बनता है। क्यों कि ब्रह्म मन वाणी का विषय नहीं यह जानने को समर्थ होता है।

उत्तर—ब्रह्म मन वाणी का विषय नहीं ऐसे उपासना करने को भी समर्थ होता है ॥ ५७ ॥

सगुणत्वमुपास्यत्वाद्यदि वेद्यत्वतोऽपि तत् ॥
वेद्यं चेल्लक्षणावृत्त्या लक्षितं समुपास्यताम् ॥ ५८ ॥

शंका—जो ब्रह्म उपासना के योग्य होगा तो उसको सगुणता प्राप्त होगी।

उत्तर—जो ब्रह्म जानने के योग्य होगा तो उसको सगुणता प्राप्त होगी।

शंका–जहत् अजहत् लक्षणा के मानने से ब्रह्म को ज्ञान कर के ज्ञेयता के रहते भी सगुणता की प्राप्ति नहीं होती ।

उत्तर—लक्षणा करके जो लक्ष्य है उसकी उपासना भी बनती है ॥५८॥

ब्रह्मविद्धि तदेवत्वं न त्विदं समुपासते ॥
इति श्रुतेरुपास्यत्वं निषिद्धं ब्रह्मणो यदि ॥ ५९ ॥

शंका—ब्रह्म को उपासना योग्यता का श्रुति ने निषेध करा है । तहाँ श्रुतिः (यन्मनसा न मनुते ये नाहुर्मनोमतं तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते) अर्थ–जो मन करके मनन नहीं होता और जिस करके मन जाना जाता है । उसको ब्रह्म जान और जिसकी जीव उपासना करते हैं सो ब्रह्म नहीं इस प्रकार के न उपनिषद् की श्रुति उपासना योग्य वस्तु को ब्रह्मरूपता का निषेध करती है इस से ब्रह्म उपासना के योग्य नहीं ॥५९॥

विदितादन्यदेवेति श्रुतेर्वेद्यत्वमस्य न ॥
यथा श्रुत्यैव वेद्यं चेत्तथा श्रुत्याऽप्युपास्यताम् ॥ ६० ॥

उत्तर—केन उपनिषद् की श्रुति ने जैसे उपासना योग्य को ब्रह्म रूपता का निषेध किया है तैसे ज्ञान योग्य को भी ब्रह्म रूपता का निषेध किया है । तहाँ श्रुति केनोपनिषद् की । अन्यदेव तद्विदिता दथो विदिता दधीति) अर्थ–ज्ञान का जो विषय है उससे ब्रह्म भिन्न है और अज्ञान का जो विषय है उससे भी ब्रह्म भिन्न है ।

शंका—ज्ञान और अज्ञान के विषय से जो भिन्न है सो ब्रह्म है ऐसे जो श्रुति कहती है तो तैसे ही ब्रह्म जानने योग्य है तिससे ब्रह्म ज्ञान सिद्ध हुआ ।

उत्तर—ऐसे ब्रह्म को जान कर उपासना भी करनी बनती है, अर्थात् ब्रह्म ज्ञान और अज्ञान और उपासना के विषय से भिन्न है, ऐसे ज्ञान कर नदी के प्रवाह की नाई ब्रह्माकार चित्तवृत्ति का प्रवाह करना इसका नाम उपासना है सो जैसे श्रुति ने कहीं है तसे हो सकती है ॥६०॥

अवास्तवी वेद्यता चेदुपास्यत्वं तथा न किम् ॥
वृत्तिव्याप्तिर्वेद्यता चेदुपास्यत्वेऽपि तत्समम् ॥ ६१ ॥

शंका–ब्रह्म को ज्ञान विषयता वास्तव नहीं अज्ञान की निवृत्ति के लिये ज्ञानवानों ने कल्प कर जिज्ञासुओं को कही ।

उत्तर—ब्रह्म को उपासनाविषयता भी वास्तव नहीं चित्त की एकाग्रताद्वारा ज्ञान की उत्पत्ति करके अज्ञान के नाश वास्ते ब्रह्मवेत्ताओं ने कल्प कर जिज्ञासुओं को कही है।

शंका—ज्ञानपक्ष में वृत्ति को ब्रह्माकारता बन सकी है। और उपासनापक्ष में नहीं बनती।

उत्तर—शब्दप्रभाव से वृत्ति को ब्रह्माकारता ज्ञान और उपासना इन दोनों पक्षों में बन सकती है॥ ६१॥

का ते भक्तिरुपास्तौ चेत्कस्ते द्वेषस्तदीरय॥
मानाभावो न वाच्योऽस्यां बहुश्रुतिषु दर्शनात्॥६२॥

अर्थ—और जो युक्ति से रहित उपासना पक्षमें तू उलाहना देगा। सो उलाहना ज्ञानपक्ष में भी समान है। उस उलाहने का यह स्वरूप है कि तेरी उपासना में भक्ति है जिससे उपासना की तू ऐसी खेंच करता है। दूसरे उलाहने का स्वरूप यह है कि तेरा उपासना में क्या वैर है। जिस से तू उपासना का निषेध करता है सो कहो।

शंका—निर्गुण उपासना में प्रमाण कोई नहीं इस से मैं उसका निषेध करता हूँ और मेरा उस से वैर कुछ नहीं।

उत्तर—निर्गुण उपासना में प्रमाण का अभाव नहीं जिस से बहुत श्रुतियों में निर्गुण उपासना दीखती है॥ ६२॥

उत्तरस्मिंस्तापनीये शैब्य प्रश्नेऽथ काठके॥
मांडूक्यादौ च सर्वत्र निर्गुणोपास्तिरीरिता॥ ६३॥

अर्थ—तापनीयोपनिषद् की श्रुतिः। (तावद् देवाहवै प्रजापतिमब्रुवन्नणोरणीयांसमिममात्मानमोंकारं नो व्याचक्ष्व) अर्थ—नरसिंह तापनीय के उत्तर खंड में देवताओं ने ब्रह्मा जी से यह प्रश्न करा है कि हे भगवन्! जो सूक्ष्म यह आत्मा ओंकार करके जानने योग्य है। उसका उपदेश हमारे प्रति करो। तब ब्रह्मा जी ने अनेक प्रकार से निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश किया। प्रश्नोपनिषद् की श्रुतिः। (यःपुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत) अर्थ—और प्रश्न उपनिषद् के पांचवे प्रश्न में शैबनाम मुनीश्वर ने पिपलाद गुरु के आगे प्रश्न करा है। जो पुरुष मरण पर्यन्त ओंकार की उपासना करता है उस से किस फल को पाता है। तब गुरु बोले। हे सत्यकाम! जो पुरुष ओंकार को सगुण ब्रह्मरूप जान कर उपासना करता है उसको सगुण ब्रह्म की प्राप्ति होती है। और जो ओंकार में निर्गुण ब्रह्म की उपासना

करता है सो निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त होता है। यह जो तीन मात्रा वाला ओंकार है उस करके परम पुरुष जो निर्गुण परमात्मा है उसके ध्यान को करता है। पुरुष ब्रह्मलोक में प्राप्त होकर निर्गुण परमात्मा का अनुभव करता है। कठवल्ली उपनिषद् की श्रुतिः (सर्वे वेदायत्पदमामनंति) इत्युपक्रम्य (एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदालंबनं श्रेष्ठम्)अर्थ–और कठवल्ली उपनिषद् में यम ने नचिकेता के तांई कहा है। सब वेद जिस वस्तु को कहते हैं सो वस्तु मैं तेरे तांई कहूँगा ऐसा आरंभ कर पीछे से यह कहा। जो ओंकार रूप अक्षर है। सो ब्रह्म है। जिज्ञासुओं को इस का सहारा लेना श्रेष्ठ है। तात्पर्य यह है कि ओंकार को निर्गुण ब्रह्मरूप जानकर उपासना करने से निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। मांडूक्य उपनिषद् की श्रुतिः। (ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमित्यादि) अर्थ—और माँडूक्य उपनिषद् में ओ३म् यह अक्षर सर्वरूप है। इत्यादि वाक्य से तीनों अवस्थाओं से रहित तुरीयरूप निर्गुण ब्रह्म की उपासना कही है। और तैत्तरीय उपनिषद् और मुंडक उपनिषद् आदि में सर्वत्र निर्गुण उपासना कही है ॥६३॥

अनुष्ठानप्रकारोऽस्याः पंचीकरण ईरितः ॥
ज्ञानसाधनमेतच्चेन्नेति केनात्र वारितम् ॥ ६४ ॥

शंका—निर्गुण उपासना किस प्रकार करनी।

उत्तर—निर्गुण उपासना के करने का प्रकार पंची करण में कहा है।

शंका—निर्गुण उपासना ज्ञान का साधन है मोक्ष का साधन नहीं।

उत्तर—निर्गुण उपासना ज्ञान का साधन हो इस में हमको कुछ अनिष्ट नहीं ॥ ६४ ॥

नानुतिष्ठति कोप्येतदिति चेन्माऽनुतिष्ठतु ॥
पुरुषस्यापराधेन किमुपास्तिः प्रदुष्यति ॥६५॥

शंका—सगुण उपासना ही सब पुरुष करते हैं। और निर्गुण उपासना तो किसी ने नहीं करी। तिस से हम जानते हैं कि निर्गुण उपासना नहीं है।

उत्तर—अनेक प्रमाणों से सिद्ध जो निर्गुण उपासना है। उसका जो मूर्ख अनुष्ठान नहीं करते तो भी जिज्ञासुओं ने उस का त्याग नहीं करा। तिस से उन का निरोध नहीं बनता। जिससे निर्गुण उपासना का न करना पुरुष का अपराध है। इस से निर्गुण उपासना का अभाव सिद्ध नहीं होता ॥ ६५ ॥

इतऽप्यतिशयं मत्वा मंत्रान्वश्यादिकारिणः ॥
मूढा जपंतु तेभ्योऽतिमूढाः कृपिमुपासताम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—जो प्रमाण सिद्ध उपासना है उसका जो मूर्खों ने अनुष्ठान नहीं करा। तौ भी उसका उत्तम बुद्धिमानों ने त्याग नहीं करा। जैसे सगुण उपासना बहुत काल पीछे फल देती हैं उन को छोड़ कर मूर्ख पुरुष शीघ्र फल के देने हारे वशीकरण आदि करने हारे मन्त्रों का जप करते हैं। तौ भी विवेकियों ने उनको देखकर सगुण उपासना नहीं छोड़ी, और जैसे नियम की अपेक्षा है जिनमें, ऐसे जो वशीकार आदि मंत्र हैं उनको भी त्याग कर, और जिन में नियम की अपेक्षा नहीं है ऐसे जो खेती आदि व्यापार हैं उनमें अति मूर्ख प्रवृत्त होते हैं पर उन मंत्रों के अनुष्ठान का त्याग सब ने नहीं करा, तैसे संसार के सुख चहाने हारे पुरुष निर्गुण उपासना को छोड़ देते हैं, और जिज्ञासु नहीं छोड़ते ॥ ६६ ॥

तिष्ठंतु मूढाः प्रकृता निर्गुणोपास्तिरीर्यते ॥
विधैक्यात्सर्वशाखास्थान् गुणानत्रोपसंहरेत् ॥ ६७ ॥

अर्थ—मूर्खों का निर्णय यहाँ ही स्थित रहा अब निर्गुण उपासना कहते हैं, जिस से निर्गुण उपासना सब उपनिषदों में एक है, तिस से सब उपनिषदों में कहे जो निर्गुण ब्रह्म के गुण हैं उन सब गुणों को एक स्थान में एकट्ठा कर निर्गुण ब्रह्म की उपासना करनी ॥ ६७ ॥

आनंदादेर्विधेयस्य गुणसंघस्य संहृतिः ॥
आनंदादय इत्यस्मिन्सूत्रे व्यासेन वर्णिता ॥ ६८ ॥

अर्थ—सो गुण दो प्रकार के हैं, एक विधिरूप एक निषेधरूप, उन में जो विधि रूप गुण हैं, उनको एक स्थान में एकट्ठा करना, उन सब गुणों सहित ब्रह्म की उपासना करनी, यह वार्ता व्यास जी ने (आनंदादयः प्रधानस्य) इस सूत्र में कहा है, कि ब्रह्म के आनंद आदि गुण हैं, तहाँ श्रुतिः। (आनंदो ब्रह्मविज्ञानमानंदं ब्रह्म नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरंजनो विभुरद्वयं आनंदःपरः प्रत्यगेकरस इत्यादि) अर्थ--ब्रह्म आनंद रूप है और ब्रह्म चैतन्यरूप और आनंदरूप है, और ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्ध सत्य मुक्त निरंजन विभु एक आनंद रूप है और सब से परे है और आत्मा है और एक रस है इत्यादि विधिरूप गुण हैं, तात्पर्य यह है कि जिस उपनिषद् में ब्रह्मको आनंद रूप कहा है और चैतन्यरूप नहीं कहा उस उपनिषद् के पढ़ने हारे जिज्ञासु को केवल आनंदरूप जान कर ब्रह्म की उपासना न करनी चाहिये, किंतु दूसरी उपनिषद् में जो चैतन्यरूप कहा है उस चैतन्यरूप गुण को ग्रहण कर, इसी प्रकार और उपनिषदों में जो गुण कहे

हैं नित्य शुद्ध बुद्ध रूप आदि उनको भी लेकर सब गुणों वाले ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये ॥ ६८ ॥

अस्थूलादेर्निषेध्यस्य गुण संघस्य संहृतिः ॥
तथा व्यासेन सूत्रेऽस्मिन्नुक्ताऽक्षरधियांत्विति ॥ ६९ ॥

अर्थ—और जो निषेधरूप गुण तिस २ उपनिषद् में श्रवण करे हैं, जैसे बृहदारण्यक में यह सुना है, ब्रह्म स्थूल नहीं अणु नहीं गुट्टा नहीं लम्बा नहीं। और मुंडक में यह सुना है, ब्रह्म दृश्य नहीं हाथों से ग्रहण करने योग्य नहीं, और कठ वल्लीमें यह सुना है, ब्रह्म शब्द नहीं स्पर्श नहीं रूप नहीं रस नहीं गंध नहीं, तिन सब गुणोंको एक स्थान में एकट्ठा कर ब्रह्म की उपासना करनी। तात्पर्य यह है कि जितने गुणों का जिस उपनिषद् में निषेध करा है, तितने गुणों से रहित ही ब्रह्मकी उपासना नहीं करनीं, किंतु सब उपनिषदों में जितने गुणों का निषेध करा है तिन सब गुणों से रहित ब्रह्म की उपासना करनी, यह व्यास जी ने अपने (अक्षरधियां त्ववरोधः) इत्यादि सूत्र में कहा है, परमात्मा में सब निषेध गुणों को एकट्ठा कर उपासना करनी जिस से द्वैत प्रपंच के निषेध से ब्रह्म का उपदेश सब उपनिषदों में समान है, और शिष्य को जनाव ने योग्य जो ब्रह्म है उसकी सब उपनिषदों में एक रूपता करके विद्यमानता है ॥ ६९ ॥

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य विद्यायां गुणसंहृतिः ॥
न युज्येतेत्युपालंभो व्यासं प्रत्येव मां न तु ॥७०॥

शंका—निर्गुण ब्रह्म विद्या में गुणों का एकट्ठा करना नहीं बनता, क्यों कि उनके एकट्ठा करने पर विद्या को निर्गुण रूपता नहीं रहती।

उत्तर—यह शंका तो तुझे व्यासजी के सामने करनी चाहिये, मेरे आगे न करनी चाहिये, क्यों कि मैंतो व्यास जी के कहे हुए को कहता हुं, इतने कहने से सिद्धांती सूक्ष्म हाँसी को करता हुआ शंका करने हारे की मूर्खता को जनावता है ॥ ७० ॥

हिरण्यश्मश्रुसूर्यादि मूर्तीनामनुदाहृतेः ॥
अविरुद्धं निर्गुणत्वमिति चेत्तुष्यतां त्वया ॥७१॥

अर्थ—सिद्धांती ने सूक्ष्म हाँसी द्वारा जो पूर्व पक्षी की मूर्खता जनाई है, उस के दूर करने को पूर्व पक्षी कहता है, इस उपासना को निर्गुण रूपता बनती है, जिससे इस उपासना में स्वर्ण की है डाढ़ी जिसकी, और स्वर्ण के हैं केश जिसके ऐसी सूर्य आदि की मूर्ति नहीं कहीं, तब सिद्धांती बोला, इस प्रकार जो यह उपासना निर्गुण है तो संतोष कर शंका मत कर ॥ ७१ ॥

गुणानां लक्षकत्वेन न तत्त्वेंऽतः प्रवेशनम् ॥
इति चेदस्त्वेवमेव ब्रह्मतत्त्वमुपास्यताम् ॥ ७२ ॥

शंका—आनंद आदि रूप गुणों का और स्थूलता के अभाव आदि गुणों का उपास्य वस्तु के अंदर प्रवेश नहीं होता, इस से आनंद आदि गुण युक्त ब्रह्म की उपासना नहीं बनती।

उत्तर—आनंद आदि गुणों का तत्त्व के अंदर प्रवेश न होने परभी आनंद आदि गुण तत्त्व के लखावने हारे हैं, तिस से तिन गुणों से लखा हुआ जो ब्रह्म तत्त्व है, उस की उपासना करनी योग्य है ॥ ७२ ॥

आनन्दादिभिरस्थूलादिभिश्चात्माऽत्र लक्षितः ॥
अखंडैकरसः सोऽहमस्मीत्येवमुपासते ॥ ७३ ॥

अर्थ—सो उपासना जिस प्रकार करनी योग्य है सो सुन। आनंद आदि गुणों करके और स्थूलता के अभाव आदि गुणों करके जाना जो अखंड एक रस आत्मा है सो अखंड एक रस आत्मा मैं हूँ ऐसे जिज्ञासु उपासना करते हैं ॥ ७३ ॥

बोधोपास्त्योर्विशेषः क इति चेदुच्यते शृणु ॥
वस्तुतन्त्रो भवेद्बोधः कर्तृतंत्रमुपासनम् ॥ ७४ ॥

शंका—ऐसे होने पर ज्ञान और उपासना में कैसे भेद है।

उत्तर—उपासना कर्ता के आधीन होती है; और ज्ञान वस्तु के आधीन होता है, इस से उपासना और ज्ञान का भेद है ॥ ७४ ॥

विचाराज्जायते बोधोऽनिच्छायं न निवर्तयेत् ॥
स्वोत्पत्तिमात्रात्संसारे दहत्यखिलसत्यताम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—और भी उपासना और ज्ञानके भेद का कारण सुन; आत्म तत्त्वके विचार से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, और पैदा हुए ज्ञान को बोध मत हो यह है रूप जिसका ऐसी जो अनिच्छा है सो दूर नहीं कर सकी, और ज्ञान अपनी उत्पत्तिमात्र से संसार की सत्यता को नष्ट कर देता है ॥ ७५ ॥

तावता कृतकृत्यः सन्नित्यतृप्तिमुपागतः ॥
जीवन्मुक्तिमनुप्राप्य प्रारब्धक्षयमीक्षते ॥ ७६ ॥

अर्थ—और ज्ञान की उत्पत्ति मात्र से पुरुष कृतकृत्य होता हुआ निरतिशय सुख को प्राप्त होता है; और जीवन्मुक्ति को प्राप्त होकर प्रारब्ध कर्म के नाश पर्यन्त शरीर

को धारता है, ज्ञानवान् प्रारब्ध कर्म के नष्ट होने पर फिर शरीर को नहीं धारता, किंतु विदेह मुक्ति को प्राप्त होजाता है ॥ ७६ ॥

आप्तोपदेशं विश्वस्य श्रद्धालुरविचारयन् ॥
चिंतयेत् प्रत्ययैरन्यैरनंतरितवृत्तिभिः ॥ ७७ ॥

अर्थ—और श्रद्धावान् पुरुष को उपासना यथार्थ वक्ता के उपदेश के ऊपर विश्वास कर के बिचार के ही उत्पन्न होती है, सो उपासना का स्वरूप यह है, विजातीय प्रत्ययों का तिरस्कार करके सजातीय प्रत्यय का प्रवाह करना, अर्थात् उपास्य वस्तु का सदा चिंतन करना और घट पट आदि पदार्थों का चिंतन न करना ॥ ७७ ॥

यावच्चिंत्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते ॥
तावद्विचिंत्य पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत् ॥७७॥

अर्थ—कब तक उपास्य वस्तु का चिंतन करना ? जब तक उपास्य वस्तुके स्वरूप का अभिमान उपासना करने हारे पुरुष को न प्राप्त हो, तब तक उपास्य वस्तु के स्वरूप का चिंतन करना, और पीछे भी मरण पर्यन्त तैसे ही धारण करनी ॥ ७८ ॥

ब्रह्मचारी भिक्षमाणो युतः संवर्गविद्यया ॥
संवर्गरूपतां चित्ते धारयित्वा ह्यभिक्षत ॥७९॥

अर्थ--उपासना करने हारे पुरुष को उपास्य वस्तु के स्वरूप का अभिमान प्राप्त होता है, यह वार्ता छांदोग्य उपनिषद् में कही है सो कथा सुन, एक ब्रह्मचारी संवर्गता गुणयुक्त प्राण की उपासना करता था, संवर्ग का अर्थ यह है, सूर्य चंद्रमा अग्नि, जल इन चारों को समष्टि प्राण ग्रास कर लेता है, और सुषुप्ति काल में वाणी नेत्र श्रोत्र मन इन चारों को व्यष्टि प्राण ग्रास लेता है, तिससे प्राण संवर्ग है सो ब्रह्मचारी भिक्षा को गया, अभिप्रतारी नाम राजा के आगे यह वाक्य बोला, अभिप्रतारी नाम राजा और उसका पुरोहित दोनों भोजन करने लगे और उस ब्रह्मचारी को उन्होंने भिक्षा न दी,तब ब्रह्मचारी बोला , तहाँ मंत्रः । (महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपश्यंति मर्त्या अभिप्रतारिन् बहुधा वसंतम्)अर्थ-हे अभिप्रतारिन्ःहे कापेय जो एक देव चार महात्माओं को ग्रस लेता है और सब भुवनकी जो रक्षा करता है बहुत प्रकार से बसते हुए उसको मनुष्य नहीं जानते जिसके लिये यह अन्न है उसको तुमने अन्न न दिया, इस मंत्र से ब्रह्मचारी अपनी संवर्ग रूपता को प्रकट करता भया जो चित्त में धारी हुई थी ॥ ७९ ॥

पुरुपस्येच्छया कर्तुमकर्तुं कर्तुमन्यथा ॥
शक्योपास्तिरतो नित्यं कुर्यात्प्रत्ययसंततिम् ॥८०॥

अर्थ—और यह जो पूर्व कहा था, कि मरण पर्यन्त उपासना को धारण करे, उसमें कारण कहते हैं, जिस कारणसे उपासना उपासक पुरुपकी इच्छा करके करने को और न करने को और अन्यथा अर्थात् और प्रकार से करने को शक्य है, तिसी कारण से पुरुप की इच्छा के आधीन होने से मरण पर्यन्त उपासना को करे ॥ ८० ॥

वेदाध्यायीह्यप्रमत्तोधीते स्वप्नेधिवासतः ॥
जपिता तु जपत्येव तथा ध्याताऽपि वासयेत् ॥८१॥

अर्थ—इस प्रकार सदा उपासना करने पर क्या फल होता है ? सदा उपासना के करने से उस की दृढ़ता होती है उस से जाग्रत् की नाईं स्वप्न में भी उपासना की प्राप्ति होती है, जैसे प्रमाद से रहित होकर वेद के पढ़ने हारा और सदा गायत्री आदि का जप करने हारा पुरुप दृढ़ वासना से स्वप्न में भी वेद पढ़ता है और गायत्री आदि जपता है ॥ ८१ ॥

विरोधि प्रत्ययं त्यक्त्वा नैरंतर्येण भावयन् ॥
लभते वासनावेशात्स्वप्नादावपि भावनाम् ॥८२॥

अर्थ—स्वप्न आदि में भी ध्यान की प्राप्तिमें कारण सुन, उपासक पुरुप उपासना के विरोधी चित्तवृत्तियों को त्यागकर निरंतर उपास्य वस्तु की भावना करता है, तिस कारणसे उपासना दृढ़ हो जाती है, उससे स्वप्न में भी उस उपासना की प्राप्ति होती है ॥ ८२ ॥

भुंजानोऽपि निजारब्धमास्थातिशयतोऽनिशम् ॥
ध्यातुं शक्तो न संदेहो विपयव्यसनी यथा ॥८३॥

शंका—प्रारब्ध कर्म के वश से विपयों के अनुभव करने हारा जो उपासक पुरुप है उसकी निरंतरता से उपासना सिद्ध नहीं होती।

उत्तर—प्रीति के अधिक होने पर विपयों के अनुभव करने में भी उपासना दूर नहीं होती। जैसे दुराचारिणि स्त्री की घर के काम काज करने पर भी यार में से चित्त की वृत्ति दूर नहीं होती ॥ ८३ ॥

परव्यसनिनी नारी व्यग्राऽपि गृहकर्मणि ॥
तदेवास्वादयत्यंतः परसंगरसायनम् ॥८४॥

शंका—दुराचारिणी का यार के चिंतन करने से घर के कार्य्यों का अभाव हो जायगा। क्यों कि वह घर के कामों में लगी हुई भी है परंच यार के संग के सुख का ही अपने अन्तः करण में सदा चिंतन करती है ॥ ८४ ॥

परसंगं स्वादयंत्या अपि नो गृहकर्म तत् ॥
कुंठी भवेदपित्वेतदापातेनैव वर्तते ॥८५॥

उत्तर—यार के संग के सुख को अनुभव करनेहारी स्त्री के गृहकार्य निवृत्त नहीं होते। किन्तु स्वाभाविक पड़े होते हैं ॥ ८५ ॥

गृहकृत्यव्यसनिनी यथा सम्यक्करोति तत् ॥
परव्यसनिनी तद्वन्न करोत्येव सर्वथा ॥८६॥

अर्थ—जैसे पतिव्रता स्त्री भर्ता की सेवा में तत्पर घर के कामों को करती है बनाय २ कर सुन्दर तैसे काम दुराचारिणी से नहीं होते। अर्थात् जैसे रसोई के समय किसी चीज में लवण अधिक पड़ जाता है और किसी में कमती पड़ जाता है और किसी में जल अधिक पड़ जाता है और कोई चीज कच्ची रह जाती है और कोई बुस जाती वा सड़ जाती है ॥ ८६ ॥

एवंध्यानैकनिष्ठोऽपि लेशाल्लौकिकमारभेत् ॥
तत्त्वविर्त्त्वविरोधित्वाल्लौकिकं सम्यगाचरेत् ॥८७॥

अर्थ—इसी प्रकार उपासना में लगा हुआ जो पुरुष है सो लौकिक व्यवहार को लेश मात्र करता है। अर्थात् संसार सुखों में उसकी प्रीति नहीं रहती। इससे कोई काम बिगड़ जाता है। और तत्ववेत्ता तो संसार के व्यवहारों को अच्छी तरह करता है। क्यों कि संसार के व्यवहारों से ज्ञान का विरोध नहीं ॥ ८७ ॥

मायामयः प्रपंचोऽयमात्मा चैतन्यरूपधृक् ॥
इति बोधे विरोधः को लौकिकव्यवहारिणः ॥८८॥

अर्थ—ज्ञान क्या जनावता है कि संसार मिथ्या है। और आत्मा चैतन्यरूप है। ऐसा बोध रहते क्या विरोध है। अर्थात् ज्ञान का संसार के व्यवहारों के साथ विरोध नहीं ॥ ८८ ॥

अपेक्षते व्यवहृतिर्न प्रपंचस्य वस्तुताम् ॥
नाप्यात्मजाड्यं किंत्वेषा साधनान्येव कांक्षति ॥८९॥

अर्थ--व्यवहार संसार की सत्यता को और आत्मा की जड़ता को नहीं चाहता किंतु अपने साधनों को चाहता है। तिस से व्यवहार का तत्त्वज्ञान के साथ विरोध नहीं ॥ ८९ ॥

मनोवाक्कायतद्बाह्य पदार्थाः साधनानि तान् ॥
तत्त्ववित्नोपमृद्नाति व्यवहारोऽस्य नो कुतः ॥९०॥

अर्थ—व्यवहार के साधन कौन से हैं? मन इंद्रिय शरीर गृह क्षेत्र आदि बाह्य पदार्थ व्यवहार के साधन हैं, उनको तत्त्वज्ञानी नष्ट नहीं करता, इस से ज्ञानी का व्यवहार यथावत् पड़ा होता है ॥ ९० ॥

उपमृद्नाति चित्तं चेद्ध्याताऽसौ न तु तत्त्ववित्॥
न बुद्धिमर्दयन् दृष्टो घटतत्त्वस्य वेदिता ॥ ९१ ॥

शंका—ज्ञानी यद्यपि विषयों का नाश नहीं करता पर चित्त को नष्ट करता है इस से ज्ञानी का व्यवहार यथावत् नहीं होता।

उत्तर—जो चित्त के नाश को करता है। सो जिज्ञासु है ज्ञानी नहीं।

शंका—तत्त्व ज्ञानी ने चित्त का नाश नहीं करा यह आप ने कहां देखा है।

उत्तर—घटतत्त्व के जानने हारा बुद्धि को पीड़ा देता हुआ अर्थात् एकाग्र करता हुआ पुरुष हमने नहीं देखा अर्थात् नहीं पाया। तात्पर्य यह है कि घट के तत्त्व जानने हारे पुरुष ने चित्तका नाशरूप चित्तकी एकाग्रता नहीं करी यह हमने देखा है ॥९१

सकृत्प्रत्ययमात्रेण घटश्चेद्भासते सदा ॥
स्वप्रकाशोऽयमात्मा किं घटवच्च न भासते ॥ ९२ ॥

शंका—घट स्थूल होने से अति प्रकट है इस से उसके जानने में चित्त की एकाग्रता नहीं चाहिये। और ब्रह्म तो अतिसूक्ष्म है। इस से उसके ज्ञान में चित्त की एकाग्रता चाहिये।

उत्तर—ब्रह्म की स्वप्रकाश आत्मरूपता करके घट से भी अति प्रकटता है। जिस से घट के जानने में सूर्य नेत्र आदि की चाहना है। वे सूर्य आदि के घट नहीं देखता। और आत्मा के जानने में किसी की अपेक्षा नहीं। तिस से आत्मज्ञानी चित्त का निरोध नहीं करता। जो एक बार ही वृत्ति के उदय होने से घट भान होता है। तो स्वप्रकाश आत्मा एक बार ही वृत्ति के उदय होने से क्या घट की नांई प्रतीत नहीं होता। किंतु प्रतीत होता ही है ॥ ॥

स्वप्रकाशतया किं ते तद्बुद्धिस्तत्त्ववेदनम् ।
बुद्धिश्च क्षणनाश्येति चोद्यं तुल्यं घटादिषु ॥ ९३ ॥

शंका -ब्रह्म की स्वप्रकाशता के होने पर भी ब्रह्माकार बुद्धि की वृत्ति को तत्त्व ज्ञान होने से और बुद्धि की वृत्ति को क्षण २ में नाशवाली होने से वारंवार बुद्धि की वृत्ति ब्रह्म में एकाग्र करनी चाहिये ।

उत्तर—यह शंका तो घट आदि में भी तुल्य है। जिस से घटाकार बुद्धि की वृत्ति का नाम घटज्ञान है सो बुद्धि की वृत्ति क्षण २ में नष्ट हो जाती है। तिस से घट के जानने वास्ते घट में बुद्धि की वृत्ति एकाग्र करनी चाहिये सो तो बात अयुक्त है। क्यों कि कोई भी पुरुष घट के जानने वास्ते घट में बुद्धि की वृत्ति को एकाग्र नहीं करता तैसे ब्रह्म के जानने वास्ते ब्रह्म में बुद्धि की वृत्ति को एकाग्र नहीं करता ॥ ९३ ॥

घटादौ निश्चिते बुद्धिर्नश्यत्येव यदा घटः ॥
इष्टो नेतुं तदा शक्य इति चेत्समभात्मनि ॥ ९४ ॥

शंका—घट आदि के ज्ञानको क्षणिक होने पर भी एक बार ही निश्चय करा है जिस घट का उस घट का व्यवहार सदा करने को समर्थ होता है, तिस कारण से घट में चित्त की एकाग्रता करनी चाहिये ।

उत्तर—यह बात तो आत्मा में भी तुल्य है जैसे एक बार ही देखा जो घट है उस में चित्त की एकाग्रता का अभाव रहते भी जब पुरुषकी इच्छा होवे तब उसमें जल भरना और उस को और स्थान में ले जाना इत्यादि व्यवहार करने को पुरुष समर्थ होता है ॥ ९४ ॥

निश्चित्य सकृदात्मानं यदापेक्षा तदैव तम् ॥
वक्तुं मंतुं तथा ध्यातुं शक्नोत्येव हि तत्त्ववित् ॥ ९५ ॥

अर्थ—तैसे एक बार आत्मा को निश्चय कर जब ज्ञानी की इच्छा होती है, तब ही उपदेश करने को मनन करने को ध्यान करने को तत्त्ववित् समर्थ होता ही है। उपदेश आदि के करने में चित्त की एकाग्रता की चाहना नहीं ॥९५॥

उपासक इव ध्यायंल्लौकिकं विस्मरेद्यदि ॥
विस्मरत्येव सा ध्यानाद्विस्मृतिर्नतु वेदनात् ॥ ९६ ॥

शंका—तत्त्ववेत्ता भी उपासक की नांई जब जब आत्मा का ध्यान करता है तब जगत् के पदार्थों के चिंतन से रहित दीखता है ।

उत्तर—तत्त्ववेत्ता को जगत् के पदार्थों के चिंतन का अभाव ध्यान से होता है ज्ञान से नहीं होता ॥९६॥

ध्यानं त्वैच्छिकमेतस्य वेदनान्मुक्तिसिद्धितः ॥

ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति शास्त्रेषु डिंडिमः ॥ ९७ ॥

शंका—तत्त्ववेत्ता को भी मोक्ष की सिद्धि वास्ते ब्रह्मध्यान करना चाहिये ।

उत्तर—तत्त्ववेत्ता को मोक्ष की सिद्धिवास्ते ध्यान न करना चाहिये क्यों कि ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है ध्यान से नहीं होती शास्त्र में यह कथन ढंडोरा रूप है। तहां शास्त्रवचनम् । (ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते) अर्थ–ज्ञान से ही विदेह कैवल्य को प्राप्त होता है । और ज्ञान से ही जीवन्मुक्ति को पाता है । श्रुतिः । (तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय) अर्थ–आत्मा को जान कर मृत्यु को उलंघ जाता है । मोक्ष के लिये ज्ञान से भिन्न और कोई मार्ग नहीं । अन्यच्च । (ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः) अर्थ–स्वप्रकाश आत्मा को जान कर सब बंधनों से रहित हो जाता है । और ध्यान तत्त्ववेत्ता की इच्छा हो तो करे और न इच्छा हो तो न करे ॥९७॥

तत्त्वविद्यदि न ध्यायेत्प्रवर्तेत तदा बहिः ॥

प्रवर्ततां सुखेनायं को बाधोऽस्य प्रवर्तने ॥ ९८ ॥

शंका—जो तत्त्ववेत्ता को ध्यान की कर्त्तव्यता न मानोगे तो उसकी सदा बहिर्मुख प्रवृत्ति होगी ।

उत्तर—तत्त्ववेत्ता की बहिर्मुख प्रवृत्ति ज्ञान को अथवा मोक्ष को नष्ट नहीं करती इससे बहिर्मुख प्रवृत्ति होती है तो हो उससे उसकी कुछ हानि नहीं ॥ ९८ ॥

अतिप्रसंग इति चेत् प्रसंगं तावदीरय ॥

प्रसंगो विधिशास्त्रं चेन्न तत्तत्त्वविदं प्रति ॥ ९९ ॥

शंका—जो तत्त्ववेत्ता की बहिर्मुख प्रवृत्ति मानोगे तो अतिप्रसंग आवेगा ।

उत्तर—तत्त्ववेत्ता में कुछ प्रसंग नहीं कहा जाता तो अति प्रसंग कैसे आवेगा उसको ।

शंका—प्रसंग नाम विधिनिषेध शास्त्र का है ।

उत्तर—विधिनिषेध शास्त्ररूप प्रसंग तो अज्ञानी ऊपर है तत्त्ववेत्ता के ऊपर नहीं ॥ ९९ ॥

वर्णाश्रमवयोवस्थाभिमानोयस्य विद्यते ॥
तस्यैव च निषेधाश्च विधयः सकला अपि ॥ १०० ॥

अर्थ--जिसको वर्ण और आश्रम और वय और अवस्था इन चारोंका अभिमान है उसी के ऊपर विधि निषेध शास्त्र है,जैसे माल के ऊपर जागना पड़ता है और तत्त्ववेता को वर्ण आश्रम आदि का अभिमान नहीं है इससे उस पर विधिन्निषेध शास्त्र नहीं, जैसे माल से रहित जो पुरुष है उसको जागना नहीं पड़ता ॥१००॥

वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ॥
नात्मनो बोधरूपस्येत्येवं तस्य विनिश्चयः ॥१०१ ॥

शंका--जो देहधारी हैं उसको वर्ण आश्रम का अभिमान होता है तत्त्ववेत्ता भी देहधारी है तिससे उसको भी वर्ण आश्रम का अभिमान है ।

उत्तर--तत्ववेत्ता को वर्ण आश्रम आदि का अभिमान नहीं क्यों कि उसका यह निश्चयहै वर्ण आश्रम आदि देहमें होते हैं माया करके कल्पित और चैतन्य रूप आत्मा जो मैं हूं उस में वर्ण आश्रम आदि कोई नहीं ॥१०१॥

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ॥
हृदयेनास्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः ॥ १०२ ॥

शंका--ब्रह्मवेत्ता का निश्चय रहो परंतु शास्त्रतो उसको कर्त्तव्य कथन करता है

उत्तर--शास्त्र भी तत्ववेत्ता को कर्त्तव्य के अभाव को कहता है सो सुन, हृदय से त्याग दी हैं सब आस्था जिसने । अथात् अहंता ममता राग द्वेष ईर्षा दंभ इत्यादि जगत् को मिथ्या जान कर त्याग दिये हैं जिसने और संशय विपर्यय से रहित दृढ परोक्षज्ञान है जिसको ऐसा जो पुरुष है सो समाधि और कर्म इनको करो चाहे न करो सो पुरुष मुक्तरूप है ॥१०२॥

नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः ॥
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥ १०३ ॥

अर्थ--और भी शास्त्र वचन कहते हैं । जिसका मन वासना से रहित है । उस पुरुष का कर्मों के त्याग साथ और कर्मों के साथ और समाधि साथ और जपसाथ प्रयोजन कुछ नहीं ॥ १०३ ॥

आत्मा संगस्ततोऽन्यत्स्यादिंद्रजालं हि मायिकम् ॥
इत्यचंचलनिर्णीते कुतो मनसि वासना ॥ १०४ ॥

शंका—ज्ञानवान् को भी वासना के दूर करने वास्ते ध्यान करना चाहिये।

उत्तर—दृढ़ अपरोक्ष ज्ञानवान् के मन में वासना नहीं रहती। क्योंकि उसने यह अच्छी तरह निर्णय करके संशय विपर्यय से रहित जाना है। आत्मा असंग है और आत्मा से भिन्न सब दृश्य इंद्रजालरूपमिथ्या है ॥ १०४ ॥

एवं नास्ति प्रसंगोऽपि कुतोऽस्यातिप्रसंजनम् ॥
प्रसंगोयस्य तस्यैव शंक्येतातिप्रसंजनम् ॥ १०५ ॥

अर्थ—हो ऐसे प्रसंग में क्या आया? प्रसंग में यह आया कि तत्त्ववेत्ता को प्रसंग नहीं है जिस से इससे उसमें अतिप्रसंग कैसे हो। किसको अतिप्रसंग होता है? जिसको प्रसंग होता है उसी में अति प्रसंग की शंका बनती है ॥ १०५ ॥

विध्यभावान्न बालस्य दृश्यतेऽतिप्रसंजनम् ॥
स्यात्कुतोऽतिप्रसंगोऽस्य विध्यभावे समे सति ॥ १०६ ॥

अर्थ—जैसे विधिनिषेध से रहित होने से बालक को अति प्रसंग नहीं होता। तैसे तत्त्ववेत्ता को भी विधि निषेध से रहित होने से अति प्रसंग नहीं होता ॥ १०६ ॥

न किंचिद्वेत्ति बालश्चेत्सर्वं वेत्त्येव तत्त्ववित् ॥
अल्पज्ञस्यैव विधयः सर्वे स्युर्नान्ययोर्द्वयोः ॥ १०७ ॥

शंका—बालक को विधि निषेध से रहित होने में कारण अज्ञान है। और ज्ञानवान् का तो अज्ञान नष्ट होगया है। तिस से उस को विधि निषेध का अधिकार है।

उत्तर—ज्ञानवान् को अज्ञान से रहित होने पर भी सब जानने योग्य वस्तु उसने जान लई हैं। तिससे उसको विधिनिषेध शास्त्रका अधिकार नहीं। विधिनिषेध शास्त्रका अधिकार किस को है और किसको नहीं? जो पुरुष कुछ जानता है और कुछ नहीं जानता उसी को अधिकार है। और बालक को और ज्ञानी को अधिकार नहीं ॥ १०७ ॥

शापानुग्रह सामर्थ्यं यस्यासौ तत्त्वविद्यदि ॥
न शापादिसामर्थ्यं फलं स्यात्तपसो यतः ॥ १०८ ॥

शंका—जिस को वर शाप देने की सामर्थ्य है सो ज्ञानी है व्यास आदि की नाई और जिस को वर शाप देने की सामर्थ्य नहीं सो ज्ञानी नहीं।

उत्तर—वर शाप देने की सामर्थ्य ज्ञान का फल नहीं। किंतु तप का फल है ॥ १०८ ॥

व्यासादेरपि सामर्थ्यं दृश्यते तपसो बलात् ॥
शापादिकारणादन्यत्तपो ज्ञानस्य कारणम् ॥ १०९ ॥

शंका—व्यास आदि ज्ञानियों में वरशाप की सामर्थ्य दीखती है। इस से कैसे कहते हो कि वर शाप ज्ञान का फल नहीं।

उत्तर—व्यास आदि में वर शाप की सामर्थ्य ज्ञान का फल नहीं। किन्तु तप का फल है।

शंका—तप से रहित को तो ज्ञान नहीं होता। क्यों कि श्रुति कहती है। (तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व)

अर्थ—तप से ब्रह्म के जानने की इच्छा कर।

उत्तर—जिस तप से ज्ञान की प्राप्ति होती है सो तप भिन्न है। और वरशाप का कारण तप भिन्न है ॥ १०९ ॥

द्वयं यस्यास्ति तस्यैव सामर्थ्यज्ञानयोर्जनिः ॥
एकैकं तु ततः कुर्वन्नेकैकं लभते फलम् ॥११०॥

शंका—जो ज्ञान के कारण तप से वरशाप का कारण तप भिन्न है तो व्यास आदि में वरशाप की सामर्थ्य और ज्ञान दोनों क्यों दीखते हैं।

उत्तर—दोनों प्रकार का तप व्यास आदि ने करा है। इस से उनमें ज्ञान भी दीखता है। और वरशाप की सामर्थ्य भी दीखती है। और जिस पुरुष ने एक तप करा है। उसको एक फल मिलता है। अर्थात् जिसने वरशाप के कारण तप को करा है उसको वरशाप की सामर्थ्य प्राप्त होती है। ज्ञान नहीं होता। और जिसने ज्ञान के कारण तप को करा है उसको ज्ञान की प्राप्ति होती है। और वरशाप की सामर्थ्य नहीं होती ॥ ११० ॥

सामर्थ्यहीनो निंद्यश्चेद्यतिभिर्विधिवर्जितः॥
निंद्यंते यतयोऽप्यन्यैरनिशं भोगलंपटैः ॥ १११ ॥

शंका—जो वरशाप की सामर्थ्य से रहित है उस के ऊपर शास्त्र की विधिनिषेध का अभाव होने पर भी वरशापकी सामर्थ्य वाले संन्यासियों से उसकी निन्दा होगी।

उत्तर—वर शाप की सामर्थ्य रहते भी निंदा दूर नहीं होती क्योंकि वरशाप की सामर्थ्य वाले संन्यासियों की भी निरंतर विषय लंपटपुरुषों ने निन्दा करी है ॥११॥

भिक्षा वस्त्रादि रक्षेयुर्यद्येते भोगतुष्टये ॥
अहो यतित्वमेतेषाँ वैराग्यभरमँथरम् ॥ ११२ ॥

शंका—वरशापकी सामर्थ्य वाले संन्यासियों ने भोगी पुरुषों करके अपनी निंदा के निवारण वास्ते वस्त्र अन्न आदि सुन्दर भोग भोगने चाहियें ।

उत्तर—संन्यासियों ने विषयी पुरुषों की प्रसन्नता वास्ते विषय भोगने चाहिये । ऐसा कहने हारा जो तू है तिस तेरी बुद्धि की महिमा कुछ कही नहीं जाती । क्योंकि तेरी बुद्धि सूक्ष्म है । और जो विषय पुरुषों की प्रसन्नता वास्ते सुंदर वस्त्र आदि भोगों को भोगते हैं । उनके संन्यास की महिमा नहीं कही जाती । क्योंकि उनकी संन्यास वैराग्य के भार करके पृथिवी में बहुत धसता जाता है । जैसे पारे को भर हुई गाड़ी के पैर पृथिवी में धसते जाते हैं ॥ ११२ ॥

वर्णाश्रमपरान्मूढा निंदंत्वित्युच्यते यदि ॥
देहात्मपतयो बुद्धं निंदंत्वाश्रममानिनः ॥ ११३ ॥

शंका—विषय लम्पट पामर पुरुष शाप और अनुग्रह करने में समर्थ और वर्ण आश्रम के धर्म में तत्पर उत्तम संन्यासियों की निंदा करें पर उन की कुछ हानि नहीं होती ।

उत्तर—तैसे देह अभिमानी वर्ण आश्रम के दास संन्यासियों करके करी हुई जो तत्ववेत्ता की निंदा है । उस से उस की कुछ हानि नहीं होती ॥ ११३ ॥

तदित्थं तत्त्वविज्ञाने साधनानुपमर्दनात्॥
ज्ञानिनाऽऽचरितुं शक्यं सम्यग्राज्यादिलौकिकम् ॥ ११४ ॥

उत्तर—यह प्रसंग से प्राप्त हुई जो वार्ता थी उस को समाप्त कर अब प्रसंग को कहते हैं । तिस कारण से उक्त प्रकार से तत्व विज्ञान होने पर लौकिक व्यवहार के साधन जो मन आदि हैं उनके नष्ट न होने से लोकिक राज्य आदि अथवा राज्य परिपालन आदि कर्म करने को ज्ञानी समर्थ है । अर्थात् जिस कारण से तत्ववेत्ता व्यवहार के साधन मन इंद्रिय आदि के नाश को नहीं करता तिस कारण से राज्य पालन आदि रूप जगत् व्यवहार करने को समर्थ होता है ॥११४॥

मिथ्यात्व बुद्धया तत्रेच्छा नास्ति चेत्तर्हि माऽस्तु तत् ॥
ध्यायन्वाऽथ व्यवहरन्यथारब्धं वसत्वयम् ॥ ११५ ॥

शंका—तत्ववेत्ता की राज्य पालन आदि व्यवहार में इच्छा ही नहीं होती क्यों कि उसने जगत् को झूंठा जाना है जैसे मृगतृष्णा की नदी को झूंठी जान कर उसमें स्नान की इच्छा नहीं रहती।

उत्तर-तो ज्ञानवान् की राज्य आदि व्यवहार में इच्छा मत हो जैसा जिस का प्रारब्ध कर्म है। तैसे वर तो ध्यान करता हुआ चाहे व्यवहार करता हुआ॥ ११५॥

उपासकस्तु सततं ध्यायन्नेव वसेद्यतः॥
ध्यानेनैव कृतं तस्य ब्रह्मत्वं विष्णुतादिवत्॥ ११६॥

अर्थ--उपासक पुरुष तो निरंतर ध्यान करता हुआ ही स्थित होवे जिस कारण से उपासक की ब्रह्मरूपता ध्यान ने ही करी है वास्तव उस की ब्रह्मरूपता ज्ञान ने प्रकट नहीं करी इस कारण से उपासक को सदा ध्यान करना चाहिये। जैसे अपने में ध्यान करके पैदा करी जो विष्णु रूपता है सो वास्तव नहीं॥ ११६॥

ध्यानोपादानकं यत्तद्ध्यानाभावे विलीयते॥
वास्तवी ब्रह्मता नैव ज्ञानाभावे विलीयते॥ ११७॥

शंका-ध्यान करके करी हुई जो विष्णु रूपता है सो वास्तव क्यों नही।

उत्तर-ध्यान करके करी हुई विष्णु रूपता का ध्यान का अभाव होने पर अभाव हो जाता है। जैसे किसी पुरुष ने वाणी में कामधेनु गौ का ध्यान किया सो वाणी की कामधेनुरूपता तब तक रही जब तक ध्यान है ध्यान का नाश होने पर वाणी की कामधेनुरूपता नष्ट हो जाती है। और ज्ञान ने प्रकट करी जो ब्रह्मरूपता है सो वास्तव है उस का ज्ञान के नाश होने से नाश नहीं होता। जैसे दीपक ने घर में जो २ पदार्थ दिखलाये हैं उन का दीपक के बढ़ने पर अभाव नहीं होता॥ ११७॥

ततोभिज्ञापकं ज्ञानं न नित्यं जनयत्यदः॥
ज्ञापकाभाव मात्रेण नहि सत्यं विलीयते॥ ११८॥

अर्थ जिस कारण से ब्रह्म तत्त्व नित्य है। इसी कारण से ज्ञान ब्रह्मतत्त्व को पैदा नहीं करता। पूर्व विद्यमान जीव की ब्रह्मरूपता को जना देता है। यह तात्पर्य है कि जो ब्रह्म तत्व ज्ञान से पैदा करा हो तो ज्ञान के नष्ट होने पर ब्रह्म तत्व का नाश हो जाय। जैसे तंतुओं ने पैदा करा जो वस्त्र है सो उनके नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है पर ब्रह्म तत्व का तो नाश नहीं होता। इस कारण से ब्रह्म तत्त्व ज्ञान ने उत्पन्न नहीं करा

ज्ञान उसके जनावने हारा है। जैसे शीशा मुख के जनावने हारा है। तिस से ज्ञान के अभाव से उसका अभाव नहीं होता। जैसे शीशे के अभाव से मुख का अभाव नहीं होता ॥ ११८ ॥

अस्त्येवोपासकस्यापि वास्तवी ब्रह्मतेति चेत् ॥
पामराणां तिरश्चां च वास्तवी ब्रह्मता न किम् ॥ ११९ ॥

शंका—जैसे ज्ञानी की वास्तव ब्रह्म रूपता है। तैसे उपासक की भी वास्तव ब्रह्मरूपता है।

उत्तर—पामरों की और सर्प आदि की भी वास्तवी ब्रह्मरूपता है। तिस से तैने बहुत थोड़ी शंका करी।

अज्ञानादपुमर्थत्वमुभयत्रापि तत्समम् ॥
उपवासाद्यथा भिक्षा वरं ध्यानं तथान्यतः ॥ १२० ॥

शंका—पामर आदि की वास्तव ब्रह्मरूपता विद्यमान भी है। पर उनको अपनी ब्रह्मरूपता का ज्ञान नहीं। तिस से उनकी मोक्ष नहीं होती।

उत्तर—तैसे उपासक की ब्रह्मरूपता विद्यमान है। पर उसको अपनी ब्रह्मरूपता का ज्ञान नहीं है। इससे उसकी मोक्ष नहीं होती।

शंका—जो उपासना से मोक्ष नहीं होती तो शास्त्र उपासना करने को क्यों कहता है।

उत्तर—और कार्यों से उपासना का करना श्रेष्ठ है। इस लिये शास्त्र कहता है। जैसे भूका मरने से माँगखाना अच्छा है। इस से बुद्धिमान् निर्धन को माँग खाना कहते हैं। पर राज की रीस मांगखाना नहीं करता। तैसे ध्यान भी ज्ञान की रीस नहीं करता ॥ १२० ॥

पामराणां व्यवहृतेर्वरं कर्माद्यनुष्ठितिः ।
ततोऽपि सगुणोपास्तिर्निर्गुणोपासना ततः ॥१२१॥

अर्थ—पामरों के व्यवहार से कर्मों का करना श्रेष्ठ है। और कर्मों के करने से सगुण ब्रह्म की उपासना श्रेष्ठ है और सगुण ब्रह्म की उपासना से निर्गुण ब्रह्म की उपासना श्रेष्ठ है ॥ १२१ ॥

यावद्विज्ञानसामीप्यं तावच्छ्रैष्ठं विवर्द्धते ।

ब्रह्मज्ञानाय ते साक्षान्निर्गुणोपासनं शनैः ॥ १२२ ॥

अर्थ--जितनी २ ज्ञान की निकटता अधिक है। तितनी २ श्रेष्ठता अधिक है। और निर्गुण उपासना धीरे २ परिपक होती हुई ब्रह्म ज्ञान जैसी हो जाती है ॥१२२॥

यथा संवादिविभ्रांतिः फलकाले प्रमायते ।

विद्यायते तथोपास्तिर्मुक्तिकालेतिपक्कतः ॥ १२३ ॥

अर्थ--जैसे संवादी भ्रम मणि प्रभा में मणि रूप मणि का प्राप्ति रूप फल काल में यथार्थ ज्ञान जैसा हो जाता है। तैसे निर्गुण उपासना भी अतिदृढ़ हुई मुक्ति रूप फल काल में ब्रह्म विद्या जैसी हो जाती है ॥ १२३ ॥

संवादिभ्रमतः पुंसः प्रवृत्तस्यान्यमानतः ।

प्रमेतिचेत्तथोपास्तिर्मांतरे कारणायताम् ॥ १२४ ॥

शंका--संवादी भ्रम आप तो यथार्थ ज्ञानरूप नहीं होता। किं तु संवादी भ्रम करके प्रवृत्त हुए पुरुष के नेत्रों का मणि के साथ संबन्ध होता है। तिस से यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

उत्तर--तैसे निर्गुण उपासना भी निदिध्यासन रूप हुई महावाक्य जन्य अपरोक्ष ज्ञान में कारण हो जायगी ॥ १२४ ॥

मूर्तिध्यानस्य मंत्रादेरपि कारणता यदि ।

अस्तु नाम तथाप्यत्र प्रत्यासत्तिर्विशिष्यते ॥ १२५ ॥

शंका--जो निर्गुण उपासना चित्त की एकाग्रता द्वारा निदिध्यासन रूपता को प्राप्त हुई अपरोक्षज्ञान में कारण हो जावेगी तो मूर्तिध्यान और मंत्र जप आदि को भी चित्त की एकाग्रता द्वारा अपरोक्षज्ञान में कारणता होनी चाहिये।

उत्तर--मूर्तिध्यान और मंत्रजप आदि को भी चित्त की एकाग्रता द्वारा अपरोक्ष ज्ञान में कारण हम मानते हैं। तिस से यह शंका हमारे को अनिष्ट नहीं।

शंका--जो मूर्तिध्यान आदि को भी चित्त की एकाग्रता द्वारा अपरोक्षज्ञान में कारणता है तो निर्गुण उपासना में क्या अधिकता हुई।

उत्तर--यद्यपि चित्त की एकाग्रता द्वारा मूर्तिध्यान आदि को अपरोक्षज्ञान में कारणता है। पर तथापि निर्गुण उपासना में ब्रह्मज्ञान की निकटता अधिक है। तिस से निर्गुण उपासना श्रेष्ठ है ॥ १२४ ॥

निर्गुणोपासनं पक्वं समाधिः स्याच्छनैस्ततः ।
यः समाधिर्निरोधाख्यः सोऽनायासेन लभ्यते ॥ १२६ ॥

अर्थ—प्रत्यासत्ति अर्थात् निकटता के प्रकार को कहते हैं। निर्गुण उपासना जब दृढ़ होती है तब सविकल्प समाधि होती है उस सविकल्प समाधिसे निरोध है नाम जिस का ऐसी जो निर्विकल्प समाधि है सो विना ही यत्न से प्राप्त होती है। क्यों कि पतंजलि मुनीश्वर ने योग शास्त्र में ऐसा कहा है। तहां सूत्र (तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः)

अर्थ—सविकल्प समाधि में जो ब्रह्माकार वृत्ति है उसका निरोध होने पर सब वृत्तियों का निरोध होने से निर्बिज समाधि होती है। निर्बीज समाधि होती है निर्बीज का अर्थ निर्विकल्प है ॥ १२६ ॥

निरोधलाभे पुंसोंतरसंगं वस्तु शिष्यते ।
पुनः पुनर्वासितेऽस्मिन्वाक्याज्जायेत तत्त्वधीः ॥ १२७ ॥

अर्थ—इस प्रकार निर्विकल्प समाधि का लाभ हो। उस से क्या हुआ ? निर्विकल्प समाध का लाभ होने पर पुरुष के अंतर असंग वस्तु शेष रहती है असंग वस्तु के शेष रहते क्या होता है ? असंग वस्तु का बारंबार चिंतन करने पर तत्त्वमसि आदि महावाक्य से मैं ब्रह्म हूँ ऐसा तत्वज्ञान उदय होता है ॥ १२७ ॥

निर्विकारासंगनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णताः ।
बुद्धौ झटिति शास्त्रोक्ता आरोहंत्यविवादतः ॥ १२८ ॥

अर्थ—उस तत्त्वज्ञान का स्वरूप कहते हैं, आत्मा की निर्विकारता असंगता नित्यता स्वप्रकाशता एकता पूर्णता शास्त्र करके कही हुई संशय से रहित शीघ्र बुद्धि में दृढ़ हो जाती हैं ॥ १२८ ॥

योगाभ्यासस्त्वेतदर्थोऽमृतबिंद्वादिषु श्रुतः ।
एवं च दृष्टद्वाराऽपि हेतुत्वादन्यतो वरम् ॥ १२९ ॥

अर्थ—निर्विकल्प समाधि से अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है इस में क्या प्रमाण है।

उत्तर—अमृत बिंदु आदि उपनिषदोंकी श्रुतियां प्रमाण हैं उन अमृत बिंदु आदि उपनिषदों में निर्विकल्प समाधि करके अपरोक्षज्ञान की प्राप्तिके लिये योग अभ्यास कहा है, इस प्रकार निर्गुण उपासना को अपरोक्षज्ञान की निकटता के होने पर निर्विकल्प

समाधि के लाभद्वारा और पुण्य की उत्पत्ति द्वारा निर्गुण उपासना को ज्ञान का कारण होने से निर्गुण उपासना सगुण उपासना आदि से श्रेष्ठ है ॥१२९॥

उपेक्ष्य तत्तीर्थयात्राजपादीनेव कुर्वताम् ।
पिंडं समुत्सृज्य करं लेढीति न्याय आपतेत् ॥ १३० ॥

अर्थ—इस प्रकार निर्गुण उपासना को अपरोक्षज्ञान की कारणता के सिद्ध होने पर निर्गुण उपासना को त्याग कर तीर्थ यात्रा और जप आदि करने हारे पुरुषों का श्रम व्यर्थ होता है जैसे कोई पुरुष पिंड अर्थात् पेड़े को त्याग कर सूखे हाथ को चाटे उसको व्यर्थ श्रम की प्राप्ति होती है ॥१३०॥

उपासकानामप्येवं विचारत्यागतो यदि ।
बाढं तस्माद्विचारस्यासंभवे योग ईरितः ॥ १३१ ॥

शंका—आत्म तत्त्व के विचार को छोड़कर निर्गुण उपासकों को भी इसी दृष्टांत की प्राप्ति होती है ।

उत्तर—तेरा कहना ठीक है जिस कारण से कहे हुए दृष्टांत की प्राप्ति होती है तिस कारण से विचार की असमर्थता के रहते उपासना करने योग्य है ॥१३१॥

बहुव्याकुलचित्तानां विचारात्तत्त्वधीर्नहि ।
योगोमुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन नश्यति ॥ १३२ ॥

अर्थ—बहुत व्याकुल चित्तवाले पुरुषों को विचार से ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता तिससे उनको योगमुख्य है अर्थात् उपासना करने योग्य है उससे बुद्धि की व्याकुलता नष्ट हो जाती है ॥१३२॥

अव्याकुलधियां मोहमात्रेणाच्छादितात्मनाम् ।
सांख्यनामाविचारः स्यान्मुख्यो झटिति सिद्धिदः ॥ १३३ ॥

अर्थ-और जो चित्तकी व्याकुलतासे रहित हैं,और मोहमात्रसे ढका हुआ है स्वरूप जिनका उनको सांख्य है नाम जिसका ऐसा जो विचार है सो मुख्य है क्योंकि विचार शीघ्र ब्रह्म साक्षात्कार के कराने हारा है ॥१३३॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ १३४ ॥

अर्थ—निर्गुण ब्रह्म की उपासना और विचार इन दोनों को तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्ष साधनता में गीता का वाक्य भी प्रमाण है, पँचम अध्याय में भगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा है जिस मोक्ष रूप स्थान को विचार वालों ने प्राप्त करा है उसी मोक्ष रूप स्थान को निर्गुण उपासकों ने भी पाया है, तिससे विचार का और निर्गुण उपासना का फल एक है ऐसे जो जानता है सोई शास्त्र के अर्थ को ठीक जानता है ॥१३४॥

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यमिति हि श्रुतिः।
यस्तु श्रुतेर्विरुद्धः स आभासः सांख्ययोगयोः ॥ १३५ ॥

अर्थ—इस अर्थ में श्रुति भी प्रमाण है मोक्ष का कारण ज्ञान है सो साँख्य और योग से उत्पन्न होता है अर्थात् विचार से पैदा होता है और निर्गुण उपासना से पैदा होता है ऐसे श्रुति कहती है।

शंका—सांख्य है नाम जिसका ऐसा जो विचार है और योग है नाम जिसका ऐसी जो निर्गुण उपासना है उन दोनों को तत्त्वज्ञान की कारणता के मानने पर साँख्य शास्त्र और योग शास्त्र में कहे जो तत्त्व हैं उन को भी मानना चाहिये।

उत्तर—जो सांख्य और योग में श्रुति से विरुद्ध कहा है सो श्रुति करके बाध को प्राप्त होता है अर्थात् सो झूंठा है ॥१३५॥

उपासनं नातिपक्वमिह यस्य परत्र सः।
मरणे ब्रह्म लोके वा तत्त्वं विज्ञाय मुच्यते ॥ १३६ ॥

शंका—उपासक का शरीर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति से प्रथम छूटने पर उसकी मोक्ष न होगी।

उत्तर—जिसकी इस जन्म में उपासना अतिपक्व नहीं होती सो दूसरे जन्म में मरने पर वा ब्रह्मलोक में तत्त्व को जानकर छूट जाता है तात्पर्य यह है कि उपासना के करते हुए भी जिसको इस जन्म में ज्ञान प्राप्त न हुआ, उस पुरुष को दूसरे जन्म में मनुष्य शरीर धार कर चाहे मरण काल में चाहे ब्रह्म लोक में ज्ञान होगा और उससे मोक्ष होगी ॥१३६॥

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यंते कलेवरम्।
तं तमेवैति यच्चित्तस्तेन यातीति शास्त्रतः ॥ १३७ ॥

अर्थ—मरण काल में ज्ञान से मोक्षकी प्राप्ति में गीता बचन प्रमाण है अंतकाल में जिस २ वस्तु को चिंतन करता हुआ जीव शरीर को छोड़ता है उसी २ वस्तु को प्राप्त होता है और श्रुति भी कहती है जिस वस्तु में इस जीव का चित्त है उस चित्त

करके सहित यह जीव। प्राणों को प्राप्त होता है वाक्यान्तरम् (प्राणस्तेजसायुक्तः सहात्मना यथा संकल्पित्वं लोकं नयति) अर्थ—और प्राण जठर अग्नि करके संयुक्त मन करके सहित जिस वस्तु का इस ने संकल्प करा था उस वस्तु को प्राप्त करावता है जीव को ॥१३७॥

अंतप्रत्ययतो नूनं भाविजन्म तथा सति ।
निर्गुणप्रत्ययोऽपि स्यात्सगुणोपासने यथा ॥ १३८ ॥

शंका—जो आप ने श्रुति स्मृति के वाक्य कहे हैं उनसे यह प्रतीत होता है कि अंतकाल में जैसा जिस जीवका संकल्प होता है तैसा उसका आगे जन्म होता है। और यह तो प्रतीत नहीं होता कि अंतकाल में ज्ञान से मोक्ष होती है।

उत्तर—श्रुति स्मृति के अक्षरों से यही प्रतीत होता है जो तू कहता है।

शंका—जो श्रुति स्मृतिका अर्थ यही है जो मैं कहता हूं, तो मरणकाल में ज्ञान से मोक्ष होती है, इस अर्थ में उस श्रुति स्मृति के वाक्य को आप प्रमाण कैसे कहतेहो।

उत्तर—मरण काल में अंत के संकल्प से आगे जन्म होता है, इस अर्थ का निश्चय रहते जैसे सगुण ब्रह्म की उपासना करने हारे को मरण काल में सगुण ब्रह्म का संकल्प होता है, तैसे पूर्व अभ्यास के वश से निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने हारे को भी निर्गुण ब्रह्म का संकल्प होता है उस से उस को निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति होती है ॥ १३८ ॥

नित्यनिर्गुणरूपं तन्नाममात्रेण गीयताम् ।
अर्थतो मोक्ष एवैष संवादिभ्रमवन्मतः ॥ १३९ ॥

शंका—निर्गुण उपासक को निर्गुण ब्रह्म में संकल्प की दृढ़ता से निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति हो पर मोक्ष की प्राप्ति तो नहीं होती।

उत्तर—निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति और मोक्ष इनका नाममात्र से भेद है, अर्थ से भेद नहीं जैसे कलश और घट इन दोनों का नाममात्र से भेद है, अर्थ से भेद नहीं, अर्थ एक ही है, स्वरूप में स्थिति का नाम मोक्ष है ऐसे शास्त्र में कहा है, जैसे संवादी भ्रम नाम-मात्र से भ्रम कहाता है वास्तव से सो तत्त्व ज्ञान है ॥ १३९ ॥

तत्सामर्थ्याज्जायते धीर्मूलाविद्या निवर्तिका ।
अविमुक्तोपासनेन तारकब्रह्मबुद्धिवत् ॥ १४० ॥

शंका—निर्गुण उपासना मानस क्रिया रूप है, तिस से उसको मोक्ष कारणता अयुक्त है, जिससे शास्त्र कहता है कि ज्ञान से मोक्ष होती है क्रिया से नहीं।

उत्तर—मानस क्रिया रूप निर्गुण उपासना से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, ज्ञानसे मूला विद्या का नाश होता है, मूला विद्या के नाश का नाम मोक्ष है, जैसे अविमुक्त रूप सगुण ब्रह्म की उपासना से तारक ब्रह्म का ज्ञान होता है, उपासना रूप मानस, क्रिया ज्ञान का करण है ॥ १४० ॥

सोऽकामो निष्काम इति ह्यशरीरो निरिंद्रियः ।
अभयं हीति मुक्तत्वं तापनीये फलं श्रुतम् ॥ १४१ ॥

शंका--निर्गुण उपासना का मोक्ष फल है इस में क्या प्रमाण है ।

उत्तर—इसमें नरसिंह तापनीय उपनिषद् की श्रुतियां प्रमाण हैं, तहाँ श्रुतिवाक्यानि ।(सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राण उत्क्रामंत्यत्रैव समवलीयंते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति अशरीरो निरिंद्रियोऽप्राणो ह्यमनाः सच्चिदानंदमात्रः सस्वराट् भवति य एवं वेद चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिन्मयमिदं सर्वं तस्मात् परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद्ब्रह्माभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्य मित्यादि) अर्थ– जो पुरुष निर्गुण ब्रह्म को अपना स्वरूप जानता है उसके मन में कामना पैदा नहीं होती , और पूर्व विद्यमान जो कामना हैं सो नष्ट हो जाती हैं, जिस से कामना योग्य जो अनात्म पदार्थ हैं सो मिथ्या भासते हैं इससे उसको आप्तकाम कहते हैं, जैसे जिस को सींपी के रूपे का मिथ्या ज्ञान हुआ है सो पुरुष प्रसन्न होकर कहता है, मुझे रूपा मिल गया है, उसका तात्पर्य यह होता है कि जिस वस्तुकी प्राप्ति होती है उसके लिये फिर यत्न नहीं करता तैसे सींपी के रूपे वास्ते भी मेरे को यत्न करना न रहा, इस से सींपी का रूपा मुझे मिल गया है , तैसे निर्गुण ब्रह्म को आत्मरूप जानने द्वारे पुरुष का भी अनात्मपदार्थों की प्राप्ति वास्ते यत्न नहीं रहता, इससे कहा है कि उसको सब कामना करने योग्य पदार्थ मिल गये हैं, इसीसे उसका नाम आप्तकाम है, और आत्मा में ही है काम जिसको सो आत्म काम कहाता है, अर्थात् सदा आत्मा में है निष्ठा जिस की उस पुरुष के प्राण मरने के समय शरीर से बाहर नहीं निकसते, इसी शरीर में लय होजाते हैं, जैसे बहुत तप्ते लोहे पर जल की बूंद गिरी हुई उसमें ही लीन हो जाती है सोपुरुषप्रथम निर्गुण ब्रह्माकार वृत्तिकरकेनिर्गुणब्रह्मरूप होताहुआ निर्गुणब्रह्मको प्राप्त होता है,और शरीर इंद्रिय प्राणों के अभिमान से रहित और अज्ञानसे रहित सच्चिदानंदमात्र रूप हुआ सो पुरुष स्वप्रकाश ब्रह्म रूप हो जाता है और चैतन्यरूप यह ओंकारहै । और चैतन्यरूपयह जगतहै, तिस से जगत्परमेश्वररूप हैसो परमेश्वर परब्रह्म एक है,अमृत है अभयहै,निश्चय करके जो ब्रह्मको आत्मरूप जानता हैसो अभय ब्रह्मरूप होता है यह अर्थ

और उपनिषदोंमें भी प्रसिद्ध है ब्रह्माजो कहते हैं, हे देवताओ यह रहस्य मैं तुम्हारे ताईं कहता हूँ, इत्यादि जो वाक्य हैं उनके नरसिंह तापनयि उपनिषद् में निर्गुणउपासनाका मोक्ष फल श्रवण करा है ॥ १४१ ॥

उपासनस्य सामर्थ्याद्विद्योत्पत्तिर्भवेत्ततः ।
नान्यः पन्था इति ह्येतच्छास्त्रं नैवविरुद्ध्यते ॥ १४२ ॥

अर्थ--जो निर्गुण उपासन से भी मोक्ष होगी। तो मोक्ष के लिये ज्ञान से भिन्न और मार्ग कोई नहीं, इस श्रुति का विरोध आवेगा।

उत्तर--निर्गुण उपासना ब्रह्म ज्ञान को पैदा कर मोक्ष करती है यह हम कहते हैं इस से श्रुति विरोध नहीं ॥ १४२ ॥

निष्कामोपासनान्मुक्तिस्तापनीये समीरिता ।
ब्रह्मलोकःस कामस्य शैब्यप्रश्ने समीरितः ॥ १४३ ॥

अर्थ--निर्गुण उपासना से मोक्ष नरसिंह तापनीय उपनिषद् में कही है। निष्काम पुरुष को। और सकाम पुरुष को ब्रह्मलोक की प्राप्ति प्रश्न उपनिषद् में कही है॥१४३॥

य उपास्ते त्रिमात्रेण ब्रह्मलोके स नीयते ।
स एतस्माज्जीवघनात्परं पुरुषमीक्षते ॥ १४४ ॥

अर्थ--सो प्रश्न उपनिषद् का वाक्य सुन। (यःपुनरेतत्त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभि ध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नो यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं हवैस पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते)अर्थ--जो पुरुष तीन मात्रा वाले ओंकार रूप अक्षर करके निर्गुण परमात्मा का ध्यान करता है। सो पुरुष प्रथम तेजोरूप सूर्य को प्राप्त होता है सूर्य को प्राप्त होकर सब पापों को त्याग देता। जैसे सर्प कांचली को छोड़ देता है उस पाप रहित पुरुष को सामवेद अभिमानी देवता ब्रह्म लोक में ले जाते हैं सो ब्रह्मलोक में प्राप्त हुआ निर्गुण ब्रह्म का उपासक पुरुष समष्टि लिंग शरीरों के अभिमानी हिरण्य गर्भ से परे जो निर्गुण ब्रह्म है। सब शरीरों में समस्थित अज्ञान से परे निर्गुण परमात्मा उसके अनुभव को करता है, इस वाक्य से सकाम निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने हारे पुरुष को ब्रह्मलोक की प्राप्ति सुनी है।

शंका--प्रश्न उपनिषद् में सकाम को ब्रह्मलोककी प्राप्ति सुनी है मोक्ष तो उसकी नहीं सुनी।

उत्तर—ब्रह्मलोक में उसको ब्रह्म साक्षात्कार श्रवण करा है । ब्रह्म साक्षात्कार से मोक्ष की प्राप्ति अर्थ सिद्ध है ॥ १४४ ॥

अप्रतीकाधिकरणे तत्क्रतु न्याय ईरितः ।
ब्रह्मलोकफलं तस्मात्सकामस्येति वर्णितम् ॥ १४५ ॥

अर्थ—और व्यासदेव जी ने भी अपने (अप्रतीकालंबनान्नयतीति बादरायणः) (उभयथा दोषात्तत्क्रतुश्चेति) अर्थ-इस सूत्र में कहा है कि अहंग्रह उपासना वाले जो पुरुष हैं निर्गुण ब्रह्म मैं हूं ऐसी जो उपासना है सो अहंग्रह उपासना है । उन पुरुषों को ब्रह्मलोक से आनकर अमानव पुरुष ब्रह्मलोक में ले जाता है । और प्रतीक उपासक को नहीं ले जाता । क्योंकि अहंग्रह उपासकों का संकल्प ब्रह्मलोक में दृढ़ हो जाता है, जैसा जिसका संकल्प है तैसा उसको फल मिलता है, तिस से ब्रह्मलोक की कामना वाला जो निर्गुण ब्रह्म का उपासक है उसको ब्रह्मलोक की प्राप्तिरूपफल मिलता है ॥१४५॥

निर्गुणोपास्ति सामर्थ्यात्तत्र तत्त्वमवेक्षते ।
पुनरावर्तते नायं कल्पांते च विमुच्यते ॥ १४६ ॥

शंका—जो सकाम निर्गुण उपासक को ब्रह्मलोक मिलता है, तो उसको तत्त्वज्ञान किस से प्राप्त होता है ।

उत्तर—निर्गुण उपासना की सामर्थ्य से उसको ब्रह्मलोक में तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है, क्योंकि शास्त्र में यह कहा है, तहां शास्त्रवचनम् । इमंमानवमावर्तं नावर्तते न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते) ब्रह्मणा सह ते सर्वे इत्यादि) अर्थ-निर्गुण उपासना के प्रभाव से ब्रह्मलोक में प्राप्त हुआ जोप उासक है सो मनु करके रचा हुआ जो यह जन्म मरण रूप चक्र इसमें भ्रमता नहीं अर्थात् फिर जन्म नहीं लेता, किंतु ब्रह्माके साथ वे सब विदेहमुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं, तिस से निर्गुण ब्रह्म का उपासक फिर जन्म नहीं लेता किंतु उसकी मोक्ष होती है ॥ १४६ ॥

प्रणवोपास्तयः प्रायो निर्गुणा एव वेदगाः ॥
क्वचित्सगुणतापृक्ता प्रणवोपासनस्य हि ॥ १४७ ॥

अर्थ—वेद में कही हुई जो प्रणव की उपासना है सो बहुल निर्गुण होती है । और कहीं प्रणव की उपासना सगुण भी कही है, प्रणव का अर्थ ओंकार है तात्पर्य यह है

कि ओंकार को निर्गुण ब्रह्मरूप जान कर उपासना करनी। और सगुण ब्रह्म रूप जान-कर भी उपासना करनी ॥ १४७ ॥

परापरब्रह्मरूप ओंकार उपवर्णितः ॥
पिप्पलादेन मुनिना सत्यकामाय पृच्छते ॥ १४८ ॥

अर्थ—पिप्पलाद मुनीश्वर ने अपने शिष्य सत्यकाम के प्रति यह कहा है। तहाँ श्रुतिः। (एतद्वै सत्यकामपरं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेन एकतरमन्वेति) अर्थ—हे सत्यकाम! जिस कारण ओंकार निर्गुण ब्रह्मरूप है, और सगुण ब्रह्मरूप भी है, तिस कारण से उपासक पुरुष इस ओंकार की उपासना करके निर्गुण ब्रह्म को चाहे सगुण ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥१४८॥

एतदालंबनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
इति प्रोक्तं यमेनापि पृच्छते नचिकेतसे ॥१४९॥

अर्थ—कठवल्ली उपनिषद् में यमने भी नचिकेता के ताईं कहा है, ओंकार की उपासना को जानकर जो पुरुष निर्गुण ब्रह्म की इच्छा करता है तो उसको निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति होती है और जो सगुण ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करता है तो सगुण ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ॥१४९॥

इह वा मरणे वाऽस्य ब्रह्मलोकेऽथ वा भवेत् ॥
ब्रह्मसाक्षात्कृतिः सम्यगुपासीनस्य निर्गुणम् ॥१५०॥

अर्थ—तिससे यह सिद्ध हुआ कि भली प्रकार निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने हारे पुरुष को इसी जन्म में ब्रह्म साक्षात्कार होता है, चाहे मरण काल में चाहे ब्रह्म-लोक में चाहे और मनुष्य शरीर को धार कर पृथ्वी लोक में ब्रह्म साक्षात्कार अवश्य होता है ॥१५०॥

अर्थोऽयमात्मगीतायामपि स्पष्टमुदीरितः ॥
विचाराक्षम आत्मानमुपासीतेति संततम् ॥ १५१ ॥

अर्थ—विचार से जो तत्त्वज्ञान को प्राप्त होने में असमर्थ है उसको निर्गुण ब्रह्म के ध्यान का अधिकार है यह अर्थ आत्म गीता में भी अच्छी तरह कहा है ॥१५१॥

साक्षात्कर्तुमशक्तोऽपि चिंतयेन्मामशंकितः ॥
कालेनानुभवारूढो भवेयं फलितं ध्रुवम् ॥१५२॥

अर्थ—सो आत्मगीता के वाक्यों को लिखते हैं जो विचार से मेरा साक्षात्कार करने को असमर्थ है सो मेरी उपासना करे। और मन में यह शंका न लावे कि मुझे परमात्मा का साक्षात्कार होवेगा क्या नहीं, कुछ काल उपासना के करने से उपासना के फलप्राप्ति समय में मैं उसको साक्षात्कार होऊंगा अवश्य मेरा ध्यान मेरे साक्षात्कार का साधन है ॥१५२॥

यथाऽगाधनिधेर्लब्धौ नोपायः खननं विना ।
मल्लाभेऽपि तथा स्वात्मचिंतां मुक्त्वा न चापरः ॥१५३॥

अर्थ—जैसे पृथिवी के नीचे दबा हुआ जो धन है उस के लाभ में पृथिवी का खोदना उपाय है और उपाय नहीं। तैसे मेरी प्राप्ति में भी विचार से रहित पुरुष को मेरी उपासना ही उपाय है और कोई कारण नहीं ॥ १५३ ॥

देहोपलमपाकृत्य बुद्धिकुद्दालकात्पुनः ।
खात्वा मनोभुवं भूयोगृह्णीयान्मां निधिं पुमान ॥१५४॥

अर्थ—मन रूप तो पृथिवी है। और बुद्धिरूप कुदाल है। उससे मनरूप पृथिवी को खोदना। अर्थात् मन की एकाग्रता को करना और देह अभिमान रूप शिला को आत्मरूप धन के ऊपर से दूर करके धन रूप जो मैं हूं उसको पुरुष ग्रहण करे ॥१५४॥

अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्माऽस्मीत्येव चिन्त्यताम् ।
अप्यसत्प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः ॥१५५॥

अर्थ—ज्ञान में असमर्थ पुरुष को ध्यान का अधिकार है। इस में और भी शास्त्र का वाक्य सुन। ब्रह्म के अपरोक्ष अनुभव के न रहते भी मैं ब्रह्म हूं ऐसे उपासना करे। जो देवता की उपासना से जो पूर्व अविद्यमान भी देवता रूपता को प्राप्त होता है। तो आत्मरूपता से नित्य प्राप्त जो सर्वात्मा ब्रह्म है सो उपासना से प्राप्त होता है इस का तो क्या कहना है ॥ १५५ ॥

अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानाद्दिनेदिने ।
पश्यन्नपि न चेद्ध्यायेत्कोऽपरोऽस्मात्पशुर्वद ॥१५६॥

अर्थ—ब्रह्म ध्यान का फल प्रत्यक्ष सिद्ध है। तिस से ध्यान करने योग्य है ध्यान से अनात्मरूप देह आदि में अहं बुद्धि की शिथिलता रूप फल को दिन २ में

देखता हुआ भी जो ध्यान को न करे। तो उस पुरुष से अधिक और कौन पशु है यह कहो। अर्थात् ध्यान के फल को प्रत्यक्ष देखता हुआ भी जो ध्यान नहीं करता सो गधा है ॥ १५६ ॥

देहाभिमानं विध्वस्य ध्यानादात्मानमद्वयम् ।
पश्यन्मर्त्योऽमृतो भूत्वा ह्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १५७ ॥

अर्थ—देह अभिमान को दूर करके ध्यान से अद्वितीय आत्मा के अनुभव को करता हुआ। मरण स्वभाव वाले शरीर में अहं अभिमान के त्याग से पुरुष आप अमृत ब्रह्म रूप हुआ इसी जन्म में अपना वास्तव स्वरूप जो सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म है उसको प्राप्त होता है ॥ १५७ ॥

ध्यानदीपमिमं सम्यक् परामृशति यो नरः ।
मुक्तसंशय एवायं ध्यायति ब्रह्म संततम् ॥ १५८ ॥

अर्थ—जो पुरुष इस ध्यान दीप नाम ग्रंथ को अच्छी तरह विचारता है। सो सब संशयों से रहित हुआ सदा ब्रह्म के ध्यान को करता है ॥ १५८ ॥

इति श्री परमहंस परिव्राजकाचार्य विद्यारण्य मुनीश्वरप्रणीत पञ्चदश्यां ध्यान दीप प्रकरणम् समाप्तम् ॥९॥

* श्रीः पञ्चदशी *

❀ श्रीगणेशायनमः ❀

अथ नाटक दीप प्रकरणम् १०

परमात्माऽद्वयानन्दपूर्णः पूर्वं स्वमायया ।
स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः ॥१॥

श्रीगणेशायनमः ॥ नाटकदीपव्याख्यायाप्रारंभः ॥

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
अर्थो नाटकदीपस्य मया संक्षिप्य वक्ष्यते ॥१॥

अर्थ—अब पंचदशी का जो नाटकदीप नाम दशवाँ प्रकरण है उसका प्रारम्भ करते हैं । मंदबुद्धि वाले जिज्ञासुओं को येयत्न से निष्प्रपंच ब्रह्म की आत्मरूपता के ज्ञान वास्ते ब्रह्मवेत्ताओं ने अध्यारोप और अपवाद कल्पित किया है । तहां श्लोकः । (अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते ॥ शिष्याणां बोधसिद्ध्यर्थं तत्त्वज्ञैः कल्पितः क्रमः ॥१॥ अर्थ--अध्यारोप और अपवाद से निष्प्रपंच को प्रपञ्च रूप कहा है बुद्धिमानों ने शिष्यों के बोध की सिद्धि के अर्थ यह क्रम कल्पित किया है ॥ १ ॥ इस में प्रथम परमात्मा में जगत् के अध्यारोप को कहते हैं । जो जगत् की उत्पत्ति से पूर्व सजातीय,विजातीय विजातीय स्वगत भेदस रहित आनंद चेतन्य स्वरूप पूर्ण परमात्मा था । सो परमात्मा आप ही अपनी माया से जगत रूप को प्राप्त होकर जीवरूप को धार कर शरीरों में प्रवेश करता भया । जगत् की उत्पत्ति से पूर्व परमात्मा को सजातीय विजातीय स्वगत भेद से रहित छांदोग्य उपनिषद् में अपने पुत्र श्वेतकेतु के ताईं उद्दालक मुनीश्वर ने कहा है । तहां श्रुतिः । (सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं विज्ञानमानंदं ब्रह्म पूर्णमदः पूर्णमित्यादि) अर्थ -हे सौम्य ! हे पुत्र ! यह जितना जगत् तू देखता है सो सब अपनी उत्पत्ति से पूर्व परमात्म रूप था जैसे घट अपनी उत्पत्ति से पूर्व मृत्तिका रूप होता है सो परमात्मा सजातीय विजातीय स्वगत भेद से रहित है । और बृहदारण्यक उपनिषद् में परमात्मा चैतन्य रूप और आनन्दरूप और पूर्ण कहा है । ऐसा जो परमात्मा है सो अपनी मायाशक्ति करके जो शक्ति श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रकृति नाम से कही है । तहां श्रुतिः (मायांतु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु

महेश्वरम्) अर्थ—माया को तो प्रकृतिजान और महेश्वर को माया वाला जान। उस प्रकृति करके। अन्यच्च। (स्वयमेव जगद्भूत्वा तदात्मानं स्वयमकुरुत सच्चत्यच्चाभवत्)

अर्थ--परमात्मा जगत् रूप हुआ भी निर्विकार रहता है। इस लिये परमात्मा का नाम महेश्वर कहा है। अन्यच्च। (तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्रविशत्) अर्थ—सो परमात्मा आप ही शरीर आदि संघात रूप जगत् को रचकर उस में जीवरूप से प्रवेश करता भया ॥१॥

विष्एवाद्युत्तमदेहेषु प्रविष्टो देवता भवेत् ।
मर्त्याद्यधमदेहेषु स्थितो भजति मर्त्यताम् ॥२॥

शंका–जो एक परमात्माने ही सब शरीरों प्रवेशकरा है तो यह पूजा करने योग्य है जिससे उत्तम है और यह पूजा करने हारा है जिससे उस से अधम है ऐसा भेद प्रतीत न होना चाहिये।

उत्तर—यह जो उत्तम अधम भाव प्रतीत होता है, सो परमात्मा के स्वभाव से नहीं प्रतीत होता, किंतु शरीर रूप उपाधि से प्रतीत होता है, जो विष्णु आदि उत्तम शरीर में प्रवेश करता है परमात्मा तो उत्तम देवतारूप हो जाता है और जो परमात्मा अधम मनुष्य शरीर में प्रवेश करता है तो मनुष्यरूप हो जाता है ॥२॥

अनेकजन्मभजनात् स्वविचारं चिकीर्षति ॥
विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम् ॥३॥

अर्थ—अब जगत् के अपवाद को कहते हैं, सहित साधन के, प्रथम अपवाद का साधन कहते हैं, अनेक जन्मों में जो करा हुआ ईश्वर का भजन है, अर्थात् अपने वर्णाश्रम के कर्मों का श्रद्धा से करे हुओं का जो परमेश्वर में अर्पण करना है, उससे आत्मा की ब्रह्मरूपता के ज्ञान का साधन जो विचार है। श्रवण मनन निदिध्यासन रूप उसके करने की इच्छा करता है, उस श्रवण मनन निदिध्यासन रूप विचारसे ज्ञान की उत्पत्ति होती है ज्ञान से आत्मा की अद्वयानंदता का आच्छादक अज्ञान नष्ट हो जाता है अज्ञान के नष्ट होने पर अद्वयानंद रूप परमात्मा शेष रहता है जिसमे यह सिद्ध हुआ कि प्रथम साधन ईश्वर का भजन है और दूसरा साधन श्रवण आदि में रुचि, तीसरा साधन श्रवण मनन निदिध्यासन में प्रवृत्ति उन्हों से पैदा हुआ जो ज्ञान उसने जगत्का अपवाद जगत् के अत्यंताभाव की प्रतीति करके परमात्मा की अद्वैतरूपता का ज्ञान ॥६॥

अद्वयानंदरूपस्य सद्वयत्वं च दुःखिता ॥
बंधः मोक्षः स्वरूपेण स्थितिर्मुक्तिरितीर्यते ॥४॥

शंका—कैवल्य उपनिषद् में यह कहा है तहां श्रुतिः । (तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबंधैः प्रमुच्यते) अर्थ–जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति रूप प्रपँच को जो प्रकाशता है सो ब्रह्म मैं हूँ इस ज्ञान करके पुरुष सब बंधनों से रहित हो जाता है तिससे बन्धनों का अभाव रूप जो मोक्ष है सो ज्ञान का फल है तुम परमात्मा का शेष रहना ज्ञान का फल कैसे कहते हो ।

उत्तर—अद्वितीय परमात्मा ब्रह्म में वास्तव बंध मोक्ष का निरूपण नहीं हो सकता परमात्मा को मैं दुखी हूं मैं द्वैत का अनुभव करता हूँ यह जो भ्रम है सो बंध है और अद्वितीय परमानंदस्वरूप करके जो स्थिति है सो बंध निवृत्ति रूप मोक्ष है, इस से कैवल्य उपनिषद् की श्रुति के साथ विरोध नहीं ॥४॥

अविचारकृतो बंधो विचारेण निवर्तते ॥
तस्माज्जीवपरात्मानौं सर्वदैव विचारयेत् ॥५॥

शंका—मोक्ष के लिये विचार से पैदा हुआ जो ज्ञान उसी की चाहना नहीं क्यों कि गीता में यह कहा है, कर्म से ही जनक आदि राजे संसिद्धि को प्राप्त हुए हैं ।

उत्तर—बंध अज्ञान से होता है । उस अज्ञान का विचार जन्य ज्ञान के बिना नाश नहीं होता । तिस से ज्ञान की चाहना अवश्य है, और गीता में जो (कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः) अर्थ—कर्म से ही जनक आदि संसिद्धि को प्राप्त हुए हैं यह कहा है । सो संसिद्धि नाम अंतःकरण की शुद्धि का है । मोक्ष का नहीं । इस से गीता वाक्य का विरोध नहीं ।

प्रश्न—विचार से बंध की निवृत्ति आपने कही है सो किस के विचार से होती है यह कृपा कर कहिये ।

उत्तर—जीव और परमात्मा के विचार से बंध का अभाव होता है । तिस से जिज्ञासु जीव ब्रह्म की एकता के साक्षात्कार पर्यन्त सदा ही जीव और परमात्मा का विचार करे ॥ ५ ॥

अहमित्यभिमंता यः कर्ताऽसौ तस्य साधनम् ॥
मनस्तस्य क्रिये अंतर्बहिर्वृत्ती क्रमोत्थिते ॥ ६ ॥

अर्थ—तहां प्रथम जीव का स्वरूप कहते हैं । चिदाभास सहित जो अहंकार है व्यवहार दशा में देह आदि में अहं अभिमान के करने हारा । और पुण्य पाप रूप कर्मों के करने हारा और सुख दुःख रूप फल के भोगने हारा सो जीव है । उसका सुख दुःख

भोगने में क्या साधन है ? कामादि वृत्तियों वाला अंतःकरण का अंश मन सुख दुःख रूप भोग का साधन है । उस मन की दो क्रिया हैं । एक अंतर्वृत्ति और एक बाह्यवृत्ति सो वृत्तियाँ क्रम से उत्पन्न होती हैं ॥ ६ ॥

अतर्मुखाऽहमित्येषा वृत्तिः कर्तारमुल्लिखेत् ॥
बहिर्मुखेदमित्येषा बाह्यं वस्त्विदमुल्लिखेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—इन दोनों वृत्तियों के स्वरूप और विषय कहते हैं भिन्न २ करके । अंतर्मुख वृत्ति अहं है सो कर्ता जो जीव है उसको विषय करती है । और इदं यह बाह्य वृत्ति है सो देह से बाहर इदंता करके ग्रहण करने योग्य पदार्थ को विषय करे हैं ॥ ७ ॥

इदमो ये विशेषाः स्युर्गन्धरूपरसादयः ॥
असांकर्येण तानभिद्यात् घ्राणादीन्द्रियपंचकम् ॥ ८ ॥

शंका— जो मन से ही सब व्यवहार की सिद्धि होती है तो श्रोत्र नेत्र आदि इंद्रियों को व्यर्थता होगी ।

उत्तर—मन ने इदं ऐसे सामान्य रूप वस्तु को विषय करा है । और इदंता कर के ग्रहण करने योग्य पदार्थों में जो विशेष हैं शब्द स्पर्श रूप रस गंध उन को भिन्न २ करके श्रोत्र आदि इंद्रियों से ग्रहण करा है इस से श्रोत्र आदि इंद्रियों को व्यर्थता नहीं । ८ ॥

कर्तारं च क्रियां तद्वद्व्यावृत्तविषयानपि ॥
स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः ॥ ९ ॥

अर्थ—इस प्रकार जीवका स्वरूप कह कर, अब परमात्मा का स्वरूप कहते हैं, जो चैतन्य रूप परमात्मा अहंकार रूप कर्ता को और अहं रूप और इदं रूप मन की वृत्तिरूप क्रिया को और सब विषयों को जो घ्राण आदि इंद्रियों से ग्रहण करने योग्य हैं, इन सब को एकट्ठा ही प्रकाशता है । सो वेदान्त शास्त्र में साक्षी कहा है ॥ ९ ॥

ईक्षे शृणोमि जिघ्रामि स्वादयामि स्पृशाम्यहम् ।
इति भासयते सर्वं नृत्यशालास्थदीपवत् ॥ १० ॥

अर्थ—मैं रूप को देखता हूं इस प्रतीति में द्रष्टा दर्शन दृश्य रूप त्रिपुटी एकट्ठी भासती है मैं इसका अर्थ है अहंकार रूप द्रष्टा, देखता हूं इसका अर्थ है दर्शन रूप क्रिया, रूप को इस का अर्थ है दृश्य । इसी तरह मैं सुनता हूं मैं सूंघता हूं मैं चखता हूं मैं छूता हूं इत्यादि त्रिपुटियां भासती हैं उन त्रिपुटियों को प्रकाशने हारा जो साक्षी है, सो परमात्मा है साक्षी विकार से रहित हुआ अनेक पदार्थों को एकट्ठा प्रकाशता है । जैसे नृत्यशाला में रक्खा हुआ दीपक ॥ १० ॥

नृत्यशाला स्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम् ।
दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते ॥ ११ ॥

अर्थ—अब दृष्टान्त को स्पष्ट कर दिखाते हैं, जैसे किसी स्थान में वेश्या नाच रही है उस स्थान में नाच कराने हारे धनी को और तमाशा देखने हारों को और वेश्या को दीपक एकट्ठा प्रकाशता है एक जैसा आप न विकार को प्राप्त होकर, और जो सभो उस स्थान से चले जावें तो सब के अभाव को प्रकाशता है ॥ ११ ॥

अहंकारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत् ॥
अहंकाराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत् ॥ १२ ॥

अर्थ—तैसे साक्षी अहंकार रूप कर्ता को और बुद्धि वृत्तिरूप क्रिया को और विषयों को जाग्रत् और स्वप्न में प्रकाशता है और सुषुप्ति आदि में इन सब का अभाव रहते भी पूर्ववत् आप प्रकाशता है ॥ १२ ॥

निरंतरं भासमाने कूटस्थे ज्ञप्तिरूपतः ॥
तद्भासा भास्यमानेयं बुद्धिर्नृत्यत्यनेकधा ॥ १३ ॥

शंका—प्रकाश रूप बुद्धि को हि अहंकार आदि सब पदार्थों की प्रकाशता बन जाती है, इस से बुद्धि से भिन्न साक्षी को न मानना चाहिये।

उत्तर—निर्विकार साक्षी चैतन्य की स्वप्रकाशता से सदा प्रकाशमान हुई बुद्धि अनेक प्रकार से नाचती है। अर्थात् कभी घटाकार होती है और कभी पटाकार होती है तात्पर्य यह है कि बुद्धि विकारिणी होने से जड़ है, तिस से उस बुद्धि में स्वतः प्रकाश नहीं, इससे बुद्धि से भिन्न बुद्धि आदि सब का प्रकाशक साक्षी अवश्य मानना चाहिये ॥ १३ ॥

अहंकारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकी मतिः ॥
तालादिधारिण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यवभासकः ॥ १४ ॥

अर्थ—उक्त अर्थ को श्रोता की बुद्धि में वे यत्न के स्थिति वास्ते नाटक रूपता से कहते हैं, अहंकार जो है सो नाच करने हारे धनी के तुल्य है! जैसे धनी अपने अभिमान से अच्छे बुरे नाच के होने से हर्ष शोक को प्राप्त होता है, तैसे अहंकार भी भोगों के अच्छे बुरे अभिमान से हर्ष शोक को प्राप्त होता है, और विषय जो हैं सो तमाशा देख-

ने हारे पुरुषों के समान हैं, तमाशे के देखने हारे पुरुषों को निकट स्थित होने पर भी अच्छे बुरे तमाशे से हर्ष शोक नहीं होता, तैसे विषयों को अच्छे बुरे भोग से हर्ष शोक नहीं होता, तिस से विषय तमाशा देखने हारे पुरुषों के तुल्य हैं, और बुद्धि नाचने हारी वेश्या के तुल्य है जैसे वेश्या अनेक प्रकार के विकारों को प्राप्त होती है, तैसे बुद्धि भी अनेक प्रकार के विकारों को प्राप्त होती है, और इंद्रियाँ वेश्या के पीछे सारंगी आदि बजाने हारों के तुल्य हैं, जैसे वे वेश्या के विकारों के अनुसार व्यापार करते हैं। तैसे इंद्रियाँ भी बुद्धि के विकारों के अनुसार व्यापार करती हैं, और साक्षी दीपक की नाईं प्रकाशक है ॥ १४ ॥

स्वस्थानसंस्थितोदीपः सर्वतो भासयेद्यथा ।
स्थिरस्थायी तथा साक्षी बहिरंतः प्रकाशयेत् ॥१५॥

शंका—साक्षी को अहंकार आदि की प्रकाशता के रहते अहंकार आदि के साथ कभी संबंध होना और कभी सम्बंध न होना रूप विकार की प्राप्ति होगी।

उत्तर—जैसे दीपक जाने आवने रूप विकार से रहित अपने स्थान में रक्खा हुआ अपने निपट वर्ती सब पदार्थों को प्रकाशता है। तैसे साक्षी विकार से रहित हुआ अपने निकट स्थित सब पदार्थों को बाहर भीतर प्रकाशता है ॥१५॥

बहिरंतर्विभागोऽयं देहापेक्षो न साक्षिणि ।
विषया बाह्यदेशस्था देहस्यांतरहंकृतिः ॥१६॥

शंका· यह जो आपने कहा है कि साक्षी बाहरले और भीतरले सब पदार्थों को प्रकाशता है। सो अयुक्त है। क्योंकि श्रुति साक्षी में बाहर भीतर भेद के अभाव को कहती है। बृहदारण्यक में यह कहा है। तहां श्रुतिः। (अपूर्वमनपरमनंतरम बाह्यम्) अर्थ—साक्षी रूप ब्रह्म न किसी का कारण है न किसी का कार्य है न किसी के बाहर है न किसी के अन्दर।

उत्तर—यह बाहर भीतर भेद शरीर की अपेक्षा से है शरीर के जो बाहर पदार्थ हैं सो बाह्य कहाते हैं और शरीर के अन्दर जो पदार्थ हैं सो अंतर कहाते हैं और साक्षी में बाहर अंदर की कल्पना कोई नहीं। शरीर के बाहर कौन पदार्थ हैं और उसके भीतर कौन पदार्थ हैं? शब्द स्पर्श रूप रस गंध ये पांच विषय तो शरीर के बाहर हैं और अहंकार अंदर है ॥ १६ ॥

अन्तःस्था धीः सहैवाक्षैर्बहिर्याति पुनः पुनः ।
भास्यबुद्धिस्थचांचल्यं साक्षिण्यारोप्यते वृथा ॥ १७ ॥

शंका—यह जो आपने कहा है कि स्थिर स्थिति को प्राप्त हुआ साक्षी विकार से रहित होता हुआ बाहरले और भीतरले पदार्थों को प्रकाशता है सो अयुक्त है। क्यों कि मैं घटको देखता हूं इस अनुभव में यह प्रतीत होता है कि प्रथम साक्षी अहंकार को प्रकाशता है पश्चात् घटाकारवृत्ति की प्रकाशरूपता करके साक्षी बाहर आता है ऐसे अनुभव से प्रतीत होता है।

उत्तर- अहंकार के ग्रहण करने को देह के अंदर स्थित हुई बुद्धि रूप आदि विषयों के ग्रहण करने को नेत्र आदि द्वारा बारंबार बाहर आती है। तिस से मूर्ख पुरुष बुद्धि की बाहर अन्दर आने जाने रूप चंचलता को बुद्धि के प्रकाशक साक्षी में कल्प लेते हैं। इस से साक्षी में अन्दर बाहर आना जाना रूप चंचलता वास्तव नहीं ॥ १७ ॥

गृहाँतरगतः स्वल्पो गवाक्षादातपोऽचलः ।
तत्र हस्ते नर्त्यमाने नृत्यतीवातपो यथा ॥ १८ ॥

शंका—प्रकाश ने योग्य वस्तु की चंचलता प्रकाशक में मूर्खों ने कल्पित करी है यह बात कहीं दीखती नहीं।

उत्तर—घर में झरोखे द्वारा धूप आती है थोड़ी सी उसमें बालक अपने हाथ को नचाते हैं उस हाथ के नचाने से अचल भी धूप बालकों को चंचल प्रतीत होती है जैसे इस स्थान में प्रकाश ने योग्य हाथ की चंचलता प्रकाशक धूप में बालकों ने कल्पी है ॥ १८ ॥

निजस्थानस्थितः साक्षी बहिरंतर्गमागमौ ।
अकुर्वन् बुद्धिचांचल्यात् करोतीव तथा तथा ॥ १९ ॥

अर्थ—तैसे बुद्धि की चंचलता बुद्धि के प्रकाशक साक्षी में अज्ञानियों ने रची है वास्तव से साक्षी अपने स्वरूप में स्थित है बाहर अंदर गमनागमन नहीं करता पर बुद्धि के जाने आने से बाहर अंदर आता प्रतीत होता है अज्ञानियों को ॥ १९ ॥

न बाह्योनांतरः साक्षी बुद्धेर्देशौ हितावुभौ ।
बुद्ध्याद्यशेषसंशांतौ यत्र भात्यस्ति तत्र सः ॥ २० ॥

अर्थ—अपने स्थान में साक्षी स्थित है इस का क्या अर्थ है। किसी बाहर स्थान में स्थित है अथवा अन्दर स्थान में स्थित है ? साक्षी न तो बाहर स्थान में स्थित है और न भीतरले स्थान में स्थित है। क्योंकि दोनों स्थान बुद्धि के हैं। फिर

साक्षी कहां स्थित है ? मन बुद्धि इन्द्रिय आदि सब की प्रतीति का अभाव होने पर जहां साक्षी प्रकाशता है तहां ही स्थित है ॥ २० ॥

देशः कोऽपि न भासेत यदि तर्ह्यस्त्वदेशभाक् ।
सर्वदेश प्रक्लृप्त्यैव सर्वगत्वं न तु स्वतः ॥ २१ ॥

शंका– सर्व व्यवहार का अभाव रहते देश तो कोई प्रतीत नहीं होता इस से उस देश में साक्षी को स्थित कैसे कहते हो ।

उत्तर--हमारा यह तात्पर्य है कि सर्वदेश आदि कल्पना का अधिष्ठान जो साक्षी है । उस को अपने स्वरूप से भिन्न अपनी स्थिति के लिये किसी देश आदि की अपेक्षा नहीं ।

शंका--जो साक्षी का देश कोई नहीं तो शास्त्र में उसको सर्वगत सर्वसाक्षी क्यों कहा है सर्वगत का अर्थ सर्वदेशों में स्थित ।

उत्तर-सर्वदेश की कल्पना से उसको सर्वगत कहते हैं वास्तव साक्षी में सर्वगतता नहीं क्योंकि वह अद्वितीय और अखंग है ॥ २१ ॥

अंतर्बहिर्वा सर्वं वा यं देशं परिकल्पयेत् ॥
बुद्धिस्तद्देशगः साक्षी तथा वस्तुषु योजयेत् ॥ २२ ॥

अर्थ—जैसे साक्षी में सर्वगतता वास्तव नहीं तैसे उसमें सर्वसाक्षिता भी वास्तव नहीं । बुद्धि जिस २ देश को और जिस पदार्थ को अंदर को और बाहर को और सबको कल्पती है उस देश में साक्षी स्थित कहाता है और जब सब को बुद्धि कल्पती है तब सबका साक्षी कहाता है तैसे ही सब पदार्थों में जानना ॥२२॥

यद्यद्रूपादि कल्प्येत बुद्ध्या तत्तत्प्रकाशयन् ॥
तस्य तस्य भवेत्साक्षी स्वतो वाग्बुद्ध्यगोचरः ॥ २३ ॥

अर्थ—यह है कि जब बुद्धि रूप को कल्पती है तब रूप का प्रकाशक होता हुआ परमात्मा रूपका साक्षी कहाता है इसी प्रकार जब बुद्धि रस आदि पदार्थों को कल्पती है तब परमात्मा रस आदि को प्रकाशता हुआ उन का साक्षी कहाता है ।

शंका—जो साक्षी रूपता वास्तव नहीं तो परमात्मा का वास्तव क्या रूप है ।

उत्तर—वास्तव उसका स्वरूप मन वाणी से परे है ॥ २३ ॥

कथं तादृङ् मया ग्राह्य इति चेन्मैव गृह्यताम् ॥
सर्वग्रहोपसंशांतौ स्वयमेवावशिष्यते ॥ २४ ॥

शंका—जो वास्तव परमात्मा का स्वरूप मन वाणी का विषय नहीं तो उस को मैं कैसे ग्रहण करूं।

उत्तर—तू उसको मत ग्रहण कर।

शंका—जो परमात्मा मेरे करके ग्रहण करने योग्य नहीं तो यह जो आप ने कहा था कि विचार से अविद्या का नाश होने पर परमात्मा शेष रहता है सो आप का कथन न बनेगा।

उत्तर—जो २ आत्मा से भिन्न द्वैत तैने ग्रहण करा है उसकी मिथ्या रूपता के निश्चय से उस का त्याग करने पर तेरा स्वरूप आत्मा ही सत्य रूपता कर के शेष रहेगा ॥ २४ ॥

न तत्र मानापेक्षाऽस्ति स्वप्रकाशस्वरूपतः ॥
तादृग्व्युत्पत्त्यपेक्षा चेच्छ्रुतिं पठ गुरोर्मुखात् ॥ २५ ॥

शंका—आपने कही जो युक्ति है उससे आत्मा यद्यपि शेष रहता है तो भी उस की अपरोक्षता के लिये कुछ एक प्रमाण चाहिये।

उत्तर—उसकी अपरोक्षता के लिये कुछ प्रमाण न चाहिये क्यों कि उसका स्वरूप स्वप्रकाश है प्रमाणकी अपेक्षा तो अनात्म वस्तुओं की अपरोक्षता के लिये होती है।

शंका—आत्मा स्वप्रकाशता से अपनी अपरोक्षता के लिये प्रमाण को नहीं चाहता इस ज्ञान की सिद्धि के लिये प्रमाण चाहिये।

उत्तर—जो इस ज्ञान के लिये प्रमाण चाहिये तो गुरु के मुख से श्रुति को पढ़। श्रुति ही इस ज्ञान की सिद्धि में प्रमाण है ॥ २५ ॥

यदि सर्वग्रहत्यागोऽशक्यस्तर्हि धियं व्रज ॥
शरणं तदधीनोऽन्तर्बहिर्वैषोऽनुभूयताम् ॥ २६ ॥

अर्थ—और जो तू सर्वग्रहण करी हुई अनात्म वस्तु के त्याग करने में असमर्थ है तो ज्ञान के कारण विचार की शरण को प्राप्त हो विचार में तत्पर हुआ अंतर बाहर परमात्मा के अनुभव को कर बुद्धि ने जो २ अंतर बाहर वस्तु कल्पी है उस २ का साक्षी रूपता करके उस २ वस्तु के अधीन परमात्मा को अंदर बाहर अनुभव कर ॥२६॥

इति पंचदश्यां नाटकदीपः समाप्तः।

* श्रीः पञ्चदशी *

❀ श्रीगणेशायनमः ❀

ब्रह्मानन्दे योगानन्दः प्रकरणम्

ब्रह्मानंदं प्रवक्ष्यामि ज्ञाते तस्मिन्नशेषतः ॥
ऐहिकामुष्मिकानर्थव्रातं हित्वा सुखायते ॥ १ ॥

श्रीगणेशायनमः ॥ अथ योगानंदव्याख्याप्रारंभः ॥
नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ॥
ब्रह्मानंदाभिधं ग्रंथं व्याकुर्वे बोधसिद्धये ॥१॥

अर्थ—अब ब्रह्मानंद नाम ग्रंथ का प्रारंभ करते हैं। इस ब्रह्मानंद के पाँच अध्याय हैं, पहिले अध्याय का नाम योगानंद है, सो पञ्चदशी का ग्यारवां प्रकरण है, इस में ब्रह्मानंद को कहेंगे सो ब्रह्मानंद एक ग्रंथ का नाम है, और एक ब्रह्म का स्वरूप जो आनंद है उसका नाम है उस दो प्रकार के ब्रह्मानंद को सम्पूर्ण जान कर इस लोक के तापों के समूह को जो शरीर में अहंता अभिमान करके प्राप्त होते हैं और पुत्र आदि में ममता अभिमान से प्राप्त होते हैं, और शत्रु आदि में जो क्रोध से प्राप्त होते हैं और परलोक के जो सम्पूर्ण ताप हैं, नरकों का डर और स्वर्ग आदि की अभिलाषा रूप उन तापों के समूह को त्याग कर सुख रूप ब्रह्म हो जाता है ॥१॥

ब्रह्मवित्परमाप्नोति शोकं तरति चात्मवित् ॥
रसो ब्रह्मरसं लब्ध्वाऽऽनंदी भवति नान्यथा ॥२॥

अर्थ—ब्रह्मज्ञान सब अनर्थों के अभाव का कारण है और सब वांछित अर्थों की प्राप्ति का कारण है इस वार्ता में अनेक श्रुति और स्मृतियां के वचन प्रमाण हैं, तिससे पूर्व तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन सुन, ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्मानंद को प्राप्त होता है ब्रह्मवेत्ता का अर्थ यह है देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित परमात्मा को जो आत्म रूपता करके जाने सो ब्रह्मवेत्ता कहता है इससे ब्रह्मज्ञान को वाँछित अर्थ की प्राप्ति की कारणता सिद्ध हुई अब ब्रह्मज्ञान को अनर्थों के अभाव की कारणता छांदोग्य उपनिषद् में जो कही है उसको सुन, भूमा है नाम जिसका ऐसा जो देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित आत्मा है सुखरूप उसको जानने हारा जो पुरुष है सो शोक से रहित होजाता

है शोक नाम अज्ञान से पैदा हुआ जो संसार उसका है उस संसार को आत्मवेत्ता तर जाता है तात्पर्य यह है कि अज्ञानी संसार को सत्य जान कर उसकी चिंता में डूब जाता है और ज्ञानी उसको मिथ्या जानकर उसकी चिंता में नहीं डूबता।

शंका—आपने कहा जो तैत्तिरीय उपनिषद् का वाक्य उसमें ब्रह्मज्ञान को पर प्राप्ति में कारणता प्रतीत होती है आनंद प्राप्ति में कारणता नहीं प्रतीत होती।

उत्तर—ब्रह्मज्ञान को आनंद की प्राप्ति की कारणता कहने हारे तैत्तिरीय उपनिषद् के वाक्य को सुन ? तहां श्रुतिः (सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश संभूत इत्यादि) अर्थ–ब्रह्म सत्य है चैतन्य रूप है और अनंत है ब्रह्म वेत्ताओं करके प्राप्त होने योग्य सच्चिदानंद रूप आत्मा से आकाश पैदा हुआ इत्यादि, इस प्रकार से कहा जो आत्मा है सो रस रूप है अर्थात् आनंदरूप है उस आनंदरूप ब्रह्म को ब्रह्म अहं अस्मि इस ज्ञान से प्राप्त होकर अपरिच्छिन्न निरतिशय सुख वाला होता है ब्रह्म और आत्मा की एकता ज्ञान से बिना और साधनों से अपरिच्छिन्न निरतिशय सुख को नहीं प्राप्त होता॥ २॥

प्रतिष्ठां विंदते स्वस्मिन् यदा स्यादथ सोऽभयः ॥
कुरुतेऽस्मिन्नंतरं चेदथ तस्य भयं भवेत् ॥३॥

अर्थ—जिस काल में जिज्ञासु गुरु के पास जाकर श्रवण करता है और उसके मनन निदिध्यासन को कर के ब्रह्म अहं अस्मि ऐसी दृढ़ संशय विपर्यय से रहित स्थिति को प्राप्त होता है ब्रह्म में तब भय से रहित होजाता है भय का कारण नष्ट होने पर भय से रहित होता है भय का कारण अपने से भिन्न दूसरी वस्तु होती है तात्पर्य यह है कि सब जगत् को झूंठा जानने से भय नष्ट हो जाता है जैसे स्वप्न से जागे पुरुष को स्वप्न के सिंह सर्प चोर आदि का भय नष्ट हो जाता है जिस ब्रह्म में स्थिति से भय का नाश होता है उस ब्रह्म का स्वरूप सुन, ब्रह्म इंद्रियों का विषय नहीं और जैसे मन प्राण आदि ममता का विषय होते हैं मेरे प्राण मेरा मन इस प्रतीति करके तैसे ब्रह्म ममता का विषय नहीं क्यों कि ब्रह्म अपना स्वरूप है और ब्रह्म का शब्द से कथन नहीं होता और उसका आधार भी कोई नहीं वह अपनी महिमा में स्थित है इस अर्थ में ज्ञानवानों का अनुभव प्रमाण है ऐसे ब्रह्म में जब जिज्ञासु स्थिति को प्राप्त होता है उसी काल में मोक्ष रूप ब्रह्म स्वरूप हो जाता है ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मरूप होता है ऐसे श्रुति कहती है और जिस काल में यह पुरुष अदृश्यतादि गुणों वाले आत्म रूप ब्रह्म में थोड़ासा भी

भेद देखता है यह मेरा उपास्य है मैं इसका उपासक हूं जब ऐसे भेद को परमात्मा में देखता है उसी काल में तिस भेद देखने हारे पुरुष को भय प्राप्त होता है ॥३॥

वायुः सूर्यो वन्हिरिंद्रो मृत्युर्जन्मांतरेंतरम् ॥
कृत्वाधर्मं विजानंतोऽप्यस्माद्भीत्या चरंति हि ॥ ४ ॥

अर्थ—भेद देखने हारों को भय प्राप्त होता है, इस अर्थ के दृढ करने को ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञानसे रहित बड़े प्रताप वाले देवताओं को भी भयकी प्राप्ति होती है, इस अर्थ को दिखाने के लिये तैत्तिरीय उपनिषद् में पवन, सूर्य, अग्नि, इंद्र यम, इनको भय कथन करा है, पूर्व जन्म में ये पाँचो देवता परमात्मा का और अपना भेद देखते भये हैं। इस से इस पवन आदि जन्म को धार कर परमात्मा के भय से विचरते हैं, धर्मको जानते हुए भी यह अर्थ कठवल्ली उपनिषद् में भी कहा है। तहाँ श्रुतिः (भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः भयादिंद्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः) अर्थ—इस परमात्मा के भय से अग्नि जलतो है और भय से सूर्य तपता है और भय से इंद्र वर्षा आदि व्यवहार करता है और पवन चलता है और पांचवा मृत्यु अपना कृत्य करता है जो देवताओं को भी भेद देखने से भय की प्राप्ति होती है, तो मनुष्यों को भेद के देखने से भय प्राप्त होता है, इसका तो क्या कहता है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म में भेद दृष्टि को त्यागकर मैं ब्रह्म हूं, और सब जगत् ब्रह्म है 'ऐसी निष्ठा करनी चाहिये इस निष्ठा से विना दुःखों का अभाव नहीं होता ॥ ४ ॥

आनंदं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ॥
एतमेव तपेन्नापा चिंता कर्माग्निसँभृता ॥ ५ ॥

शंका—आत्मवेत्ता शोक को तर जाता है, इत्यादि जो वचन आपने कहे हैं उनमें ब्रह्मानंद के ज्ञान को अनर्थों के अभाव की कारणता प्रकट नहीं प्रतीत होती।

उत्तर—ब्रह्मानंद के ज्ञान को अनर्थों के अभाव की कारणताके प्रकट कथन करने हारे वचन को सुन, ब्रह्म का स्वरुप जो आनंद है, उसके जानने हारा पुरुष किसी से भय को प्राप्त नहीं होता, इस लोक में भय के कारण सिंह सर्प चोर आदि हैं, और परलोक में पापादिक हैं, सिंह सर्प चोर आदि भय के कारण देहाध्यास से होते हैं, सो देहाध्यास ज्ञानवान् का ज्ञान से नष्ट हो जाता है, और पापों का भय पाप करने हारे को होता है, पापों का करना काम क्रोध आदि से होता है, काम क्रोध आदि द्वैत प्रतीति से होते हैं, और द्वैत प्रतीति अज्ञान से होती है तिस से ज्ञान करके अज्ञान का नाश होने से ज्ञानवान् को पापों का भय नहीं होता।

शंका—ज्ञानवान् को पाप आदि का भय नहीं होता। यह बात आप ने किस से जानी।

उत्तर—यह बात हम ने बृहदारण्यक उपनिषद् के वाक्य से जानी है। तहाँ श्रुतिः। (एत थ्रं वहा व न तपति कि मह थ्रं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवमिति) अर्थ—ज्ञानवान् को पुण्य पाप कर्म रूप अग्नि नहीं तपाती। सो पुण्यपाप दो प्रकार से तपाते हैं। एक तो यह है कि मैं पुण्य क्यों न करता भया। इस प्रकार पुण्य न करा हुआ तपाता है। और पाप करा हुआ तपाता है। मैं पाप को कर्ता भया। इस प्रकार से अज्ञानी चिंता करके सदा पड़ा तपता है ॥ ५ ॥

एवं विद्वान् कर्मणी द्वे हित्वाऽऽत्मानं स्मरेत्सदा ॥
कृते च कर्मणी स्वात्मरूपेणैवैप पश्यति ॥ ६ ॥

अर्थ—ज्ञानवान् को पुण्य पाप नहीं तपाते इस में कारण क्या है? यह पुण्य पापको मिथ्या बुद्धिसे छोड़ देता है। और आत्माको सदा चिंतन करता है, इससे उस को पुण्य पाप नहीं तपाते । श्रुतिः।(सयश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः)

अर्थ—जो सच्चिदानंद वस्तु सूर्य में स्थित है। और जो सच्चिदानन्द वस्तु पुरुष में स्थित है। सो एक है। इस प्रकार जानता हुआ स्थित जो पुरुष है। आत्मा जो सर्व अंतः करण वृत्तियों का प्रकाशक है। उसको सच्चिदानन्द ब्रह्म रूपता करके चिंतन करता है। ज्ञानवान् देह इन्द्रिय मन की प्रवृत्ति से पैदा भये जो पुण्यपाप कर्म। उन को आत्मरूपता से देखता है। क्यों कि ज्ञानवान् का यह निश्चय होता है। जो दृष्ण करके दृश्य प्रतीत होता है। सो सब आत्मा है। तिस कारण से आत्मरूपता को प्राप्त हुए पुण्य पाप। पुण्यपाप के अभिमान से रहित आत्मरूप ज्ञानवान् को नहीं तपाते। जैसे सूर्य सूर्य को नहीं तपाता। और अज्ञानी को पुण्यपाप तपाते हैं। जैसे सूर्य ज्येष्ठ आषाढ़ में पृथिवी को तपाता है। क्योंकि पृथिवी सूर्य से भिन्न है। तैसे पुण्य पाप कर्म देहाभिमान अज्ञानी से भिन्न हैं। इससे उसको तपाते हैं ॥ ६ ॥

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयंतेचास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ७ ॥

शंका—यह जो आपने कहा है कि ज्ञानी पुण्य पाप को आत्मरूप देखता है तिससे उसको ये तपाते नहीं। सो अयुक्त है। क्योंकि पुण्य पाप प्रतीत होवें तो उन को आत्मरूप देखना भी बने। सो तो पुण्य पाप अगणित हैं। जिससे जीवों के जन्म भी अगणित हैं। अनादि संसार में (नाभुक्तंक्षीयते कर्मकल्पकोटिशतैरपि)

अर्थ—पुण्य पाप का फल बे भोगे नष्ट नहीं होता। चाहे सैंकड़ों किरोड़ों कल्प बीचजाये' तौ भी। ऐसे शास्त्र कहता है। इस से जो बहुत काल के करे हुए कर्म हैं सो पुरुष को प्रतीत नहीं होते। तिस से उनका आत्मरूपता से चिंतन नहीं बनता। इस से उन कर्मों में चिंता करके ज्ञानवान् भी तपेगा।

उत्तर—तत्वज्ञान से कारण सहित सब कर्मों का नाश हो जाता है। जैसे रस्सी के ज्ञान से सर्प के विष की चिंता नहीं रहती। तैसे ज्ञानवान् को कर्मों की चिंता नहीं रहती। कर्मों की चिंता का कारण आत्मा और अनात्मा का तादात्म्याध्यास रूप हृदय की गांठ खुल जाती है। आत्मा को असंग जानने से। और अनात्मा का अत्यंता भाव जानने से। इसी से कर्मों का नाश हो जाता है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं। संचित। आगामी। प्रारब्ध। उन तीन प्रकार के कर्मों के बीच में संचित कर्म पुण्य पाप रूप नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि कर्मों का कारण अज्ञान ज्ञानवान् का नष्ट हो गया है। और उसके सब संशय क्षीण हो जाते हैं। उनका स्वरूप सुन। आत्मा देह आदि-रूप है अथवा उनसे भिन्न है। तो विचार से यह जाना कि आत्मा देह आदि से भिन्न है। क्योंकि जाग्रत् अवस्था के शरीर को छोड़ कर स्वप्न शरीर को ग्रहण कर उस में अहं अभिमान को प्राप्त होता है। जैसे जाग्रत् शरीर में अहं अभिमान था। तैसे दोनों शरीरों में अहं अभिमान को प्राप्त होता है। भिन्न २ काल में। तिस से किस शरीर साथ आत्मा का अभेद है और किस शरीर से भेद है। यह विचार कर कहो। तब विचार करने से यह निर्णय हुआ कि आत्मा दोनों शरीरों से भिन्न है। क्योंकि जाग्रत् शरीर का अभाव होने पर भी स्वप्न में आत्मा विद्यमान है। और स्वप्न शरीर का अभाव होने पर भी जाग्रत् अवस्था में आत्मा विद्यमान है। तिस से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा देह से भिन्न है। इसी तरह आत्मा इंद्रिय प्राण आदि से भिन्न है। ऐसे निश्चय होने पर भी अज्ञान को और संशय उत्पन्न होता है। आत्मा कर्ता भोक्ता है अथवा असंग निर्विकार है। यह निश्चय होने पर भी। उस को और संशय पैदा होता है। आत्मा ब्रह्मरूप है अथवा ब्रह्म से भिन्न है। आत्मा ब्रह्मरूप है। ऐसे निश्चय होने पर भी उसको और संशय पैदा होता है। आत्मा के ज्ञान से मोक्ष होती है या नहीं होती। आत्मज्ञान से मोक्ष होती है। इस निश्चय के होने पर भी उस को और संशय पैदा होता है। आत्म ज्ञान कर्म उपासना सहित मोक्ष का कारण है या केवल मोक्ष का कारण है। इत्यादि सब संशय छेदे जाते हैं। जैसा जिस वस्तु का स्वरूप है। तैसे उस वस्तु के जानने पर फिर उस में संशय विपर्यय नहीं होता ॥ ७ ॥

तमेव विद्वानत्येति मृत्युं पंथा न चेतरः ॥
ज्ञात्वा देवं पाशहानिः क्षीणैः क्लेशैर्न जन्मभाक् ॥ ८ ॥

शंका—यह जो आप कहते हो कि केवल ज्ञान से मोक्ष होती है। सो अयुक्त है। क्योंकि श्रुतिस्मृति रूप शास्त्र केवल कर्मों को या ज्ञान उपासना सहित कर्मों को। मोक्ष कारणता कहता है। केवल कर्मों की मोक्ष कारणता के कहने हारी ईशावास्य उपनिषद् की श्रुति है। सो यह कहती है। (कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे)॥ अर्थ—सौ वर्ष पर्यन्त पुरुष की आरबल है। सो सौ वर्ष पर्यन्त कर्मों को करता हुआ जीवने की इच्छा करे। इस प्रकार कर्म करने हारे पुरुष को कर्म लिपायमान नहीं होते। अर्थात् पुरुष मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। कर्मों के करने से बिना और किसी साधन कर के कर्मों के लेप का अभाव नहीं होता। इस श्रुति से केवल कर्म मोक्ष का कारण प्रतीत होते हैं। और गीता में भी कहा है। (कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः)। अर्थ—केवल कर्म से ही बहुतेरे जनक आदि राजे संसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। संसिद्धि नाम मोक्ष का है। ज्ञान सहित कर्म उपासना मोक्ष का कारण है। इस में भी ईशावास्य उपनिषद की श्रुति प्रमाण है। उस में यह कहा है। (विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय ँ सह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुत इत्यादि)। अर्थ—विद्या को और अविद्या को विद्या का अर्थ ब्रह्म विद्या है। और अविद्या का अर्थ कर्म उपासना है। इन दोनों को जो एकट्ठा जानता है। अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति होने पर भी जो पुरुष कर्म उपासना को करता है। सो पुरुष कर्म उपासना करके पापों को और विक्षेप को तर जाता है। और ब्रह्म विद्या से विदेह कैवल्य को प्राप्त होता है। और स्मृति में भी यह कहा है।

यथान्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम् ॥
एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत् ॥ १ ॥

अर्थ—जैसे अन्न के साथ मिला हुआ सहद और सहत के साथ मिला हुआ अन्न। सो बहुत उत्तम औषध है। तैसे तप और ब्रह्म विद्या दोनों मिले हुए परम औषध हैं तप का अर्थ यह है कि मन और इंद्रियोंकी एकाग्रता रूप उपासना और वर्णाश्रम का धर्म रूप जो कर्म हैं। तिस से केवल ज्ञान को मोक्ष कारणता कहनी अयुक्त है। उत्तर केवल ज्ञान से मोक्ष होती है। ज्ञान सहित कर्म उपासना से मोक्ष नहीं होती। जैसे दीपक से अन्धकार नष्ट होता है। दीपक सहित कर्म उपासना से अन्धकार नष्ट नहीं होता। और श्रुतिस्मृति शास्त्र का विरोध भी नहीं। क्योंकि श्रुतिस्मृति का अर्थ

और है। श्रुति में जो कहा है कि कर्म लियायमान नहीं होते। उस का अर्थ यह है पाप कर्म लियायमान नहीं होते। तात्पर्य यह है कि पुरुष जो सारी उमर तक कर्मों को करता है। उस को नरक प्राप्त नहीं होते। उस का यह अर्थ नहीं है कि मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि जीव के संचिता कर्म बहुत हैं। उन से अज्ञानी को जन्म की प्राप्ति अवश्य होगी। और गीता में संसिद्धि शब्द करके ज्ञान का साधन चित्त की शुद्धि की है। तिस से केवल कर्म मोक्ष का कारण नहीं। और ज्ञान सहित कर्म उपासना भी मोक्ष का कारण नहीं। क्योंकि विद्या शब्द करके उपासना का कथन है। निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार का कथन नहीं तिस से निर्गुण ब्रह्म साक्षात्कार कर्मों के साथ मिल कर के मोक्ष का कारण नहीं। जिस से शास्त्र में ज्ञान से भिन्न और साधनों को मोक्ष कारणता का निषेध करा है। सो शास्त्र सुन। श्वेताश्वतर उपनिषद् की श्रुति कहती है। (तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय) अर्थ– एक उस आत्मा को ही जान कर मृत्यु को उलंघ जाता है। अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। मोक्ष की प्राप्तिवास्ते ज्ञान से भिन्न और कोई मार्ग नहीं। तात्पर्य यह है कि केवल कर्मों से भी मोक्ष नहीं होती। और ज्ञान सहित कर्मों से भी मोक्ष नहीं होती। शंका आप ने जो श्रुतियाँ कही है। उन में प्रधानता से यह अर्थ प्रतीत होता है कि ब्रह्मज्ञान के प्राप्त होने पर इस लोक में दुःखों का अभाव हो जाता है। और वे ब्रह्मज्ञान के इस लोक में दुःख प्राप्त होते हैं। पर ब्रह्मज्ञान से परलोक के दुःखों का अभाव तो नहीं प्रतीत होता। तिस से परलोक के दुःखों की चिंता ज्ञानवान् को सतावेगी।

उत्तर—परलोक के दुःखों की चिंता उस को नहीं सताती। परलोक नाम इस शरीर को छोड़ कर और जन्म की प्राप्ति का है। सो और जन्म की प्राप्ति अज्ञान से होती है। और ज्ञानी को और जन्म की प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि अज्ञान उसका नष्ट हो गया है ज्ञान से। ऐसे श्वेताश्वतर उपनिषद् की श्रुति कहती है। (ज्ञात्वादेवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः) अर्थ– देव जो स्वप्रकाश ब्रह्म अपना आप है उस के अपरोक्ष अनुभव को कर स्थित हुवा जो ज्ञानवान् है। उस की काम क्रोध आदि रूप सब फांसी नष्ट हो जाती हैं। उन के नष्ट होने से और जन्म का कारण कर्मों का आरंभ नहीं होता और संचित कर्म ब्रह्म ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं। इस से ज्ञानवान् और जन्म को प्राप्त नहीं होता। तिस से उस को परलोक के दुःखों की चिंता भी नहीं होती॥ ८॥

देवं मत्वा हर्षशोकौ जहात्यत्रैव धैर्यवान् ॥
नैनं कृताकृते पुण्यपापे तापयतः क्वचित् ॥ ९ ॥

शंका—शोक तरण आदि फल सुना ही है उस का अनुभव नहीं होता । क्योंकि ज्ञानवानों की भी इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के दूर करने वास्ते प्रवृत्ति दीखती है ।

उत्तर—दृढ़ अपरोक्ष ज्ञानियों की इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट निवृत्ति के लिये प्रवृत्ति नहीं होती । ऐसे कठवल्ली उपनिषद् की श्रुति कहती है । (अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति) अर्थ—ब्रह्मचर्य आदि साधन संयुक्त पुरुष सच्चिदानन्दरूप परमात्मादेव को संशय विपर्यय से रहित आत्मरूप जान कर । हर्षशोक को इसी जन्म में त्याग देता है । और पूर्व यह जो कहा था कि कर्म रूप अग्नि से पैदा हुई चिंता ज्ञानवान् को नहीं सताती । इस में कुछ अधिकता के कहने हारी बृहदारण्य की श्रुति है । उस का अर्थ सुन । कृताकृते तपतः) अर्थ— पुण्यपापरूप कर्म अज्ञानी को दो प्रकार से तपाता है । करा हुवा पापकर्म शोक कर के सताता है । और न करा हुआ पाप हर्ष कर के सताता है और पुण्य करा हुआ हर्ष करके सताता है । और न करा हुआ शोक करके तपाता है । ताप नाम चित्त के विकार का है । तिस से जैसे शोकरूप चित्त का विकार ताप है । तैसे हर्ष रूप चित्त का विकार ताप है । यह दोनों प्रकार का पाप कर्म करके ताप और दोनों प्रकार का पुण्य कर्म करके ताप ज्ञानवान् को नहीं तपाता । क्योंकि ज्ञानवान् सब विकारों से रहित शुद्ध ब्रह्मरूप अपने आप को जानता ॥ ९ ॥

इत्यादि श्रुतयो बह्व्यः पुराणैः स्मृतिभिः सह ॥
ब्रह्मज्ञानेऽनर्थहानिमानंदंचाप्यघोषयन् ॥ १० ॥

अर्थ—और केन उपनिषद् में यह कहा है । (इह चेद् वेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिह वेदीन्महती विनष्टिः य एतद्विदुरमृतास्ते भवंत्यथेतरे दुःखमेवापि यान्ति तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यत इत्यादि) । अर्थ—अति दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर परमात्मा को आत्म रूप जाने तब जन्म मरण से रहित परमात्मरूप सत्य हो जाता । और जो मनुष्य शरीर धार कर परमात्मा को आत्म रूप न जाने तब बड़े कष्टों को प्राप्त होता है । अर्थात् चौरासी लक्ष योनियों में भटकता फिरता है । और जो पुरुष ब्रह्म को आत्म रूप जानते हैं । वे मोक्ष को प्राप्त होते हैं । और जो पुरुष ब्रह्म को आत्मरूप नहीं जानते । वे दुःख पाते हैं । सुख को नहीं प्राप्त होते । और उस ब्रह्म को देवताओं में जो २ देवता जानता भया आत्मरूपता कर के । सो २

देवता ब्रह्म रूप हो जाता भया । तैसे ऋषियों में जो २ ऋषि ब्रह्म को आत्म रूप जानता भया । सो २ ऋषि ब्रह्म रूप हो जाता भया । तैसे मनुष्यों में जो २ मनुष्य ब्रह्म को आत्म रूप जानता भया । सो २ मनुष्य ब्रह्म रूप हो जाता भया । उस परमात्मा को संशय विपर्यय से रहित अपरोक्ष जान कर पुरुष मृत्यु के मुख से छूट जाता है । तात्पर्य यह है कि जो जन्म को प्राप्त होता है तो मृत्यु का भोजन होता है । और ज्ञानवान् वर्तमान शरीर को त्याग कर फिर जन्म नहीं लेता । तिस से मृत्यु का भोजन नहीं होता । किन्तु अविनाशी ब्रह्म रूप हो जाता है । जो मृत्यु को भी ग्रस लेता है । इत्यादि बहुत श्रुति पुराण और स्मृतियों के बचन सहित यह कहती हैं । ब्रह्म ज्ञान के होने पर दुःख शोक चिन्ता रूप अनर्थों का अभाव हो जाता है । और परमानन्द की प्राप्ति होती है । सो स्मृति और पुराण के वचन सुन । जो आत्मज्ञान से दुखों के अभाव को सुखों की प्राप्ति को कहते हैं । (सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि संपश्य- आत्मयाजी वैस्वाराज्यमधिगच्छति ॥ १ ॥) अर्थ--सब भूतों में सच्चिदानन्द आत्मा को और सच्चिदानन्द आत्मा में कल्पित सब भूतों को जो संशय विपर्यय से रहित देखता है । उसका नाम आत्मया जी है । अर्थात् सो पुरुष आत्म यज्ञ के करने हारा है । ऐसा जो आत्मयाजी पुरुष है सो चक्रवर्ति राज्य को प्राप्त होता है । तात्पर्य यह है कि जैसे चक्रवर्ती राजा के ऊपर किसी का हुक्म नहीं होता । तैसे ब्रह्मवेत्ता के ऊपर किसी देवता का हुक्म नहीं होता ॥ १ ॥ (क्षेत्रज्ञस्यात्मविज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता) अर्थ—जीव की आत्मा के ज्ञान से परम शुद्धि होती है । तात्पर्य यह है कि अज्ञान रूप मैल का ज्ञान से हो अभाव होता है । और जब तक अज्ञान है । तब तक परम शुद्धि नहीं होती ॥ १० ॥

आनंदस्त्रिविधो ब्रह्मानंदो विद्यासुखं तथा ॥
विषयानंद इत्यादौ ब्रह्मानंदो वि विच्यते ॥ ११ ॥

शंका—ज्ञान से ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है । तिस से मालूम होता है कि और भी कोई आनन्द है । जैसे चिट्टा वस्त्र इस कहने से और भी लाल पीला आदि वस्त्र प्रतीत होता है । जो और लाल पीला आदि वस्त्र न होवे तो चिट्टा कहना नहीं बनता । सो आनन्द कितने प्रकार का है और कैसा है ।

उत्तर—आनन्द तीन प्रकार का है । एक ब्रह्मानन्द । दूसरा विद्यानन्द । तीसरा विषयानन्द । विद्यानन्द और विषयानन्द ये दोनों ब्रह्मानन्द से पैदा होते हैं । इस में ब्रह्मानन्द प्रधान है । तिस से प्रथम तीन अध्याय कर के ब्रह्मानन्द का निरूपण करते हैं ॥ ११ ॥

भृगुः पुत्रः पितुः श्रुत्वा वरुणाद्ब्रह्मलक्षणम् ॥
अन्नप्राणमनोबुद्धीस्त्यक्त्वाऽऽनंदं विजज्ञिवान् ॥ १२ ॥

इस ब्रह्मानन्द के निरूपण के आदि में तैत्तिरीय उपनिषद् की श्रुति को विचार ने पर ब्रह्मानन्द रूप प्रतीत होता है। सो उस के विचार को सुन। वरुण नाम देवता का भृगुनाम पुत्र था। सो ब्रह्मजिज्ञासा से वरुण के पास आया। और कहने लगा कि हे पिता जी! मुझे ब्रह्म का उपदेश करो। तब वरुण उस के ताँई ब्रह्म का उपदेश करने लगा। तहां श्रुतिः। (यतो वा इमानि भूतानि जायंते येन जातानि जीवंति यत्प्रयंत्यभि संविशंति तद्धि जिज्ञासस्व तद्ब्रह्म) अर्थ- हे पुत्र! जिससे ये सब भूत पैदा होते हैं और उत्पन्न हुए जिस करके जीवते हैं और मरे हुवे जिस में लय होजाते हैं। उस के जानने की इच्छा कर सो ब्रह्म है। ऐसे ब्रह्म के लक्षण को सुन कर भृगु अन्नमय आदि कोशों में ब्रह्म के लक्षण का अभाव निश्चय कर उन की अब्रह्मरूपता को निश्चय करता भया। पीछे से आनन्द मय कोश का अधिष्ठान आनन्दमय कोश का पाँचवां अवयव पुच्छरूप बिंबरूपानन्द को ब्रह्मरूप कर के जानता भया। (ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा) अर्थ-ब्रह्म इस आनन्दमय आदि जगत् की पूंछ है और ब्रह्म ही इसका अधिष्ठान है जिस से ब्रह्म का लक्षण जगत् की उत्पत्तिस्थितिलयकारण रूप बिंबरूप आनन्द में बनता है। आनन्दमय कोश के पांच अवयव हैं। सो ये हैं। वाँछित विषय के दर्शन से पैदा हुआ जो सुख है सो आनन्द मय का शिर है। और वांछित विषय के लाभ से जो सुख पैदा होता है सो आनन्दमय का दक्षिण पक्ष है। इष्ट पदार्थ के भोग से पैदा हुआ जो आनन्द है। सो प्रमोद है। सो प्रमोद उत्तर पक्ष है। और प्रिय मोद प्रमोद इन सब में सामान्य रूप से व्यापक जो आनन्द है। सो आनन्द उदर है। सब जगत् का कारण रूप ब्रह्म तथा अधिष्ठानरूप ब्रह्म आनन्द मय पक्षी का पुच्छ है। तथा प्रतिष्ठा है ॥ १२ ॥

आनंदादेव भूतानि जायंते तेन जीवनम् ॥
तेषां लयश्च तत्रातो ब्रह्मानंदो न संशयः ॥ १३ ॥

शंका—भृगु आनन्द में ब्रह्म लक्षण को कैसे जानता भया।

उत्तर—तैत्तिरीय उपनिषद् की श्रुतिः। (आनन्दाध्द्येव खल्विमानि भूतानि जायंते आनंदेन जातानि जीवन्ति आनंदं प्रयंत्यभिसंविशंति) अर्थ-आनन्द से ही सब भूत पैदा होते हैं। अर्थात् स्त्री पुरुष के संयोग रूप आनन्द से प्राणी पैदा होते हैं। और विषय भोग है कारण जिस का ऐसा जो आनन्द उस से प्राणी जीवते हैं। और

सुषुप्ति में स्वरूप आनन्द में लीन होजाते हैं। जिससे सुषुप्ति में आनन्द से भिन्न किसी पदार्थ का अनुभव नहीं होता। इस से सुषुप्ति के समय आनन्द में सब प्राणी लीन होजाते हैं यह जाना जाता है। इस प्रकार आनन्द में ब्रह्म के लक्षण को भृगु जानता भया। इस कारण से आनन्द रूप ब्रह्म है। सो सुषुप्ति काल में सब के अनुभव करके प्रतीत होता है। इस से उसमें संशय करना न चाहिये। इस प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद्‌ की श्रुति के विचार से ब्रह्म की आनन्दरूपता प्रतीत होती है ॥ १३ ॥

भूतोत्पत्तेः पुरा भूमा त्रिपुटी द्वैतवर्जनात् ॥
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी प्रलये हि नो ॥ १४ ॥

अर्थ—और छांदोग्य उपनिषद्‌ की श्रुति के विचार से भी ब्रह्म की आनन्द रूपता प्रतीत होती है। उस को सुन। छांदोग्य के सातवें अध्याय में सनत्कुमार और नारद का संवाद है। उस में ब्रह्म को भूमा कहा है। उस भूमा का यह लक्षण है। तहाँ श्रुतिः (यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा) अर्थ—जिस में स्थित हुआ अपने से भिन्न को न देखता है। न सुनता है। न जानता है। सो भूमा है तिस से यह सिद्ध हुआ कि भूमा आनन्द है, जिस से सुषुप्ति में स्थित हुआ, अपने से भिन्न न देखता है न सुनता है न जानता है, आकाश आदि भूतों की उत्पत्ति से पूर्व, और उन के कार्य जरायुज अंडज आदि की उत्पत्ति से पूर्व ज्ञाता ज्ञानज्ञेयरूप त्रिपुटी के अभाव से भूमा था, भूमा का अर्थ देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित परमात्मा, ज्ञाता ज्ञानज्ञेयरूप त्रिपुटी जगत् की उत्पत्ति से पूर्व प्रलयावस्था में नहीं है, यह बात सब वेदांतों में प्रसिद्ध है ॥ १४ ॥

विज्ञानमय उत्पन्नो ज्ञाता ज्ञानं मनोमयः ॥
ज्ञेयाः शब्दादयो नैतत्त्रयमुत्पत्तितः पुरा ॥ १५ ॥

अर्थ—अब ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय का स्वरूप दर्शाते हैं, परमात्मा से पैदा हुआ जो बुद्धि उपाधिक जीव है विज्ञानमय जिस का नाम है सो ज्ञाता है। और मन में जो चैतन्य प्रतिबिंब भाव को प्राप्त हुआ है, और मनोमय है नाम जिस का सो ज्ञान है। और शब्द स्पर्श आदि पंच विषय ज्ञेय हैं। सो प्रकट हैं। ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय ये तीनों कार्यरूप होने से अपनी उत्पत्ति से पूर्वकारण से भिन्न नहीं थे। जैसे घट उत्पत्ति से पूर्व मृत्तिका से भिन्न नहीं ॥ १५ ॥

त्रयाभावे तु निर्द्वैतः पूर्ण एवानुभूयते ।
समाधिसुप्तिमूर्छासु पूर्णः सृष्टेःपुरा तथा ॥१६॥

अर्थ—इन तीनों का अभाव होने पर द्वैत से रहित पूर्णआत्मा अनुभव करा जाता है। ज्ञानवानों ने समाधि अवस्था में और सब जीवों ने सुषुप्ति और मूर्छा

अवस्था में त्रिपुटी से रहित आत्मा का अनुभव करा है जिससे सुषुप्ति से उठ कर पुरुष यह कहता है, मेरे को इतना काल किसी वस्तु की कुछ खबर न रही, तिस से द्वैत के न देखने द्वारा द्वैत से रहित आत्मा सुषुप्ति में और मूर्छा में सब को अनुभव होता है।

शंका—सुषुप्ति और मूर्छा में द्वैत से रहित अद्वैत आत्मा का निश्चय हो पर प्रसंग में क्या आया।

उत्तर—प्रसंग में यह आया कि आत्मा सुषुप्ति में ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय रूप परिच्छिन्नता के कारण से रहित पूर्ण है। तैसे जगत् की उत्पत्तिसे पूर्व भी परिच्छेद का कारण जो त्रिपुटी है, उसका अभाव होने से आत्मा पूर्ण है ॥१६॥

यो भूमा स सुखं नाल्पे सुखं त्रैधा विभेदिनि ॥
सनत्कुमारः प्राहैवं नारदायातिशोकिने ॥ १७ ॥

शंका—हो ब्रह्म की पूर्णता पर ब्रह्मकी आनंदरूपता कैसे सिद्ध हुई।

उत्तर—जो भूमा है सो सुख है। परिच्छिन्न वस्तु में सुख नहीं। ऐसे अन्वय व्यतिरेक करके भूमा की सुख रूपता सनत्कुमार ने नारद के ताईं कही है। जो पूर्व कहा है द्वैत से रहित भूमा सो सुखरूप है। क्योंकि अद्वितीय में दुःख के कारण का अभाव है, और देश काल वस्तु के परिच्छेद वाली जो परिच्छिन्न वस्तु है, उस में सुख नहीं।

शंका—नारद को सनत्कुमार के शिष्य होने में क्या कारण है।

उत्तर—शोक के दूर करने को नारद सनत्कुमार का शिष्य हुआ ॥ १७ ॥

सपुराणान् पंचवेदान् शास्त्राणि विविधानि च ॥
ज्ञात्वाऽप्यनात्मवित्त्वेत नारदोऽतिशुशोच ह ॥ १८ ॥

अर्थ—नारद को शोक क्यों हुआ? यह आत्मज्ञान से रहित था इस से अतिशोक को प्राप्त हुआ। पुराण सहित सब वेदों को और अनेक प्रकार के शास्त्रों को पढ़कर भी आत्मा के न जानने से नारद बहुत शोक करता भया ॥१८॥

वेदाभ्यासात्पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता ॥
पश्चात्त्वभ्यासविस्मारभंगगर्वैश्च शोकिता ॥ १९ ॥

शंका--वेदशास्त्र के ज्ञान को शोक के नाश की कारणता प्रसिद्ध है, सो नारद को अतिशोक का कारण क्यों हुआ।

उत्तर--आत्मज्ञान से रहित को वेदशास्त्र का पढ़ना अतिशोक का कारण है। क्योंकि अज्ञानी को वेदशास्त्र के पढ़ने से पूर्व तीन ताप होते हैं। अध्यात्म अधिभूत अधिदैव और वेद शास्त्र के पढ़ने से चार ताप और होते हैं, एक ग्रंथ के पाठ का पढ़ना, और दूसरा भूल जाने का ताप, तीसरा आप से अधिक पढ़े हुए करके मान के भंग का ताप, और चौथा अपने से थोड़ा पढ़े हुए को देखकर अभिमान रूप ताप ये चारों ताप पढ़े हुए बहिर्मुखों को अधिक होते हैं, जैसे घृत दूध आदि पदार्थ अरोगी को पुष्टि कारक होते हैं, और रोगी को रोग के बढ़ाने हारे होते हैं, तैसे वेदशास्त्र का पढ़ना विवेकी को तापों के अभाव का कारण है, और बहिर्मुख अविवेकी को तापों के बढ़ाने का कारण है ॥ १६ ॥

सोऽहं विद्वन्मशोचामि शोकपारं नयात्र माम् ॥
इत्युक्तः सुखमेवास्य पारमित्यभ्यधादृषिः ॥ २० ॥

शंका--सर्व अर्थों के जानने हारे नारद को इस प्रकार अधिक शोक हुआ, यह आपने कैसे जाना।

उत्तर--नारद के वचन से हम जानते हैं। (सोऽहंभगवः शोचामीत्यादि) यह नारद का वचन है, सनत्कुमारों के आगे। हे भगवन्! वेदशास्त्र को पढ़कर भी आत्मज्ञान से रहित जो मैं हूं, सो शोक करता हूं, मुझे शोक से पार लगाओ, अर्थात् मुझे शोक से रहित करो, इस प्रकार शोक की निवृत्ति के उपाय को पूछना भया, सनत्कुमार ऋषि नारदके ताईं यह कहने लगे कि हे नारद सुख रूप ब्रह्म का ज्ञान शोक निवृत्ति का उपाय है, सो ब्रह्म कैसा है भूमा है, अर्थात् देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित है ॥ २० ॥

सुखं वैषयिकं शोकसहस्रेणावृतत्वतः ॥
दुःखमेवेति मत्वाऽऽह नाल्पेऽस्ति सुखमित्यसौ ॥ २१ ॥

शंका--यह जो आपने कहा है कि परिच्छिन्न वस्तु में सुख नहीं सो अयुक्त है, क्योंकि पुष्प माला आदि विषयों में पैदा हुए सुख बहुत प्रकार के दीखते हैं।

उत्तर--पुष्पमाला आदि विषयों को दुःख के संबंध वाला होने से दुःख रूपता सनत्कुमार मुनी को निश्चित है, जैसे विष वाले लड्डुओं की विषरूपता है, तिस से अल्प वस्तु में सुख नहीं, जिस से विषयों में पैदा हुआ सुख हजारों शोकों करके युक्त

है, इससे दुःखरूप है, ऐसा अपने मनमें मानकर सनत्कुमार मुनीश्वर नारद के ताईं बोले कि अल्प वस्तु में सुख नहीं, अल्प का अर्थ परिच्छिन्न है ॥ २१ ॥

ननु द्वैते सुखं माभूदद्वैतेऽप्यस्ति नो सुखम् ॥
अस्तिचेदुपलभ्येत तथा च त्रिपुटी भवेत् ॥ २२ ॥

शंका—जो द्वैत में सुख नहीं। तो मत हो पर अद्वैत में भी सुख नहीं और जो अद्वैत में सुख होवे, तो विषय सुख की नाईं प्रतीत होवे। जिससे नहीं प्रतीत होता इससे अद्वैत में सुख नहीं है और जो कहो कि अद्वैत में सुख प्रतीत होता है, तो त्रिपुटी प्राप्त होवेगी। एक प्रतीत होने योग्य सुख, दूसरा जिसको सुख प्रतीत होता हो सो पुरुष तीसरी सुखकी प्रतीति, ऐसे त्रिपुटी के होने पर अद्वैत का अभाव होगा ॥ २२॥

मास्त्वद्वैते सुखं किं तु सुखमद्वैतमेव हि ॥
किं मानमिति चेन्नास्ति मानाकाँक्षा स्वयं प्रभे ॥ २३ ॥

उत्तर—मत हो अद्वैत में सुख। जिस कारण से अद्वैत सुखरूप है, इस से अद्वैत सुख का अधिकरण नहीं।

शंका—अद्वैत सुखरूप है। इस में क्या प्रमाण है।

उत्तर—प्रमाण का प्रश्न तो पर प्रकाश वस्तु में होता है। और सुखरूप अद्वैत स्वप्रकाश है। तिस से उस में प्रमाण का प्रश्न नहीं बनता ॥ २३ ॥

स्वप्रभत्वे भवद्वाक्यं मानं यस्माद्भवानिदम् ।
अद्वैतमभ्युपत्यास्मिन्सुखं नास्तीति भाषते ॥ २४ ॥

शंका—अद्वैत स्व प्रकाश है इस में भी क्या प्रमाण है।

उत्तर—अद्वैत की स्वप्रकाशता में तेरा वचन प्रमाण है। जिस कारण से तू प्रमाण से बिना अद्वैत को अङ्गीकार कर उस में सुख नहीं बनता यह कहता है। इस कारण से अद्वैत स्वप्रकाश है ॥ २४ ॥

नाभ्युपैम्यहमद्वैतं त्वद्वचोनूद्य दूषणम् ।
वच्मीति चेत्तदा ब्रूहि किमासीद्द्वैततः पुरा ॥ २५ ॥

शंका—मैंने अद्वैतका अंगीकार नहीं करा। किंतु आपने कहा जो अद्वैत है। उसको फिर कह कर इस में दूषण कहा है। इस से मेरे वचन से अद्वैत की सिद्धी नहीं।

उत्तर—जो तू अद्वैत को नहीं मानता। तो हम तुझ से पूछते हैं। उसका उत्तर कहो। द्वैत की उत्पत्ति से पूर्व क्या था ॥ २५ ॥

किमद्वैतमुतद्वैत मन्यो वा कोटिरंतिमः ।
अप्रसिद्धो न द्वितीयो ऽनुत्पत्तेः शिष्यतेऽग्रिमः ॥ २६ ॥

अर्थ—अद्वैत था या द्वैत था अथवा इन दोनों से भिन्न कोई तीसरा पदार्थ था। द्वैत और अद्वैत से भिन्न तो कोई तीसरा पदार्थ लोक में प्रसिद्ध नहीं दीखता। और द्वैत की उत्पत्ति से पूर्व द्वैत नहीं बनता। जिस से द्वैत की उत्पत्ति पूर्व से द्वैत नहीं है। इस से द्वैत की उत्पत्ति से पूर्व अद्वैत तैंने अवश्य मानना चाहिये ॥ २६ ॥

अद्वैतसिद्धिर्युक्त्यैवनानुभूत्येति चेद्वद ।
निर्दृष्टांता सदृष्टांता वा कोटयन्तरमत्र नो ॥ २७ ॥

शङ्का—इस प्रकार अद्वैत की सिद्धि युक्ति से ही होती है। पर अनुभव से तो अद्वैत की सिद्धि नहीं होती।

उत्तर—जिस युक्ति से अद्वैत की सिद्धि होती है सो युक्ति दृष्टाँत के सहित है। वा दृष्टान्त से रहित है। यह बात तू कहो। तीसरा प्रकार तो कोई बनता नहीं, और जो कहे कि युक्ति दृष्टान्त से रहित है, तो यह युक्ति तो तैंने बहुत सुन्दर जानी है ॥२७॥

नानुभूतिर्न दृष्टान्त इति युक्तिस्तु शोभते ।
सदृष्टान्तत्वपक्षे तु दृष्टान्तं वद मे मतम् ॥ २८ ॥

अर्थ—जिस में न तो दृष्टान्त है, और न अनुभव है, ऐसी युक्ति तो बहुत सुन्दर है, अद्वैत सिद्धि युक्ति से होती है, अनुभव से नहीं होती, ऐसा कहने से अनुभव का अभाव तो तैंने आप माना है, और युक्ति वे दृष्टान्त के किसी अर्थ को सिद्ध नहीं करती, इस से यह जो तेरा कथन है कि युक्ति दृष्टान्त से रहित है, सो तेरी बुद्धि की निर्मलता को जनाता है, अर्थात् यह कथन परम मूर्खों का है, और जो कहे कि युक्ति दृष्टान्त सहित है, तो तुझे और मुझे जो दृष्टान्त निश्चित है सो कहो ॥ २८ ॥

अद्वैतः प्रलयोद्वैतानुपलंभेन सुप्तिवत् ।
इति चेत्सुप्तिरद्वैतेत्यत्र दृष्टान्तमीरय ॥ २९ ॥

शंका—जो आप दृष्टाँत सुना चाहते हो । तो मैं अद्वैत को दृष्टाँत से सिद्ध करता हूं । सो दृष्टाँत सुनियेगा। जगत् की उत्पत्ति से पूर्व जो प्रलयावस्था है । सो द्वैत से रहित है। द्वैत की प्रतीति से रहित होने से। सुषुप्ति की नाईं ।

उत्तर—इस प्रकार अद्वैत को अपनी सुषुप्ति के दृष्टाँत से तू सिद्ध करता है या

पर पुरुष की सुषुप्ति के दृष्टाँत से तू सिद्ध करता है । जो कहे कि अपनी सुषुप्ति के दृष्टाँत से मैं सिद्ध करता हूं । तो तेरी सुषुप्ति पर पुरुष के ताईं प्रसिद्ध नहीं है । तिस से अपनी सुषुप्ति में अद्वैत की सिद्धि के लिये और दृष्टाँत कहना चाहिये ॥२९॥

दृष्टांतः परसुप्तिश्चेदहो ते कौशलं महत् ।

यः स्वसुप्तिं न वेत्यस्य परसुप्तौ तु का कथा ॥३०॥

शंका—मेरी सुषुप्ति अद्वैत है । द्वैत की प्रतीति से रहित होने से । पर पुरुष की सुषुप्ति की नाईं ।

उत्तर—तेरी बुद्धि की बड़ी चतुराई है । क्यों कि तू अपनी सुषुप्ति को तो अनुभव सिद्ध मानता नहीं । जिस से तू कहता है कि अद्वैत अनुभव सिद्ध नहीं । और पर पुरुष की सुषुप्ति को जानता है जिससे तू कहता है कि पर पुरुष की सुषुप्ति द्वैत से रहित है । इस से तेरी बुद्धि की बड़ी चतुराई है । अर्थात् जिसको अपनी सुषुप्ति नहीं प्रतीत होती । उसको पर पुरुष की सुषुप्ति प्रतीत होती है । यह कथन परम मूर्खों का है ॥३०॥

निश्चेष्टत्वात्परः सुप्तो यथाऽहमिति चेत्तदा ।

उदाहर्तुः सुषुप्तेस्ते स्वप्रभत्वं बलाद्भवेत् ॥३१॥

शंका—अनुमान से पर पुरुष की सुषुप्ति की सिद्धि होती है । सो अनुमान यह है । पर पुरुष सुषुप्ति को प्राप्त हुआ है । प्राण संयुक्त होने पर भी चेष्टा से रहित होने से मेरी नाईं ।

उत्तर—जो इस प्रकार तू जानता है । पर पुरुष की सुषुप्ति को अपने दृष्टांत से । तो तेरे को ज़ोरा ज़ोरी अपनी सुषुप्ति की स्वप्रकाशता निश्चय हुई ॥३१॥

नेंद्रियाणि न दृष्टांतस्तथाऽप्यंगी करोपि ताम् ।

इदमेव स्वप्रभत्वं यद्भानं साधनैर्विना ॥३२॥

शंका—मुझे कैसे ज़ोरा ज़ोरी मेरी सुषुप्ति की स्वप्रकाशता निश्चय हुई ।

उत्तर—ऐसे तेरे को तेरी सुषुप्ति की स्वप्रकाशता निश्चय हुई । तेरी सुषुप्ति के ग्रहण करने हारी इन्द्रिय भी नहीं । क्यों कि सुषुप्ति में इन्द्रिय अज्ञान में लीन हो जाती हैं । और तेरी सुषुप्ति में दृष्टाँत भी कोई नहीं तुझे और मुझे निश्चित । पर पुरुष की सुषुप्ति तो तुझको प्रतीत नहीं होती । इस से परपुरुष की सुषुप्ति तो दृष्टाँत नहीं बनता । तो भी तिस अपनी सुषुप्ति को तू मानता है ॥ तिस से जो तेरी सुषुप्ति है द्वैत से

रहित अद्वैत रूप । उस को स्वप्रकाशता सिद्ध हुई । जिससे स्वप्रकाश उस वस्तु को कहते हैं । जो वस्तु ज्ञान के साधनों से बिना प्रकाशे । तिस से तेरी सुषुप्ति को स्व प्रकाशता सिद्ध हुई । जोराजोरी इस अर्थ में यह अनुमान है । स्वप्रकाश परप्रकाश विवाद का विषय जो सुषुप्ति है । सो स्वप्रकाश होने को योग्य है ज्ञान के साधनों से बिना प्रकाशमान होने से । सांख्य शास्त्र वालों के मत में आत्मा की नाईं । और प्रभाकर मीमांसक के मत में ज्ञान की नाईं । और बौद्धों के मत में 'स्वात्म की नाईं । इस प्रकार प्रलय की दृष्टांतरूपता करके कही जो सुषुप्ति है उसकी अद्वैतरूपता और स्वप्रकाशता सिद्ध हुई ॥३२॥

स्तामद्वैतस्वप्रभत्वे वद सुप्तौ सुखं कथम् ।
शृणु दुःखं तदा नास्ति ततस्ते शिष्यते सुखम् ॥३३॥

शंका—हो सुषुप्ति को अद्वैत रूपता और स्वप्रकाशता । पर उसमें सुख कैसे है सो कहो ।

उत्तर—सुख के प्रतियोगी दुःख का उसमें अभाव है । तिस से उसमें सुख है । प्रकाश और अन्धकार की नाईं सुख दुःख का परस्पर विरोध है । जैसे जिस स्थान में अन्धकार का अभाव है उस स्थान में प्रकाश होता है । तैसे सुषुप्ति में दुःख का अभाव होने से सुख है ॥३३॥

अन्धः सन्नप्यनंधः स्याद्विद्धोऽविद्धोऽथ रोग्यपि ।
अरोगीति श्रुतिः प्राह तच्च सर्वे जना विदुः ॥३४॥

शंका—सुषुप्ति में दुःख नहीं इस में क्या प्रमाण है ।

उत्तर—सुषुप्ति में दुःख नहीं इस में श्रुति और अनुभव प्रमाण है । श्रुति में यह कहा है (तस्माद्वा एत सेतुं तीर्त्वांऽधः सन्ननंधो भवति विद्धः सन्न विद्धो भवति उपतापी सन्ननुपतापी भवति तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमंधं भवत्यनंधः स भवति इत्यादि) अर्थ—जिस कारण से देहाभिमान से दुःखों की प्राप्ति होता है । तिस कारण से देहाभिमान रूप पुल को उलंघ कर अन्ध पुरुष अनंध हो जाता है । अर्थात् अन्धे को सुषुप्ति में मैं अन्धा हूं यह अभिमान नहीं होता । और शस्त्र से घायल हुए पुरुष को सुषुप्ति में मैं घायल हूं यह अभिमान नहीं रहता । और ताप आदि से युक्त पुरुष को सुषुप्ति में मैं तापी हूं यह अभिमान नहीं रहता । यद्यपि यह शरीर अन्धा हो तौ भी इस जीव को सुषुप्ति में मैं अंधा हूं यह अभिमान नहीं होता । इत्यादि

श्रुति देहाभिमान से होने हारे अंधता आदि दोषों का निषेध करती है सुषुप्ति में। और सर्व दुःखों के अभाव को सुषुप्ति में सभी लोक अपने अनुभव से जानते हैं ॥३४॥

न दुःखाभावमात्रेण सुखं लोष्ठशिलादिषु ।
द्वया भावस्य दृष्टत्वादिति चेद्विषमं वचः ॥३५॥

शंका—जहाँ दुःख का अभाव है तहाँ सुख है। यह नियम तो नहीं बनता। क्यों कि लोष्ठ शिला आदि में दुःख का अभाव तो है। पर सुख नहीं।

उत्तर—दृष्टाँत दार्ष्टान्त की विषमता है। तिस से तेरा दृष्टाँत रूप वचन दार्ष्टान्त के अनुसार नहीं। जिस से लोष्ठ शिला आदि में सुख दुःख की प्रतीति नहीं बनती ॥३५॥

मुखदैन्यविकासाभ्यां परदुःखसुखोहनम् ।
दैन्याद्यभावतो लोष्ठे दुःखाद्यूहो न संभवेत् ॥३६॥

अर्थ—और अपने से भिन्न में सुख दुःख मुख की प्रसन्नता और दीनतासे जाना जाता है, अनुमान द्वारा, यह दुखी है, दीन मुख होने से, और यह सुखी है, प्रसन्न मुख होने से देवदत्त की नाईं, और लोष्ठ शिला आदि में तो सुख दुःख का जानना नहीं बनता, जिस से उनके मुख की प्रसन्नता और दीनता नहीं है, इस से उन में दुःख का अभाव निश्चय नहीं होता ॥ ३ ॥

स्वकीये सुखदुःखे तु नोहनीये ततस्तयोः ।
भावो वेद्योऽनुभूत्यैव तदभावोऽपि नान्यतः ॥ ३७ ॥

अर्थ—और अपने सुख दुःख तो अनुमान से नहीं जाने जाते, किन्तु अनुभव से जाने जाते हैं, तिस से जैसे अपने सुख दुःख की विद्यमानता प्रत्यक्ष कर के जानी जाती है, तैसे अपने में सुख दुःख का अभाव भी प्रत्यक्ष करके जाना जाता है, अनुमान से नहीं जाना जाता ॥ ३७ ॥

तथा सति स्वसुप्तौ च दुःखाभावोऽनुभूतितः ।
विरोधि दुःखराहित्यात्सुखं निर्विघ्नमिष्यताम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—तैसा होने पर अपनी सुषुप्ति में दुःख का अभाव अपने अनुभव से जाना जाता है, सुषुप्ति में सुखविरोधी दुःख के अभाव से सुख है, इस में बाधक कोई नहीं, अर्थात् सुख की विद्यमानता में विघ्न कोई नहीं, ऐसा जानना चाहिये ॥३८॥

महत्तरप्रयासेन मृदुशय्यादिसाधनम् ।
कुतः संपाद्यते सुप्तौ सुखं चेत्तत्र नो भवेत् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो सुषुप्ति में सुख न हो तो पुरुष अतियत्न से कोमल शय्या तकिया आदि साधन का संपादन क्यों करे, तात्पर्य यह है सुषुप्ति के लिये कोमल शय्या सिराना आदि सुख के साधनों को पुरुष अति यत्न से एकट्ठा करता है, सो संपादन तब बने जब सुषुप्ति में सुख हो, और जो सुषुप्ति में सुख हो, और जो सुषुप्ति में सुख न होवे तो सुख के साधनों का संपादन पुरुष कैसे करे, सुषुप्ति के लिये बहुत धन को खर्च कर के और शरीर के पीडन आदि से कोमल शय्या कोमल सिराना इत्यादि सुख के साधनों को पुरुष कैसे संपादन करे, जो सुषुप्ति में सुख न हो तो, तिस से अर्थापत्ति प्रमाण कर के सुषुप्ति में सुख सिद्ध हुआ ॥ ३९ ॥

दुःखनाशार्थमेवैतदिति चेद्रोगिणस्तथा ।
भवत्वरोगिणस्त्वेतत्सुखायैवेति निश्चिनु ॥ ४० ॥

शंका—यह अर्थापत्ति नहीं बनती, क्यों कि शय्या आदि का संपादन दुःख के नाश वास्ते होता है।

उत्तर—जिस को प्रथम दुःख नहीं है, वह भी पुरुष शय्या आदि का संपादन करता है। इस से दुःख निवृत्ति वास्ते शय्या आदि का संपादन नहीं होता। तिससे रोगी पुरुष दुःख के नाशवास्ते शय्या आदि का संपादन करता है, यह कथन अयुक्त है ॥४०॥

तर्हि साधनजन्यत्वात्सुखं वैषयिकं भवेत् ।
भवत्वेवात्र निद्रायाः पूर्वं शय्यासनादिजम् ॥ ४१ ॥

शंका—यह जो आपका कथन है कि सुषुप्ति में जो सुख है। उस के लिये पुरुष शय्या आदि का संपादन करता है, इस कथन से सुषुप्ति काल के सुख को साधन जन्यता आई, तिस से सुषुप्ति का सुख विषय सुख हुआ। तिस से उस सुख को आत्मरूपता नहीं बनती।

उत्तर—निद्रा की उत्पत्ति से पूर्व जो सुख है, सो शय्या आदि जन्य है, और नींद के प्राप्त होने पर जो सुख है सो शय्या आदि से पैदा नहीं होता। क्योंकि सुषुप्ति में शय्या आदि की प्रतीति नहीं होती ॥४१॥

निद्रायां तु सुखं यत्तज्जन्यते केन हेतुना ॥
सुखाभिमुखधीरादौ पश्चान्मज्जेत्परे सुखे ॥ ४२ ॥

शंका—जो सुषुप्ति में नित्य सुख है तो विषय सुख की नाईं उसका अनुभव

निद्रायां तु सुखं यत्तज्जन्यते केनहे तुना ॥
सुखाभिमुखधीरादौ पश्चान्मज्जेत्परे सुखे ॥४२॥

शंका—जो सुषुप्ति में नित्य सुख है तो विषय सुख की नाईं उसका अनुभव क्यों नहीं होता !

उत्तर—विषय सुख के अनुभव करने हारे प्रमाता की सुषुप्ति काल के सुख में लीनता हो जाती है। तिस से विषय सुख की नाईं सुषुप्ति काल के सुख की प्रतीति नहीं होती, निद्रा की प्राप्ति से पूर्व काल में शय्या आदि जन्य सुख के अनुभव करने में तत्पर हुई है बुद्धि जिसकी। ऐसा जो जीव है, सो निद्रा के प्राप्त होने पर परम सुख में लीन हो जाता है ॥४२॥

जाग्रद्व्यापृत्तिभिः श्रांतो विश्राम्याथ विरोधिनि ॥
अपनीते स्वस्थ चित्तोऽनुभवेद्विषये सुखम् ॥४३॥

अर्थ—जाग्रत् में करे जो अनेक प्रकार के व्यापार हैं। उन से थका हुआ जीव कोमल शय्या आदि पर सोता है, उस से सुख विरोधी जो व्यापार जन्य दुःख था, उस के निवारण होने पर स्वस्थ चित्त होकर शय्या आदि विषय जन्य सुख को अनुभव करता है ॥४३॥

आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानंदः प्रतिबिंबति ॥
अनुभूयैनमत्रापि त्रिपुट्या श्रांतिमाप्नुयात् ॥ ४४ ॥

अर्थ—विषय सुख का स्वरूप क्या है ? जिस विषय की इस को प्राप्ति नहीं होती उस विषय के निमित्त पुरुष को दुःख प्राप्त होता है, उस दुःख के दूर करने को कोमल शय्या आदि पर स्थित जो पुरुष है, उस की बुद्धि वृत्ति अंतर्मुख होती है उस बुद्धि की वृत्ति को आत्मा के सन्मुख होने पर, उस अंतर्मुख बुद्धि की वृत्ति में आत्मा का स्वरूप जो आनंद है, सो प्रतिबिंब भाव को प्राप्त होता है, जैसे मुख के, सामने दर्पण में मुख का प्रतिबिंब पड़ता है, यह जो अंतर्मुख वृत्ति में सुख रूप आत्मा का प्रतिबिंब है सो विषयानंद है, कोमल शय्या आदि पर स्थिति के समय भी विषयानंद को अनुभव करके जीव श्रमको प्राप्त होता है क्योंकि उस समय भी त्रिपुटी निवृत्त नहीं होती, एक तो अनुभव करने हारा, और एक अनुभव, और एक अनुभव करने योग्य विषय सुख ॥४४॥

तच्छ्रमस्यापनुत्त्यर्थं जीवो धावेत्परात्मनि ॥
तेनैक्यं प्राप्य तत्रत्यो ब्रह्मानंदः स्वयं भवेत् ॥ ४५ ॥

अर्थ—इस त्रिपुटी के देखने से पैदा हुआ जो श्रम उस के दूर करने को जीव आनन्द रूप ब्रह्म में दौड़ता है. उस आनंद रूप ब्रह्म में प्राप्त हो कर ब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त हुआ सुषुप्ति में स्थित ब्रह्मानंद रूप होजाता है, जैसे आकाश से गिरी हुई जल की बूंद समुद्र में समुद्ररूप हो जाती है। इस अर्थ में छांदोग्य उपनिषद् की श्रुति भी प्रमाण है। उसमें उद्दालक मुनीश्वर ने अपने पुत्र श्वेत केतु के प्रति यह कहा है। (सता सौम्य तदा संपन्नो भवति) अर्थ—हे सौम्य ! जीव सुषुप्ति काल में सत्यरूप परमात्मा के साथ एक हो जाता है। अर्थात् जीव का परमात्मा के साथ अभेद हो जाता है ॥ ४५ ॥

दृष्टांताः शकुनिः श्येनः कुमारश्च महानृपः ॥
महाब्राह्मण इत्येते सुप्त्यानन्दे श्रुतीरिताः ॥ ४६ ॥

अर्थ—इस कहे हुये अर्थ में बुलबुल आदि दृष्टांत श्रुति ने कहे हैं। बुल बुल आदि पांच दृष्टांत करके सुषुप्ति में आनन्द की सिद्धि करी है। तिस से सुषुप्ति में सुख नहीं यह कथन अयुक्त है। सो पाँच दृष्टाँत ये हैं। एक बुल बुल दूसरा बाज। तीसरा कुमार, चौथा चक्रवर्ती राजा, पाँचवा ब्रह्मज्ञानी ॥ ४६ ॥

शकुनिः सूत्रबद्धः सन् दिक्षु व्यापृत्य विश्रमम् ॥
अलब्ध्वा बंधनस्थानं हस्तस्तंभाद्युपाश्रयेत् ॥ ४७ ॥

अर्थ—उन दृष्टांतोंके मध्य में प्रथम जो बुलबुल का दृष्टाँत है। सो छांदोग्य उपनिषद् की श्रुति में कहा है। उस का अर्थ सुन, जैसे सूत्र से बँधी हुई बुलबुल दशों दिशाओं में उड़ती है। सो अपना जो आश्रय है हाथ अथवा कीली। उस से भिन्न स्थान में स्थिति को नहीं प्राप्त होती। तो फिर भटक २ के अपने बंधन को स्थान जो हाथ अथवा कीली है। उसका सहारा लेती है। अर्थात् उस को आश्रय करती है ॥४७॥

जीवोपाधिमनस्तद्वद्धर्माधर्मफलाप्तये ॥
स्वप्ने जाग्रति च भ्रांत्वाक्षीणे कर्मणि लीयते ॥ ४८ ॥

अर्थ—तैसे हे सौम्य ! जीव की उपाधि मन भी दशों दिशाओं में भटकता है। पर परमात्मा से बिना किसी स्थान में विश्राम को नहीं प्राप्त होता। तिस से परमात्मा को आश्रय करता है। जिस कारण से हे सौम्य मन परमात्मा में बंधन को प्राप्त हुआ है। अथवा सो मन दिशा २ में भटक कर अन्यत्र स्थान को न पाकर प्राण को ही आश्रय

करता है। क्योंकि हे सोम्य! मन प्राणों से बंधा हुआ है। उसका यह दाष्टान्त है। जीव की उपाधि जो मन है। सो पुण्य पाप का फल जो सुख दुःख है उसके अनुभव वास्ते जाग्रत् स्वप्न में जहां तहां भ्रम कर जाग्रत् स्वप्न में भोग देने हारे कर्म के क्षीण होने पर। मन अपने कारण अज्ञान में लीन हो जाता है। और मन के लय होने पर मन रूप उपाधि से रहित हुआ जीव परमात्मा हो जाता है॥ ४८॥

श्येनो वेगेन नीडैकलंपटः शयितुं व्रजेत्॥

जीवः सुप्त्यै तथा धावे द्ब्रह्मानंदैकलंपटः॥४९॥

अर्थ--और दूसरा दृष्टांत बाज का है सो बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है तहाँ श्रुतिः। (तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनोवाऽसुपर्णो वा विपरिपत्यश्रांतः संहत्य पक्षौ स्वालयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा आनंदाय धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति) अर्थ--जैसे आकाश में सब तरफ़ इधर उधर उड़ता हुआ अर्थात् फिरता हुआ जो बाज है सो थका हुआ श्रम के दूर करने को अपने घूंसले की अभिलाषा वाला हुआ परों को एकट्ठा कर दौड़ कर घूंसले को प्राप्त होता है, तैसे जीव जो मन उपाधिवाला चिदाभासरूप है सो सभी जाग्रत् स्वप्न में भटकता हुआ श्रम को प्राप्त होता है, उस श्रमके दूर करने को सोवनेके निमित्त ब्रह्मानंद की अभिलाषा वाला हुआ हृदयाकाश को दौड़ता है सो सोवना कैसा है जिसमें सुप्त पुरुष किसी कामना की इच्छा नहीं करता अर्थात् जिसमें जाग्रत् के पदार्थों की कामना को नहीं करता और स्वप्न के पदार्थों को नहीं देखता॥४९॥

अतिबालः स्तनं पीत्वा मृदुशय्यागतो हसन्॥

रागद्वेषाद्यनुत्पत्तेरानंदैकस्वभावभाक्॥ ५०॥

अर्थ—कुमार और चक्रवर्ती राजा और ब्रह्मवेत्ता, ये तीन दृष्टांत बृहदारण्यक उपनिषद् में बाला की और अज्ञान शत्रु के प्रसंग में कहे हैं, सो श्रवण कर बहुत छोटा जो बालक है चार पांच महीने का, सो गले तक माता का दूध पीकर, कोमल शय्या पर स्थित राग द्वेष आदि के अभाव में हसता हुआ, एक आनंद स्वभाव वाला होता है क्यों कि उसको मैं मेरा ज्ञान नहीं होता॥५०॥

महाराजः सार्वभौमः संतृप्तः सर्वभोगतः॥

मानुषानंदसीमानं प्राप्यानंदैकमूर्तिभाक्॥५१॥

अर्थ—और जैसे चक्रवर्ती राजा अतिनिर्मल बुद्धिवाला सब मनुष्यों के भोगों करके युक्त सब मनुष्य मात्र को प्राप्त होने योग्य सब पदार्थ जिसको प्राप्त हुए हैं सो रागद्वेष से रहित आनंदरूप स्थित होता है ॥५१॥

महाद्विजो ब्रह्मवेदी कृतकृत्यत्वलक्षणाम् ॥
विद्यानंदस्य परमां काष्ठां प्राप्यावतिष्ठते ॥५२॥

अर्थ—और जैसे ज्ञानी कृतकृत्यता को प्राप्त हुआ ब्रह्मानंद की परम अवधिरूप जीवन्मुक्ति को प्राप्त हुआ परम आनंदस्वरूप हुआ स्थित होता है तैसे सुषुप्ति को प्राप्त हुआ जीव परम आनंद रूप होकर स्थित होता है ॥५२॥

मुग्धबुद्धाऽतिबुद्धानां लोके सिद्धा सुखात्मता ॥
उदाहृतानामन्ये तु दुःखिनो न सुखात्मकाः ॥५३॥

शंका—बालक आदि तीन दृष्टांत क्यों करे और २ दृष्टांत क्यों न करे ।

उत्तर—जगत् में तीन को सुख होता है, अविवेकियों के मध्य में बहुत छोटे बालक को सुख होता है, और व्यवहारी विवेकियों के मध्य में चक्रवर्ती राजा को सुख होता है, और ब्रह्म विवेकियों के मध्य में आनंदरूप अद्वितीय आत्मा के साक्षात्कार वाला जीवन्मुक्त सुखरूप है इन तीनों से भिन्न सब जीव सदा ही रागद्वेष आदि करके दुखी हैं इससे सुखकी प्राप्तिरूप सुषुप्ति में ये तीन दृष्टांत कहे हैं इन तीनों से भिन्न सब जीवों को दुखी जान कर उनका दृष्टांत नहीं दिया ॥५३॥

कुमारादिव देवायं ब्रह्मानंदैकतत्परः ॥
स्त्रीपरिष्वक्तवद्वेद न बाह्यं नापि चांतरम् ॥५४॥

अर्थ—जैसे बालक आदि आनंद में तत्पर होते हैं तैसे सुषुप्ति में ब्रह्मानंद में तत्पर हुए जीव जाग्रत् स्वप्न के जो अंतर बाह्यरूप पदार्थ हैं उनको नहीं जानते जैसे कामी पुरुष अति पियारी स्त्री के कंठ के साथ लगा हुआ गलियों के वृत्तांत और घर के कार्यों को नहीं जानता तैसे परमात्मा के साथ एकता को प्राप्त हुआ जीव भी जाग्रत् स्वप्न के पदार्थों को नहीं जानता ॥५४॥

बाह्यं रथ्यादिकं वृत्तं गृहकृत्यं यथांतरम् ॥
तथा जागरणं बाह्यं नाडीस्थः स्वप्न आंतरः ॥५५॥

अर्थ—जैसे गलियों का वृत्तांत बाह्य है और घर का कृत्य अंतर है तैसे जाग्रत् बाह्य है और जाग्रत् की वासना से नाडी के मध्य में प्रतीयमान जो प्रपंच है सो अंतर स्वप्न है ॥५५॥

पितापि सुप्ताविपितेत्यादौ जीवत्ववारणात् ॥
सुप्तो ब्रह्मैव नो जीवः संसारित्वासमीक्षणात् ॥५६॥

अर्थ—सुषुप्ति में जीव ब्रह्मानंदरूप होकर स्थित होता है इस में युक्ति बृहदारण्यक उपनिषद् की श्रुति कहती है (पिताऽपिता भवति इत्यादि) अर्थ—सुषुप्ति में जीव की ब्रह्म रूपता ही शेष रहती है क्यों कि जीव की जीवता वहां प्रतीत नहीं होती जीव की जीवता क्या है परिच्छिन्न अभिमान करना मैं पिता हूं, मैं पुत्र हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं राजा हूँ, मैं दाता हूं, इत्यादि परिच्छिन्नाभिमान सुषुप्ति में नहीं रहता तिससे अपरिच्छिन्न ब्रह्मरूप होजाता है ॥५६॥

पितृत्वाद्यभिमानो यः सुखदुःखाकरः स हि ॥
तस्मिन्नपगते तीर्णः सर्वान् शोकान् भवत्ययम् ॥५७॥

शंका—सुषुप्ति में सब संसार की निवृत्ति तो नहीं होती जिससे मैं पिता हूं इत्यादि अभिमानका अभाव होने पर भी मैं सुखी हूँ यह अभिमान होता है सो अभिमान करना जीव का धर्म है तिससे सुषुप्ति में जीव को जीवरूपता दूर नहीं होती।

उत्तर—सुषुप्तिमें सब संसार की निवृत्ति होती है जिससे सुषुप्तिमें देहाभिमान नहीं होता मैं सुखी हूँ यह अभिमान तो तब बने जब देहाभिमान हो देहाभिमान से विना नहीं होता जैसे पिता पुत्ररूपताका अभिमान बे देहाभिमान के नहीं होता तिससे सुषुप्ति में मैं सुषुप्ति में मैं सुखी हूं यह अभिमान है रूप जिसका ऐसा जो संसार है सो नहीं रहता इस अर्थ में बृहदारण्यक उपनिषद् की श्रुति प्रमाण है उसका अर्थ यह है सुषुप्ति काल में देहाभिमान का अभाव होने पर संपूर्ण शोकों को तरजाता है जो मन में स्थित थे। तात्पर्य यह है कि जाग्रत् स्वप्न अवस्था में परिच्छिन्न अभिमान करके शोकों की नदी बहती थी उस नदी को सुषुप्ति में प्राप्त होने पर जीव तरजाता है। अर्थात् किसी प्रकार का परिच्छिन्नअभिमान नहीं होता, परिच्छिन्न अभिमान ही सुख दुःख का कारण है उसका अभाव होने पर जीव को जीवरूपता नहीं रहती जीव ब्रह्म रूप हो जाता है ॥५७॥

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमसाऽऽवृतः ॥
सुखरूपमुपैतीतिब्रूते ह्याथर्वणी श्रुतिः ॥५८॥

उत्तर—साक्षात् सुख की प्राप्ति के कहने द्वारी कैवल्य उपनिषद् की श्रुति है। उसका अर्थ सुन। सुषुप्ति में जाग्रत् स्वप्न रूप प्रपञ्च के लीन होने पर अज्ञान के साथ अभेद को प्राप्त हुवा। जीव सुख रूप ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ ५८ ॥

सुखमस्वाप्समत्राहं न वै किंचिदवेदिपम् ॥
इति सुप्ते सुखाज्ञाने परामृशति चोत्थितः ॥५९॥

शंका—जो सुषुप्ति में जीव सुख रूप ब्रह्म को प्राप्त होता है, तो जीव की विदेह मुक्ति होनी चाहिये। क्योंकि परिच्छिन्न अभिमान का अभाव और आनन्द रूप ब्रह्म की प्राप्ति का नाम विदेहमुक्ति है।

उत्तर—तमोगुण प्रधान अज्ञान से ढका हुआ जीव सुख रूप ब्रह्म को प्राप्त होता है। और विदेह मुक्ति तो आवरण भंग से होती है। तिस से सुषुप्ति को प्राप्त हुआ जीव विदेहमुक्ति को नहीं प्राप्त होता, यह जो अर्थ श्रुतियों ने कहा है, सो परोक्ष नहीं, किन्तु सब जीवों के अनुभव से सिद्ध है, जिस कारण से सुषुप्ति से उठा हुआ पुरुष यह कहता है कि सुषुप्ति में इतने काल पर्यन्त में सुखरूप हुआ सोता था, और कुछ न जानता था, सो उसका कहना ये ज्ञान के नहीं होता, तिस से सुषुप्ति में सुख है, और अज्ञान है, यह बात माननी, तिससे सुषुप्ति में सुख सब के अनुभव कर के सिद्ध हुआ ॥ ५९ ॥

परामर्शोऽनुभूतेऽस्तीत्यासीदनुभवस्तदा ॥
चिदात्मत्वात्स्वतो भाति सुखमज्ञानधीस्ततः ॥६०॥

शंका—सुषुप्ति में सुख और अज्ञान के कहने द्वारा जो वचन हैं उसका कारण ज्ञान स्मृति रूप है। और स्मृति प्रमाण नहीं होती, तिस से स्मृतिरूपज्ञानद्वारा सुषुप्ति में सुख सिद्ध नहीं होता ॥

उत्तर—स्मृतिरूपज्ञानअप्रमाण है, उस से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती, यह बात यथार्थ है, पर स्मृति का कारण जो अनुभव है सो प्रमाण है, उस से सुषुप्ति में सुख सिद्ध होता है, स्मृति का कारण अनुभव होता है, जिस कारण से जिस वस्तु का अनुभव किया है, उसी की स्मृति होती है, जिस का अनुभव नहीं करा उस की स्मृति नहीं होती। इस कारण से स्मृति का कारण अनुभव सुषुप्ति में होता है, उस से सुषुप्ति में सुख सिद्ध होता है।

शंका—सुषुप्ति में अनुभव तो नहीं बनता, क्यों कि उस में मन सहित सब ज्ञान इंद्रिय लीन हो जाती हैं।

उत्तर—सुषुप्ति में सुख के अनुभव का साधन नहीं होता, यह कहता है, अथवा अज्ञान के अनुभव का साधन नहीं होता, यह कहता है, सुख के अनुभव का साधन नहीं रहता तो न रहो, जिस से सुषुप्ति में जो सुख है, सो स्वप्रकाश चैतन्यरूप है इस से उसको अनुभव के साधनों की अपेक्षा नहीं, और सुषुप्ति में जो अज्ञान है, सुख के ढकने हारा, सो स्वप्रकाश चैतन्य रूप सुख करके सिद्ध होता है ॥६०॥

ब्रह्मविज्ञानमानंदमिति वाजसनेयिनः ॥
पठंत्यतः स्वप्रकाशं सुखं ब्रह्मैव नेतरत् ॥ ६१ ॥

शंका—सुषुप्ति में जो सुख है, उसकी स्वप्रकाशता के होने पर भी, उसको ब्रह्म रूपता नहीं बनती, क्यों कि सुषुप्ति में जो सुख है उस की ब्रह्म रूपता में प्रमाण कोई नहीं।

उत्तर—सुषुप्ति में जो सुख है, उस की ब्रह्म रूपता में बृहदारण्यक उपनिषद् की श्रुति प्रमाण है, सो श्रुति आनंद को ब्रह्मरूप कहती है, और अनुभव को ब्रह्मरूप कहती है, इस से स्वप्रकाश सुख ब्रह्म रूप है, ब्रह्म से भिन्न नहीं ॥६१॥

यदज्ञानं तत्र लीनौ तौ विज्ञानमनोमयौ ॥
तयोर्हि विलयावस्था निद्राऽज्ञानं च सैव हि ॥ ६२ ॥

शंका—सुषुप्ति से उठकर जिस पुरुष को सुख का स्मरण होता है, उसी को उसका अनुभव कहना चाहिये, जिस से अनुभव विना स्मरण नहीं बनता, और एक पुरुष की अनुभव करी हुई वस्तु को दूसरा पुरुष स्मरण नहीं करता, सुषुप्ति से उठने पर विज्ञानमय नाम जीवने सुख और अज्ञान का स्मरण करा, इस से सुख और अज्ञान का अनुभव भी उसी को कहना चाहिये, सो तो विज्ञानमय सुषुप्ति में रहता नहीं, तिस से सुख अनुभव सुषुप्ति में नहीं बनता।

उत्तर—विज्ञानमय की उपाधि विज्ञान मन इंद्रिय बुद्धि रूप सुषुप्ति में लीन हो जाती है, तिस से विज्ञानमय को लीन कहा है, और उपाधि से विलक्षण चैतन्य रूप ना करके अनुभव करता है, और उपाधि अज्ञानमय लीन हो जाती है, और अज्ञान सो कर उठे हुए पुरुष के इस स्मरण से जाना जाता है, जो यह स्मरण करता है कि मैं सुषुप्ति में कुछ न जानता था, ऐसा जो अज्ञान है। उस में प्रमाता विज्ञान मय और

प्रमाण मनोमय दोनों लीन हो जाते हैं, इस से विज्ञान उपाधिक विज्ञानमय प्रमाता को सुषुप्ति में सुख और अज्ञान का अनुभव नहीं होता, जिस कारण से विज्ञानमय और मनोमय की लीनता अवस्था का नाम निद्रा है, विज्ञानविरतिः सुप्तिः।

शंका—जो विज्ञानमय और मनोमय की लीनता का नाम निद्रा है, तो निद्रा में विज्ञानमय और मनोमय लीन हुये यह कहना चाहिये, आप कैसे कहते हो कि विज्ञानमय और मनोमय अज्ञान में लीन होते हैं।

उत्तर—निद्रा का नाम ही अज्ञान है, ऐसे ज्ञानवान् कहते हैं, तिस से विज्ञानमय और मनोमय अज्ञान में लीन होते हैं यह कहना ठीक है॥ ६२॥

विलीनघृतवत्पश्चात्स्याद्विज्ञानमयो घनः॥
विलीनावस्थ आनंदमयशब्देन कथ्यते॥ ६३॥

शंका—जो सुषुप्ति में विज्ञानमय अज्ञान में लीन हो जाता है, तो सुषुप्ति काल में जो सुख और अज्ञान है, उस के अनुभव काल में अविद्यमान जो विज्ञानमय, सो जाग्रत् में सुख और अज्ञान को स्मरण कैसे करेगा।

उत्तर—लयावस्था में भी विज्ञानमय के स्वरूप का अभाव नहीं होता, उपाधि मात्र का लय होता है, और दूसरी उपाधि का ग्रहण होता है, तिस से विलयावस्था रूप उपाधि वाला, जो आनंदमय रूप है, उस करके अनुभव होता है, और विज्ञान नाम जो सघन उपाधि है, उस कर के स्मरण करता है, तिस से एक को ही स्मरण और अनुभव दोनों बनते हैं, उपाधि भेद कर के, जैसे अग्नि आदि के संयोग करके तपा हुआ घृत पश्चात् बहुत शीतल पवन के संबंध से सघन हो जाता है अर्थात् जम जाता है, तैसे जाग्रत् स्वप्न में भोग देने हारे कर्म के नष्ट होने से निद्रा रूपता करके लीन हुआ जो अंतःकरण है, सो फिर भोग देने हारे कर्मों के संबंध से विज्ञानमयरूपता करके सघनता को प्राप्त हो जाता है, जाग्रत् स्वप्न में, इस से विज्ञान उपाधिवाला आत्मा भी विज्ञानमय घन कहाता है, और सोई आत्मा विज्ञान रूप उपाधि की लीनता करके आनंदमय कहाता है॥ ६३॥

सुप्तिपूर्वक्षणे बुद्धिवृत्तिर्या प्रतिबिंबिता॥
सा तद्बिंबसहिता लीनानंदमयस्ततः॥ ६४॥

अर्थ—सुषुप्ति की प्राप्ति से पूर्व क्षण में जो अंतर्मुख की बुद्धि की वृत्ति है, सुख रूप आत्मा के प्रतिबिंब सहित सो बुद्धि की वृत्ति आनंद के प्रतिबिंबसहित लीन हो जाती है जब, तब उसका नाम आनंदमय कहा जाता है॥ ६४॥

अंतर्मुखो य आनंदमयो ब्रह्मसुखं तदा ॥
भुंक्ते चिद्बिंब युक्ताभिरज्ञानोत्पन्नवृत्तिभिः ॥६५॥

अर्थ—उस आनन्दमय को ही जाग्रत् काल में स्मरण करता है। इस लिये सुषुप्ति काल में सुख अनुभव होता है। सो जिस प्रकार होता है। सो सुन। सुख के प्रतिबिम्ब सहित जो अन्तर्मुख हुई बुद्धि की वृत्ति हैं। उस कर के पैदा हुए जो सुख के संस्कार उन संस्कारों सहित अज्ञान है उपाधि जिस की। ऐसा जो आनन्दमय है। सो सुषुप्ति में अपना स्वरूप जो ब्रह्मसुख है। उस को चिदाभाससहित अज्ञान में पैदा हुई जो सुख आदि को विषय करने हारी वृत्ति हैं। सत्त्वगुण का परिणामरूप। उन करके अनुभव करता है ॥ ६५ ॥

अज्ञानवृत्तयः सूक्ष्मा विस्पष्टा बुद्धिवृत्तयः ॥
इति वेदांत सिद्धांत पारगः प्रवदंति हि ॥६६॥

शंका—जो अज्ञान की वृत्तियों कर के सुषुप्ति में सुख को अनुभव करता है। तो सुषुप्ति में मैं सुख को अनुभव करता हूं यह अभिमान भी होना चाहिये। जैसे जाग्रत् में मैं सुख को अनुभव करता हूं। यह अभिमान होता है।

उत्तर—सुषुप्ति में जिन अज्ञान की वृत्तियों कर के अनुभव करता है। सो अज्ञान की वृत्ति बुद्धि की वृत्तियों से सूक्ष्म हैं। इस से सुषुप्ति में सुख का अभिमान नहीं होता। और जाग्रत् में बुद्धि की वृत्तियों कर के सुख का अनुभव करता है। सो बुद्धि की वृत्ति अज्ञान की वृत्तियों से स्थूल हैं। इस कारण से जाग्रत् में सुख का अभिमान होता है। ऐसा वेदान्त सिद्धान्त के पारगामी ब्रह्मवेत्ता कहते हैं ॥ ६६ ॥

मांडूक्यतापनीयादिश्रुतिष्वेतदतिस्फुटम् ॥
आनंदमयभोक्तृत्वं ब्रह्मानंदे च भोग्यता ॥ ६७ ॥

शंका—सुषुप्ति में सूक्ष्म अज्ञान की वृत्तियों कर के ब्रह्मानन्द को आनन्दमय भोक्ता है। इस में क्या प्रमाण है।

उत्तर—मांडूक्य उपनिषद् और नरसिंह तापनीय उपनिषद् की श्रुतियों में प्रकट कहा है कि सुषुप्ति में आनन्दमय ब्रह्मानन्द को भोक्ता है। सो श्रुतियों के अर्थ को सुन ॥ ६७ ॥

एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनतांगतः ॥
आनंदमय आनंदभुक् चेतोमयवृत्तिभिः ॥६८॥

अर्थ—श्रुतिः । (सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयोह्यानन्द भुक्चेतोमुखः) अर्थ--सुषुप्ति है स्थान जिसका ऐसा जो आनन्दमय । सुषुप्ति अवस्था का अभिमानी । सो ब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त हुआ । प्रज्ञानघनता को प्राप्त हुआ । चैतन्य के प्रतिबिम्ब सहित अज्ञान की वृत्तियों कर के आनन्द को भोगता है ॥६८

विज्ञानमयमुख्यैर्यो रूपैर्युक्तः पुराधुना ॥
सलयेनैकतां प्राप्तो बहुतंदुलपिष्टवत् ॥६९॥

अर्थ—अब इस मांडूक्य उपनिषद् की श्रुति के अर्थ को विस्तार से सुन। तहां श्रुतिः । (सवा अयमात्मा ब्रह्मविज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमय वायुमय आकाशमय स्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमय इत्यादि) । अर्थ--वास्तव से यह आत्मा ब्रह्मरूप है । सो जाग्रत् में विज्ञानमय रूप होता है । मनोमय प्राणमय नेत्रमय श्रोत्रमय पृथिवीमय जलमय पवनमय आकाशमय तेजोमय अतेजोमय काममय अकाममय क्रोधमय अक्रोधमय धर्ममय अधर्ममय तन्मय यन्मय एतन्मय इदंमय अदोमय रूप होता है । और जैसे करता है और जैसे विचरता है । तैसे ही रूप को पुरुष प्राप्त होता है । और पुण्य कर्मों के करनेहारा पुण्यवान् होता है । और पापकर्मों के करने हारा पापी होता है । इत्यादि श्रुतियों ने कहे जो रूप उन करके युक्त होता भया । सो आत्मा सुषुप्ति में विज्ञानमय आदि उपाधियों के लय होने से । एकाकारता को प्राप्त होजाता है । जैसे पिसे हुए चावल आटारूप एकता को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ६९ ॥

प्रज्ञानानि पुरा बुद्धिवृत्तयोऽथ घनोऽभवत् ॥
घनत्वं हिमबिंदूनामुदग्देशो यथा तथा ॥७०॥

अर्थ—अब प्रज्ञान घन शब्दका अर्थ सुन । जाग्रत् आदि में घट पट आदि पदार्थों को ग्रहण करने हारी जो बुद्धि की वृत्ति हैं, उनका नाम प्रज्ञान है, सो प्रज्ञानरूप बुद्धि की वृत्ति सुषुप्ति काल में घट आदि विषयों का अभाव होने पर घन हो जाती हैं, जिस प्रकार बर्फ की बूंदें शीतल जल वाले स्थान में घन हो जाती हैं ॥ ७० ॥

तद्घनत्वं साक्षिभावं दुःखाभावं प्रचक्षते ॥
लौकिकास्तार्किका यावद्दुःखवृत्तिः विलोपनात् ॥७१॥

अर्थ—जो ये वेदांत शास्त्र में साक्षी रूप प्रज्ञान घनता कही है, उस को शास्त्र के संस्कारों से रहित लोक और शास्त्र वालों के मध्य में नैयायिक, दुःखाभाव कहते हैं, जिस कारण से सब दुःख वृत्ति लय हो जाती हैं ॥ ७१ ॥

अज्ञानवृत्तिविचिता चित्स्यान्मुखमानंदभोजने ॥
भुक्त्वा ब्रह्मसुखं त्यक्त्वा वहिर्यात्यथ कर्मणा ॥ ७२ ॥

अर्थ—अब चेतोमुख शब्द का अर्थ सुन , अज्ञान की वृत्तियों में प्रतिबिंब भाव को प्राप्त हुआ जो चैतन्य है , सो सुषुप्ति में ब्रह्मानंद के भोगने में मुख की नाईं साधन है ।

शंका—जो सुषुप्ति में आनंदमय रूपता करके , जीव ने ब्रह्मानंद भोगा है , तो उस ब्रह्मानंद को त्याग कर दुःखों के स्थान जाग्रत् को क्यों प्राप्त होता है ।

उत्तर—पुण्य पाप कर्म रूप फांसी करके बंधा हुआ जीव, पुण्य पाप करके प्रेरा हुआ ब्रह्मानंद को त्याग कर , जाग्रत् अथवा स्वप्न में आता है ॥ ७२ ॥

कर्मजन्मांतरेभूयत्तद्योगाद्बुध्यते पुनः ॥
इति कैवल्यशाखायाँ कर्मजो बोध ईरितः ॥ ७३ ॥

शंका—यह आपने कैसे जाना कि पुण्य पाप रूप कर्म कर के प्रेरा हुआ जीव साक्षात् करे हुए ब्रह्मानंद को त्याग कर जाग्रत् अथवा स्वप्न को प्राप्त होता है ।

उत्तर—श्रुतिः । (पुनश्च जन्मांतरकर्मयोगात्सएव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः) अर्थ--जन्मांतरों में करे जो कर्म हैं , उनके संबंध से जीव फिर सुषुप्ति से जागता है , ऐसे कैवल्य उपनिषद् में कर्मजन्य जाग्रत् अवस्था कही है ॥७३॥

कंचित्कालं प्रबुद्धस्य ब्रह्मानंदस्य वासना ॥
अनुगच्छेद्यतस्तूष्णीमास्ते निर्विषयः सुखी ॥ ७४ ॥

अर्थ—सुषुप्ति में जीवने ब्रह्मानंद का अनुभव करा है, इस में हेतु सुन, सुषुप्ति से जागे हुए पुरुष को कुछ एक कालपर्यन्त ब्रह्मानंद के संस्कार रहते हैं , जिस कारण से विषयों के संबंध से विना सुखी कुछ एक काल चुपका रहता है, इस से जाना जाता है कि इस को ब्रह्मानंद के संस्कार हैं ॥ ७४ ॥

कर्मभिः प्रेरितः पश्चाज्ञानादुःखानि भावयन् ॥
शनैर्विस्मरति ब्रह्मानंदमेषोऽखिलो जनः ॥ ७५ ॥

शंका---जो ब्रह्मानंद के संस्कारों कर के सुषुप्ति से उठा हुआ पुरुष चुपका रहता है तो सदा ही तैसे तूष्णीम् क्यों नहीं रहता ।

उत्तर—पुण्य पापरूप कर्मों से प्रेरा हुआ अनेक प्रकारके दुःखों को चिंतन करता हुआ धीरे २ ब्रह्मानंद को भूल जाता है ॥७५॥

प्रागूर्ध्वमपि निद्रायाः पक्षपातो दिने दिने ॥
ब्रह्मानंदे नृणाँ तेन प्राज्ञोस्मिन्विवदेत कः ॥ ७६ ॥

अर्थ –इस से भी ब्रह्मानंद में विवाद नहीं करना चाहिये, जिस कारण से दिन २ में निद्रा की प्राप्ति से पूर्व और पीछे मनुष्यों की ब्रह्मानंद में प्रीति होती है, जो ब्रह्मानंद में प्रीति न हो, तो निद्रा के लिये लोक कोमल शय्या आदि को क्यों संपादन करें, और निद्रा के अंत में सुपुप्ति में प्रतीत हुआ जो आनंद उस ब्रह्मानंद के त्याग ने को असमर्थ हुए, तूष्णीम् क्यों स्थित हों, निद्रा के आदि में कोमल शय्या आदि के संपादन करने से, और निद्रा के अंत में तूष्णीं स्थित होने से, जाना जाता है कि सुपुप्ति में ब्रह्मानंद है, इस में कोई बुद्धिमान् विवाद नहीं करता ॥७६॥

ननु तूष्णीं स्थितौ ब्रह्मानंदश्चेद्भाति लौकिकाः ॥
अलसाश्चरितार्थाःस्युः शास्त्रेण गुरुणात्र किम् ॥ ७७ ॥

अर्थ--गुरुसेवा और श्रवण आदि से प्राप्त होने योग्य ब्रह्मानंद को तूष्णीं स्थितिमात्र से प्राप्त होने पर, सब आलसी लोक कृतार्थ होने चाहिये, तिस से गुरु सेवा और श्रवण आदि की व्यर्थता हुई ॥७७॥

बाढं ब्रह्मेति विद्युश्चेत्कृतार्थास्तावतैव ते ॥
गुरुशास्त्रे विनाऽत्यंतं गंभीरं ब्रह्म वेत्ति कः ॥ ७८ ॥

उत्तर--तूष्णीं स्थिति के समय जो सुख सो ब्रह्मानंद है, ऐसे ज्ञान के होने पर कृतार्थता होती है, परन्तु यह ज्ञान गुरु सेवा आदि के विना नहीं होता, तिस से मन वाणी का अविषय सर्वज्ञ सब के अंतर स्थित सर्वरूप ब्रह्म को ये गुरु शास्त्र के और उपाय से नहीं जानता, तिस से गुरु सेवा आदि अवश्य करने योग्य हैं ॥७८॥

जानाम्यहं त्वदुक्त्याद्य कुतो मे न कृतार्थता ॥
शृण्वत्र त्वादृशो वृत्तं प्राज्ञंमन्यस्य कस्यचित् ॥ ७९ ॥

शंका– आपके वाक्य से तूष्णीं स्थिति काल में प्रतीत हुए सुख को ब्रह्मानंद जानने हारा जो मैं हूं, सो मेरी कृतार्थता नहीं प्रतीत होती।

उत्तर--(हास्यसहित) इसमें तेरे जैसा अपने आपको बुद्धिमान् मानने हारा जो पुरुष है, उसकी कथा सुन ॥७९॥

चतुर्वेदविदे देयमिति शृण्वन्नवोचत ।
वेदाश्चत्वार इत्येवं वेद्मि मे दीयतां धनम् ॥ ८० ॥

अर्थ--कोई तेरे जैसा बुद्धिमान् पुरुष था , उस ने किसी दाता का काशी में यह वचन सुना कि चारों वेदों के जानने हारे को यह बहुत धन देना चाहिये , तब तेरे जैसा बुद्धिमान् यह बोला कि तुम्हारे वचन से चारों वेदों को मैं जानता हूँ मुझे यह धन देदो जैसे वह चारों वेदोंके जानने हारा था तैसे तू ब्रह्मानंद के जानने हारा है ।८०।

शंख्यामेवैप जानाति न तु वेदानशेपतः ॥

यदि तर्हि त्वमप्येवं नाशेपं ब्रह्म वेत्सि हि ॥ ८१ ॥

शंका-वेद चार हैं ऐसे जो जानता है,सो वेदों को गिनती को ही जानताहैऔर उन के स्वरूप को नहीं जानता अर्थात् वेद पढ़ नहीं सकता ।

उत्तर--तैसे तू भी ब्रह्मानन्द इस नाम को जानता है पर संपूर्ण ब्रह्म को नहीं जानता ॥ ८१ ॥

अखंडैकरसानंदे मायातत्कार्यवर्जिते॥

अशेपत्वसशेपत्ववार्तावसर एव कः ॥ ८२ ॥

शंका--गिनती से भिन्न वेदों के पाठ की नाईं सजातीय विजातीय स्वगत भेद से रहित आनन्दरूप ब्रह्म में अज्ञात अंश कोई बनता नहीं, तिस से यह जो उलाहना दिया है कि तू संपूर्ण ब्रह्म को नहीं जानता सो उलाहना नहीं बनता । जिस से अखंड एकरस आनन्दरूप, माया और माया के कार्य से रहित ब्रह्म में संपूर्ण जानना और असंपूर्ण जानना इस वार्ता का अवसर नहीं ॥ ८२ ॥

शब्दानेव पठस्याहो तेपामर्थं च पश्यसि ॥

शब्दपाठेऽर्थं बोधस्ते संपादत्वेन शिष्यते ॥ ८३ ॥

उत्तर--ब्रह्मज्ञान में भी संपूर्णता और असंपूर्णता बनतीहै उस को सुन । यह जो तू कहता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूं । तो तुझ से हम पूछते हैं कि अखंड एकरस अद्वितीय सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म इत्यादि शब्दों को तोते की नाईं पढ़ता है अथवा उन शब्दों के अर्थ को सजातीय आदि भेद से रहित को भी जानता । जो कहे शब्दों को पढ़ता हूं तो उन शब्दों के अर्थ को भी जानना चाहता है । तिस से तू संपूर्ण ब्रह्म को नहीं जानता ॥ ८३ ॥

अर्थं व्याकरणाद्बुद्धे साक्षात्कारोवशिष्यते ॥

स्यात्कृतार्थत्वधीर्यावत्तावद्गुरुमुपास्व भोः ॥ ८४ ॥

अर्थ--और जो कहे उन शब्दों के अर्थ को मैं व्याकरण आदि से जानता हूं । तो उसका साक्षात्कार करना संशयविपर्यय से रहित बाकी रहता है। तिससे परोक्षज्ञान के होने पर भी अपरोक्षज्ञान के अभाव से संपूर्ण न हुवा । ज्ञान की संपूर्णता कब होती है ? जब कृतकृत्यता की प्राप्ति होतीहै । तब ज्ञान की संपूर्णता जाननी । तिस से जब तक कृतकृत्यता न होवे तब तक गुरुकी सेवा और श्रवण आदि करने ॥ ८४ ॥

आस्तामेतद्यत्र यत्र सुखं स्याद्विषयैर्विना ॥
तत्र सर्वत्र विद्ध्येतां ब्रह्मानंदस्य वासनाम् ॥८५॥

अर्थ—यह प्रसंग स्थित रहो। जिस का निर्णय करने लगे हैं। उस को सुन जिस २ तूर्ष्णी स्थिति आदि रूप कालमें विषयों के अनुभवसें विना सुख होता है। तिस २ तूर्ष्णी स्थिति आदि रूप काल में ब्रह्मानन्द की वासना जाननी। जिस कारणसे उस काल में जो सुख है। सो विषय सुख नहीं बनता। तिस से सुख विषय जन्य नहीं। और सामान्य अहंकार से ढका हुआ होने से सो सुख ब्रह्मानन्द रूप भी नहीं। इस इस प्रकार ब्रह्मानन्द और वासनानन्द दो सिद्ध हुए ॥ ८५ ॥

विषयेष्वपि लब्धेषु तदिच्छोपरमे सति ॥
अंतर्मुखमनोवृत्तावानंदः प्रतिबिंबति ॥ ८६ ॥

अर्थ—और तीसरा विषयानन्द है। उस का स्वरूप सुन। जिस २ काल में पुरुष को किसी वस्त्र भूषण आदि विषय की कामना होती है। तब पुरुष का चित्त बहुत तपता है। और जब उस विषय की प्राप्ति होती है। तब चित्त में से उस विषय का ताप दूर हो जाता है। ताप के दूर होने पर चित्त की वृत्ति अंतर्मुख होती है। उस वृत्ति में आत्मस्वरूप आनन्द का प्रतिबिंब पड़ता है। उसका नाम विषयानन्द है। जिस से विषय की प्राप्ति होने से चित्तवृत्ति अंतर्मुख होती है। तिस से उस का नाम विषयानन्द है ८६ ॥

ब्रह्मानंदो वासना च प्रतिबिंब इति त्रयम् ॥
अंतरेण जगत्यस्मिन्नानंदो नास्ति कश्चन ॥ ८७ ॥

अर्थ तिस से जगत् में आनन्द तीन प्रकार का ही है। एक ब्रह्मानन्द। दूसरा वासनानन्द। तीसरा प्रतिबिंबानन्द। और चौथा इस जगत् में आनन्द कोई नहीं ॥ स्वप्रकाशता करके सुषुप्ति में प्रतीत होता जो आनन्द है सो ब्रह्मानन्द है। और सुषुप्ति से उठने पर तूर्ष्णी स्थिति के समय विषयों के अनुभव विना प्रतीत होता जो आनन्द है। सो वासनानन्द है। और वांछित विषय के लाभ से अंतर्मुख हुवा जो मन। उस में जो आत्मानन्द का प्रतिबिंब उसका नाम प्रतिबिंबानन्द है। उस प्रतिबिंबऽनन्द को विषयानन्द भी कहते हैं।

शंका—यह जो आप कहते हो कि तीन प्रकार के आनन्द से भिन्न और कोई आनन्द नहीं सो आपका कथन अयुक्त है। क्यों कि आपने पूर्व और प्रकार से तीन प्रकार का आनन्द कहा है। एक ब्रह्मानन्द। दूसरा विद्यानन्द। और तीसरा विषयानंद और अब और प्रकार से आनन्द की तीन प्रकारता कहते हो। एक ब्रह्मानन्द। दूसरा वासनानन्द। तीसरा प्रतिबिंबानन्द। इस कारण से आप का कथन परस्पर विरुद्ध है और भी विरोध है आगे आप यह कहेंगे। (यावद्यावदहंकारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः तावत्तावत्सूक्ष्म दृष्टेर्निजानन्दोऽनुमीयते) अर्थ—जितनी २ अभ्यास योग से अहंकार

की विस्मृति होती है। तितनी २ सूक्ष्मदृष्टि वाले पुरुष को निजानन्द की प्राप्ति होती है। ऐसा अनुमान से जाना जाता है। इस से निजानन्द भी प्रतीत होता है। सो पूर्व कहे हुए आनन्दों से भिन्न हैं। और आगे आप और यह कहेंगे। (तादृक् पुमानुदासीनकालेप्यानन्द वासनात्॥ उपेक्ष्य मुख्यमानंदं भावयत्येव तत्परः) अर्थ—श्रद्धा आदि करके सहित एक बार ही समाधि में ब्रह्मानन्द के अनुभव करने द्वारा जो पुरुष है। सो पुरुष तूष्णीं काल में आनन्द की वासना की उपेक्षा कर मुख्यानंद में तत्पर हुआ उसी की भावना करता है। इस प्रकार मुख्यानंद पृथक् कहा है। और दूसरे अध्याय में यह कहा है। (मंदप्रज्ञंतुजिज्ञासुमात्मानंदं न बोधयेत्) अर्थ— मंदबुद्धिवाले जिज्ञासु को आत्मानंद करके बोधन करे। ऐसे आत्मानंद और कहा है योगानंदो पुरोक्तो यः) अर्थ—और योगानंद जो पूर्व कहा है। यहाँ योगानंद भी कोई एक प्रतीत होता है। और यह भी आगे कहोगे। (ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे तृतीयाध्याय ईरितः॥ अद्वैतानंद एव स्यात्) अर्थ—ब्रह्मानंद है नाम जिस का ऐसा जो ग्रंथ है उस में तीसरा अध्याय कहा है। सो अद्वैतानंद है इस वाक्य से अद्वैतानंद भिन्न प्रतीत होता है। इस कारण से यह जो आपने कहा है कि तीन प्रकार के आनंद से भिन्न जगत में और कोई आनंद नहीं। सो अयुक्त है।

उत्तर— विद्यानन्द विषयानन्द के अंतर्गत है। जिस से विद्यानन्द विषयानन्द की नाईं अंतःकरण की वृत्तिरूप है। यह वार्ता विद्यानन्द में कहेंगे। और निजानन्द और मुख्यानन्द आत्मानन्द योगानन्द अद्वैतानन्द इन पांचों आनन्दों को ब्रह्मानन्द रूपता है। सो सुन। जितनी २ अहंकार की विस्मृति हुई है। तितनी २ सूक्ष्म दृष्टि वाले पुरुष को निजानन्द की प्राप्ति का अनुमान करा है। इस श्लोक में जो निजानन्द कहा है। उस निजानन्द का नाम योगानन्द कहा है आगे. योग रूप साधन कर के जानने से उस का नाम योगानन्द है। तिस से योगानन्द और निजानन्द का भेद न हुआ। और उस निजानन्द को ही ब्रह्मानन्द कहते हैं। जिस से ऐसा आगे कहा है। (न द्वैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत्सुखं। स ब्रह्मानन्द इत्याह भगवानर्जुनं प्रति) अर्थ—जिस अवस्था में द्वैत की प्रतीति नहीं है। और निद्रा नहीं है। उस अवस्था में जो आनन्द है। सो ब्रह्मानन्द है। यह वार्ता भगवान् ने अर्जुन के प्रति कही है। तिस से निजानन्द ब्रह्मानन्द से भिन्न नहीं। ब्रह्मानंदरूप है। और मुख्यानंद भी ब्रह्मानंदरूप है। विषयानंद की और वासनानंद की उत्पत्ति स्वयं प्रकाश ब्रह्मानंद से होती है। तहाँ श्लोक। (तथा च विषयानंदो वासनानंद इत्यमू। आनन्दौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानन्दः स्वयं प्रभः) अर्थ-इस श्लोक में कार्यरूपता कर के अमुख्यानन्द रूप जो विषयानन्द और वासनानन्द हैं उनका कारण ब्रह्मानन्द कहा है। उस ब्रह्मानन्द को ही समाधि में ब्रह्मानन्द के अनुभव करने द्वारा पुरुष तूष्णीं काल में भी आनन्द की वासना की उपेक्षा कर मुख्यानन्द में तत्पर हुआ मुख्यानन्द की भावना को करता है। इस श्लोक में ब्रह्मानन्द को ही मुख्यानन्द नाम कर के कहा है। तिस से मुख्यानन्द भी ब्रह्मानन्द से भिन्न नहीं। और आत्मानन्द और अद्वैतानन्द भी ब्रह्मानन्द से भिन्न

नहीं, किन्तु आनन्दरूपहैं,जिससे तीसरे अध्याय के आदिमें यहकहेंगे,(योगानंदःपुरोक्तोयः स आत्मानन्द इष्यताम्) अर्थ–जो पूर्व योगानन्द कहा है । सो आत्मानंद है ऐसे उस ब्रह्मानन्दका नाम योगानन्द धरा । प्रथम अध्यायमें कहा जो योग उसकरके ब्रह्मानन्दक हुआ साक्षात्कार तिस करके ब्रह्मानन्दका योगानन्द नाम धरा । और उसी ब्रह्मानन्दरूप योगानन्द का नाम आत्मानन्द रक्खा । जिस से ब्रह्मानन्द की आत्मा के विवेक कर के प्रकटता होती है । तिससे उसका नाम आत्मानन्द है । ऐसे कह कर फिर यह शंका करी आत्मानन्द तो सजातीय विजातीय भेदवाला है । उसको ब्रह्मानन्द रूपता नहीं बनती । जिससे ब्रह्मानन्द सजातीय विजातीय भेद से रहित है । तिस शंका का फिर यह उत्तर दिया । आकाश से लेकर शरीर पर्यन्त तैत्तिरीय श्रुति में कहा जो जगत् । सो जगत् आनन्द से भिन्ननहीं इस से आत्मानन्द को अद्वैत ब्रह्मानन्दरूपता बनती है । तिस से आत्मानन्द और अद्वैतानन्द इन दोनों को ब्रह्मानन्दरूपता है । तिस कारण से यह सिद्ध हुआ कि जो हमने तीन प्रकार का आनन्द कहा है । एक ब्रह्मानन्द, दूसरा वासनानन्द, तीसरा विषयानन्द, इस से भिन्न और कोई आनंद नहीं ॥

शंका––जो ब्रह्मानंद और निजानंद एक हैं, तो दूसरे अध्याय में यह प्रश्न है। (नन्वेवं वासनानंदाद् ब्रह्मानंदादपीतरम् । वेत्तु योगी निजानंदम्) अर्थ–इस प्रकार योगी वासनानंद से भिन्न और ब्रह्मानंद से भिन्न निजानंद का अनुभव करो, योग से रहित मूढ़ जीव का कल्याण किस प्रकार होवे, इस श्लोक में ब्रह्मानंद और योगानंद का भेद कहना न बनेगा ।

उत्तर––एक ही ब्रह्मानंद के जगत् कारणतारूप उपाधि सहितता करके । और उपाधिरहित करके ब्रह्मानंद और निजानंद दो नाम होते हैं । तिस से ब्रह्मानंद और निजानंद इन दोनों का भेद कहना बन जाता है । वास्तव से ब्रह्मानंद और निजानंद एक हैं । और उपाधि से उन का भेद है । जैसे एक पुरुष में स्त्री रूप उपाधि से गृहस्थी व्यवहार होता है । और स्त्री उपाधि से विना ब्रह्मचारी व्यवहार होता है । तो ब्रह्मचारी का गृहस्थी से भेद कहाता है । सो भेद पुरुष के स्वरूप में नहीं । किन्तु उपाधि में है। ब्रह्मानंद से निजानंद का ऐसे उपाधि कर के भेद है । सो सुन । ब्रह्मानंद के निरूपण प्रसंग में ब्रह्मानंद को जगत् कारणता कही है । (आनंदाद्धेमानि जायंत इत्यादि) अर्थ –आनंद से ही भूत उत्पन्न होते हैं। और आनंद कर के स्थित होते हैं और आनंद में ही उनका लय होता है । तिस से ब्रह्म आनंद रूप है । जिससे ब्रह्म का लक्षण आनंद में आता है तिससे जगत् का कारण ब्रह्मानंद मायारूप उपाधिवाला है, यह जाना जाता है जिस से माया उपाधि से रहित को जगत् की कारणता नहीं बनती । और निजानंद के निरूपण के प्रसंग में यह कहा है । जितनी २ अभ्यास योग से अहंकार की विस्मृति होती है । तितनी २ सूक्ष्मदृष्टि वाले पुरुष को निजानंद की प्राप्ति अनुमान करके जानी जाती है । इस श्लोक करके अज्ञान सहित अहंकार का अभाव प्रतिपादन किया है । तिस से निजानंद माया से रहित है । तिस से यह सिद्ध हुआ कि आनंद तीन प्रकार का है । इस में शंका कोई नहीं बनती ॥ ८७ ॥

तथा च विषयानंदो वासनानन्द इत्यम् ।
आनंदौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानंदः स्वयंप्रभः ॥८८॥

शंका—इस अध्याय में ब्रह्मानन्द के विवेक की प्रतिज्ञा करी थी । तिस से वासनानन्द और विषयानन्द । इन दोनों का इस अध्याय में निरूपण करना प्रसंग से असंगत है ।

उत्तर—विषयानन्द और वासनानन्द इन दोनों का निरूपण करना प्रसंग में असंगत नहीं । जिस से ये दोनों ब्रह्मानन्द से पैदा होते हैं । इस से ब्रह्मानन्द को जनावने हारे हैं । जैसे पुत्र पिता को जनावने हारा होता है । तिस से इन दोनों का निरूपण करना भी बनता है । इस प्रकार आनन्द की तीन प्रकारता के होने पर ऊ स्वयंप्रकाश आनन्द विषयानन्द और वासनानन्द को उत्पन्न करता है । सो ब्रह्मानन्द है ॥ ८८ ॥

श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः स्वप्रकाशचिदात्मके ।
ब्रह्मानंदे सुप्तिकाले सिद्धे सत्यन्यदा शृणु ॥८९॥

अर्थ—इस प्रकार श्रुतियों से और युक्तियों से और अनुभव से सुषुप्ति में स्वप्रकाश चैतन्यरूप ब्रह्मानन्द के सिद्ध होने पर । और अवस्था में ब्रह्मानन्द के ज्ञान का उपाय कहते हैं । उसको भी सुन । जिन श्रुतियों से सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द की सिद्धि होती है । सो श्रुति कैवल्य आदि उपनिषदों की हैं । और पूर्व उनका अर्थ कहा है । अब फिर भी उनका अर्थ सुन (सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेतीत्यादि)

अर्थ-सुषुप्ति काल में अहं और इदं प्रतीति के योग्य संपूर्ण वस्तु के लय होने पर अज्ञान करके आच्छादित हुआ जीव । सुखरूप ब्रह्म को प्राप्त होता है । और जिन युक्तियों से सुषुप्ति में सुख की सिद्धि होती है । सो युक्ति ये हैं (सुखमहमस्वाप्स मित्यादि) अर्थ—इतने काल में सुख से सोया । यह जो सोकर उठे हुए पुरुष का कथन है । सो सुषुप्ति में सुख को जनावता है । तिस से अर्थापत्ति प्रमाण करके सुषुप्ति में सुख अनुभव करके स्वप्रकाश ब्रह्मानन्द सिद्ध है । आगे जाग्रत् अवस्था में जिस प्रकार ब्रह्मानन्द का निश्चय होता है । सो सुन ॥८९॥

य आनन्दमयः सुप्तौ सविज्ञानमयात्मताम् ।
गत्वा स्वप्नं प्रबोधं वा प्राप्नोति स्थानभेदतः ॥९०॥

अर्थ—जो सुषुप्ति में आनन्दमय है । अन्तः करण की विलीनतारूप उपाधि वाला । सो सुषुप्ति से जब उठता है । तब विज्ञानमयरूपता को प्राप्त होता है । सो

विज्ञानमम जाग्रत् अथवा स्वप्न अवस्था को कर्मों के अनुसार प्राप्त होता है ॥९०॥

नेत्रे जागरणं कंठे स्वप्नः सुप्तिर्हृदंबुजे ।
आपादमस्तकं देहं व्याप्य जागर्ति चेतनः ॥९१॥

अर्थ--जब नेत्रों में स्थित होता है। तब जाग्रत् अवस्था को प्राप्त होता है। और जब कंठ में स्थित होता है। तब स्वप्न अवस्था को प्राप्त होता है और जब हृदय कमल में स्थित होता है। तब सुषुप्तिअवस्था को प्राप्त होता है। जाग्रत् अवस्था में जीव चरणों से लेकर मस्तक पर्यंतसम्पूर्ण देह में व्याप कर स्थित होता है ॥९१॥

देहतादात्म्यमापन्नस्तप्तायः पिण्डवत्ततः ।
अहं मनुष्य इत्येवं निश्चित्यैवावतिष्ठते ॥९२॥

अर्थ-देह के साथ तदात्मता को प्राप्त हो जाता है। जैसे तप्त लोह पिण्ड अग्नि के साथ तदात्मता को प्राप्त होजाता है। जिससे मनुष्यादि शरीरके साथ तदात्मा को प्राप्त हो जाता है। तिसी कारण से मैं मनुष्य हूं ऐसे निश्चय कर स्थित होता है ९२॥

उदासीनः सुखी दुःखीत्यवस्थात्रयमेत्यसौ ।
सुखदुःखे कर्मकार्ये त्वौदासीन्यं स्वभावतः ॥ ९३ ॥

अर्थ—और शरीर के साथ तादात्म्याभिमान की प्राप्ति से अनन्तर। जीव तीन अवस्थाओं को प्राप्त होता है। एक उदासीनता और एक सुखरूप। और एक दुःख रूपासुख दुःखरूप अवस्था कर्म करके उत्पन्न होते हैं। जिन में सुख दुःख कर्म से उत्पन्न होते हैं। और उदासीनता अवस्था कर्मों से पैदा नहीं होती। किंतु स्वभाव सिद्ध है ॥ ९३ ॥

बाह्यभोगान्मनोराज्यात्सुख दुःखेद्विधा मते ॥
सुखदुःखांतरालेषु भवेत्तूष्णीमवस्थितिः ॥ ९४ ॥

अर्थ—सो सुख दुःख दो प्रकार के हैं। एकतो बाह्य विषयों के भोग से। और एक मनोराज्य से। सुख के निवृत्त होने पर और दुःख के के प्राप्त हुये और दुःख का अभाव होने पर। और सुख की न प्राप्ति होने पर। मध्य में जो अवस्था है सो उदासीन अवस्था है ॥ ९४ ॥

न कापि चिंता मेस्त्यद्य सुखमास इतिब्रु वन् ॥
औदासीन्ये निजानंदे भानं वक्त्यखिलो जनः ॥ ९५ ॥

अर्थ—उस उदासीन अवस्था में सब लोक निजानन्द के भान को कहते हैं।

जिस से अब मेरे को कोई भी चिंता नहीं। मैं सुख से स्थित हूं। ऐसे कहते हैं। इस से जाग्रत् अवस्था में भी निजानन्द का भान होना है॥ ९५॥

अहमस्मीत्यहंकार सामान्याच्छादितत्वतः॥
निजानन्दो न मुख्योयं किंत्वसौ तस्य वासना॥ ९६॥

शंका—उदासीन अवस्था में जो सुख प्रतीत होता है सो निजानन्दरूप है। और निजानन्द ब्रह्मानन्दरूप है। अब आप ने ऐसे कहा है। और पीछे तुम ने कहा था कि जो उदासीन अवस्था में सुख प्रतीत होता है। सो वासनानन्द है। तिस से पिछले वचन का और अब के वचन का विरोध हुआ।

उत्तर—उदासीन अवस्था में प्रतीत होता जो सुख है। सो सुख निजानन्द नहीं। जिस से मैं हूं यह जो सामान्य अहंकार है उस से ढका हुआ है।

शंका—जो उदासीन अवस्था में प्रतीत हुए सुख को मुख्य निजानन्दता नहीं तो उसका क्या रूप है।

उत्तर—उस को वासनानन्दरूपता है॥ ९६॥

नीरपूरितभांडस्य बाह्ये शैत्यं न तज्जलम्।
किन्तु नीरगुणस्तेन नीरसत्तानुमीयते॥ ९७॥

शंका—मुख्यानन्द से भिन्न वासनानन्द तो कोई प्रसिद्ध नहीं।

उत्तर—मुख्यानन्द से भिन्न वासनानन्द अनुमान से जाना जाता है। जैसे जल करके पूर्ण हुआ जो घट है। उस के बाहर जो शीतलता प्रतीत होती है। सो शीतलता जल नहीं। जिस से जल का लक्षण द्रवता उस में नहीं है। किंतु वह शीतलता जल का गुण है। जिस कारणसे उस शीतलता करके जलका अनुमान किया जाता है। सो अनुमान का स्वरूप यह है। यह घट जल वाला है। जिस से शीतल है। जिस घट में जल नहीं होता। उस घट में शीतलता भी नहीं होती। जैसे तत्काल अवे में से निकसा जो घट है। उस में जल नहीं होता तो शीतलता भी नहीं होती। अथवा ऐसे अनुमान करना। घट में प्रतीत होती जो शीतलता है सो जल से पैदा हुई है। शीतल होने से। जैसे जल में जो शीतलता है। सो जल से पैदा हुई है। जैसे घट में शीतलता कर के जल जाना जाता है॥ ९७॥

यावद्यावदहंकारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः।
तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टे र्निजानंदोनुमीयते॥ ९८॥

अर्थ-तैसे उदासीन अवस्थामें प्रतीत होता जो वासनानन्द है।उस करके निजानंदजाना जाताहै कठवल्ली उपनिषद्में जोयोगकहाहै (अभ्यासयोगतः ज्ञानमात्मनि महतिनियच्छे त्तयच्छेच्छांत आत्मनि) जिज्ञासु प्रथम अपनी इन्द्रियों की वृत्तियों को मन में निरोध करे। और मन की वृत्तियों को विशेष अहंकार में निरोध करे । अर्थात् काम क्रोध आदि रूप अनेक वृत्तियों को त्याग कर। मैं देवदत्त हूं । मैं ब्राह्मण हूं । ऐसे विशेष अहंकार मात्र रूपता करके स्थितहोवे। और उस विशेष अहंकार को त्याग कर मैं हूं इस सामान्याहंकारसहित स्थित होवे। और फिर सामान्याहंकार को त्याग कर शाँतरूप आत्मा में स्थित होवे। इस श्रुति करके कहा जो निर्विकल्प समाधि का अभ्यासरूप योग। उस करके जितना२ अहंकार की वृत्तियों का लय होवे। तितनी२ चित्त की सूक्ष्मता होती है । और जितनी२ चित्त की सूक्ष्मता होती है । तितनी२ निजानन्द की प्रकटता होती है। ऐसा अनुमान से जाना जाता है । सो अनुमान इस प्रकार करना। अहंकार की संकोचता रहित जो दूसरा क्षण है । सो अहंकार की संकोचता सहित प्रथम क्षण से अधिक निजानन्द की प्रकटता वाला है। अहंकार की संकोचता अधिक वाला होने से। जैसे प्रथम अहंकार की संकोचता वाला क्षण था। जितना२ अहंकार का संकोच होता है। जितनी२ बुद्धि की सूक्ष्मता होती है। तितनी२ निजानन्द की प्रकटता होती है ॥६८॥

सर्वात्मना विस्मृतः सन्सूक्ष्मतां परमां व्रजेत् ।
अलीनत्वान्न निद्रैषा ततो देहोपि नो पतेत् ॥६६॥

अर्थ—बुद्धि की सूक्ष्मता की अवधि कहाँ तक है? सर्वथा अहंकार का जो अभाव है। सो बुद्धि की सूक्ष्मता की अवधि है।

शंका—सर्वथा अहँकार का अभाव तो सुषुप्ति में होता है। तिससे बुद्धि की परम सूक्ष्मता निद्रा हुई।

उत्तर—यह जो बुद्धि की सूक्ष्मता है सो निद्रा नहीं । जिससे अन्तःकरण की सब वृत्तियों के लय होने पर भी अन्तःकरण के स्वरूप का लय नहीं होता। अंतःकरण को कारण रूपता करके स्थिति का नाम सुषुप्ति है। ऐसे आचार्यों ने कहा है। तिस अहंकार की सर्वथा संकोच रूप बुद्धिकी सूक्ष्मता निर्विकल्प समाधि रूप है। निद्रारूप नहीं। निर्विकल्प समाधि में अन्तःकरण का स्वरूप से लय नहीं होता। यह आप किससे जानते हो? निर्विकल्प समाधिमें शरीर गिरता नहीं। और सुषुप्तिमें अहंकार

के लय होने पर शरीर गिर जाता है। तिस से शरीर के न गिरने से जाना जाता है कि निर्विकल्प समाधि में अन्तःकरण केस्वरूप का लय नहीं हुआ। और सुषुप्ति में शरीर के गिरजाने से मालूम होता है कि अन्तःकरण का स्वरूप में लय होगया है॥९९॥

नद्वैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत्सुखम् ॥

स ब्रह्मानंद इत्याह भगवानर्जुनं प्रति ॥१००॥

अर्थ—इस विचार से यह सिद्ध हुआ कि जिस काल में द्वैत की प्रतीति नहीं और निद्रा भी नहीं। उस काल में जो प्रतीत होता है सुख सो ब्रह्मानन्द है।

शंका—निद्रा और द्वैत की प्रतीति के न होने पर। प्रतीत होते सुखको ब्रह्मानंद रूपता तुम किस से जानते हो।

उत्तर—उसको ब्रह्मानन्द रूपता हम भगवान् के वचन से जानते हैं। गीता के छठे अध्याय में अर्जुन के ताईं भगवान् ने कहा है। द्वैत की प्रतीति और निद्रा का अभाव होने पर। जो सुख प्रतीत होता है सो ब्रह्मानन्द है॥१००॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

आत्म संस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥१०१॥

शंका—गीता के छठे अध्याय में किन श्लोकों करके भगवान् ने कहा है।

उत्तर—जिन श्लोकों से भगवान् ने कहा है। उनको सुन। अर्थ के क्रम की अनुसारता करके ब्रह्मानन्द की अभिलाषा वाला जिज्ञासु धैर्य वाली बुद्धि करके। धीरे२ उपरामता को प्राप्त होवे। उपरामता की अवधि कहां तक है? मन की आत्मा में स्थिति पर्यन्त। उपरामता की अवधि है। मन की आत्मा में सम्यक् स्थिति का स्वरूप यह है। सम्पूर्ण जगत् आत्मस्वरूप है। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। नहि श्रुतिः। आत्मैवेद सर्वं न ततोऽन्यत्किंचिदस्ति। ऐसी मन की आत्मा में स्थिति को करके किसी अनात्म वस्तु का चिन्तन न करे। यह योग की परम अवधि है॥१०१॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥१०२॥

अर्थ—उस योग की परम अवधि के सम्पादन में प्रवृत्त हुआ योगी प्रथम क्या करे? योगी प्रथम स्वभाव दोष से चंचल आत्मा में स्थिरता को न प्राप्त हुआ मन जिस२ काल में जिस२ विषय के लिये जिस२ इन्द्रिय द्वारा निकसे। उस२ काल

में उसर२ शब्द आदि विषयों की मिथ्या रूपता आदि दोषों को देखकर। उनमें शोभन बुद्धि को त्याग कर। वैराग्य भावना सहित उस२ इन्द्रिय को रोके। इन्द्रियों को रोक कर इस मन को आत्मा में स्थापन करे। इस प्रकार योग के अभ्यास करने हारे योगी का अभ्यास के प्रभावसे मन आत्मा में अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होता है ॥१०२॥

प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ॥
उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥१०३॥

अर्थ—मन के शांत होने पर क्या होता है? सब विक्षेपों से रहित होने से, परम शान्त हुआ है मन जिस योगी का, और क्षीण हो गये हैं मोह आदि क्लेश जिसके और नष्ट हो गये हैं सब पाप जिस के, और छांदोग्य उपनिषद् में प्रतिपादन करी जो ब्रह्म दृष्टि। (ब्रह्मैवेदं सर्वम्) अर्थ—निश्चय कर के यह सब जगत् ब्रह्मरूप है, जिससे ब्रह्म से पैदा हुआ है, और ब्रह्म में लय को प्राप्त होता है, और ब्रह्म से स्थिति को प्राप्त होता है, इत्यादि वाक्यों कर के सब जगत् ब्रह्म रूप है। इस निश्चय कर के युक्त जीवन्मुक्त जो योगी है, उसको उत्तम सुख प्राप्त होता है। जिस सुख का नाश नहीं होता, और जिस से अधिक और कोई सुख नहीं है ॥ १०३ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धम् योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ १०४ ॥

अर्थ—चित्त जिस काल में योग अभ्यास कर के सब विषयों से निवारण किया हुआ उपरामता को प्राप्त हो जाता है, और जिस कालमें समाधि करके शुद्ध हुये अंतः करण से, देह इंद्रिय आदि से परे चैतन्य ज्योतिः स्वरूप आत्मा के अनुभव को करता हुआ, आत्मा में ही तुष्टि को प्राप्त होता है, विषयों में तुष्टि को नहीं प्राप्त होता ॥ १०४ ॥

सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ १०५ ॥

अर्थ—और जिस काल में आत्मा में स्थित हुआ योगी अत्यन्त सुख को अनुभव करता है, जो उत्पत्ति विनाश आदि से रहित है, और बुद्धि कर के ग्राह्य है, अर्थात् बुद्धि कर के ग्रहण करा जाता है, इन्द्रियों से जिस का ग्रहण नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जो विषयों से पैदा नहीं होता ऐसे सुख को अनुभव करता है, और जिस काल में आत्मा में स्थिति को प्राप्त हुआ यह योगी, आत्म स्वरूप से चलायमान नहीं होता ॥ १०५ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ १०६ ॥

अर्थ—और आत्मलाभ को प्राप्त हो कर और सब ब्रह्म लोक आदि के लाभ को आत्मलाभ से अधिक नहीं मानता । (आत्मलाभान्न परं विद्यते) अर्थ-आत्मलाभ से परे और कोई लाभ नहीं, इस स्मृति के प्रमाण से, और जिस आत्मतत्त्व में स्थित हुआ शस्त्रों कर के शरीर के छेदन आदि रूप बड़े दुःख कर के भी प्रह्लाद आदि की नाईं चलायमान नहीं होता ॥ १०६ ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगंयोगसंज्ञितम् ।

स निश्चयेन योक्तव्योगो निर्विस्मचेतसा ॥ १०७ ॥

अर्थ—उसको जिज्ञासु योग जाने, सब दुःखों के संयोग का वियोग रूप योग है, सो योग दृढ़ निश्चय कर के करने योग्य है, योगाभ्यास में वैराग्य से रहित चित्त कर के, तात्पर्य यह है कि मुझे योग करने हुए छ महीने हुए हैं । और अब तक ब्रह्मानं की प्राप्ति नहीं हुई । तिस से मुझे योग से क्या लेना है, यह जो वैराग्य है । उस से रहित जो चित्त है, उस कर के योग करना ॥ १०७ ॥

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥ १०८ ॥

अर्थ—योगाभ्यास से नष्ट हो गये हैं पाप जिस के, और योग में जो विघ्न हैं लय विक्षेप कषाय रसास्वाद, उन से रहित हुआ योगी सदा आत्मा को ब्रह्म रूप चिन्तन करता हुआ, अनायास से ब्रह्म रूप सुख को प्राप्त होता है, सो ब्रह्म स्वरूप सुख विनाश से रहित है । और उस सुख से अधिक और कोई सुख नहीं है ॥ १०८ ॥

उत्सेकउदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।

मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥ १०९ ॥

अर्थ—योगाभ्यास में वैराग्य से रहित होकर, करा हुआ योगाभ्यास मोक्ष रूप फल के देने हारा होता है, इस अर्थ को दृष्टान्त सहित गौड़ पादाचार्य जी ने भी कहा है योगाभ्यासमें लगा हुआ योगी टिट्टिभकी नाईं दृढ़ चित्त होकर लगेसो टिट्टिभ का दृष्टांत सुन । एक टटीरा टटीरी सहित समुन्द्र के किनारे रहता था, उनकी टटीरी गर्भवती थी, उसने अपने स्वामी टटीरेसे कहा कि मुझे अन्डे देने हैं, किसी और स्थान

में चल चलो न जाने हमारेअन्डों को समुद्र लहरों से बहा ले जाय, तब टटीरे ने कहा कि समुद्र की क्या सामर्थ्य है, जो वह हमारे अन्डे ले जाय, तू स्त्री स्वभाव कर के डरती है तब टटीरी ने कहा कि मैं स्त्री स्वभाव करके तो नहीं डरती, समुद्र बड़ा है, हम छोटे जैसे जीव हैं ऐसा सुनकर टटीरा बहुत हंसा, और कहने लगा कि देखो मूर्ख स्त्री मेरे प्रताप को नहीं जानती, जो समुद्र मेरे अन्डों को बहा ले जाय, तो मैं समुद्र को सुखा दूं, तू समुद्र के भय से रहित हो कर निःशंक अन्डे दे, यह वार्ता समुद्र सुनता था, वह अपने मन में कहने लगा कि इस पक्षी के अन्डे बहा कर इस पक्षी का पुरुषार्थ देखना चाहिये, उस के बाद दो चार दिन पीछे टटीरी ने अन्डे दिये, एक दिन टटीरी टटीरा दोनो चुग्गा चुगने को गये थे, पश्चात् समुद्र उनके अन्डों को बहा ले गया, जब टटीरी चुग्गा चुग कर आई, तब टटीरी बहुत शोक को प्राप्त हुई, और टटीरे को बहुत दुर्वचन कहे। तब टटीरा बोला कि तू धीरज कर और मेरे पुरुषार्थ को देख मैं समुद्र को सुखाता हूं, ऐसे कह कर चूंच में मिट्टी लेकर समुद्र में जा छोड़े। और समुद्र में से जितनी जल की बूंद कुशा के अग्र भाग में स्थित होती है, तितनी जल की बूंद चोंच में लेकर बाहर छोड़ दे, इस प्रकार समुद्र के सुखाने का आरम्भ किया, तब उस टटीरे को और पक्षी निवारण करने लगे, पर टटीरा समुद्र के सुखाने से निवृत्त न हुआ और पक्षियों से कहा कि तुम आराम से अपने स्थानों में विश्राम करो, मैं ने तुम्हारे भरोसे समुद्र के सुखावने का आरम्भ नहीं करा है, और जो तुम्हारी मेरे साथ मित्रता है, तो तुम भी समुद्र के सुखावने में उद्यम करो, तब सब पक्षियों ने कहा कि इस की प्रसन्नता के लिये सभी यह काम करो, इस प्रकार लक्ष किरोड़ो पक्षी एकट्ठे हो कर समुद्र को सुखाने लगे, तब उस स्थान में विचरते २ नारद मुनीश्वर आ प्राप्त हुए, और पक्षियों का तमाशा देखा, और पूंछा कि हे पक्षियो ! तुम क्या करते हो। तब टटीरा बोला कि हम समुद्र को सुखाते हैं। समुद्र ने हमारे अन्डे बहा लिये हैं। तब नारद जी ने उस टटीरे को बहुत समझाया। पर टटीरा न माना। और कहा कि जब सूखेगा तब छोड़ूंगा। तब नारद उस का दृढ़ निश्चय देख कर बहु प्रसन्न हुये। और उसको नारद जी ने वर दिया कि तेरी मनोभिलषित कामना सिद्ध होगी। अर्थात् तेरे अंडे तुझे मिलेंगे। यह कह कर नारद जी वहाँ से चले और गरुड़ जी के पास जाकर बोले कि एक टटीरी के अंडे समुद्र ने बहा लिये हैं। इस में सब पक्षी समुद्र के सुखाने में यत्न कर रहे हैं। और समुद्र बड़ा गंभीर है। और पक्षी बड़े दुखी

हो रहे हैं। तिस से तेरे को उन की सहायता करनी चाहिये। क्योंकि तू पक्षीराज है, और पक्षियों का समुद्र के साथ विरोध है ऐसे नारद का वचन सुन कर गरुड़ बहुत क्रोधवान् होकर आया। और समुद्र में पक्ष पर मारा, उस से समुद्र योजन भर सूख गया, और भयभीत होकर गरुड़ जी के चरणों में आ पड़ा, और कहने लगा कि मेरा क्या अपराध है जो आप ने मेरे ऊपर क्रोध किया, तब गरुड़ बोला कि हमारी प्रजा को तू दुःख देता है, क्योंकि टटीरे के अंडे तैने बहा लिये हैं, तब समुद्र बोला कि टटीरे के अंडे मुझ से लेलो और मेरे ऊपर कृपा करो, जैसे टटीरे ने खेद से रहित होकर यत्न किया, उस से समुद्र को जीत लिया, तैसे जिज्ञासु भी खेद से रहित होकर मन के जीतने का यत्न करे, तो मन को जीत लेता है जैसे समुद्र के जीतने में टटीरे की नारद और गरुड़ ने सहायता करी है। तैसे मन के जीतने में जिज्ञासु की भी गुरु और परमेश्वर सहायता करते हैं॥ १०६॥

बृहद्रथस्य राजर्षेः शाकायन्यो मुनिः सुखम्॥
प्राह मैत्राख्यशाखायां समाध्युक्तिपुरःसरम्॥ ११०॥

अर्थ--केवल गीता में ही यह अर्थ नहीं कहा किंतु मैत्रायणी नाम यजुर्वेद की शाखा में भी यह अर्थ कहा है। उस शाखा में यह कहा है। शाकायन नाम एक ऋषि का बृहद्रथ नाम राजा शिष्य था, सो उस मुनीश्वर की शरण को प्राप्त हुआ, सो शाकायन नाम मुनि उस बृहद्रथ राज ऋषि को समाधि के उपदेश सहित ब्रह्मसुख को कहता भया॥ ११०॥

यथा निरंधनोवन्हिः स्वयोनावुपशाम्यति॥
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति॥ १११॥

अर्थ—सो जिस प्रकार कहता भया, सो सुन, जैसे दग्ध कर दिया है काष्ठआदि इंधन जिस ने, ऐसा जो अग्नि है सो अपने कारण तेजमात्र में उपशम को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् लाटा आदि रूप विशेषाकार को त्याग कर तेजोमात्ररूप होकर स्थित होता है। तैसे चित्त भी निर्विकल्प समाधिके अभ्यास से राजस तामस सब वृत्तियों के नष्ट होने से। अपने कारण सत्तामात्र में उपशम को प्राप्त हो जाता है। अर्थात सत्तामात्र शेष रह जाता है॥ १११॥

स्वयोनावुपशांतस्य मनसः सत्यकामिनः॥
इंद्रियार्थविमूढस्यानृताःकर्मवशानुगाः॥११२॥

अर्थ-सत्तामात्र शेष रहने से क्या होता है? सत्यरूप आत्मा की है कामना जिसको और अपने कारण सत्तामात्र में जो उपशम को प्राप्त हुआ है। और श्रोत्र आदि

इंद्रियों करके ग्रहण करने योग्य शब्द आदि विषयों के ज्ञान से जो रहित है, उन मन को कर्मजन्य सुख दुःख आदि स्त्री पुत्र धन आदि कर के सहित मिथ्या प्रतीत होते हैं। क्योंकि उन को माया करके रचे हुवे जानता है ॥ ११२ ॥

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ॥
यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यो गुह्यमेतत्सनातनम् ॥ ११३ ॥

शंका—चित्त के अपने कारण में उपशम को प्राप्त होने पर जगत् मिथ्यारूप हो जाता है। यह कहना अयोग्य है। क्यों कि जगत् का चित्त उपादान नहीं।

उत्तर—यद्यपि स्वरूप करके जगत् का उपादान चित्त नहीं, तौ भी जगत् को भोगने योग्यता का कारण चित्त है। यह वार्ता सर्वलोकों के अनुभव सिद्ध है। जिस से सुषुप्ति आदि में चित्त के लय होने पर, भोग कोई नहीं दीखता, तिस से सब भोग चित्त के कल्पे हुए हैं। इस से चित्त उपशम होने से जगत् मिथ्या हो जाता है, जिस कारण से चित्तरूप संसार है, इससे अभ्यास वैराग्यरूप यत्न कर के चित्त को शुद्ध करे, अर्थात् रजस्तमोवृत्तियों को निवारण कर के चित्त को एकाग्र करे।

शंका—आत्माके मोक्ष वास्ते आत्माका शोधन करना चाहिये, चित्त का शोधना व्यर्थ है।

उत्तर—जीव का चित्त जिस में होता है। उस का रूप जीव हो जाता है, जिस से धन पुत्र आदि की न्यूनता से अपनी न्यूनता मानता है। और अधिकता से अपनी अधिकता मानता है, यह जो वार्ता है सो सनातन चली आती है, और यह वार्ता गुप्त है। इतने कर के यह कहा कि स्वभाव से आत्मा शुद्ध है, उस को चित्त के संबन्ध से रागद्वेष जन्म मरण आदि प्राप्त होते हैं। इसी अर्थ को बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा है। (ध्यायतीव लेलायतीव) अर्थ—चित्त के ध्यान करने पर आत्मा ध्यान करते की नांई हो जाता है, और चित्त के चंचल होने पर आत्मा चंचल की नांई हो हो जाता है, वास्तव से आत्मा शुद्ध है, इस से चित्त के शोधने से आत्मा में रागद्वेष जन्म मरण आदि रूप संसार का अभाव हो जाता है। तिस से चित्त का शोधना व्यर्थ नहीं ॥ ११३ ॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हंति कर्म शुभाशुभम् ॥
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ ११४ ॥

शंका—अनादि जन्मों के प्रवाह में संचित करे हुए जो सुख दुःख के देने हारे

पुण्य पाप रूप कर्म हैं। उन के विद्यमान रहते। चित्त के शोधन से आत्मा में संसार की निवृत्ति कैसे होगी।

उत्तर—चित्त के शोधन से हुई जो चित्त की निर्मलता, उस से चित्त में ब्रह्म विचार उदय होता है। उस ब्रह्मविचार से ब्रह्मज्ञान उदय होता है, ब्रह्मज्ञान से सकल कर्मों का नाश हो जाता है, तिस से चित्तके शोधन करके संसार का अभाव हो जाता है। इस अर्थ में श्रुति स्मृति भी प्रमाण है, तहां श्रुतिः। (तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवंहाऽस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयंते)अर्थ—जैसे अति प्रचंड अग्नि में रुई वा फोया जल जाता है। तैसे शुद्ध चित्तवाले पुरुष के सब पाप जल जाते हैं।

उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च ॥
प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरेत् ॥ १ ॥

अर्थ—गोवध आदि उपपातकों के होने पर, और ब्रह्महत्या आदि सब महापातकों के होने पर, उन के दूर करने को प्रहरभर रात्रि शेष रहते उठ कर ब्रह्मध्यान करे, तिस से चित्त के शोधन से जन्मों के देने हारे पुण्य पाप रूप कर्म नष्ट होजाते हैं। पुण्य पाप रूप कर्म नष्ट हो गये तो क्या हुआ ? चित्त की निर्मलता से क्षीण होगये हैं पुण्य पाप रूप कर्म जिस के ऐसा जो पुरुष है। सो अपने स्वरूप अद्वयानंदलक्षण ब्रह्म में स्थित हो कर मैं अद्वयानंदरूप ब्रह्म हूं इस निश्चय से सब दृश्य में सत्यता बुद्धि को त्याग कर चैतन्यमात्ररूपता से स्थित हुआ अविनाशी ब्रह्म सुख को प्राप्त होता है ॥ ११४ ॥

समासक्तं यथा चित्तं जंतोर्विषयगोचरे ॥
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥ ११५ ॥

अर्थ—जैसे जीव का चित्त विषयों में तत्पर होता है। तैसे जो चित्त ब्रह्म में आसक्त होवे। तो ऐसा कौन पुरुष है जो मोक्ष को न प्राप्त होवे ॥

मनोहि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ॥
अशुद्धं कामसंपर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम् ॥ ११६ ॥

अर्थ—चित्त दो प्रकार का है, एक शुद्ध है और एक अशुद्ध है, काम क्रोध आदि करके संयुक्त अशुद्ध है, और काम क्रोध आदि से रहित शुद्ध है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः ॥
बंधाय विषयासक्तं मुक्तये निर्विषयं स्मृतम् ॥ ११७ ॥

अर्थ—शुद्ध मन मोक्ष का कारण है। और अशुद्ध चित्त जन्म मरण आदि का कारण है, मन ही मनुष्यों के बंध मोक्ष का कारण है। विषयासक्त चित्त बन्ध का कारण है। और विषयों से विरक्त चित्त मोक्ष का कारण है॥ ११७॥

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनियत्सुखं भवेत् ॥
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तः करणेन गृह्यते ॥११८॥

अर्थ—सच्चिदानन्दरूप आत्मा में स्थापन करा हुआ जो चित्त है। और निर्विकल्प समाधि करके धोए गये हैं, रजस्तमोरूपमैल जिस के, ऐसा जो चित्त है, उस को समाधि में जो सुख प्राप्त होता है, सो सुख वाणी से नहीं कहा जाता। जिस से समाधि का सुख संसारी लोकों के अनुभव सिद्ध नहीं, किंतु समाधिकाल का जो सुख है, सो आप ही अन्तः करण से जाना जाता है॥ ११८॥

यद्यप्यसौचिरंकालं समाधिर्दुर्लभो नृणाम् ॥
तथापि क्षणिको ब्रह्मानंदं निश्चाययत्यसौ ॥ ११९ ॥

शंका—यह समाधि तो दुर्लभ है। तिस से इस करके ब्रह्मानन्द का निश्चय नहीं बनता।

उत्तर—यद्यपि समाधि बहुत कालपर्यंत मनुष्यों को दुर्लभ है। तथापि क्षण दो क्षण पर्यन्त तो हो सकती है, उस से ब्रह्मानन्द का निश्चय बन जाता है॥ ११९॥

श्रद्धालुर्व्यसनी योऽत्र निश्चिनोत्येव सर्वथा ॥
निश्चिते तु सकृत्तस्मिन् विश्वसित्यन्यदाप्ययम् ॥ १२० ॥

शंका—कोई एक पुरुष आत्मा के साक्षात्कार वास्ते। श्रवण मनन निदिध्यासन में प्रवृत्त हुए भी आनन्द के निश्चय से रहित हुए बहिर्मुख प्रवृत्त हुए दीखते हैं।

उत्तर—श्रद्धा आदि से रहित की बहिर्मुख प्रवृत्ति हो, पर जो श्रद्धा आदि कर के संयुक्त हैं उनको आनन्द का निश्चय होता है, जिस पुरुष को समाधि में श्रद्धा है, और व्यसन है, अर्थात् जिस प्रकार समाधि सिद्ध होवे उसी प्रकार समाधि को सिद्ध करूंगा, ऐसा जो दृढ़ निश्चय है उसका नाम व्यसन है, सो पुरुष समाधि में ब्रह्मानन्द को अवश्य निश्चयकरता है, क्षणमात्रकी समाधि करके समाधिमें ब्रह्मानन्दका निश्चय होने पर, एक बार ही ब्रह्मानन्दके निश्चय वाला पुरुष जो है, सो समाधिसे विना और काल में भी ब्रह्मानन्द है ऐसे निश्चय करता है॥ १२०॥

तादृक् पुमानुदासीनकालेप्यानन्दवासनाम् ॥
उपेक्ष्य मुख्यमानन्दं भावयत्येव तत्परः ॥ १२१ ॥

अर्थ—श्रद्धा आदि करके सहित एक वार ही क्षणिक समाधि में ब्रह्मानन्द के निश्चय को प्राप्त हुआ जो पुरुष है, सो तूष्णीं अवस्था में भी प्रतीत होती जो ब्रह्मानन्द की वासना है, उसको त्याग कर निजानन्द में निश्चय वाला निजानन्द की भावना को करता है ॥१२१॥

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ॥
तदेवास्वादयत्यंतः परसंगरसायनम् ॥१२२ ॥

अर्थ—सो पुरुष इसी प्रकार व्यवहार कालमें भी निजानन्द की भावना करता है, जिसपुरुष ने क्षणिक समाधि में निजानन्द का अनुभव किया है, इसमें दृष्टांत सुन, जैसे दुराचारिणी स्त्री घर के काम काज करती हुई भी पर पुरुष के संग सुख की भावना करती है ॥ १२२ ॥

एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रांतिमागतः ॥
तदेवास्वादयन्तर्बहिर्व्यवहरन्नपि ॥ १२३ ॥

अर्थ—इसी प्रकार सब से परे शुद्ध निर्विकल्प निजानन्द में विश्रांति को प्राप्त हुआ जो धैर्यवान् पुरुष है, सो व्यवहार काल में भी निजानन्द के स्वाद को लेता रहता है ॥ १२३ ॥

धीरत्वमक्षप्राबल्येऽप्यानन्दास्वादवांछया ॥
तिरस्कृत्याखिलाक्षाणी तच्चिंतायां प्रवर्तनम् ॥ १२४ ॥

अर्थ—धैर्यवान् का अर्थ यह है, इंद्रियों को विषय के सन्मुख होने करके पुरुष को अपनी निष्ठा से चलायमान करने की सामर्थ्य है, ऐसी जो इंद्रिय हैं, उनको जीतकर निजानन्द के अनुभव की इच्छा से, निजानन्द के चिंतन में ही जो वर्तता है, सो धैर्यवान् कहाता है, अर्थात् इंद्रियों का विषयों के साथ संबंध होने पर जो इंद्रियों के अधीन नहीं होता, बलके इंद्रियों को अपने अधीन कर लेता है सो पुरुष धैर्यवान् कहाता है ॥ १२४ ॥

भारवाही शिरोभारं मुक्त्वास्ते विश्रमंगतः ॥
संसारव्यापृतित्यागे तादृग्बुद्धिस्तु विश्रमः ॥ १२५ ॥

अर्थ—अब विश्रांति का अर्थ सुन, जैसे भारके ढोने हारा पुरुष दुःख का कारण जो शिर के ऊपर बोझ है, उसको त्याग कर सुख को प्राप्त होता है, तैसे संसार के व्यवहारों को त्याग ने पर मैं सुख को प्राप्त हो जाऊंगा ऐसी उत्पन्न हुई जो बुद्धि सो विश्रांति कहाती है ॥ १२५ ॥

विश्रांतिं परमां प्राप्तस्त्वौदासीन्ये यथा तथा ॥
सुखदुःखदशायां च तदानंदैकतत्परः ॥ १२६ ॥

अर्थ—अब इसके तात्पर्य को सुन, परम विश्रांतिको प्राप्त हुआ जो पुरुष, अर्थात् संसार के व्यवहारों को त्यागने पर मैं सुख को प्राप्त हो जाऊंगा, इस दृढ़ निश्चय वाला जो पुरुष सो जैसे तूष्णीं अवस्था में, वासनानन्द को त्याग कर निजानन्द के स्वाद को लेता है, तैसे सुख दुःख के प्राप्त होने पर भी, सुख दुःखकी चिंता को त्याग कर, निजानन्द के स्वाद में ही प्रीति वाला होता है ॥ १२६ ॥

अग्निप्रवेशहेतौ धीः शृंगारे यादृशी तथा ॥
धीरस्योदेति विषयेऽनुसन्धानविरोधिनि ॥ १२७ ॥

शंका—दुःख प्रतिकूल होता है, तिससे उसके चिंतन की इच्छा न होवे, पर विषय सुख तो अनुकूल होता है, तिस से सभी पुरुष विषय सुख की इच्छा करते हैं, इस से विवेकी को विषय सुख के चिंतन की इच्छा क्यों न होवे।

उत्तर—विवेकी को विषय सुखकी इच्छा नहीं होती, जिससे विवेकी यह विवेक करता है कि विषय सुख की इच्छा विषयों के संपादन में प्रवृत्त कराती है, विषय संपादन में प्रवृत्तहोने पर, चित्त की बहुत बहिर्मुखता होती है, तिस से निजानन्द का चिंतन नहीं होता, तिस से निजानन्द का चिंतन त्याग कर विषय सुख का चिंतन करना ऐसा है, जैसे कोई मूढ़ पुरुष चिंतामणि को त्याग कर गोलियों को ग्रहण कर लेवें इस विवेक से विवेकी को विषयों के चिंतन की इच्छा नहीं होती, किंतु सब विषयों में विरस बुद्धि हो जाती है, जैसे सती को शीघ्र शरीर के त्याग की अत्यंत दृढ़ इच्छा होने पर, शरीर के त्याग में विलंब के कराने हारा जो भूषण वस्त्रादि का पहनना है, उसमें सती को विरसता बुद्धि हो जाती है, अर्थात् सती की भूषण वस्त्रआदि पहरने में प्रीति नहीं होती, जैसे कैसे पहिन लेती है तैसे वैराग्यादि साधन वाले विवेकी पुरुष को ब्रह्मानन्द के स्वाद का विरोधी जो विषय सुख है, उस में प्रीति नहीं होती अर्थात् प्रारब्ध कर्म करके विषय सुखका अनुभव करने पर भी उसमें प्रीति नहीं रहती ॥१२७॥

अविरोधिसुखे बुद्धिः स्वानन्दे च गमागमौ ॥
कुर्वन्त्यास्ते क्रमादेषा काकाक्षिवदितस्ततः ॥ १२८ ॥

शंका—ब्रह्मानन्द के स्वाद का विरोधी जो विषय सुखहै, उसकी इच्छा मत हो थोड़े यत्न से प्राप्त होता जो विषय चित्त की बहिर्मुखता के न कराने हारा, उस में विवेकी की इच्छा क्यों न होवे।

उत्तर—ब्रह्मानन्द के चिंतन के अविरोधी विषय सुख में और निजानन्द में विवेकी की बुद्धि शीघ्र जाती है और हठ आती है , जैसे काक की दृष्टि इधर उधर दोनों नेत्रों में घूमती है ॥ १२८ ॥

एकैवदृष्टिः काकस्य वामदक्षिणनेत्रयोः
यात्यायात्येवमानँदद्वये तत्वविदोमतिः ॥ १२९ ॥

अर्थ—जैसे काक की दृष्टि एक ही वाम और दक्षिण गोलकों में यथाक्रम से जाती है और शीघ्र हठ आती है , तैसे ज्ञानवान् की बुद्धि भी दोनों आनन्दों में गमनागमन करती है ॥ १२९ ॥

भुञ्जानो विषयानंदं ब्रह्मानंदं च तत्त्ववित् ॥
द्विभाषाभिज्ञवद्विद्यादुभौलौकिकवैदिकौ ॥ १३० ॥

अर्थ—ज्ञानवान् जो पुरुष है, उसकी बुद्धि विषयानंद को भी भोकी है, और ब्रह्मानंद को भी भोकी है, जैसे दोनों देशों की बोली जानने हारा पुरुष दोनों बोलियों को बोलता है, जैसे ज्ञानवान् दोनों आनंदों को अनुभव करता है, जो उपनिषद् के वाक्यों से जाना जाता है ब्रह्मानंद उस को अनुभव करता है, और प्रारब्ध के वश से प्राप्त हुए अन्न वस्त्र आदि के सुख को भी अनुभव करता है ॥१३०॥

दुःखप्राप्तौ न चोद्वेगो यथा पूर्वं यतो द्विदृक् ॥
गँगामग्नार्द्धकायस्य पुंसः शीतोष्णधीर्यथा ॥ १३१ ॥

शंका—यह जो आपने कहा था कि दुःखप्राप्ति समय में भी विवेकी निजानंद को अनुभव करता है, सो आप का कथन अयुक्त है जिससे दुःख की प्राप्ति के समय बुद्धि में उद्वेग होजाता है, इससे उद्वेग को प्राप्त हुई बुद्धि में ब्रह्मानंद का अनुभव नहीं बनता ।

उत्तर-- जैसे अज्ञानी को दुःख की प्राप्ति में उद्वेग होता है तैसे ज्ञानी को दुःख की प्राप्ति में उद्वेग नहीं होता जिससे ज्ञानी ब्रह्मानंद को अपना स्वरूप जानता है, और दुःख को प्रारब्धकर्म का फल जानता है, इस से ज्ञानवान् को दुःख के अनुभव समय में भी ब्रह्मानंद का अनुभव होता है जैसे नाभिपर्यन्त गंगा जी के प्रवाह में स्थित हुआ जो पुरुष है ज्येष्ठ के महीने में उसको शीतलता का सुख और तप्त का दुःख दोनों का एकट्ठा अनुभव होता है तैसे विवेकी को दुःखप्राप्ति समय में भी ब्रह्मानंद का अनुभव होता है ॥१३१॥

इत्थं जागरणे तत्त्वविदो ब्रह्मसुखं सदा ॥
भाति तद्वासनाजन्ये स्वप्ने तद्भासते तथा ॥ १३२ ॥

अर्थ—इतने करके यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानवान् को जाग्रत् अवस्था में सुखानुभवकाल में और दुःखानुभव काल में और तूष्णीं दशा में सदा ही ब्रह्मानंद भासता है जैसे ज्ञानी को जाग्रत् अवस्था में ब्रह्मानंद भासता है तैसे जाग्रत् के संस्कारों से उत्पन्न हुआ जो स्वप्न उस में भी ज्ञानी को ब्रह्मानंद भासता है ॥१३२॥

अविद्यावासनाप्यस्तीत्यतस्तद्वासनोत्थिते ॥
स्वप्ने मूर्खवदेवैष सुखं दुःखं चवीक्षते ॥१३३ ॥

शंका—जो ज्ञानवान् के स्वप्न को ब्रह्मानंद के अनुभव की वासना से उत्पन्न हुआ मानोगे तो ज्ञानवान् को स्वप्न में ब्रह्मानंद की ही प्रतीति होनी चाहिये, और विषय सुख की और दुःख की प्रतीति न होनी चाहिये ।

उत्तर—केवल ब्रह्मानंद के अनुभव की वासना से स्वप्न नहीं होता किंतु अविद्या की वासना से भी होता है जिससे जितने काल अंतःकरण है तितने काल अविद्या की वासना रहती है इसने अविद्या की वासना करके स्वप्ने को उत्पन्न होने से अज्ञानी वानाईं ज्ञानवान् स्वप्ने में विषयसुख और दुःख को अनुभव करता है और अज्ञानी का स्वप्न केवल अविद्या की वासना से पैदा होता है और ब्रह्मानंद की वासना से पैदा नहीं होता इसने अज्ञानी को स्वप्ने में ब्रह्मानंद नहीं भासता ॥१३३॥

ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे ब्रह्मानंदप्रकाशकम् ॥
योगिप्रत्यक्षमध्याये प्रथमेऽस्मिन्नुदीरितम् ॥१३४॥

अर्थ—इतने ग्रंथ करके कहा जो अर्थ उस को थोड़े करके सुन । यह जो पंच अध्याय रूप ब्रह्मानंद नाम ग्रंथ है सो ब्रह्मानंद की प्रकटता के कराने हारा है उस के प्रथम अध्याय में यह कहा है । सुषुप्ति अवस्था में भी ब्रह्मानंद प्रतीत होता है और सुषुप्ति से उठकर तूष्णीं काल में भी ब्रह्मानंद प्रतीत होता है और समाधि अवस्था में भी ब्रह्मानन्द प्रतीत होता है और शरीर स्थिति का कारण जो अन्नजल वस्त्र आदि उन के अनुभव काल में भी ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है और दुःख प्राप्ति कालमें भी ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है इसने और स्वप्न में भी ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है । अंतर्मुख योगी ज्ञानवान् का अनुभवरूप प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है जो स्वप्रकाश चैतन्य रूप ब्रह्मानन्द के ग्रहण करने हारा है और श्रुति भी और स्मृति भी और अनुमान भी और अर्थापत्ति भी प्रमाण हैं सो सब कहे हैं ॥ १३४ ॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री भारती तीर्थ विद्यारण्य मुनिवर्य विरचित पंचदश्यां ब्रह्मानन्दे योगानन्दो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥११॥

श्रीः

* पंचदशी *

ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दप्रकरणम् १२

❀ श्रीगणेशायनमः ❀

नन्वेवं वासनानन्दाद्ब्रह्मानन्दादपीतरम् ॥
वेत्तु योगी निजानंदं मूढस्यात्रास्ति का गतिः ॥ १ ॥

श्रीगणेशायनमः ॥ अथात्मानन्दव्याख्या ॥ अब आत्मानन्द नाम दूसरे आनंद का प्रारंभ करते हैं। सो पंचदशी का बारवाँ प्रकरण है। प्रथम अध्याय में विवेक की योग करके निजानन्द के अनुभव का प्रकार वर्णन कर। मूढ जिज्ञासु को आत्मानन्द है नाम जिस का। ऐसा जो त्वंपदार्थ का विवेक। उस द्वारा ब्रह्मानन्द के अनुभव का प्रकार दिखाने के लिये। प्रथम शिष्य के प्रश्न को दिखाते हैं।

प्रश्न—पूर्व कहा जो प्रकार है। उस से योगी वासनानन्द से भिन्न। और ब्रह्मानन्द से भिन्न। निजानंद का अनुभव करो। पर मूर्ख योग में सामर्थ्य से रहित निजानन्द के अनुभव को कैसे प्राप्त होवे। यह कृपा कर कहो ॥

धर्माधर्मवशादेष जायतां म्रियतामपि ॥
पुनः पुनर्देहलक्षैः किन्नो दाक्षिण्यतो वद ॥ २ ॥

उत्तर—अतिमूर्ख को ब्रह्मविद्या का अधिकार ही नहीं। अर्थात् अतिमूर्ख के निजानन्द का अनुभव नहीं होता। तिस से अतिमूर्ख अनादि संसार में अनन्त पिछले जन्मों में करे जो पुण्य पाप रूप कर्म हैं। उन के प्रभाव से अनेक प्रकार के शरीरों को धार कर। बारंबार जन्मो और मरो उसकी कुछ गति कहने को हमारा क्या प्रयोजन है ॥ २ ॥

अस्ति वोऽनुजिघृक्षुत्वाद्दाक्षिण्येन प्रयोजनम् ॥
तर्हिब्रूहि समूढः किं जिज्ञासुर्वा पराङ्मुखः ॥ ३ ॥

प्रश्न—आप जैसे आचार्यों की सब जीवों के ऊपर कृपा होती है। तिस से आप ने अतिमूर्खों की भी कोई एक गति कहनी चाहिये। तिस से आप की कृपा हो मूर्खों की गति कहने में प्रयोजन है। जिस से आप शरण को प्राप्त हुए शिष्यों के उद्धार

करने की इच्छा करके सँयुक्त हो। तिस से शिष्य का उद्धार करना ही आप का प्रयोजन है।

उत्तर—जो हम को अतिमूर्ख की गति कहनी चाहिये। तो विषयों में राग वाले मूढ़ की गति पूछना है। क्या विषयों से विरक्त जिज्ञासु मूढ की गति पूछना है॥ ३॥

उपास्तिं कर्म वा ब्रूयाद्विमुखाय यथोचितम्॥
मंदप्रज्ञं तु जिज्ञासुमात्मानन्देन बोधयेत्॥ ४॥

अर्थ—दोनों की गति पूछता हूं विषयों में रागी पुरुष से यह पूछना कि तेरा राग किस विषय में है। ब्रह्मलोक आदि में है, या स्वर्ग आदि में है। जो मूर्ख कहे कि मेरा राग ब्रह्मलोक आदि में है तो उस को ब्रह्मलोक की प्राप्ति का कारण उपासना का उपदेश करना। अर्थात् ब्रह्मलोक की कामना वाला उपासना को करे। उपासना से उस को ब्रह्मलोक की प्राप्ति होगी। और जो उस का स्वर्ग आदि में राग होवे, तो उस को अपने वर्ण आश्रम के कर्म करने योग्य है। और जो मूढ आत्मजिज्ञासु होवे तो उस को गुरू आत्मानन्द के विवेक का उपदेश करे॥ ४॥

बोधयामास मैत्रेयीं याज्ञवल्क्यो निजप्रियाम्॥
न वा अरे पत्युरर्थे पतिः प्रिय इतीरयन्॥ ५॥

अर्थ-इस प्रकार किसने किस मूढ़ बुद्धिवाले जिज्ञासु को आत्मानन्द का उपदेश करा है? याज्ञवल्क्य नाम मुनीश्वर ने मैत्रेयी नाम अपनी स्त्री को आत्मानन्द के विवेक का उपदेश करा है। अरे मैत्रेयी! भर्ता के वास्ते स्त्री को पति प्यारा नहीं होता किन्तु अपने लिये स्त्री को पति प्रिय होता है। इत्यादि वचनों को कहता हुआ याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को उपदेश करता है। तहाँ श्रुतिः (न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति) अर्थ—अरे मैत्रेयी? पति की कामना के लिये स्त्री को पति प्रिय नहीं होता॥ ५॥

पतिर्जाया पुत्रवित्ते पशुब्राह्मणबाहुजाः॥
लोका देवा वेदभूते सर्वं चात्मार्थतः प्रियम्॥ ६॥

अर्थ—भर्ता १ स्त्री २ पुत्र ३ धन ४ पशु ५ ब्राह्मण ६ क्षत्रिय ७ लोक ८ देवता ९ वेद १० भूत ११ सर्व १२ ये आत्माके वास्ते प्यारे हैं, और स्वरूप करके प्यारे नहीं॥६॥

पत्याविच्छा यदा पत्न्यास्तदा प्रीतिं करोति सा ॥
क्षुदनुष्ठानरोगाद्यैस्तदा नेच्छति तत्पतिः ॥ ७ ॥

अर्थ—अपूर्व कहा जो (न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति) यह वाक्य है इस का तात्पर्य सुन भिन्न २ करके। जिस काल में स्त्री की इच्छा भर्ता में होती है। तब स्त्री भर्ता में प्रेम करती है और जब उसका पति क्षुधा आदि से युक्त होता है, तब स्त्री भर्ता में प्रेम नहीं करती ॥ ७

न पत्युरर्थे सा प्रीतिः स्वार्थ एव करोति ताम् ॥
पतिश्चात्मन एवार्थे न जायार्थे कदाचन ॥ ८ ॥

अर्थ—तिस स्त्री का प्रेम भर्ता के साथ अपने वास्ते हुआ। पति के लिये न हुआ। जो पति के लिये स्त्री का प्रेम भर्ता में होता। तो क्षुधा आदि कर के युक्त पति में भी प्रेम होता, तिस से स्त्री का पति में प्रेम अपने वास्ते है। पति के लिये नहीं और पति जो स्त्री में प्रेम करता है, सो स्त्री के लिये नहीं करता, किन्तु अपने लिये करता है, तहाँ श्रुतिः। (न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवतीत्यादि) (न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतीत्यंतम्) पूर्व श्रुति से लेकर और अन्त की श्रुति पर्यंत सब का तात्पर्य क्रम से दर्शाते हैं ॥ ८ ॥

अन्योन्यप्रेरणेऽप्येवं स्वेच्छयैव प्रवर्तनम् ॥ ९ ॥

शंका—जिस काल में स्त्री की इच्छा करके प्रवृत्ति होती है; अथवा जिस काल में पुरुष की इच्छा करके प्रवृत्ति होती है। उस प्रवृत्ति में अपने लिये प्रीति हो। पर जहां एकही दोनों की इच्छा करके प्रवृत्ति हुई है। उस प्रवृत्ति में प्रीति को आत्मार्थता नहीं। अर्थात् उस समय स्त्री की प्रीति भर्ता में पति के लिये है। और भर्ता की प्रीति स्त्री में स्त्री के लिये है। तिस से तुम कैसे कहते हो कि पति में स्त्री की प्रीति पति के लिये नहीं किन्तु अपने लिये है। और पति की प्रीति स्त्री में स्त्री के लिये नहीं किन्तु अपने लिये है।

उत्तर—जब एकही दोनों की इच्छा करके प्रवृति होती है। उस में भी अपनी कामना की पूर्णता की इच्छा कर के ही होती है, तिस से अपने लिये दोनों की प्रवृत्ति है। पति के लिये स्त्री की प्रवृत्ति नहीं। और स्त्री के लिये पति की प्रवृत्ति नहीं ॥ ९ ॥

श्मश्रुकंटकलेषेन बाले रुदति तत्पिता ॥
चुंबत्येव न सा प्रीतिर्बालार्थे स्वार्थ एव सा ॥ १० ॥

अर्थ—और पुत्र में पिता की जो प्रीति है। सो पुत्र के लिये नहीं। अपने लिये है। जिस से पिता जब पुत्र के मुख को चूंबता है, तब मूंछ और डाढ़ी के बालों के चुभने से बालक रोता है। और उस का पिता वारंवार उसका मुख चूंबता है। सो बालक की प्रसन्नता के लिये नहीं। जिस से बालक तो दुःख को प्राप्त हुआ रुदन करता है। किन्तु अपनी प्रसन्नता के लिये है। तिस से पिता की प्रीति पुत्र में पुत्र के लिये न हुई। अपने लिये है ॥ १० ॥

निरिच्छमपि रत्नादिवित्तं यत्नेन पालयन् ॥
प्रीतिं करोति स स्वार्थे वित्तार्थत्वं न शंकितम् ॥११॥

अर्थ—भर्ता स्त्री पुत्र रूप चेतनों में करी जो प्रीति है। उस में पर के अर्थ यह प्रीति है क्या अपने अर्थ यह प्रीति है। इस संशय के रहते भी। धन आदि में जो प्रीति है, सो प्रीति धन के लिये नहीं बनती, जिस से धन आदि अचेतन हैं, उनको यह इच्छा नहीं कि जो हमारे साथ कोई प्रीति करे, तिस से धन में प्रीति अपने लिये है, तहाँ श्रुतिः। (न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति) अब इस का तात्पर्य सुन। हीरे मोती आदिरूप धन को यह इच्छा नहीं कि कोई हम को संगवा कर रक्खे, अचेतन होने से। पर पुरुष उसको बड़े यत्न से संगवाकर रखता है, सो हीरे मोती आदि में संगवाना रूप प्रीति हीरे मोती आदि के लिये है। यह तो शंका ही नहीं बनती तिस से उस में प्रीति अपने लिये है ॥ ११ ॥

अनिच्छति बलीवर्दे विवाहयिषते बलात् ।
प्रीतिः सा वणिगर्थैव बलीवर्दार्थता कुतः ॥१२॥

अर्थ—और खेती करने हारे जिमींदारों की बैल में जो प्रीति है। सो बैल के लिये नहीं। अपने लिये है। जिस से बैल की हल बाहने में प्रीति नहीं भी होती पर जोराजोरी उसको हल के आगे जोड़ देते हैं। तिस से हल वाहने हारे की प्रीति बैल में बैल के लिये नहीं। अपने लिये है ॥१२॥

ब्राह्मण्यं मेस्ति पूज्योहमिति तुष्यति पूजया ।
अचेतनाया जातेर्ना संतुष्टिः पुंस एव सा ॥१३॥

अर्थ—(न वा अरे ब्रह्मणः कामाय इत्यादि) और मैं ब्राह्मण हूं इस से मैं पूजा के लायक हूं। इस अभिमान वाला ब्राह्मणता निमित्त करके प्राप्त हुई जो पूजा। उस से प्रसन्नता को प्राप्त होता है। ब्राह्मणता जाति प्रसन्नता को प्राप्त नहीं होती। जिससे जाति जड़ है। तिससे ब्राह्मणता जाति में पुरुष की प्रीति अपने लिये है। जाति के लिये नहीं ॥१३॥

क्षत्रियोहं तेन राज्यं करोमीत्यत्र राजता।
न जातेर्वैश्यजात्यादौ योजनायेदमीरितम् ॥१४॥

अर्थ—अब (न वा अरे क्षत्रस्य इत्यादि) इस वाक्य का तात्पर्य कहते हैं। मैं क्षत्रिय हूं तिस से मैं राज्य को करता हूं। यह जो राज्य करके प्रसन्नता है। सो पुरुष को होती है। क्षत्रिय जाति को नहीं होती। तिस से क्षत्रिय जाति में पुरुष की प्रीति अपने लिये है। जाति के लिये नहीं। यह क्षत्रिय का उदाहरण वैश्य जाति के आदि में घटाने के लिये कहा है ॥१४॥

स्वर्गलोकब्रह्मलोकौ स्तां ममेत्यभिवांछनम्।
लोकयोर्नोपकाराय स्वभोगायैव केवलम् ॥१५॥

अर्थ—(न वा अरे लोकानां कामाय) इत्यादि वाक्य का तात्पर्य कहते हैं। स्वर्गलोक और ब्रह्मलोक मेरे को प्राप्त होवें। ऐसी जो स्वर्गलोक और ब्रह्मलोक में प्रीति हो सो उनके उपकार के लिये नहीं अपने सुख के लिये है ॥१५॥

ईशविष्ण्वादयो देवाः पूज्यंते पापनष्टये।
न तन्निष्पापदेवार्थं तत्तु स्वार्थं प्रयुज्यते ॥१६॥

अर्थ—शिव विष्णु आदि देवताओं का पूजनरूप जो प्रीति है। सो उनके उपकार के लिये नहीं। अपने पाप दूर करने को है। शिव विष्णु आदि देवताओं के पाप दूर करने को नहीं। जिससे वे स्वभाव से पाप रहित हैं तिस से उनमें प्रीति अपने लिये है। उनके लिये नहीं ॥१६॥

ऋगादयो ह्यधीयंते दुर्ब्राह्मण्यानवाप्तये।
न तत्प्रसक्तं वेदेषु मनुष्येषु प्रसज्जते ॥१७॥

अर्थ—और ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद। इनको जो पुरुष पढ़ते हैं। सो इनके लिये नहीं पढ़ते। किन्तु अपनी दुर्ब्राह्मणता के निवारण करने को पढ़ते हैं। जो

हम वेद न पढ़ेंगे। तो हमको दुर्ब्राह्मणता प्राप्त होगी। सो दुर्ब्राह्मणता की प्राप्ति वेदों में नहीं होती। मनुष्यों में होती है। इससे मनुष्य उस के दूर करने को वेद पढ़ते हैं। तिस से वेदों में जो पुरुषों की प्रीति है। सो अपने लिये है। वेदों के लिये नहीं। दुर्ब्राह्मण का अर्थ वाच्य है ॥१७॥

भूम्यादिपंचभूतानि स्थानतृट्पाकशोषणैः।
हेतुभिश्चावकाशेन वांछंत्येषां न हेतवः ॥१८॥

अर्थ—और पृथिवी आदि पंचभूतों में जो जीवों की प्रीति होती है। सो पृथिवी आदि के लिये नहीं। अपने लिये है। क्यों कि पृथिवी स्थान देती है। और जल से तृषा निवारण और स्नान आदि अनेक कार्य सिद्ध होते हैं। और पवन वस्त्र आदि को सुखा देता है। और अग्नि से पाक आदि कार्य सिद्ध होते हैं। और आकाश अवकाश देता है। इन निमित्तों से सब प्राणी पृथिवी आदि पंच भूतों की इच्छा रखते हैं। और इन पृथिवी आदि को तो स्थान आदि किसी हेतु की चाहना नहीं। इस से ये आप किसी हेतु की आकांक्षा नहीं रखते ॥१८॥

स्वामिभृत्यादिकं सर्वं स्वोपकाराय वांछति।
तत्तत्कृतोपकारस्तु तस्य तस्य न विद्यते ॥१९॥

अर्थ—अब (न वा अरे क्षत्रस्य कामाय) इस वाक्य का तात्पर्य कहते हैं। और नौकर से आदि लेकर सब लोक स्वामी आदि में जो प्रीति करते हैं। सो अपने लिये करते हैं। स्वामी आदि के लिये नहीं करते। इसी प्रकार स्वामी आदि नौकर आदि में जो प्रीति करते हैं। सो अपने लिये करते हैं। नौकर आदि के लिये नहीं करते। स्वामी जो नौकर को नौकरी देता है। सो नौकर के लिये नहीं देता। अपनी अच्छी सेवा के लिये देता है। और नौकर ने जो लाग प्रीति से सेवा करी है। सो स्वामी के लिये नहीं करी। अपने लिये करी है ॥१९॥

सर्वव्यवहृतिष्वेवमनुसंधातुमीदृशम्।
उदाहरणबाहुल्यं तेन स्वं वासयेन्मतिम् ॥२०॥

शंका—श्रुति में इस प्रकार बहुत दृष्टान्त क्यों कहे हैं।

उत्तर—अब (परमात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति) इसका तात्पर्य कहते हैं। अपनी इच्छा करके जो भोजन आदि व्यवहार करे हैं। उन सब में प्रीति अपने लिये होती है। भोजन आदि के लिये नहीं होती। इसी प्रकार जिसर में जीवकी प्रीति होती

है। सो अपने लिये होती है । ऐसे सब व्यवहारों में चिन्तन करने के लिये बहुत दृष्टाँत कहे हैं। उन सबका तात्पर्य यह है। सब स्त्री पुत्र आदि पदार्थों को अपनी ्पता जानकर। अपने आपको अतिशय करके प्यारा जानकर । अपने में बुद्धि को लगावे। पुत्र आदि में बुद्धि को न लगावे। अर्थात् सब पुत्र आदि में प्रीति को त्याग कर अपने आप में प्रीति करे। जो अपने आप परम प्यारा है ॥२०॥

अथ केयं भवेत्प्रीतिः श्रूयते निजात्मनि ।

रागो वध्वादिविषये श्रद्धा यागादिकर्मणि ॥

भक्तिः स्याद्गुरु देवादाविच्छात्वप्राप्तवस्तुनि ॥२१॥

शंका—आत्मा की शेषता करके। सबको प्यारा होने से आत्मा परम प्यारा है। यह जो आपने कहा है सो कथन नहीं बनता। जिससे विकल्प करके निर्णय करने पर प्रीति का स्वरूप निर्णय नहीं हो सकता। सो जैसे नहीं हो सकता उसको सुनो । मैं पूछता हूं। जो आत्मा में प्रीति है। उसका स्वरूप क्या है । राग है या श्रद्धा है य भक्ति है या इच्छा है । इन चारों पक्षों में प्रीति सब में नहीं बनती । जो कहना प्रीति राग है । तो स्त्री आदि में प्रीति बनेगी । यज्ञ आदि कर्मों में प्रीति ना बनेगी। और जो प्रीति श्रद्धा है ऐसा कहोगे। तो यज्ञ आदि कर्मोंमें मेंप्रीति बनेगी। स्त्री आदिमें प्रीति न बनेगी। जिससे स्त्री आदिमें किसी की श्रद्धा नहीं होती । और जो भक्ति को प्रीति कहोगे। तो गुरु देवता आदि में प्रीति बनेगी॥ स्त्री आदि में प्रीति बनेगी। जिस से स्त्री आदि में भक्ति किसी की नहीं होती। और जो इच्छा को प्रीति कहोगे। तो अप्राप्त वस्तुमें प्रीति बनेगी। और किसी पदार्थ में प्रीति न बनेगी। जिस से इच्छा अप्राप्त वस्तु में ही होती है। प्राप्त वस्तु में नहीं होती। इस से प्रीति का निर्णय कुछ न हुआ। तिस से यह जो कथन है कि और में प्रीति को त्याग कर आत्मा में प्रीति करे सो अयुक्त है।

तद्वस्तु सात्त्विकी वृत्तिः सुखमात्रानुवर्तिनी ॥

प्राप्ते नष्टेऽपि सद्भावादिच्छातो व्यतिरिच्यते ॥२२॥

उत्तर—प्रीति में जो तैंने चार प्रकार कहे हैं। सो नहीं बनते । तो सुखमात्र को विषय करने हारी जो सात्त्विकी वृत्ति है। उसको प्रति जान । सो सात्त्विकी वृत्ति इच्छा रूप नहीं। क्योंकि इच्छा अप्राप्त वस्तु के सुख आदि में होती है। और प्रीति तो प्राप्त वस्तु में भी होती है। और वस्तु का नाश हो गया है उसमें भी होती है। तिस से इच्छा से भिन्न है ॥ २२ ॥

सुख साधन तोपाधेरन्नपानादयःप्रियाः ॥२३॥

शँका—जैसे सुख का साधन होने से अन्न वस्त्र आदि में प्रीति है। ऐसे आत्मा में भी प्रीति दीखती है। तिस से आत्मा भी सुख का साधन हो। इस अर्थ में यह अनुमान है। आत्मा सुख का साधन है। प्यारा होने से अन्न जल की नाईं ॥२३॥

आत्मानुकूल्यादन्नादिसमश्चेदमुनात्र कः ॥
अनुकूलयितव्यः स्यान्नैकस्मिन्कर्मकर्तृता ॥ २४ ॥

उत्तर—अन्नजल आदि की नाईं आत्मा सुख का साधन नहीं। क्यों कि अन्न जल आदि भोगने योग्य हैं। और आत्मा भोगने योग्य नहीं, किंतु भोक्ता है, जो आत्मा भी अन्न जल की नाईं सुख का साधन होवे। तो जैसे अन्न जल का भोक्ता आत्मा है तैसे आत्मा का भोक्ता कोई और चाहिये। जिस से सुख का साधन आत्मा होवे।

शंका—आत्मा ही आत्मा का भोक्ता होवे।

उत्तर—एक को एक काल में भोग्यरूपता और भोक्तृरूपता नहीं बनती। तिस से आत्मा आत्मा का भोक्ता नहीं ॥२४॥

सुखे वैषयिके प्रीतिमात्रमात्मात्वतिप्रियः ।
सुखे व्यभिचरत्येषा नात्मनि व्यभिचारिणी ॥२५॥

शंका—जो आत्मा अन्न वस्त्र आदि की नाईं सुख का साधन नहीं। तो सुखकी नाईं भोक्ता का शेष हो।

उत्तर—आत्मा भोक्ता का शेष नहीं बनता। क्यों कि भोक्ता के शेष सुख में प्रीतिमात्र होती है। पर परम प्रीति नहीं होती। आत्मा में तो परम प्रीति है। इस से आत्मा सुख की नाईं भोक्ता का शेष नहीं। उसमें युक्ति सुन। विषयों से पैदा हुआ जो सुख है। उसमें प्रीति कभी पैदा होती है कभी दूर हो जाती है। एक विषय सुख में प्रीति नियम से सदा नहीं रहती। क्यों कि पुरुष एक विषय सुख का त्याग कर और दूसरे विषय सुखमें प्रीति करता है। और आत्मा में जो विद्यमान प्रीति है। सो आत्मा को त्याग कर और किसी में नहीं जाती। इस से आत्मा में परम प्रीति है ॥२५॥

एकं त्यक्त्वाऽन्यदादत्ते सुखं वैषयिकं सदा ।
नात्मा त्याज्यो न चा देयस्तस्मिन्व्यभिचरेत्कथम् ॥२६॥

अर्थ—विषय सुख ग्रहण करने के योग्य भी है। और त्यागने के योग्य भी है। है। इस से विषय सुख में प्रीति एक रस नहीं होती। इस से विषयों में परम प्रीति नहीं। और आत्मा तो न ग्रहण करने योग्य है। न त्यागने योग्य है। अपरिच्छिन्न होने से। जो परिच्छिन्न पदार्थ होता है। सोई ग्रहण करने योग्य होता है। और त्यागने योग्य होता है। तिस से आत्मा में प्रीति सदा एक रस है। अर्थात् आत्मा में प्रीति कभी दूर नहीं होती। इस से आत्मा में परम प्रीति है ॥२६॥

हानादानविहीनेऽस्मिन्नुपेक्षा चेत्तृणादिवत् ।
उपेक्षितुः स्वरूपत्वान्नोपेक्ष्यत्वं निजात्मनः ॥२७॥

शंका - जो आत्मा ग्रहण त्याग के योग्य नहीं । तो गलियों के तृण आदि की नाईं उपेक्षा योग्य होगा ।

उत्तर—जैसे आत्मा को ग्रहण त्याग योग्यता नहीं है। तैसे आत्मा को उपेक्षा योग्यता भी नहीं। क्यों कि ग्रहण त्याग उपेक्षा योग्य अपने से भिन्न अनात्म पदार्थ होता है। और आत्मा तो अपना आप है। उसमें ग्रहण त्याग की नाईं उपेक्षा भी अर्थात् उदासीनता भी नहीं बनती। उपेक्षा करने हारे का स्वरूप होने से ॥२७॥

रोगक्रोधाभिभूतानां मुमूर्षा वीक्ष्यते क्वचित् ।
ततो द्वेषाद्भवेत्त्याज्य आत्मेति यदि तन्नहि ॥२८॥

शंका—यह जो आपने कहा कि आत्मा त्यागने योग्य नहीं । सो आपका कथन अयुक्त है। जिस से रोग और क्रोध आदि करके युक्त पुरुषों को मरने की इच्छा द्वेष से से दीखती है। तिस से आत्मा में द्वेष के देखने से आत्मा त्यागने योग्य है। सर्प बीछू आदि की नाईं ।

उत्तर—रोग क्रोध आदि करके युक्त पुरुषों का द्वेष देह में होता है । तिस से देह का त्याग कर देते हैं ॥२८॥

त्यक्तुं योग्यस्य देहस्य नात्मता त्यक्तुरेव सा ।
न त्यक्तर्यस्ति सद्द्वेषस्त्याज्ये द्वेषे तु का क्षतिः ॥२९॥

अर्थ—सो त्यागने योग्य देह आत्मा नहीं। देह के त्यागने हारा जो है सो आत्मा है। सो देह से भिन्न है। तिस से जो द्वेष है। सो देह के त्याग करने हारे में नहीं। त्यागने लायक अनात्मरूप वस्तु देह में द्वेष के रहने भी मेरे सिद्धान्त की हानि नहीं होती। अर्थात् आत्मा का त्याग नहीं होता । यह मेरा कथन अयुक्त नहीं किन्तु यथार्थ है ॥२९॥

आत्मार्थत्वेन सर्वस्य प्रीतेश्चात्मा ह्यतिप्रियः ।
सिद्धो यथा पुत्रमित्रात्पुत्रः प्रियतरस्तथा ॥३०॥

अर्थ—इस प्रकार इतने ग्रंथ में मैत्रेयी याज्ञवल्क्य का संवाद रूप श्रुति के विचार से आत्मा में परम प्रेम है यह कहा। अब युक्ति से भी आत्मा में परम प्रेम दिखाते हैं। उसको सुन। सुख और सुख के साधन सब स्त्री पुत्र आदि । आत्मा के लिये प्यारे हैं। तिस से जिसके लिये ये सब प्यारे हैं। सो आत्मा परम प्यारा है। जैसे

किसी पुरुष को पुत्र के लिये पुत्र का मित्र प्यारा होता है। उस की पुत्र में परम प्रीति होती है। और पुत्रद्वारा पुत्र के मित्र में थोड़ी प्रीति होती है। तैसे आत्मा के लिये स्त्री पुरुष आदिमें जो प्रीति है सो थोड़ो प्रीति है। और आत्मा में परम प्रीति है ॥ ३०॥

मा न भूवमहं किं तु भूयासं सर्वदेत्यसौ ।
आशीः सर्वस्य दृष्टेति प्रत्यक्षा प्रीतिरात्मनि ॥ ३१ ॥

अर्थ--इस प्रकार श्रुतियों से और युक्तियों से कही जो आत्मा में परम प्रीति सो सब लोकों के अनुभव सिद्ध है। जिस से सभी लोक कहते हैं कि मेरा अभाव कभी न न होवे। सर्वदा मैं होऊँ, इस प्रकार की प्रार्थना सब प्राणियों की दीखती है, इस से आत्मा में परम प्रीति सब लोकों के अनुभव से प्रत्यक्ष सिद्धहै ॥ ३१ ॥

इत्यादिभिस्त्रिभिः प्रीतौ सिद्धायामेवमात्मनि ।
पुत्रभार्यादिशेषत्वमात्मनः कैश्चिदीरितम् ॥ ३२ ॥

अर्थ--इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव और युक्ति और श्रुति इन तीनों प्रमाणों से आत्मा में परम प्रेम के सिद्ध होने पर भी कोई एक जो मूर्ख हैं श्रुति आदि के तात्पर्य को न जानने हारे। उन्हों ने आत्मा को पुत्र आदि का शेष कहा है। सो उन के कथन को सुन ॥ ३२ ॥

एतद्विवक्षया पुत्रे मुख्यात्मत्वं श्रुतीरितम् ।
आत्मा वै पुत्रनामेति तच्चोपनिषदि स्फुटम् ॥ ३३ ॥

शंका--श्रुति यह कहती है कि आत्मा ही पुत्र नाम करके हुआ, तिस से पुत्रको मुख्य आत्मता है, सो पुत्र की मुख्य आत्मता ऐतरेय उपनिषद् आदि में प्रकट कही है तहां श्रुतिः। (आत्मा वै पुत्रनामासीत्)अर्थ--आत्मा ही पुत्र नाम कर के होता भया ॥ ३३ ॥

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते ।
अथास्येतर आत्मायं कृतकृत्यः प्रमीयते ॥ ३४ ॥

अर्थ--किस वाक्य से ऐतरेय उपनिषद् में पुत्र को मुख्य आत्मा कहा है ? पिता का एक पुत्र रूप आत्मा है। एक पिता रूप आत्मा है, जब पिता रूप आत्मा मृत्यु को प्राप्त हो जाता हैं, तब पुण्य कर्मों के करने वास्ते पिता के स्थान में पुत्ररूप आत्मा स्थित होता है, तिस से पुत्र को मुख्य आत्मता सिद्ध हुई ॥ ३४ ॥

सत्यप्यात्मनि लोकोऽस्ति नापुत्रस्यात एव हि ॥
अनुशिष्टं पुत्रमेव लोक्यमाहुर्मनीषिणः ॥ ३५ ॥

अर्थ--जिस से पुत्र को मुख्य आत्मता है, इसी से श्रुति यह कहती है। (ना पुत्रस्य लोकोस्ति) अर्थ--पुत्रसे रहित का लोक नहीं है, अपने स्थित होने पर भी। पुत्र के अभाव से स्वर्ग का अभाव पुराण आदि में प्रसिद्ध है ; इसी से बुद्धिमान् शास्त्र के अर्थ को जानने हारे पुत्र को परलोक का साधन कहते हैं, जो पुत्र पिता करके इन तीन मन्त्रों से शिक्षा को प्राप्त हुआ है ॥ १५ ॥

मनुष्यलोकोऽजय्यः स्यात् पुत्रेणैवेतरेण नो ॥
मुमूर्षुर्मन्त्रयेत्पुत्रं त्वं ब्रह्मेत्यादिमन्त्रकैः ॥ ३६ ॥

अर्थ-सो तीन मंत्र ये हैं, तू ब्रह्म है १ तू यज्ञ है २ तू लोक है ३ और जितना संसार का सुख है, उस का कारण पुत्र है, ऐसा बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है। (सोयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा) अर्थ--सो यह मनुष्य लोक पुत्र कर के ही जीता जाता है, और किसी कर्म करके नहीं जीता जाता, तात्पर्य यह है कि मनुष्यलोक का सुख पुत्र कर के प्राप्त होता है, यज्ञ दान व्रत जप तप कर के मनुष्य लोक का सुख नहीं प्राप्त होता, पुत्र से रहित पुरुष को सुखके साधन धनआदिभी दुःख काकारण हो जाते हैं, क्यों कि धन आदि को देख कर पड़ा हाउके लेता है, इस धन को अब मेरे मरने पर कौन सिंभालेगा, यह जो कहा था कि तीन मंत्रों से पिता कर के शिक्षा को प्राप्त हुआ जो पुत्र है, सो पिता के परलोक का साधन होता है, उस में यह प्रश्न है, किस समय पिता पुत्र को मंत्रों का उपदेश करे, उस का उत्तर सुन, मरने के समय पिता पुत्र को उपदेश करे, तू ब्रह्म है, इसका अर्थ यह है, हे पुत्र अब मैं मरने लगा हूं, पीछे घर में बड़ा तू है, तिस से कुटुम्बपालनादिरूप बड़ाई के काम तैंने करने, अपने शरीरमात्रके पालन पोषण में तत्पर नहीं होना, और तू यज्ञ है, इसका तात्पर्य यह है, जैसे यज्ञ आदि कर्ममैं करता था, तैसे ही मेरी गद्दीपर बैठ-कर यज्ञ आदि कर्म तैंने करने, यज्ञ आदि कर्मों का त्याग नहीं करना, और तू लोक है इस का तात्पर्य यह है, मेरे को स्वर्ग में सुख के लिये तू गया जा कर पिंड दीजो, और श्राद्ध आदि करना ॥ ३६ ॥

इत्यादिश्रुतयः प्राहुः पुत्रभार्यादिशेषताम् ।
लौकिका अपि पुत्रस्य प्राधान्यमनुमन्वते ॥ ३७ ॥

अर्थ--इत्यादि श्रुति आत्मा को स्त्री पुत्र आदिका शेष कहती हैं, अर्थात् पुत्र स्त्री आदि मुख्य हैं, आत्मा उन के लिये है, यह अर्थ केवल श्रुतियों से ही सिद्ध नहीं किंतु सब लोकों के अनुभव करके भी सिद्ध है, सभी लोक पुत्रको प्रधान मानते हैं ॥३७॥

स्वस्मिन्मृतेपि पुत्रादिर्जीवेद्वित्तादिना यथा ॥
तथैव यत्नं कुरुते मुख्याः पुत्रादयः ततः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिस से अपने मरने पर भी जिस तरह पुत्र आदि धन आदि करके सुखो जीवें, तैस ही यत्न करता है, तिस से पुत्र आदि मुख्य हैं ॥ ३८ ॥

बाढमेतावता नात्मा शेषो भवति कस्यचित् ॥
गौणमिथ्या मुख्य भेदैरात्म य भवति त्रिधा ॥ ३९ ॥

अर्थ—इस प्रकार श्रुतियों करके और लोकों के अनुभव कर के वादी ने दिखलाई जो पुत्रआदि की मुख्यता है, उसको सिद्धांति अंगीकार कर उत्तर कहता है।

उत्तर—जो तेरा कथन है सो यथार्थ है।

शंका—जो मेरा कथन ठीक है, तो आप आत्मा की मुख्यता क्यों कहते हो।

उत्तर—किसी एक जगह पुत्र को मुख्यता करके आत्मा किसी का शेष नहीं हो जाता। जिस से आत्मा तीन प्रकार का है। गौणात्मा १ मिथ्यात्मा २ मुख्यात्मा ३ तिस से जिस २ व्यवहार में जिस२ आत्मा की मुख्यता है उस २ व्यवहारमें उसी २ की मुख्यता है, और दोनोंकी मुख्यता नहीं, किंतु बाकीके दोनों को उसकी शेषता है ॥३९॥

देवदत्तस्तु सिंहोयमित्यैक्यं गौणमेतयोः ॥
भेदस्य भासमानत्वात्पुत्रादेरात्मता तथा ॥ ४० ॥

अर्थ—तीन प्रकार के आत्मा में पुत्र आदि को गौणात्मता है। उस में दृष्टांत सुन। जैसे किसी ने कहा कि यह देवदत्त शेर है, इस स्थान में जो देवदत्त और शेर की एकता है, सो गौण है, जिससे देवदत्त का और शेर का भेद प्रत्यक्ष दीखता है, जैसे पुत्र आदि की भी जो आत्मता है सो गौण है. जिस से पुत्र आदि का और अपना भेद प्रत्यक्ष है ॥ ४० ॥

भेदोस्ति पंचकोशेषु साक्षिणो नतु भात्यसौ ॥
मिथ्यात्मताऽतः कोशानां स्थाणोश्चोरात्मता यथा ॥ ४१ ॥

अर्थ—और पंचकोश रूप शरीर आदि जो हैं। उन को मिथ्यात्मता है। उस में दृष्टांत सुन। जैसे कोई पुरुष भ्रम से स्थाणु को चोर कहता हैं, सो स्थाणु को चोर कहता है सो स्थाणुको चोर रूपता मिथ्या है। तैसे पंचकोशरूप तीन शरीरोंको अज्ञानी भ्रमसे आत्मा जानता है, मैं मनुष्य हूं, मैं कारण हू मैं विक्षेपको प्राप्त हुआ हू, मैंसमाधि में स्थित हूं इस प्रकार से प्राप्त हुआ हूं, मैं समाधि में स्थित हूं, इस प्रकार से सो उन शरीरों को आत्मता मिथ्या है, जिस से उन शरीरों का और साक्षी रूप आत्माका भेद

है। पर प्रतीत नहीं होता, इस से उन शरीरोंको मिथ्यात्मता है, जैसे चोर और स्थाणु काभेद है, पर प्रतीत नहीं होता, इस से स्थाणु को चोर रूपता मिथ्या है ॥ ४ ॥

न भाति भेदो नाप्यस्ति साक्षिणोऽप्रतियोगिनः ॥
सर्वांतरत्वात्तस्यैव मुख्यमात्मत्वमिष्यते ॥ ४२ ॥

अर्थ—और मुख्यात्मा साक्षी है, जिस से साक्षी का आत्मा से भेद प्रतीत नहीं होता है, जैसे पुत्र आदि का अपने से भेद प्रतीत होता था, और आत्मा का साक्षी से भेद वास्तव है भी नहीं। जैसे साक्षी का देह आदि से भेद है, जिस से साक्षी किसी का प्रति योगी नहीं। जैसे पुत्र आदि का और शरीर का पुरुष प्रतियोगी होता है। और साक्षी का वास्तव प्रतियोगी कोई नहीं। जिस से देह आदि संपूर्ण कल्पित हैं।

शंका—साक्षी के भेद का अभाव होने से साक्षी को गौणात्मता और मिथ्यात्मता मत हो। पर मुख्यत्मता साक्षी को किस से है।

उत्तर—साक्षी को सब देह पुत्र आदि से अन्तर प्रतीत होने से साक्षी की मुख्यात्मता है, इस अर्थ में यह अनुमान है, साक्षी मुख्यात्मा है, सब के अन्तर होने से जो मुख्यात्मा नहीं होता, सो सबके अन्तर भी नहीं होताजैसे अहंकार आदि मुख्यात्मा नहीं सब के अन्तर भी नहीं।

सत्येवं व्यवहारेषु येषु यस्यात्मतोचिता ॥
तेषु तस्यैव शेषित्वं सर्वस्यान्यस्य शेषता ॥ ४३ ॥

शंका—हो आत्मा तीन प्रकार, पर मैंने जो कही थी पुत्र आदि की प्रधानता उस का क्या निर्णय हुआ ॥

उत्तर—आत्मा के तीन प्रकार होने पर जिस व्यवहार में जिस को आत्मरूपता बनती है, उस व्यवहार में उस आत्मा को प्रधानता है, तिस से जिस व्यवहार में पुत्र की आत्मता है, उस व्यवहार में पुत्र को प्रधानता है, और जिस व्यवहार में पुत्र को आत्मता नहीं, उस व्यवहार में पुत्र को प्रधानता भी नहीं, और जिस व्यवहार में स्थूल शरीर आदि की आत्मता बनती है। उस व्यवहार में स्थूल शरीर आदि की प्रधानता है। सब व्यवहार में स्थूल शरीर आदि की प्रधानता नहीं। और जिस व्यवहार में साक्षी को आत्मता है। उस व्यवहार में साक्षी की प्रधानता है। पुत्र आदि को शेषता है ॥४३॥

मुमूर्षोर्गृहरक्षादौ गौणात्मैवोपयुज्यते ।
मुख्यात्मा न मिथ्यात्मा पुत्रः शेषी भवत्यतः ॥४४॥

अर्थ– किस व्यवहार में पुत्र की प्रधानता है । और किस व्यवहार में देह आदि की मुख्यता है । और किस व्यवहार में देहआदि की मुख्यता है । और किस व्यवहार में साक्षी की मुख्यता है ? मरने लगे माता पिता आदि के घर में जो पदार्थ हैं । उनकी चोर आदि से रक्षा करने रूप व्यवहार में गौणात्मा पुत्रआदि प्रधान हैं । जिससे उनके मरने पीछे पुत्र आदि जीवने की इच्छा वाले हैं । और मुख्यात्मा साक्षी प्रधान नहीं । उसको निर्विकार होने से । और मिथ्यात्मा शरीर आदि भी मरने हारे पुरुष के घर के पदार्थों की रक्षा करने में समर्थ नहीं । जिससे शरीर आदि मरने के सन्मुख हुए हैं । तिस से माता पिता के पदार्थों की रक्षा करने में पुत्र की प्रधानता है ॥४४॥

अध्येता वह्निरित्यत्र सन्नप्यग्निर्नगृह्यते ।

अयोग्यत्वेन योग्यत्वाद्बटुरेवात्र गृह्यते ॥ ४५ ॥

अर्थ—साक्षी के विद्यमान होने पर भी आत्मा साक्षीरूप अङ्गीकार नहीं करना । घर के पदार्थों की रक्षारूप व्यवहार में गौणात्मा पुत्र आदि का ही आत्मा करके ग्रहण करना । इसमें दृष्टांत सुन । जैसे किसी ने यह कहा कि यह वेद पढ़ने हारा बालक अग्नि है । इस वाक्य में अग्नि शब्द के अर्थ से स्वरूप करके चूल्हे में विद्यमान जो मुख्याग्नि है । सो ग्रहण नहीं करा । क्यों कि मुख्याग्नि को वेद पढ़ने की सामर्थ्य नहीं किन्तु वेद पढ़ने में समर्थ बालक ग्रहण करा है ॥४५॥

कृशोहं पुष्टिमाप्स्यामीत्यादौ देहात्मतोचिता ।

न पुत्रं विनियुंक्तेऽत्र पुष्टिहेत्वन्नभक्षणे ॥४६॥

अर्थ—इतने करके जिस व्यवहार में गौणात्मा पुत्र आदि की प्रधानता है । सो कही । अब मिथ्यात्मा स्थूल शरीर आदि की जिस व्यवहार में प्रधानता है । उसको सुन । मैं कृश होगया हूँ, इस से अन्न दुग्ध घृत आदि खाकर मोटा हूंगा, इत्यादि जो लोक प्रसिद्ध जीवों का व्यवहार है, उसमें अन्न भक्षण में समर्थ शरीर को आत्मरूपता करके ग्रहण करा है, तिस से इस शरीर की पुष्टिकरणरूप व्यवहार में पुत्र की प्रधानता नहीं, क्यों कि अपने मोटे होने के लिये पुत्र को दूध नहीं पिलाता, और पुष्टि का कारण औषध पुत्र को नहीं खुलाता ॥४६॥

तपसा स्वर्गमेष्यामीत्यादौ कर्त्रात्मतोचिता ।

अनपेक्ष्य वपुर्भोगं चरेत्कृच्छ्रादिकं ततः ॥४७॥

अर्थ—और जब यह व्यवहार पुरुष करता है कि अब मैं तप करके स्वर्ग को प्राप्त होऊंगा, इस व्यवहार में कर्ता जो विज्ञानमय है बुद्धि उपाधि वाला जीव, उसीको आत्मरूपता है, शरीर और पुत्र आदि को आत्मरूपता नहीं, क्यों कि देह के भोगों को त्याग कर और पुत्र आदि के साथ मोह को छोड़ कर, कर्ता जो जीव है, सो स्वर्ग प्राप्तिका साधन कृच्छ्र चान्द्रायण आदि रूप तप को गंगाजी के तट पर बैठ कर करता है, इस व्यवहार में विज्ञानमय कोशरूपबुद्धि की प्रधानता है, और पुत्र शरीर आदि की प्रधानता नहीं ॥४७॥

मोक्ष्येहमित्यत्र युक्तं चिदात्मत्वं तदा पुमान् ।
तद्वेत्ति गुरुशास्त्राभ्यां न तु किंचिच्चिकीर्षति ॥४८॥

अर्थ—और जिस व्यवहार में साक्षी रूप आत्मा की प्रधानता है, सो सुन, जब पुरुष यह निश्चय करता है कि मैं शम दम आदि साधनों को सिद्ध कर, और श्रवण मनन निदिध्यासन को कर, मोक्ष को प्राप्त होऊंगा, तब गुरु ने उपदेश किया जो महा वाक्य, उसके अर्थ विचार से, पैदा हुआ जो अपरोक्षज्ञान उस से यह निश्चय करता है कि मैं कर्ता भोक्ता नहीं, सच्चिदानन्द ब्रह्म मैं हूँ, इस प्रकार चैतन्य रूप साक्षी आत्मा को जानता है, इस व्यवहार में आत्मा करके साक्षी चैतन्यरूपआत्मा का ग्रहण करना बनता है, और गौणात्मा पुत्र आदि का और मिथ्यात्मा शरीर आदि का आत्म शब्द करके ग्रहण नहीं बनता, तिससे इस व्यवहार में पुत्र आदिकी मुख्यता नहीं॥४८॥

विप्रक्षत्रादयो यद्वद् बृहस्पति सवादिषु ।
व्यवस्थितास्तथा गौणमिथ्या मुख्या यथोचितम् ॥४९॥

अर्थ—तीन प्रकार के जो आत्मा हैं, उनमें जिस व्यवहार में जिस आत्मा की योग्यता है उसी का ग्रहण करा है, दूसरे का नहीं होता, जैसे ब्राह्मण बृहस्पति सव नाम यज्ञ को करे, इस शास्त्र करके कहे हुए बृहस्पति सव नाम यज्ञ में ब्राह्मण का ही अधिकार है, क्षत्रिय और वैश्य का अधिकार नहीं, तहां श्रुतिः, (ब्राह्मणो बृहस्पति सवेन यजेत) अर्थ-ब्राह्मण बृहस्पति सवनाम यज्ञ से परमेश्वर का का यजन करे, और राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय का ही अधिकार है, ब्राह्मण और वैश्य का अधिकार नहीं तहां श्रुतिः (राजा राजसूयेन यजेत) अर्थ-राजा राजसूय यज्ञ से परमेश्वर का यजन करे, और वैश्यस्तोम यज्ञमें वैश्यका ही अधिकार है, ब्राह्मण और क्षत्रियका अधिकार नहीं तहां श्रुतिः (वैश्यो वैश्यस्तोमेन यजेत) अर्थ-वैश्य वैश्यस्तोम यज्ञकरके परमेश्वर का अर्चन करे, तैसे गौण मिथ्या मुख्य भेद करके तीन जो आत्मा

हैं, उनका जैसा जिसका ग्रहण करना बनता है, अपने लायक व्यवहार में, उस व्यवहार में उसी की प्रधानता है ॥४६॥

तत्र तत्रोचिते प्रीतिरात्मन्येवातिशायिनी ।
अनात्मनि तु तच्छेपे प्रीतिरन्यत्र नो भयम् ॥५०॥

अर्थ—तिस से इतने करके जो सिद्ध हुआ, सो सुन, जिस२ व्यवहार मेंजो जो आत्मा ग्रहण करने योग्य है उस२ व्यवहार में उस २ व्यवहार की कारणता के योग्य प्रधानात्मा में परम प्रीति होती है, और उस आत्मा का शेपरूप आत्मा से भिन्न जो अनात्म वस्तु है, उस में परम प्रीति नहीं होती, प्रीति होती है, और जो वस्तु न तो आत्मा है, न आत्मा का शेप है, उस वस्तु में न प्रीति होती है न परम प्रीति होती है ॥५०॥

उपेक्ष्यं द्वेष्यमित्यन्यद्वद्वेधा मार्गतृणादिकम् ।
उपेक्ष्यं व्याघ्रसर्पादि द्वेष्यमेवं चतुर्विधम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—आत्मा और आत्मा के शेप से भिन्न वस्तु दो प्रकार की होती है। एक उपेक्षा के योग्य, जैसे रास्ते में पड़े हुए तृण आदि, और दूसरी द्वेप के योग्य होती है। जैसे सिंह सर्प आदि, ऐसे होने पर वस्तु चार प्रकार की सिद्ध हुई ॥ ५१ ॥

आत्मा शेप उपेक्ष्यं च द्वेष्यं चेति चतुर्ष्वपि ।
न व्यक्तिनियमः किंतु तत्तत्कार्यात्तथा तथा ॥ ५२ ॥

अर्थ—आत्मा १ आत्मा का शेप २ उपेक्ष्य ३ और द्वेष्य ४ इन चारों में आकार का नियम नहीं। जैसा २ जिसका कार्य देखना, तैसा २ उस को जानना, जो उपका करने हारा होवे सो शेप होता है, और वही प्रेय होता है, और जो विरोध करने हारा है सो द्वेष्य होता है, और वही अप्रेय होता है, और जो न उपकार करने हारा होवे न विरोध करने हारा होवे सो उपेक्ष्य होता है ॥ ५२ ॥

स्याद्व्याघ्रः संमुखो द्वेष्यो ह्युपेक्ष्यस्तु पराङ्मुखः ।
लालनादनुकूलश्चेद्विनोदायन्ति शेपताम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—और यह नियम नहीं कि अमुक द्वेष्य है, अमुक उपेक्ष्य है, और अमुक शेष है, जिस से प्रसिद्ध द्वेष्य शेर में द्वेप का अभाव दीखता है। सिंह में कब द्वेप होत है, और कब द्वेप का अभाव होता है ? जब वन में शेर अपने खाने को सन्मुख आता है, तब शेर द्वेष्य होता है, अर्थात् तब पुरुष यह चाहता है कि मैं इस शेर को मार दूं, और वही शेर जब धीरे से चला जाता है, तब शेर उपेक्ष्य होता है। अर्थात् तब पुरुष यह कहता है कि शेर जाता है तो जाये, हमारा इस के मारने में क्या प्रयोजन है। और जब वही शेर पींजरे में बन्द हो जाता है, और हिलाने से अपने अनुकूल हो जाता है। तब विनोद के लिये इस को प्रेय होता है ॥ ५३ ॥

व्यक्तीनां नियमो माभूल्लक्षणात्तु व्यवस्थितिः ।

आनुकूल्यं प्रातिकूल्यं द्वयाभावश्च लक्षणम् ॥ ५४ ॥

शंका—एक पदार्थ को श्रेय द्वेष्य उपेक्ष्य तीन स्वभाव वाला मानने पर, व्यवहार की व्यवस्था न सिद्ध होवेगी ।

उत्तर—आकारों में प्रेय द्वेष्य उपेक्ष्य नियम का अभाव रहते भी जिस में द्वेष्य का लक्षण आवे सो द्वेष्य है, और जिस में उपेक्ष्य का लक्षण आवे सो उपेक्ष्य है । और जिस में प्रेय का लक्षण आवे सो प्रेय है, सो लक्षण यह है, जो सुख के देने हारा होवे सो प्रेय है और जो दुःख के देने हारा होवे सो द्वेष्य है, और जो सुख दुःख दोनों के देने हारा न होवे सो उपेक्ष्य है ॥ ५४ ॥

आत्मा प्रेयान् प्रियः शेषोद्वेषोपेक्षे तदन्ययोः ।

इति व्यवस्थितो लोको याज्ञवल्क्यमतं च तत् ॥ ५५ ॥

अर्थ—तिस से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा अतिशय कर के प्यारा है । और जो आत्मा के सुख देने हारा है, उस का नाम शेष है, सो प्यारा है, और जो दुःख देने हारा है, सो द्वेष्य है, और जो सुख दुःख के नहीं देने हारा है, सो उपेक्ष्य है, इस तरह चार प्रकार के पदार्थों को निश्चय कर के यह सब लोक व्यवस्थित है, और पाँचवां पदार्थ जगत् में कोई नहीं, यह यह याज्ञवल्क्य का मत है ॥ ५५ ॥

अन्यत्रापि श्रुतिः प्राह पुत्राद्वित्तात्तथान्यतः ।

सर्वस्मादांतरं तत्त्वं तदेतत्प्रेय इष्यताम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—यह अर्थ केवल याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के संवाद में ही नहीं कहा । किंतु बृहदारण्यक उपनिषद् के पुरुषविध ब्राह्मण में भी कहा है, सो सुन । (तदेतत् प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादंतरतरं यदयमात्मा) अर्थ—सो यह अपने आप पुत्र से भी प्यारा है, और धन से भी प्यारा है, और अन्य सब शरीर इंद्रिय प्राण आदि से भी प्यारा है, जिस से सब से अत्यंत अन्तर आत्मा है ॥ ५६ ॥

श्रौत्या विचारदृष्ट्यायं साक्ष्येवात्मा न चेतरः ।

कोशान्पंच विविच्यांतर्वस्तुदृष्टिर्विचारणा ॥ ५७ ॥

अर्थ—हो श्रुति में इस प्रकार का कथन, पर प्रसंग में क्या सिद्ध हुआ ? श्रुतियों के अर्थ के विचार से पैदा हुई जो तत्त्ववेत्ता की दृष्टि है, उस कर के साक्षी

ही मुख्य आत्मा है। और पुत्र आदि या शरीर आदि मुख्य आत्मा नहीं, जिस विचार दृष्टि से साक्षी को मुख्यात्मता है, उस विचार का स्वरूपक्या है? अन्न मय आदि पञ्च कोशों को तैत्तिरीय उपनिषद् मेंकहा जो प्रकार, उस कर के आत्मा से भिन्न कर। पञ्च कोशों के अन्तर स्थित आत्मा का जो अनुभव है सो विचार है॥ ५७॥

जागरस्वप्नसुप्तीनामागमापायभासनम्।
यतो भवत्यसावात्मा स्वप्रकाशचिदात्मकः॥ ५८॥

अर्थ—पञ्च कोशों के अन्तर स्थित आत्मा के अनुभव का प्रकार सुन, जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों के उत्पत्ति विनाश को जो प्रकाशता है, सो स्वप्रकाश चैतन्यरूप आत्मा साक्षी है॥ ५८॥

शेषाः प्राणादिवित्तांता आसन्नास्तारतम्यतः।
प्रीतिस्तथा तारतम्यात्तेषु सर्वेषु वीक्ष्यते॥ ५९॥

अर्थ—और आत्मा से भिन्न प्राणों से लेकर धन पर्यन्त सब पदार्थ क्रम से आत्मा के निकटवर्ती होते हैं, इसी कारण से उन सब में प्रीति अधिक २ होती है। अर्थात् जो जो पदार्थ जितना २ आत्मा के धोरे है, तितनी २ उस में प्रीति अधिक होती है। और जितना २ जो २ पदार्थ आत्मा से दूर होता है। तितनी २ उस में प्रीति थोड़ी होती है॥ ५९॥

वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्पिंडः पिंडात्तथेंद्रियम्।
इंद्रियाच्च प्रियः प्राणः प्राणादात्मा प्रियः परः॥ ६०॥

अर्थ—सो जैसे है तैसे सुन, धन से पुत्र प्यारा होता है, क्यों कि पुत्र के दुःख दूर करने को धन देदेता है, और अपने शरीर की रक्षा के लिये पुत्र आदि को भी दे देता है, और जब कोई राजा इस के अपराध से यह कहे कि चाहे तो इस के बेंत मारो, और चाहे इस के नेत्र निकास लो, तब पुरुष नेत्रों की रक्षा के लिये शरीर के दुःख को सहार लेता है, और जब कोई राजा ऐसा कहे कि चाहे तो इस के नेत्र निकास लो, और चाहे इसे फांसी देदो, तब प्राणों की रक्षा के लिये नेत्र निकास देने के दुःख को सहार लेता है, और अपने सुख के लिये अतिरोगी जीव प्राणों को भी त्याग देता है, तिस से धन से लेकर अगले २ में प्रीति की अधिकता सब लोकों के अनुभव सिद्ध है। और आत्मा में परम प्रीति ज्ञानवानों के अनुभव सिद्ध है॥ ६०॥

एवं स्थिते विवादोत्र प्रतिबुद्धविमूढयोः ॥
श्रुत्योदाहारि तत्रात्मा प्रेयानित्येत्र निर्णयः ॥ ६० ॥

अर्थ—इस प्रकार आत्मा में परम प्रेम को प्रमाण सिद्ध होने पर भी ज्ञानी अज्ञानी का विवाद दूर करने को। ज्ञानी और अज्ञानी का विवाद श्रुति ने दिखलाया है। सो सुन। किसी समय ज्ञानी और अज्ञानी का बहुत विवाद हुआ। उस में यह निर्णय हुआ कि आत्मा परम प्यारा है ॥ ६० ॥

साक्ष्येव दृश्यादन्यस्मा प्रेयानित्याह तत्त्ववित् ॥
प्रेयान्पुत्रादिरेवेमं भोक्तु साक्षीति मूढधीः ॥६१॥

अर्थ—ज्ञानी ऐसे कहे कि सब दृश्य से परम प्यारा साक्षी रूप आत्मा है। और अज्ञानी ऐसे कहे कि कि परम प्यारे पुत्र आदि हैं। उनके भोगने द्वारा साक्षीरूप आत्मा है, इस विवाद को करते हुवे निर्णय करने को श्रुति के पास गये तब श्रुति ने यह निर्णय किया कि साक्षीरूप आत्मा परम प्यारा है ॥ ६१ ॥

आत्मनोन्यं प्रियं ब्रूते शिष्यश्च प्रतिवाद्यपि ॥
तस्योत्तरं वचोबोधशापौ कुर्यात्तयोः क्रमात् ॥ ६२ ॥

अर्थ—श्रुति करके झूठा हुआ जो अज्ञानी है। आत्मा से भिन्न पुत्र आदि को प्यारा कहने द्वारा सो दो प्रकार का है। एक शिष्य है। एक प्रति वादी है। शिष्य को ज्ञानवान् ने उत्तर दिया, सो तो उस को बोध का कारण हुआ। और प्रतिवादी को शापरूप हुआ ॥ ६२ ॥

प्रियं त्वां रोत्स्यतीत्येवमुत्तरं वक्ति तत्त्ववित् ॥
स्वोक्तप्रियस्य दुष्टत्वं शिष्यो वेत्ति विवेकतः ॥ ६४ ॥

अर्थ—सो कौन सा वचन है, जो प्रतिवादी को शापरूप हुआ। और शिष्य को बोधरूप हुआ ? ज्ञानवान् ने यह वचन कहा, (सायोन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात प्रियं रोत्स्यति) अर्थ—हे प्रतिवादिन् हे शिष्य ! तू जो साक्षी से भिन्न पुत्र आदि को परम प्यारा कहता है। सो पुत्रआदि नाश को प्राप्त होकर तुझे रुवावेंगे।

शंका—यह एक वचन हो प्रतिवादी और शिष्य को शापरूप और बोध का कारण कैसे हुआ।

उत्तर– शिष्य को बोधरूप इस से हुआ । जिस से इस ने विवेक करके पुत्र आदि को अनेक दोषों वाला जाना, इस से पुत्र आदि परम प्यारे हैं । यह भ्रम उस का नष्ट हो गया ॥ ६४ ॥

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ॥
लब्धोपि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥ ६५ ॥
जातस्य ग्रहरोगादिः कुमारस्य च मूर्खता ॥
उपनीतेप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पंडिते ॥ ६६ ॥
पुनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुंबिनः ॥
पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यंतो धनी चेन्म्रियते तदा ॥ ६७ ॥

अर्थ—सो जिस प्रकार विचार से शिष्य ने पुत्र को दोषों वाला जाना है, सो विचार सुन, विचार शिष्य का । जिस के घर पुत्र नहीं जन्मता उस को बड़ा दुःख होता है । स्त्री को भी । और पुरुष को भी, और पुत्र की उम्मेद होने पर जो चार या पांच महीने का गर्भ गिर जाय । तो भी बहुत दुःख होता है, और पुत्र के जन्मकाल में माता को बड़ा दुःख होता है, कितनी स्त्रियां तो उस समय मर जाती हैं । स्त्री के बचे रहते भी, जब ज्योतिषी से पूछा कि इस बालक के कैसे ग्रह है । तद उस ने कहा कि इस के ग्रह क्रूर हैं । तब उस वचन को सुन कर माता पिता को बड़ा दुःख होता है, और बालक के शरीर में रोगोंसे माता पिता को बहुत दुःख होता है, और उस की मूर्खता से दोनों को बहुत दुःख होता है । और यज्ञोपवीत से पीछे जो बालक विद्या नहीं पढ़ता, तब माता पिता को बहुत दुःख होता है, और विद्या पढ़ने पर भी जो उस का विवाह न होवे तो माता पिता को बड़ा दुःख होता है । और विवाह होने पर भी जो उसकी युवावस्था में पर स्त्रियों के साथ प्रीति होजाय । तब माता पिता को बड़ा दुःख होता है, और अपनी स्त्री के साथ प्रीती होने पर भी जो कुटुंबी पुरुष निर्धन होवे तब माता पिता को बहुत दुःख होता है । और धनी होने पर भी जो आज्ञानुसारी न हो तब माता पिता को बहुत दुःख होता है । और आज्ञानुसार होने पर भी जो जवान मर जाय तब माता पिता को बहुत दुःख होता है । इस प्रकार पुत्र से जो दुःख होते हैं । उनका अन्त नहीं आता जैसे पुत्र में दुःख हैं । तैसे धन स्त्री आदि में भी जानने ॥६५॥ ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

[एवं विविच्य पुत्रादौ प्रीतिं त्यक्त्वा निजात्मनि
निश्चित्य परमां प्रीतिं वीक्षते तमहर्निशम् ६८]

अर्थ—इस प्रकार विचार करके पुत्र आदि में भिन्न २ दोषों को जान कर पुत्र आदि में प्रीति को त्याग कर, साक्षी रूप आत्मा को परम प्यारा निश्चय कर । साक्षी रूप आत्मा को ही दिन रात्र चिंतन करता है ॥६८॥

आग्रहाद् ब्रह्मविद्वेषादपि पक्षमुंचतः ।
वादिनो नरकः प्रोक्तो दोषश्च बहुयोनिषु ॥६९॥

अर्थ—इस प्रकार आत्मा से भिन्न प्यारा जो तू जानता है। सो अपने नाश से तुझे रुवावेगा। यह जो ज्ञानवान् का वचन है । सो शिष्य को विचार से बोध का कारण हुआ। और यही वचन जिस प्रकार प्रतिवादी को शापरूप हुआ । सो प्रकार सुन। प्रतिवादी ने कहा कि ज्ञानवान् जो कहता है कि साक्षी रूप आत्मा परम प्यारा है। उसको मैं खंडन करूंगा। ऐसा जो ज्ञानवान् के साथ द्वेष। उससे, अथवा मैं जो कहता हूं कि पुत्र आदि परम प्यारे हैं। इस अपने वचन को कभी न त्यागूंगा। इस हठ से, पुत्र आदि परम प्यारे हैं इस पक्ष को जो नहीं त्यागता। उस प्रतिवादी को अनेक जन्मों में प्यारे पुत्र स्त्री आदि का वियोग होता है । अर्थात् जिसर जन्म को प्राप्त होता है। उसर जन्म में प्यारे पुत्र आदि के मरने से रोता रहता है । यह दोष प्यारा तुझे रुवावेगा। इस वाक्य के कहने हारे ज्ञानी ने प्रतिवादी के ताईं दिया जो शाप, सो शाप कभी दूर नहीं होता, इसी से ब्रह्मवेत्ता के साथ द्वेष करने हारे अज्ञानी अब तक पुत्र आदि के मरने से रोते रहते हैं । आत्मा से भिन्न पुत्र आदि को परम प्यारा जानने रूप पाप से अज्ञानियों को नरक की प्राप्ति होती है ॥६९॥

ब्रह्मविद्ब्रह्मरूपत्वादीश्वरस्तेन वर्णितम् ।
यद्यत्तत्तथैवस्यात्तच्छिष्यप्रतिवादिनोः ॥७०॥

शंका—ज्ञानवान् ने कहा जो एक वचन कि प्यारा तुझे रुवावेगा। उस वचन का शिष्य के ताईं उपदेशरूपता, और प्रतिवादी के ताईं शापरूपता, कैसे होगयी, विरुद्धरूपता ।

उत्तर—ज्ञानवान् ईश्वर रूप है, जिस से ज्ञानवान् के तात्पर्य के अनुसार वचन को विरुद्धरूपता हुई, जैसे बिल्ली के दांत चूहे की मौत का कारण हो जाते हैं, और बिलोटों की पालना का कारण हो जाते हैं। जिस से ब्रह्मवेत्ता ने अपनी ब्रह्मरूपता का निश्चय अनुभव किया है, तिस से ब्रह्मवेत्ता ईश्वररूप है, इस कारण से ईश्वर रूप ब्रह्मवेत्ता ने, शिष्य के ताईं ज्ञान की प्राप्ति के लिये जो वचन कहा है, सो शिष्य को ज्ञान की प्राप्ति का कारण होता है, और वही वचन प्रतिवादी के ताईं शाप के अभिप्राय से जो कहा है, सो प्रतिवादी को दुःखों का कारण शापरूप होजाता है। तिससे साक्षी आत्मा को परम प्यारा जानकर, उसी में चित्तकी एकाग्रता को करे ॥७०

यस्तु साक्षिणमात्मानं सेवते प्रियमुत्तमम् ।
तस्य प्रेयानसावात्मा न नश्यति कदाचन ॥७१॥

अर्थ—जो पुरुष आत्मा को प्यारा जानकर उसी में चित्त की एकाग्रता को करता है, उसका प्यारा यह आत्मा कभी नष्ट नहीं होता, तात्पर्य यह है कि अनात्म पुत्र आदि की प्रेयता के जानने द्वारा जो प्रतिवादी है, उससे भिन्न जो ज्ञानवान् का शिष्य आत्मा को परम प्यारा अर्थात् निरतिशय सुखरूप चिन्तन करता है, उस ज्ञानवान् के शिष्य का परम प्यारा जो आत्मा है, सो कदाचित् भी नाश को प्राप्त नहीं होता, सदा आनन्दरूप हुआ प्रकाशता है, और अज्ञानी ने जो पुत्र आदि को परम प्यारा माना है, सो नाश को प्राप्त हो जाता है ॥७१॥

परप्रेमास्पदत्वेन परमानन्दरूपता ।
सुखवृद्धिः प्रीतिवृद्धौ सार्वभौमादिषु श्रुता ॥७२॥

अर्थ—इतने करके आत्मा में परम प्रेम सिद्ध हुआ, तिस करके आत्मा को परमानन्दरूप जानना, इस अर्थ में यह अनुमान है, आत्मा परमानन्दरूप है परम प्रेम का विषय होने से, जो परमानन्द रूप नहीं, सो परम प्रेम का विषय भी नहीं, जैसे घट आदि, परमानन्दरूप नहीं तो परम प्रेम का विषय भी नहीं ।।

शंका—आत्मा में परम प्रेम हो, पर तिस करके आत्मा को परमानन्दरूपता नहीं बनती ।

उत्तर—जितनी२ जिसमें प्रीति अधिक होती है, तितना२ उसमें सुख अधिक होता है, जिस कारण से चक्रवर्ती राजा से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त पदों में, जिस२ पद में प्रीति अधिक है, उस२ पद में सुख भी अधिक है, यह तैत्तिरीय उपनिषद् और बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है, इस कारण से आत्मा में प्रीति की निरतिशयता के रहते, आत्मा में आनन्द भी निरतिशय है, ऐसा जाना जाता है, निरतिशय का अर्थ तोल माप से रहित ॥७२॥

चैतन्यवत्सुखं चास्य स्वभावश्चेच्चिदात्मनः ।
धीवृत्तिष्वनुवर्तेत सर्वास्वपि चितिर्यथा ॥७३॥

शंका—आत्मा की परमानन्दरूपता नहीं बनती, जो आत्मा परमानन्दरूप होवे। तो सब अन्तःकरण की वृत्तियों में आनन्द की प्रतीति होवे, जैसे आत्मा के स्वरूप चैतन्य की प्रतीति होती है ॥७३॥

मैवमुष्णप्रकाशात्मा दीपस्तस्य प्रभा गृहे ।
व्याप्नोति नोष्णता तद्वच्चितेरेवानुवर्तनम् ॥७४॥

उत्तर—चैतन्य और आनन्द ये दोनों आत्मा के स्वरूप हैं । पर चैतन्य की सब अन्तःकरण की वृत्तियों में प्रतीति होती है । आनन्द की नहीं होती । इस में दृष्टान्त सुन, जैसे दीपक उष्ण और प्रकाशरूप है । पर घर में प्रकाश तो व्याप्त हो जाता है, उष्णता व्याप्त नहीं होती, तैसे आत्मा की चेतनता सब वृत्तियों में प्रतीत होती है, आनन्द नहीं प्रतीत होता ॥७४॥

गंधरूपरसस्पर्शेष्वपि सत्सु यथा पृथक् ॥
एकाक्षेणैक एवार्थो गृह्यते नेतरस्तथा ॥७५॥

शंका—चैतन्य और आनन्द का अभेद होने पर चैतन्य की प्रकटता का कारण अन्तःकरण वृत्ति में ही आनन्द की भी प्रकटता होनी चाहिये ।

उत्तर—चैतन्य और आनन्द का अभेद रहते भी, चैतन्य की प्रकटता से आनंद की प्रकटता नहीं होती, जैसे एक पुष्प में स्थित जो गन्ध रूप रस स्पर्श हैं । उनका अभेद है । पर एक घ्राण इन्द्रिय से एक गन्ध गुण ही ग्रहण करा जाता है, रूप रस आदि का ग्रहण नहीं होता, तैसे चैतन्य और आनन्द का अभेद होने पर भी, सब चित्त वृत्तियों में चैतन्य की प्रतीति होती है, आनन्द की नहीं होती ॥७५॥

चिदानंदौ नैव भिन्नौ गंधाद्यास्तु विलक्षणाः ।
इति चेत्तदभेदोपि साक्षिण्यन्यत्र वा वद ॥७६॥

शंका—चैतन्य और आनंद का भेद नहीं गंध रूप रस स्पर्श का भेद है तिस से दृष्टाँत दार्ष्टान्त की तुल्यता नहीं ।

उत्तर—चैतन्य और आनन्द का जो अभेद है, सो साक्षीरूप आत्मा में है। अथवा आत्मा की उपाधिरूप वृत्तियों में है ॥७६॥

आद्ये गंधादयोऽप्येवमभिन्नाः पुष्पवर्तिनः ।
अक्षभेदेन तद्भेदे वृत्तिभेदात्तयोर्भिदा ॥७७॥

अर्थ—जो कहे साक्षी रूप आत्मा में चैतन्य और आनन्द का अभेद है, तो दृष्टांत और दार्ष्टान्त की तुल्यता है, गन्ध आदि चैतन्य और आनन्द की नाईं एक

रूप में स्थित हुए भेद से रहित हैं, क्योंकि रूप आदि को त्याग कर गन्ध नहीं आ सकता, और गन्ध आदि को त्याग कर रूप को नहीं आ सकता, और जो कहे कि आत्मा की, उपाधिरूप वृत्तियों में चैतन्य और आनन्द का अभेद है। सो तो नहीं जैसे गंध आदि ग्रहण करने हारी घ्राण आदि इन्द्रियों के भेद से। गन्ध आदि का भेद है, तैसे चैतन्य और आनन्द के ग्रहण करने हारी, राजसी सात्विकी वृत्तियों के भेद से चैतन्य और आनंद का भी भेद है, अर्थात् सात्विकी वृत्ति से आनंद की प्रतीति होती है, और राजसी तामसी वृत्ति में आनन्द की प्रतीति नहीं होती चैतन्यकी प्रतीति होती है, जैसे घ्राण से गंध की प्रतीति होती है रूप की प्रतीति नहीं होती, तिस से उपाधि रूप वृत्तियों से चैतन्य और आनंद का भेदहै, जैसे घ्राण आदि के भेद से गन्ध आदि का भेद है ॥७७॥

सत्त्ववृत्तौ चित्सुखैक्यं तद्वृत्तेर्निर्मलत्वतः।

रजोवृत्तेस्तु मालिन्यात्सुखांशोत्र तिरस्कृतः॥ ७८ ॥

शंका—जो वृत्तियों में चैतन्य और आनन्द का भेद है तो अभेद किस में है?

उत्तर— पुण्यरूप कर्मों से उदय हुई जो सात्विकी वृत्ति उस में चैतन्य और आनन्द की एकता प्रतीत होती है क्योंकि सात्विकी वृत्ति निर्मल है।

शंका—जो सात्विकी वृत्ति में चैतन्य और आनन्द का अभेद है तो भेद किस में है?

उत्तर-राजसी वृत्ति में चैतन्य और आनन्द का भेद है। राजसी वृत्ति को मलिन होने से ॥ ७८ ॥

तिन्तिणीफलमत्यम्लं लवणेन युतं सदा।

तदाम्लस्य तिरस्कारादीषदम्लं यथा तथा॥ ७९ ॥

अर्थ-राजसी वृत्ति में विद्यमान भी सुख नहीं प्रतीत होता। रजोगुण से सुख ढका जाता है। जैसे इमली में विद्यमान खटाई लवण से आच्छादित की जाती है और थोड़ी सी खटाई प्रतीत होती है तैसे राजसी वृत्तिमें आनन्द ढका जाता है ॥७९॥

ननु प्रियतमत्वेन परमानन्दतात्मनि।

विवेक्तुं शक्यतामेवं विना योगेन किं भवेत्॥ ८० ॥

शङ्का—गूढ तात्पर्य वाले को। कहे हुए प्रकार से आत्मा की परमानन्दरूपता हो। आत्मा को परम प्रेम का विषय होने से और मिथ्यात्म [illegible]स्वरूप जो प्रेय उपेक्ष्य हेय हैं। इन से भिन्न कर विवेकी आत्मा का ज्ञान तो भी यह विवेक मोक्ष का साधन नहीं। अपरोक्ष ज्ञान द्वारा मोक्ष का कारण जो योग है उस का ग कथन करने से ॥ ८० ॥

यद्योगेन तदेवेति वदामो ज्ञानसिद्धये।
योगः प्रोक्तो विवेक न ज्ञानं किं नोपजायते ॥ ८१ ॥

उत्तर—गुह्य तात्पर्य से, जो योग से होता है, सोई विवेक से होता है, जैसे योग अपरोक्ष ज्ञानद्वारा मोक्ष का कारण है। तैसे विवेक भी अपरोक्ष ज्ञान द्वारा मोक्ष का कारण है।

शंका—प्रकट अभिप्राय से। ज्ञान सिद्धि के लिये योग कहा है।

उत्तर-प्रकट अभिप्राय से, विवेक से भी ज्ञान की सिद्धि होती है। जैसे अपरोक्ष ज्ञान का साधन रूपता करके योग कहा है। प्रथम अध्याय में, तैसे इस अध्याय में, कहे हुए गौणात्मा मिथ्यात्मा के विवेक द्वारा, पंचकोशों के विवेक से, ज्ञान की उत्पत्ति होती है ॥८१॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
इति स्मृतं फलैकत्वं योगिनां च विवेकिनाम् ॥ ८२ ॥

शंका—योग से और विवेक से ज्ञान पैदा होता है, इसमें क्या प्रमाण है?

उत्तर—इसमें गीता का वचन प्रमाण है, उसका अर्थ यह है, आत्मा अनात्मा के विवेक करने हारों ने जिस मोक्षरूपस्थान को पाया है, उसी मोक्षरूप स्थान को योग वालों ने भी प्राप्त करा है, इस वचन से भगवान् ने योगियों को और विवेकियों को अपरोक्षज्ञानद्वारा मोक्षरूप एक फल कहा है ॥ ८२ ॥

असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः।
इत्थं विचार्य मार्गौ द्वौ जगाद परमेश्वरः ॥ ८३ ॥

शंका—विवेक का और योग का जो फल एक है, तो शास्त्रों में एक को ही कहना चाहिये था, दोनों को कहना न चाहिये था।

उत्तर—मोक्ष के अधिकारी अनेक प्रकार के हैं, किसी से योग नहीं हो सकता, और किसी से विवेक नहीं हो सकता, और योग हो सकता है, ऐसे विचार कर परमेश्वर ने शास्त्र में योग और विवेक दोनों मार्ग कहे हैं ॥८३॥

योगे कोऽतिशयस्तेऽत्र ज्ञानमुक्तं समं द्वयोः।
रागद्वेषाद्यभावश्च तुल्यो योगिविवेकिनोः ॥८४॥

शंका—योग बहुत यत्न से सिद्ध होता है। और विवेक सुखपूर्वक सिद्ध होता है, इस से विवेक के साथ योग की कुछ अधिकता कहनी चाहिये।

उत्तर—योग की विवेक से कुछ अधिकता तो नहीं है, क्यों कि अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति दोनों से होती है । और राग द्वेष की निवृत्ति भी दोनों को एक जैसी होती है, योगी और विवेकी को ॥८४॥

न प्रीतिर्विषयेष्वस्ति प्रेयानात्मेति जानतः ।
कुतो रागः कुतो द्वेषःप्रातिकूल्यमपश्यतः ॥८५॥

अर्थ—जिस विवेकी ने आत्मा को अतिशय करके प्यारा जाना है। उसका विषयों में राग नहीं होता, जिस से विषयों में राग का कारण विषयों में अनुकूलता बुद्धि विवेकी को नहीं रहती, तिस से विवेकी का विषयों में राग नहीं होता, और विवेकी का किसी में द्वेष भी नहीं होता, क्यों कि द्वेष का कारण प्रतिकूलता बुद्धि किसी में विवेकी की नहीं रही ॥८५॥

देहादेः प्रतिकूलेषु द्वेषस्तुल्यो द्वयोरपि ।
द्वेषं कुर्वन्न योगी चेदविवेक्यपि तादृशः ॥८६॥

शंका—विवेकी का व्यवहारकाल में देह के उपद्रव करनेहारों में द्वेष दीखता है।

उत्तर—व्यवहारदशा में देह के उपद्रव करने हारों में योगी का भी द्वेष दीखता है। तिस से विवेकी की और योगी की तुल्यता है, योगी की विवेकी से कुछ अधिकता नहीं।

शंका—उपद्रव के करने हारे सर्प बीछू आदि मेंद्वेष के करनेहारे को द्वेषकाल में हम योगी नहीं मानते।

उत्तर—तो देह के उपद्रव करनेहारे सर्प बीछू आदि में द्वेष के करनेहारे को द्वेषकाल में हम विवेकी नहीं मानते ॥८६॥

द्वैतस्य प्रतिभानं तु व्यवहारे द्वयोः समम् ।
समाधौ नेति चेत्तद्वन्नाद्वैतत्वविवेकिनः ॥८७॥

शंका—विवेकी को द्वैत की प्रतीति होती है, और योगी को नहीं होती, तिस से योगी की विवेकी से अधिकता है।

उत्तर—व्यवहारकाल में द्वैत की प्रतीति योगी को भी होती है। तिस से योगी की विवेकी से अधिकता कुछ नहीं।

उत्तर--जैसे योगी को समाधि काल में द्वैत की प्रतीति नहीं होती। तैसे विवेकी को भी श्रुतियों और युक्तियों से जगत् की मिथ्यारूपता और आत्मा की असंग निर्विकार ब्रह्मरूपता के विवेक काल में द्वैत की प्रतीति नहीं होती ॥८७॥

विवक्ष्यते तदस्माभिरद्वैतानंदनामके ।
अध्याये हि तृतीयेतः सर्वमप्यतिमंगलम् ॥८८॥

अर्थ—इस वार्ता को अद्वैतानन्द नाम तीसरे अध्याय में हम कहेंगे, इस से योगी को विवेक से अधिकता नहीं, सर्व प्रकार से दोनों की तुल्यता है ॥८८॥

सदा पश्यन्निजानंदमपश्यन्निखिलं जगत् ॥
अर्थाद्योगीति चेत्तर्हि संतुष्टो वर्द्धतां भवान् ॥८९॥

शंका—जो पुरुष सदा निजानन्द का अनुभव करता है। और द्वैत की प्रतीति से रहित है, उस का नाम तो योगी है, आप उस का नाम विवेकी कैसे कहते हो।

उत्तर—जो तू ऐसे पुरुष का नाम योगी रखता है। और रख कर प्रसन्न होता है, तो योगी ही सही ॥ ८९ ॥

ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे मंदानुग्रहसिद्धये ॥
द्वितीयाध्याय एतस्मिन्नात्मानन्दो विवेचितः ॥ ९० ॥

अर्थ – ब्रह्मानन्द नाम ग्रन्थ के इस दूसरे अध्याय में थोड़ी बुद्धिवाले जिज्ञासुओं को आत्मसाक्षात्कार के लिये आत्मानन्द का विवेक कथन किया है ॥ ९० ॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री भारतीतीर्थ विद्यारण्य मुनिवर्य विरचित पंचदश्यां ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दप्रकरणं समाप्तम् ॥ १२ ॥

श्रीः

* पंचदशी *

ब्रह्मानन्दे अद्वैतानन्दः प्रकरणम् १३

❁ श्रीगणेशायनमः ❁

योगानन्दः पुरोक्तोयः स आत्मानन्द इष्यताम् ॥
कथं ब्रह्मत्वमेतस्य सद्वयस्येति चेच्छृणु ॥ १ ॥

श्रीगणेशायनमः ॥ अथाद्वैतानंदव्याख्या ॥ अब अद्वैतानन्द नाम प्रकरण का आरँभ करते हैं। जो ब्रह्मानंद का तीसरा अध्याय है। और पंचदशी का तेरहवां प्रकरण है।

शंका—प्रथम अध्याय में आप ने कहा था कि आनंद तीन प्रकार का है। ब्रह्मानंद १ और विद्यानंद २ और विषयानंद ३ द्वितीयाअध्याय में आत्मानंद का निरूपण करा है। तिस से तीन प्रकारका आनंद न सिद्ध हुआ। आत्मानंद को तीनों आनंदों से भिन्न होने से।

उत्तर—आत्मानंद ब्रह्मानंदरूप है। जैसे ब्रह्मानंद का योगानंद नाम है। योग से उस का अनुभव करने से, और निरुपाधि होने से ब्रह्मानन्द का नाम निजानंद है। तैसे गौण-आत्मा मिथ्या आत्मा के विवेक से ब्रह्मानंद के अनुभव करने से ब्रह्मानंद का नाम आत्मानंद है। तिस से प्रथमाध्याय में जो योगानंद कहा है। सो आत्मानंद जानना।

शँका—आत्मानंद को योगानंदरूपता नहीं बनती। क्योंकि योगानंद अद्वितीय है, और आत्मानंद सद्वितीय है। कैसे आत्मानंद सद्वितीय है? आत्मानंद के सजातीय गौणात्मा पुत्र, स्त्री आदि हैं; और मिथ्यात्मा देह आदि हैं। और आत्मानंद के विजातीय अनात्मरूप आकाशआदि हैं। तिस से सद्वितीयात्मानंद को अद्वितीय योगानंद रूपता नहीं बनती।

उत्तर—आत्मानंद अद्वितीय ब्रह्मरूप है। क्योंकि सजातीय गौणात्मपुत्र आदि और मिथ्यात्मा देह आदि और विजातीय अनात्मरूप आकाश आदि आत्मानंद से भिन्न सत्य नहीं ऐसे तैत्तिरीय उपनिषद् की श्रुति कहती है। उस का अर्थ सुन ॥१॥

आकाशआदि स्वदेहांतं तैत्तिरीयश्रुतीरितम् ॥
जगन्नास्त्यन्यदानंदादद्वैतब्रह्मता ततः ॥ २ ॥

श्रुतिः । (तस्माद्वाएतस्मादात्मन आकाशः संभूत आकाशाद्वायुर्वायोस्तेजस्तेजस आप अद्भ्य पृथिवी पृथिव्या औषधय औषधिभ्योऽन्नमन्नाद्रेतोरेतसः पुरुषा जायंते)

अर्थ—जो ब्रह्मवेत्ताओं करके प्राप्त होने योग्य सच्चिदानन्द रूप आत्मा है, उस से आकाश पैदा हुआ, आकाश से पवन पैदा हुआ, पवनसे तेज पैदा हुआ, तेज से जल पैदा हुआ, जल से पृथिवी पैदा हुई, पृथिवी से औषधि पैदा हुईं, औषधियों से अन्न पैदा हुआ, अन्न से वीर्य्य पैदा हुआ, वीर्य्य से शरीर पैदा हुए । इस प्रकार कहा जो आकाश से लेकर शरीरपर्यन्त जगत् है । सो अपने कारण आत्मानन्द से भिन्न नहीं इस से आत्मानन्द को अद्वितीयब्रह्मरूपता है ॥२॥

आनंदादेव तज्जातं तिष्ठत्यानन्द एव तत् ।

आनंद एव लीनं चेत्युक्तानंदात्कथ पृथक् ॥३॥

शंका—तैत्तरीय उपनिषद् की श्रुति में आत्मा को जगतकारणता कही है । और आनन्द को जगत्कारणता नहीं कही ।

उत्तर-और स्थान में तैत्तिरीय उपनिषद् में आनन्द को जगत्कारणता कही है । तहाँ श्रुतिः । (आनन्द्द्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायंत इत्यादि) ।

अर्थ-आनन्द से ही जगत् पैदा होता है । और आनन्द करके ही जीवता है । और आनन्द में ही लय हो जाता है । तिस से जगत् आत्मानन्द से भिन्न नहीं । इस अर्थ में यह अनुमान है । जगत् आत्मानन्द से भिन्न नहीं आनन्दका कार्य होने से । जो जिसका कार्य है सो तिस से भिन्न नहीं । जैसे मृत्तिका कार्य घट आदि मृत्तिका से भिन्न नहीं ॥३॥

कुलालाद्घट उत्पन्नो भिन्नश्चेति न शंक्यताम् ।

मृद्वदेष उपादानं निमित्तं न कुलालवत् ॥४॥

शंका-जो जिससे उत्पन्न होता है सो उससे भिन्न नहीं, यह नियम नहीं बनता, क्योंकि कुम्भार से पैदा हुआ जो घट है, सो कुम्भार से भिन्न है ।

उत्तर—कारण दो प्रकार का होता है, एक निमित्तकारण, दूसरा उपादान कारण, जैसे घट का कुंभार निमित्त कारण है । और मृत्ति का उपादान कारण है । निमित्त कारण से कार्य्य का भेद होता है, उपादान कारण से कार्य्य का भेद नहीं होता, आत्मानन्द जगत् का उपादान कारण है, तिस से आत्मानन्द से जगत् भिन्न नहीं, जैसे घट मृत्तिका से भिन्न नहीं, और निमित्त कारण से कार्य का भेद हो जैसे कुंभार से घट का भेद होता है, और आनन्दरूप आत्मा से जगत् का भेद नहीं क्योंकि आनन्दरूप आत्मा जगत् का निमित्तकारण नहीं ॥ ४ ॥

स्थितिर्लयश्च कुंभस्य कुलाले स्तो न हि क्वचित् ॥
दृष्टौ तौ मृदि तद्वत्स्यादुपादानं तयोः श्रुतेः ॥ ५ ॥

शंका—दृष्टांत में कुंभार घट का उपादान कारण क्यों नहीं।

उत्तर—कार्य की स्थिति का और कार्य के लय का जो आधार होता है, सो उपादान कारण कहाता है, घट की स्थिति और लय कुंभार में नहीं दीखते, तिससे घट की स्थिति और लय का आधाररूप घट की उपादान कारणता कुंभार को नहीं घट की स्थिति और लय मृत्तिका में प्रत्यक्ष करके दीखते हैं तिससे घट का उपादान कारण मृत्तिका है, कुंभार नहीं।

शंका—घट का उपादान कारण मृत्तिका हो, प्रसंग में क्या आया ?

उत्तर—प्रसंग में यह आया कि जैसे मृत्तिका घट का उपादान कारण है, घट की स्थिति लय का आधार होने से, तैसे आत्मानन्द जगत् का उपादान कारण है जगत् की स्थिति लय का आधार होने से, ऐसे तैत्तिरीय उपनिषद् की श्रुति ने कहा है कि आनंद करके भूत स्थित होते हैं, और आनंद में लय होते हैं, इस वाक्य से, तिस से आत्मानन्द जगत् का उपादान कारण है ॥ ५ ॥

उपादानं त्रिधा भिन्नं विवर्ति परिणामि च ॥
आरंभकं च तत्रांत्यौ न निरंशेऽवकाशिनौ ॥ ६ ॥

अर्थ—उपादान कारण तीन प्रकार का होता है. विवर्ति १ परिणामी २ आरंभक ३ उन में परिणामि और आरंभक ये दोनों साकार वस्तु में बनते हैं, और निराकार वस्तु परिणामि उपादान और आरंभक उपादान नहीं होती ॥ ६ ॥

आरँभवादिनोन्यस्मादन्यस्योत्पत्तिमूचिरे]
तंतोः पटस्य निष्पत्तेर्भिन्नौतंतुपटौ खलु [७]

अर्थ—जिससे आरंभवादी वैशेषिक आदि ऐसा कहते हैं, कार्य से उपादान कारण भिन्न होता है, और उपादान कारण से कार्य भिन्न नहीं होता, जैसे वस्त्र से तंतु भिन्न हैं, और तंतुओं से वस्त्र भिन्न है, जो तंतुओं से वस्त्र का भेद न होवे तो तंतुओं से वस्त्र की उत्पत्ति न होवे, जैसे वस्त्र से वस्त्र की उत्पत्ति नहीं होती, तिस से तंतुओं से वस्त्र की उत्पत्ति होने से तंतु वस्त्र भिन्न २ हैं, विरुद्ध परिमाण से, तंतुओं का परिमाण हजारों गजों का होता है और वस्त्र का परिमाण पाँच सात का होता है, और तंतु और कार्य को करते हैं, और वस्त्र और कार्य्य को करता है तिस से तंतु और वस्त्र भिन्न२ हैं ॥ ७ ॥

[आवस्थांतरतापत्तिरेकस्य परिणामिता ।
स्यात्क्षीरं दधि मृत्कुंभः सुवर्णं कुंडलं यथा ८]

अर्थ—अब परिणाम का स्वरूप सुन, एक वस्तु की प्रथम अवस्था को त्यागकर दूसरी अवस्था की प्राप्ति का नाम परिणाम है, जैसे दुग्ध, दहीरूप हो जाता है और जैसे मृत्तिका घटरूप हो जाती है और जैसे सुवर्ण कुंडलरूप हो जाता है ॥ ८ ॥

[आवस्थांतरभानं तु विवर्त्तो रज्जुसर्पवत् ।
निरंशेप्यस्त्यसौ व्योम्नि तलमालिन्यकल्पनात् ॥९॥

अर्थ—अब विवर्त्त का लक्षण सुन, एक वस्तु की पूर्व अवस्था को न त्यागकर और अवस्था की प्रीति का नाम विवर्त्त है, जैसे रस्सी अपनी रस्सीरूपता को न त्यागकर सर्परूप हो कर प्रतीत होती है।

शंका—विवर्त्त को प्राप्त हुई जो रस्सी है सो साकार दीखती है, तिस से निराकार का विवर्त्त नहीं बनता जैसे निराकार का परिणाम और आरंभ नहीं बनता,

उत्तर—निरवयव का विवर्त्त तो बनता है, जिसमें निराकार आकाश में नील रूप और ऊंधे कटाहाकार का भ्रम दीखता है ॥ ९ ॥

ततोनिरंश आनंदे विवर्त्तो जगदिष्यताम् ।
मायाशक्तिः कल्पिका स्यान्द्रेजालिकशक्तिवत् ॥१०॥

अर्थ—तिस से जैसे निराकार आकाश में भ्रम दीखता है तैसे निराकार आनंद रूप आत्मा में जगत् रूप विवर्त्त अंगीकार करना, विवर्त्त का अर्थ भ्रम ।

शंका—अद्वयानन्दरूप आत्मा में जगत् भ्रम नहीं बनता, जगत् भ्रम की कल्पना के कारण का अभाव होने से।

उत्तर--अद्वयानंद आत्मा में जगत् भ्रम की कल्पना का कारण मायाशक्ति है, जैसे इंद्रजाल की रचना करने हारे मदारी की मणि मंत्र आदि रूप माया शक्ति गंधर्व नगर आदि की कल्पना का कारण है ॥ १० ॥

[शक्तिः शक्तात्पृथक् नास्ति तद्वद्दृष्टे नें चाभिदा ।
प्रतिबंधस्यदृष्टत्वाच्छक्त्यभावे तु कस्य सः ११]

शंका—आनन्दरूप आत्मा में भिन्न माया शक्ति के मानने पर आत्मा की अद्वतरूपता न रहेगी ।

उत्तर—माया मिथ्या है, अनिर्वचनीय होने से तिस से माया शक्ति कर के आत्मा में द्वैत की प्राप्ति नहीं होती, जैसे मृगतृष्णा की नदी से ऊषरभूमि में कीचड़ नहीं होती जिस से माया शक्ति परमात्मा से भिन्न कर और अभिन्न कर नहीं कही जाती, इस से माया शक्ति अनिर्वचनीय है जैसे अग्नि आदि की शक्ति अग्नि आदि से भिन्न और अभिन्न करके नहीं कही जाती, अग्नि में छाले आदि के उत्पन्न करने की जो शक्ति है, सो अग्नि के स्वरूप से भिन्न नहीं, जिससे अग्नि के स्वरूप से भिन्न कर के प्रतीत नहीं होती और अग्नि की शक्ति अग्नि के स्वरूप से अभिन्न भी नहीं, जिस से मणि मन्त्र आदि करके शक्ति का कार्य्य छाले आदि का प्रतिबंध दीखता है, तिस से अग्नि के स्वरूप से अग्नि की शक्ति भिन्न माननी।

शंका—हो प्रतिबंध का दीखना, और अग्नि की शक्ति का अग्नि से भेद मत हो, भेद का अभाव मानने में दोष कोई नहीं।

उत्तर—अग्नि की शक्ति का अग्नि से भेद अवश्य मानना, जिस से अग्नि का स्वरूप प्रत्यक्ष है, और अग्नि की शक्ति प्रत्यक्ष नहीं, और अग्नि का प्रतिबंध नहीं, और अग्नि की शक्ति का प्रतिबंध होता है, तिस से अग्नि के स्वरूप से जो अग्नि की शक्ति को भिन्न न मानेगा, तो तेरे मत में प्रतिबंध किस का होगा ॥ ११ ॥

शक्तेः कार्यानुमेयत्वाद् कार्ये प्रतिबंधन ।
ज्वलतोऽग्नेरदाहे स्यान्मंत्रादिप्रतिबंधता ॥ १२ ॥

शंका—इंद्रियों करके न प्रतीत होनेहारी शक्ति का प्रतिबन्ध तुम कैसे कहते हो?

उत्तर—इन्द्रियों करके न प्रतीत होनेहारी शक्ति कार्य से जानी जाती है जिस से कारण के विद्यमान होने पर भी कार्य्य की न उत्पत्ति के होने पर प्रतिबंध की कल्पना होती है, जैसे जलती हुई आग का कार्य्य जो छाला आदि न होवे, तो शक्ति का प्रतिबंध मंत्र आदि से कल्पित करा जाता है ॥ १२ ॥

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां मुनयोऽविदन् ।
परास्य शक्तिर्विविधा क्रिया ज्ञान बलात्मिका ॥ १३ ॥

अर्थ—इस प्रकार लोग प्रसिद्ध अग्नि आदि की शक्ति के स्वरूप को प्रमाण से कहा, अब माया शक्ति में प्रमाण सुन। श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह कहा है। तहाँ श्रुतिः (ते ध्यान योगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्) अर्थ—मुनीश्वरों का जगत्कारण के निर्णय में बहुत विवाद हुआ। तब उन में श्वेताश्वतर मुनीश्वर बोले

सभा मुनीश्वर तुम ध्यानयोग में स्थित होकर जगत् के कारण को देखो, तब मुनीश्वर ध्यानयोग में स्थित हुए, उस करके स्वप्रकाश आत्मा की अपने गुणों से छिपी हुई शक्ति को देखते भये, वह शक्ति कैसी है कि जगत् का कारण है। काल, स्वभाव आदि कारण वादों में दोष के देखनेहारे जो मुनीश्वर हैं, सो जगत् के कारण की जिज्ञासा से ध्यानयोग में स्थित हुए अधिकारी स्वप्रकाश चैतन्यरूप प्रत्यगात्मा से अभिन्न ब्रह्म की अपने कार्य स्थूल सूक्ष्म शरीरों से ढकी हुई शक्ति को जगत् का कारण जानते भये अर्थात् मायारूपशक्ति को जगत् का कारण साक्षात् करते भये, यह वाक्य मायाशक्ति में प्रमाण है, शक्ति में और भी श्वेताश्वतर उपनिषद् का वाक्य प्रमाण है उस को सुन। तहां श्रुतिः। (परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च) अर्थ—ब्रह्म की सब शक्तियों से श्रेष्ठ शक्ति जगत् का कारणरूप अनेक प्रकार की सुनी है। क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति ॥ १३ ॥

इति वेद वचः प्राह वसिष्ठश्च तथाऽब्रवीत्।
सर्वशक्ति परंब्रह्म नित्यमा पूर्ण मद्वयम् ॥ १४ ॥

अर्थ—केवल माया शक्ति श्रुतियों से ही सिद्ध नहीं किंतु स्मृति से भी सिद्ध है, जैसे अनेक प्रकार की माया शक्ति को श्रुति ने कहा है, तैसे वसिष्ठ जी ने भी उत्पत्ति प्रकरण में अनेक प्रकार की माया शक्ति को कहा है, सो शक्ति के कहने हारे वसिष्ठ जी के वाक्य को सुन। हे राम जी! ब्रह्म सर्वशक्ति है और नित्य है, और पूर्ण है, और सब से परे है, और अद्वितीय है, तात्पर्य यह है कि वास्तव से ब्रह्म नित्य है। पूर्ण है अद्वितीय है, और कार्य प्रपञ्चरूप उपाधिदृष्टि से देखिये तो ब्रह्म सर्वशक्ति है ॥ १४ ॥

ययोल्लसति शक्त्यासौ प्रकाशमधिगच्छति।
चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम शरीरे पूपलभ्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—सो ब्रह्म जिस २ काल में जिस २ शक्ति से विवर्त्त को प्राप्त होता है, उस उस काल में सो २ शक्ति प्रकट होती है, जैसे सींपी जब रूपे रूपता से विवर्त्त को प्राप्त होती है, तब रूपे की प्रतीति होती है। और जब सींपी कली रूपता से विवर्त्त को प्राप्त होती है, तब कली की प्रतीति होती है, और जब सींपी अबरक रूपता आदि से विवर्त्त को प्राप्त होती है, तब अबरक आदि प्रतीत होते हैं, हे राम जी! परब्रह्म की चेतनता शक्ति, देवता, मनुष्य, पशु आदि शरीरों में प्रतीत होती है ॥ १५ ॥

स्पंदशक्तिश्च वातेषु दार्ढ्य शक्तिस्तथोपले।
द्रवशक्तिस्तथांभः सु दाहशक्तिस्तथानले ॥ १६ ॥

अर्थ—और स्पन्दशक्ति चलने का कारण रूप पवन में प्रतीत होती है और दृढताशक्ति पत्थरों में प्रतीत होती है और द्रवताशक्ति जलों में प्रतीत होती है। और दाहशक्ति अग्नि में प्रतीत होती ॥ १६ ॥

शून्यशक्तिस्तथाकाशे नाशशक्तिर्विनाशिनी।
यथांडंतर्महासर्पो जगदस्ति तथात्मनि ॥ १७ ॥

अर्थ—और शून्य शक्ति आकाश में प्रतीत है और विनाशशक्ति विनाशी पदार्थों में है। हे राम जी! जैसे सूक्ष्म सर्प के अन्डे में बड़ा सर्प रहता है, तैसे सूक्ष्म परमात्मा में स्थूल जगत् रहता है ॥ १७ ॥

फलपत्रलतापुष्पशाखाविटपमूलवान्।
ननु बीजे यथा वृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥ १८ ॥

अर्थ—और जैसे एक रूप बीज में फल पत्र लता पुष्प शाखा गुद्दे मूल वाला वृक्ष रहता है, तैसे यह जगत् ब्रह्म में स्थित है ॥ १८ ॥

क्वचित्काश्चित्कदाचिच्च तस्मादुद्यंति शक्तयः।
देशकालविचित्रत्वात्क्ष्मातलादिव शालयः ॥ १९ ॥

अर्थ—किसी एक देश में किसी एक काल में कोई एक शक्तियाँ परमात्मा से उदय होती हैं, उन शक्तियों की एक बार प्रकटता नहीं होती, जैसे किसी देश में किसी काल में पृथिवी से यव पैदा होते हैं और किसी देश में किसी काल में पृथिवी से चावल पैदा होते हैं, किसी देश में किसी काल में केसर आदि पैदा होते हैं ॥ १९ ॥

स आत्मा सर्वगो राम नित्योदित महावपुः।
यन्मनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥ २० ॥

अर्थ—हे राम जी! जगत् कल्पनामात्ररूप है, वास्तव नहीं। मन ने जगत् कल्पा है। तिस से जगत् की कल्पना के कारण मन का स्वरूप सुन। हे राम जी! आत्मा सर्वव्यापक है और सदा एकरसता करके प्रकाशमान है और देशकाल वस्तु के परिच्छेद से रहित है। सो आत्मा जिस काल में स्वपर का ज्ञानरूप मननशक्ति को धारता है। कैसी भी मननशक्ति है जो माया का परिणामरूप है। उस काल में उस का नाम मन कहाता है ॥ २० ॥

आदौ मनस्तदनुबन्धविमोक्षदृष्टी पश्चात्प्रपञ्चरचना भुवनाभिधाना।
इत्यादिका स्थितिरियं हि गता प्रतिष्ठामाख्यायिका सुभगबालजनोदितेव॥२१

अर्थ – हे राम जी! आत्मा में जगत् की कल्पना के प्रकार को सुन। प्रथम आत्मा मननशक्तिरूप विवर्त्त से मनरूप होता है। मन की कल्पना के उपरान्त बन्ध मोक्ष की कल्पना होती है। उस के अनन्तर भुवन है नाम जिस का ऐसा प्रपञ्च की कल्पना होती है। ये पर्वत हैं, ये नगर हैं। ये नदी हैं। यह समुद्र है। ये बन हैं। मनुष्य देवता, पशु, पक्षी आदि की कल्पना होती है। इस प्रकार से जगत् की स्थिति स्थिरता को प्राप्त हो गई है अर्थात् मिथ्या जगत् सत्यरूप होकर प्रतीत होने लगा है। जैसे बालकजन के ताईं धात्री ने कही जो कथा उस कथा का अर्थ मूर्ख बालक को अविद्यमान भी विद्यमान होकर प्रतीत हुआ अर्थात् मिथ्या भी सत्य होकर प्रतीत हुआ॥२१॥

बालस्य हि विनोदाय धात्री वक्ति शुभां कथाम्।
क्वचित्सन्ति महाबाहो राजपुत्रास्त्रयः शुभाः॥ २२॥
द्वौ न जातौ तथैकस्तु गर्भ एव न च स्थितः।
वसन्ति ते धर्मयुक्ता अत्यन्तासति पत्तने॥ २३॥
स्वकीयाच्छून्यनगरान्निर्गत्य विमलाशयाः।
गच्छन्तो गगने वृक्षान् ददृशुः फलशालिनः॥ २४॥
भविष्यन्नगरे तत्र राजपुत्रास्त्रयोपि ते।
सुखमद्य स्थिताः पुत्रमृगयाव्यवहारिणः॥ २५॥
धात्र्येति कथिता राम बालकाख्यायिका शुभा।
निश्चयं स ययौ बालो निर्विचारणयाधिया॥ २६॥

अर्थ–जो कथा योगवसिष्ठ में धात्री ने बालक के ताईं जैसे कही है सो सुन। मूढ़ बालक का चित्त परचावने के लिये बालक के ताईं बालक के खिलावने हारी जो धाय है सो सुन्दर कथा कहती है। हे पुत्र! एक बड़ी सुन्दर कथा तू सुनः-

किसी एक देश में एक राजा के तीन पुत्र थे सो बहुत सुन्दर थे। हे महाबाहो! सो कैसे तीन पुत्र हैं। दो तो जन्मे नहीं और एक गर्भ में ही स्थित न हुआ। ऐसे राजा के तीन पुत्र धर्म करके युक्त अत्यन्त असत्य नगर में बसते थे सो राजा के तीनों पुत्र पाप से रहित अन्तःकरण वाले अपने शून्यनगर से निकल कर शिकार खेलने को गए। जाते हुए बन के रास्ते में फल सहित तीन वृक्ष आकाश में देखते भये। हे पुत्र! अपने

भविष्यत् नगर में वे राजा के तीन पुत्र अब तक स्थित हैं। सुखपूर्वक शिकार खेलते हुए हे राम जी ! इस प्रकार बालक के ताईं शुभकथा धाय ने कही सो मूर्ख बालक विचार से रहित बुद्धि करके सत्यरूपता से निश्चय करता भया ॥ २२ ॥ ॥ २३ ॥ २४ ॥ ॥ २५ ॥ २६ ॥

इयं संसाररचना विचारोज्झितचेतसाम् ।
बालकाख्यायकेवेत्थमवस्थितिमुपागता ॥ २७ ॥

अर्थ—हे राम जी ! इसी प्रकार संसार रचना भी विचार से रहित है चित्त जिन का उन पुरुषों को बालक की कथा की नाईं सत्यरूपता से स्थिति को प्राप्त हो गई है ॥ २७ ॥

इत्यादिभिरुपाख्यानैर्मायाशक्तेश्च विस्तरम् ।
वसिष्ठः कथयामास सैव शक्तिर्निरूप्यते ॥ २८ ॥

अर्थ—इत्यादि कथाओं करके मायाशक्ति को विस्तारपूर्वक वसिष्ठ जी कहते भये सोई शक्ति निरूपण करते हैं ॥ २८ ॥

कार्यादाश्रयतश्चैषा भवेच्छक्तिर्विलक्षणा ।
स्फोटांगारौ दृश्यमानौ शक्तिस्तत्रानुमीयते ॥२९॥

अर्थ—यह माया शक्ति अपना कार्य जो जगत् उससे विपरीत स्वभाववाली है और अपने अधिष्ठान ब्रह्म से भी विपरीत स्वभाव वाली है। जैसे अग्नि की शक्ति अपने कार्य से और अपने आश्रय से विपरीत स्वभाव वाली है। अग्नि की शक्ति का कार्य्य छाले आदि हैं और शक्ति का आश्रय अंगार हैं। सो छाले और अंगार दोनों प्रत्यक्ष हैं और शक्ति प्रत्यक्ष नहीं । छालेरूप कार्य्य द्वारा शक्ति का अनुमान करा जाता है। इस से शक्ति कार्य्य से और आश्रय से विपरीत स्वभाववाली है। जैसे अग्नि की शक्ति कार्य्य से और आश्रय से विपरीत स्वभाव वाली है ॥ २९ ॥

पृथुबुध्नोदराकारो घटः कार्योत्र मृत्तिका ।
शब्दादिभिः पंचगुणैर्युक्ता शक्तिस्त्वतद्विधा ॥ ३० ॥

अर्थ—जैसे मृत्तिका की शक्ति भी कार्य्य से और आश्रय से विपरीत स्वभाव वाली है। मृत्तिका की शक्ति का कार्य्य घट है। सो घट स्थूल है और गोलाकार उस का मध्य है और शब्द स्पर्श रूप रस गंधवाली मृत्तिका शक्ति का आश्रय है और

शक्ति में न स्थूलता आदि कार्य का धर्म है और न शब्द आदि आश्रय का धर्म है। तिससे शक्ति कार्य्य से और आश्रय से विपरीत स्वभाव वाली है ॥ ० ॥

न पृथ्वादिर्न शब्दादिः शक्तावस्तु यथा तथा ।
अतएवह्यचिंत्यैपा न निर्वचनमर्हति ॥ ३१ ॥

अर्थ--शक्ति में न तो पृथु आदि कार्य्य का धर्म है । और न शब्द आदि आश्रय का धर्म है। इसी से शक्ति विलक्षण है। जिस से शक्ति कार्य्य से और आश्रय से विपरीत स्वभाववाली है। इसी से शक्ति अचिंत्य है।

शंका—जो शक्ति अचिंत्य है। तो अचिंत्यता ही शक्ति का स्वरूप सिद्ध हुआ।

उत्तर—शक्ति चिंतन करने योग्य नहीं। अधिष्ठान से भेद करके भी उसका चिंतन नहीं हो सकता। और अभेद करके भी उसका चिंतन नहीं हो सकता और अचिंत्यता करके भी उसका चिंतन नहीं हो सकता। तिस से शक्ति अनिर्वचनीय है। अधिष्ठान से भेद करके इस से शक्ति का चिंतन नहीं हो सकता। जिससे अधिष्ठान से जुदी नहीं प्रतीत होती। और अधिष्ठान के साथ अभेद करके इससे नहीं चिंतन हो सकती। जिससे अधिष्ठान अग्नि आदि रूप प्रत्यक्ष दीखता है। शक्ति प्रत्यक्ष नहीं दीखती। और अचिंत्य इस वास्ते नहीं। जिस से कार्य्य द्वारा चिंतन करी जाती है तिस से शक्ति अनिर्वचनीय है ॥ ३१ ॥

कार्योत्पत्तेः पुराशक्तिर्निगूढा मृद्यवस्थिता ।
कुलालादि सहायेन विकाराकारतां व्रजेत् ॥ ३२ ॥

शंका—कारण के स्वरूप से भिन्न जो शक्ति है। तो कारण के स्वरूप की नाईं प्रतीत क्यों नहीं होती?

उत्तर—मृत्तिका की शक्ति घट आदि रूप कार्य्य की उत्पत्ति से पूर्व मृत्तिका में छिपी हुई रहती है। इस से घट कारण मृत्तिका की नाईं प्रतीत नहीं होती।

शंका—जो शक्ति छिपी हुई रहती है। तो पीछे भी उसकी प्रकटता न होनी चाहिये।

उत्तर—प्रथम दुग्ध में अप्रकटत घृत की प्रकटता जैसे मंथन से होती है। तैसे कुंभार के व्यापार से मृत्तिका की शक्ति प्रकटता को प्राप्त होती है। मृत्तिका की शक्ति की प्रकटता घट से होती है। जब मृत्तिका की शक्ति घट रूपता को प्राप्त होती है। तब जाना जाता है कि इस मृत्तिका में घट के उत्पन्न करने की शक्ति है ॥ ३२ ॥

पृथुत्वादि विकारांतं स्पर्शादिचापि मृत्तिकाम् ।
एकीकृत्य घटं प्राहुर्विचार विकला जनाः ॥ ३३ ॥

शङ्का—जो कारण से भिन्न शक्ति का कार्य है। तो कार्य्य कारण का भेद क्यों नहीं प्रतीत होता।

उत्तर—भेद प्रतीति के कारण विचार के अभाव से भेद की प्रतीति नहीं होती जैसे घर में पदार्थों की प्रतीति के कारण एक के अभाव से घर के पदार्थ प्रतीत नहीं होते। अविवेकी पुरुष स्थूल गोल आदि रूप कार्य्य को और शब्द स्पर्श आदि गुण वाली कारण रूप मृत्तिका को अविचार से एकट्ठा कर घट ऐसा कहते हैं ॥ ३३ ॥

कुलालव्यापृतेः पूर्वोयावानंशः सनो घटः ।
पश्चात्तु पृथुबुध्रादि मत्येयुक्ता हि कुंभता ॥३४॥

अर्थ—जिस से घट यह व्यवहार अविचार से होता है। जिस में कुलाल व्यापार से पूर्व विद्यमान मृत्तिका अघट रूप है। उसको घट रूप से जानते हैं। इस से घट व्यवहार का कारण अविचार है।

शङ्का—जो अघट रूप मृत्तिका को घट रूपता अविचार से है। तो घट रूपता किस को है?

उत्तर—कुलाल व्यापार से पीछे होने वाला जो स्थूल गोलाकार रूप है। सो घट है। क्योंकि स्थूल गोलाकार की उत्पत्ति से पीछे घट यह व्यवहार होता है ॥३४॥

स घटो न मृदोभिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात् ।
नाप्यभिन्नः पुरापिंडदशायाम न वेक्षणात् ॥ ३५ ॥

शंका—वास्तव घट को अनिर्वचनीय शक्ति की कार्य्यता नहीं बनती।

उत्तर—घट भी वास्तव नहीं। किंतु अनिर्वचनीय है। जिससे जो घट है। सो मृत्तिका से भिन्नकर देखने में नहीं आता। तिस से घट मृत्तिका से भिन्न नहीं। और मृत्तिका से अभिन्न भी घट नहीं। जिस से पिंड रूप मृत्तिका में घट की प्रतीति नहीं होती ॥ ३५ ॥

अतोऽनिर्वचनीयोयं शक्तिवत्तं न शक्तिजः ।
अव्यक्तत्वे शक्तिरुक्ता व्यक्तत्वे घटनाम भृत् ॥ ३६ ॥

अर्थ—इससे घट अनिर्वचनीय है। जैसे शक्ति अनिर्वचनीय है। तिस से अनिर्वचनीय शक्ति का कार्य्य अनिर्वचनीय घट बनता है।

शंका—घट और शक्ति इन दोनों की अनिर्वचनीयता के होने पर यह शक्ति है यह कार्य्य है। ऐसा भेद व्यवहार किस कारण से होता है।

उत्तर—जब तक स्थूल गोलाकार रूप प्रकट नहीं हुआ। तब तक उसका नाम शक्ति है। और जब स्थूल गोलाकार रूप प्रकट होता है। तब उसका नाम घट कहाता है। तिस से यह सिद्ध हुआ कि शक्ति और कार्य्य इस भेद व्यवहार का कारण स्थूल गोलाकार रूप की अप्रकटता और प्रकटता है॥ ३६॥

ऐन्द्रजालिक निष्ठापि माया न व्यज्यते पुरा।
पश्चाद्गंधर्व्व सेनादि रूपेण व्यक्तिमाप्नुयात्॥ ३७॥

शंका—प्रथम अप्रकट माया शक्ति पीछे प्रकट होती है। ऐसा प्रसिद्ध माया का रूप प्रतीत नहीं होता।

उत्तर—ऐसा प्रसिद्ध माया का रूप प्रतीत होता है। उस में दृष्टान्त सुन। जैसे इन्द्रजाल के रचने हारे मदारी की माया मणि मंत्र आदि के संबंध से पहिले प्रकट नहीं प्रतीत होती। पीछे गंधर्व सेना आदि रूपता से प्रकट प्रतीत होती है॥३७॥

एवं मायामयत्वेन विकारस्या नृतात्मताम्।
विकाराधार मृद्वस्तु सत्यत्वं चाब्रवीच्छ्रुतिः॥ ३८॥

अर्थ—शक्ति कार्य्य घट आदि की मिथ्या रूपता और शक्ति का आश्रय मृत्तिका आदि की सत्यरूपता छांदोग्य उपनिषद् की श्रुति ने भी कही है। तहां श्रुति (वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्) अर्थ—माया का कार्य्य होने से घट आदि मिथ्या हैं। और घट आदि का अधिष्ठान रूप मृत्तिका सत्य है। मृतिका का कार्य्य घट आदि वाणी से उच्चारण करा जो नाम है। तितना मात्र हैं। नाम ही घट आदि पदार्थ है। घट आदि का नाम से भिन्न वास्तव रूप नहीं। किन्तु घट आदि का आधार मृतिका सत्य है॥ ३८॥

वाङ्निष्पाद्यं नाममात्रं विकारो नास्य सत्यता।
स्पर्शादि गुणयुक्तातु सत्याकेवल मृत्तिका॥ ३६॥

अर्थ—वाणी से कहने के योग्य जो विकार है सो नाम मात्र है। इस को सत्यता नहीं। और स्पर्श आदि गुण युक्त जो केवल मृतिका है। सो सत्य है॥ ३६॥

व्यक्ताव्यक्ते तदाधार इति त्रिष्वाद्ययोर्द्वयोः।
पर्यायः कालभेदेन तृतीयस्त्वनुगच्छति॥ ४०॥

अर्थ—शक्ति और शक्ति का कार्य्य मिथ्या है, और उन दोनों का आधार मृत्तिका सत्य है, इस में कारण सुन, कार्य्य और शक्ति और उन का आधार मृत्तिका इन तीनों में शक्ति और कार्य्य इन दोनों का काल भेद से पर्याय है अर्थात् एक ही वस्तु किसी काल में शक्ति नाम से कही जाती है, और किसी काल में कार्य्य नाम से कही जाती है, और तीसरी मृत्तिका शक्ति और कार्य्य दोनों का आधार है, सो शक्ति काल में भी विद्यमान है, और कार्य्य काल में भी विद्यमान है, तात्पर्य यह है कि शक्ति काल में कार्य्य नहीं होता, और कार्य काल में शक्ति नहीं होती, तिस से कभी एक होने से और कभी एक न होने से शक्ति और कार्य्य दोनों मिथ्या हैं, और मृत्तिका तीनों कालों में विद्यमान होने से शक्ति और कार्य्य का आधार रूप सत्य है ॥४०॥

निस्तत्त्वं भासमानं च व्यक्तमुत्पत्ति नाशभाक् ॥
तदुत्पत्तौ तस्य नाम वाचा निष्पाद्यते नृभिः ॥ ४१ ॥

अर्थ व्यक्त है नाम जिसका ऐसा जो घट आदि कार्य्य, सो स्वरूप से असत्य हुआ ही प्रतीत होता है, और उत्पत्ति नाश वाला प्रतीत होता है, और वाणी से उत्पन्न हुए नाम मात्र से पुरुषों करके व्यवहार के योग्य होता है ॥ ४१ ॥

व्यक्ते नष्टेऽपि नामैतन्नृवक्त्रेष्वनुवर्त्तते ॥
तेननाम्ना निरूप्यत्वाद्व्यक्तं तद्रूप मुच्यते ॥ ४२ ॥

अर्थ—घट आदि कार्य्य के नष्ट होने पर भी घट से अभिन्न जो नाम है, सो मनुष्यों के मुख में रहता है, तिस से क्या हुआ ? वाणी व्यवहार के योग्य जो नाम, तिस व्यवहार के योग्य होने से घट आदि कार्य्य नाम से भिन्न नहीं तात्पर्य यह है कि घट आदि कार्य्य घट आदि शब्द रूप है घट आदि शब्द से व्यवहार के योग्य होने से, घट आदि शब्द की नाईं, जैसे घट शब्द घट शब्द करके व्यवहार के योग्य होता है, सो घट शब्द घट शब्द रूप है, अर्थात् जैसे घट शब्द घट शब्द से भिन्न नहीं, तैसे घट भी घट शब्द से भिन्न नहीं ॥ ४२ ॥

निस्तत्त्वाद्विनाशित्वाद्वाचारंभणनामतः ॥
व्यक्तस्य न तु तद्रूपं सत्यं किंचिन्मृदादिवत् ॥ ४३ ॥

अर्थ—ये जो सिद्ध करे हैं तीन हेतु, तिन से तीन अनुमान कार्य्य की मिथ्या रूपता के जनाने हारे सिद्ध होते हैं, उनको सुन, घट आदि कार्य्य का जो स्थूल गोलाकार रूप है, सो कुछ भी सत्य नहीं, वास्तव रूप से रहित नहीं होता, जैसे मृत्तिका जो सत्य है सो वास्तव रूप से रहित नहीं, यह एक अनुमान हुआ, दूसरा अनुमान

यह है, घट आदि रूप कार्य सत्य नहीं, मृत्तिका के विद्यमान होनेपर भी नाशवाला होने से , जो सत्य होता है , सो मृत्तिका के विद्यमान होने पर नष्ट नहीं होता , जैसे मृत्तिका मृत्तिका के विद्यमान होने पर भी नष्ट नहीं होती , यह दूसरा अनुमान है, घट आदि मिथ्या हैं , नाम मात्र होने से , जो मिथ्या नहीं होता सो नाम मात्र भी नहीं होता जैसे मृत्तिका यह तीसरा अनुमाग है ॥४३॥

व्यक्तकाले ततः पूर्व मूर्ध्वमप्येकरूपताम् ॥
स तत्त्वमविनाशं च सत्यं मृद्वस्तु कथ्यते ॥ ४४ ॥

अर्थ—इस प्रकार कार्य्य की असत्यता को सिद्ध कर, अब कार्य्य के अधिष्ठान रूप मृत्तिका की सत्यता को सिद्ध करते हैं , उस को सुन , कार्य्य की स्थिति काल में और कार्य्य की उत्पत्ति से पूर्व काल में , और कार्य्य के नाश से उत्तर काल में, एका-कार और सत्यत्व अर्थात् वास्तव रूप वाली और कार्य्य के नष्ट होने पर न नष्ट होने वाली ऐसी जो मृत्तिका वस्तु है , सो सत्य है , इस अर्थ में यह अनुमान है , मृत्तिका वस्तु सत्य है, वास्तव होने से, आत्मा की नाईं मृत्तिका सत्य है तीनों कालों में एकरूप रूपताकरके विद्यमान होने से , आत्मा की नाईं , मृत्तिका सत्य है कार्य्य के नष्ट होने पर भी नाश रहित होने से , आत्मा की नाईं ॥ ४४ ॥

व्यक्तं घटो विकारश्चे त्येतैर्नामभिरीरितः ॥
अर्थश्चेदनृतः कस्मान्न मृद्बोधे निवर्त्तते ॥ ४५ ॥

शंका—घट आदि रूप कार्य्य मात्रको असत्य होने पर इसकी अधिष्ठान मृत्तिका के ज्ञान से निवृत्ति होनी चाहिये , जैसे असत्य रूपे की अधिष्ठान सीपी के ज्ञान से निवृत्ति होती है व्यक्त घट विकार इन नामों करके कही जो वस्तु , उस को कारण से भिन्न करके असत्य मानने पर मृत्तिका रूप कारण के ज्ञान से उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती ॥ ४५ ॥

निवृत्त एव यन्मात्रे तत्सत्यत्वमतिर्गता ।
ईदृङ्निवृत्तिरेवात्र बोधजा तत्त्वभासनम् ॥ ४६ ॥

उत्तर--उसकी निवृत्ति होती है । जिस से तेरी घट आदि में सत्यबुद्धि नहीं रही

शंका--कल्पित रूपे की स्वरूप से निवृत्ति होती है । अधिष्ठान सीपी के ज्ञान से ऐसा तो नहीं होता कि जो उसका स्वरूप नजर आता रहे । और उसकी सत्ता निवृत्त हो जावे ।

उत्तर--भ्रम दो प्रकार का होता है। एक निरुपाधिक और दूसरा सोपाधिक जो निरुपाधिक भ्रम होता है। उसकी अधिष्ठान ज्ञान से स्वरूप करके निवृत्ति हो जाती है। जैसे सीपी में रूपे का भ्रम निरुपाधिक है। उसकी अधिष्ठान सीपी के ज्ञान से। स्वरूप से निवृत्ति हो जाती है। और जो सोपाधिक भ्रम होता है। उसकी अधिष्ठान ज्ञान से स्वरूप करके निवृत्ति नहीं होती। उसकी सत्तामात्र निवृत्त होतीहै। जैसे श्वेत पत्थर के साथ लाल काले आदि पदार्थों का संबंध होने पर श्वेत पत्थर लाल काला प्रतीत होता है भ्रम से। और जब वह चिट्टा जाना जाता है। तब उसमें लाल काले की सत्ता निवृत्त हो जाती है। पर लाल काले की प्रतीति दूर नहीं होती। जब तक लाल काले आदि पदार्थों का संबंध है। तिस से जैसे श्वेत पत्थर में लाल काला भ्रम भी सोपाधिक है। तैसे मृतिका में घट भ्रम भी सोपाधिक है। क्योंकि मृत्तिका के ज्ञान से घट के स्वरूप की निवृत्ति नहीं होती। घट की सत्ता निवृत्त होती है ॥ ४६ ॥

पुमानधोमुखोनीरे भातोप्यस्ति न वस्तुतः ।
तटस्थमर्त्यवत्तस्मिन्नैवास्थाकस्यं चित्क्वचित् ॥ ४७ ॥

अर्थ—जल में उलटा होकर प्रतीत होता जो पुरुष है। सो वास्तव से उलटा नहीं। क्योंकि किसी भी पुरुष को विवेकी को अथवा अविवेकी को उलटे होकर जल में प्रतीत होते पुरुष में सत्य बुद्धि नहीं होती। जैसे जल के किनारे बैठे पुरुष में सत्य बुद्धि होती है। और जल में उलटा नजर आना निवृत्त नहीं होता ॥ ४७ ॥

ईदृग्बोधेपुमर्थत्वं मतमद्वैतवादिनाम् ॥
मृद्रूपस्यापरित्यागाद्विवर्त्तत्वंघटेस्थितम् ॥ ४८ ॥

शंका—कल्पित पदार्थ की असत्यता ज्ञानमात्र से पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता।

उत्तर—अद्वैत मत में आत्मानन्द से भिन्न सब पदार्थों की मिथ्यारूपता के निश्चय होने पर अद्वैतानन्द की प्रकटता रूप पुरुषार्थ की सिद्धि होती है।

शंका—घट मृत्तिका का विवर्त है। इस वार्ता के निश्चय होने पर मृत्तिका के ज्ञान से घट में सत्य बुद्धि निवृत्त हो। पर घट की मृत्तिका की विवर्तरूपता अब तक निश्चय नहीं हुई।

उत्तर—घट मृत्तिका का विवर्त है, क्योंकि मृत्तिका अपने रूप को न त्याग कर घटरूप हो कर प्रतीत होती है ॥ ४८ ॥

परिणामे पूर्वरूपं त्यजेत्तत्क्षीररूपवत् ॥
मृत्सुवर्णे निवर्तेते घटकुण्डलयोर्नहि ॥ ४९ ॥

शंका—घट में मृत्तिका रूप का त्याग न होने पर भी घट मृत्तिका का परिणाम क्यों न होवे ।

उत्तर—घट जो मृत्तिका का परिणाम होवे । तो मृत्तिका अपने पूर्व रूप को त्याग कर घट रूप को प्राप्त होवे। क्योंकि जहाँ परिणाम होता है । वहां पूर्वरूप को त्याग कर और रूप की प्राप्ति होती है । जैसे दुग्ध अपनी दुग्ध रूपता को त्याग कर दही रूपता को प्राप्त होता है। और मृत्तिका तो अपनी मृत्तिका रूपता को न त्याग कर घटरूप को प्राप्त होती है । तिससे घट मृत्तिका का परिणाम नहीं, किंतु विवर्त है ।

शंका— विवर्त में पूर्वरूप के त्याग का अभाव कहाँ देखा है ।

उत्तर—मृत्तिका का विवर्त जो घट और स्वर्ण का विवर्त जो कुंडल । उन में कारण रूप मृत्तिका और स्वर्ण की निवृत्ति नहीं होती ॥ ४९॥

घटे भग्ने न मृद्भावः कपालानामवेक्षणात् ॥
मैवं चूर्णेऽस्ति मृद्रूपं स्वर्णरूपं त्वतिस्फुटम् ॥ ५० ॥

शंका—घट मृत्तिका का विवर्त नहीं बनता । क्योंकि घट के नष्ट होने पर फिर मृत्तिका नहीं दीखती । किंतु कपाल दीखते हैं ।

उत्तर—कपालोंके नष्ट होने पर चूर्ण में फिर मृत्तिका दीखती है, और स्वर्ण में तो यह शंका ही नहीं बनती । क्योंकि कुन्डल के टूटने पर सुवर्ण अति प्रकट प्रतीत होता है ॥ ५० ॥

क्षीरादौपरिणामोस्तु पुनस्तद्भाववर्जनात् ॥
एतावता मृदादीनां दृष्टांतत्वं न हीयते ॥ ५१ ॥

शंका—परिणाम में दुग्ध मृत्तिका सुवर्ण तीन दृष्टांत तुमने कहे थे उनमें मृत्तिका और सुवर्ण इन दोनों को विवर्त में दृष्टांत मानोगे । तो उसी प्रकार दुग्ध को भी विवर्त में दृष्टांत मानना चाहिये ।

उत्तर—दुग्ध आदि परिणाम में दृष्टांत है, विवर्त में दृष्टांत नहीं । क्योंकि दुग्ध आदि दही आदि के रूप को प्राप्त हुए फिर दुग्ध आदि के रूप को नहीं प्राप्त होते ।

शंका—जो दुग्ध विवर्त में दृष्टांत नहीं बनता, तो उसी प्रकार प्रथमावस्था से और अवस्था को प्राप्त हुए मृत्तिका और सुवर्ण विवर्त में दृष्टांत न होने चाहिये ।

उत्तर—दुग्ध आदि को परिणाम वाला होने से मृत्तिका और सुवर्ण आदि को विवर्त में दृष्टांतता निवृत्त नहीं होती, तात्पर्य यह है कि दुग्ध पूर्व अवस्था को त्याग कर और अवस्था को प्राप्त होता है, इस से दुग्ध का परिणाम है, विवर्त नहीं, मृत्तिका

और सुवर्ण पूर्व अवस्था को त्याग नहीं करते, और अवस्था को प्राप्त होते हैं, इस से उन दोनों को विवर्त में दृष्टांतता बनती है ॥ ५१ ॥

आरंभवादिनः कार्ये मृदो द्वैगुण्यमापतेत् ॥
रूपस्पर्शादयः प्रोक्ताः कार्यं कारणयोः पृथक् ॥ ५२ ॥

शंका--जैसे मृत्तिका और सुवर्ण का परिणाम और विवर्त मानते हो, तैसे मृत्तिका और सुवर्ण की आरंभकता क्यों नहीं मानते।

उत्तर—मृत्तिका और सुवर्ण की आरम्भकता इस लिये नहीं मानते। जिस से आरम्भवाद में कार्य्यरूप घट कुंडल आदि में तोल की द्विगुणता प्राप्त होती है। कार्य्यांकरता से और कारण कारता से। अर्थात् तोले सुवर्णका दो तोले कुंडल होना चाहिये, और सेर मृत्तिका का दो सेर घट होना चाहिये, जिस कारण से आरम्भ वादियों ने कार्य्य के रूप रस आदि गुण भिन्न माने हैं, और कारण के भिन्न माने हैं, तोल भी एक गुण है, तिस से एक कार्य्य की तोल, और एक कारण की तोल, इस प्रकार तोले सुवर्ण का दो तोले कुण्डल होना चाहिये, और सेर मृत्तिका का दो सेर घट चाहिये, ऐसे तो जगत् में नहीं दीखता, तिस से मृत्तिका और सुवर्ण को आरम्भ में दृष्टान्त नहीं बनता ॥ ५२ ॥

मृत्सुवर्णमयश्चेति दृष्टान्तत्रयमारुणिः ।
प्राहातो वासयेत्कार्यानृतत्वं सर्ववस्तुषु ॥ ५३ ॥

अर्थ—मृत्तिका और सुवर्ण और लोहा इन तीन दृष्टान्तों को अरुण का पुत्र उद्दालक मुनि विवर्त में कहता भया, यह संवाद छांदोग्य उपनिषद में है, इस से सब कार्यों को मिथ्या जानना, जिस कारण से मृत्तिका आदि बहुत पदार्थों में कार्य्य को मिथ्या देखा है, इस से जिज्ञासु भूत भौतिक रूप सब पदार्थों में कार्य्य की मिथ्या रूपता का निश्चय करे ॥ ५३ ॥

कारणज्ञानतः कार्य्यविज्ञानं चापि सोवदत् ।
सत्यज्ञानेऽनृतज्ञानं कथमत्रोप पद्यते ॥ ५४ ॥

शंका—कार्य्य की मिथ्या रूपता का निश्चय करना किस लिये कहा है।

उत्तर—कारण ज्ञान से कार्य्य ज्ञान की सिद्धि के लिये कार्य्य की मिथ्यारूपता का निश्चय करना कहा है, उद्दालक मुनि कारण मृत्तिका आदि के ज्ञान से कार्य्य घट आदि का ज्ञान कहता भया। तहां श्रुतिः। (यथा सौम्यैकेन मृत्पिंडेन सर्वम् मृण्मय

विज्ञानं स्यादि त्यादि) अर्थ—हे सौम्य ! हे पुत्र ! जैसे एक मृत्तिका के पिंड के जानने से सब मृत्तिका के कार्य्य जाने जाते हैं, इत्यादि वाक्य से।

शंका—मृत्तिका सुवर्ण कारण के ज्ञान से कारण में भिन्न मिथ्यारूप घट कुन्डल आदि का ज्ञान नहीं बनता ॥ ५४ ॥

समृत्कस्य विकारस्य कार्य्यता लोकदृष्टितः ।
वास्तवोत्रमृदं सोस्य वोधःकारणवोधतः ॥ ५५ ॥

उत्तर—कार्य्य में सत्य अंश भी है, और मिथ्या अंश भी है, कारण के ज्ञान से कार्य्य में जो सत्य अंश है, उसका ज्ञान होता है, लोकों की दृष्टि से मृत्तिका सहित जो स्थूल गोलाकार रूप है। उस को कार्य्यता है, उस में मृत्तिका अधिष्ठान है, सो सत्य है, और स्थूल गोलाकारता मिथ्या है।

शंका—हो ऐसे ही, पर इतने कर के कारण ज्ञान से कार्य्य ज्ञान नहीं होता। इस शंका का उत्तर तो कुछ न हुआ।

उत्तर—कारण ज्ञान से कार्य्य में जो मिथ्या अंश है, उसके ज्ञान का अभाव रहते भी कार्य्य में जो सत्य अंश है, मृत्तिकारूप उसका ज्ञान होता है ॥ ५५ ॥

अनृतांशो नवोद्धव्यस्तद्बोधानुपयोगतः ।
तत्वज्ञानं पुमर्थस्याज्ञानृतांशाववोधनम् ॥ ५६ ॥

शंका—कार्य में जो सत्य अंश है, उस की नाईं, कार्य में जो मिथ्या अंश है सो भी जानने योग्य है।

उत्तर—कार्य्य में जो मिथ्या अंश है, सो जानने योग्य नहीं, जिस कारण से मिथ्या अंश के जानने से प्रयोजन कोई सिद्ध नहीं होता, कार्य्य में जो सत्य अंश है उस के जानने से जाननेहारे पुरुष का प्रयोजन सिद्ध होता है, और मिथ्या भूत अंश के जानने से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, तिस से कार्य में मिथ्या अंश जानने योग्य नहीं ॥ ५६ ॥

तर्हिकारणविज्ञानात्कार्य ज्ञानमितीरिते ।
मृद्बोधान्मृत्तिका वुद्धेस्त्यक्तुस्यात्कोत्र विस्मयः ॥ ५७ ॥

शंका—कारण ज्ञान से कार्य ज्ञान होता है। यह कथन श्रोता की बुद्धि में चमत्कार कारण होगा। इस तात्पर्य से जो तुमने कहा है। सो तो नहीं बनता। क्यों कि कारण मृत्तिका आदि के ज्ञान से कार्य में मृत्तिका आदि का सत्य अंश का ज्ञान

होता है। ऐसे कहने पर मृत्तिका के ज्ञान से मृत्तिका का ज्ञान होता है । यह कथन हुआ। ऐसे होने पर शब्द में चमत्कार हुआ । अर्थ में चमत्कार न हुआ ॥५७॥

सत्यं कार्येषु वस्त्वंशः कारणात्मेति जानतः ।
विस्मयो मास्विहाज्ञस्य विस्मयः केन वार्यते ॥५८॥

उत्तर—कार्य में जो सत्य अंश है। सो कारण रूप है। इस विवेक वालों को विस्मय के न रहते भी इस विवेक से रहित पुरुषों को आश्चर्य होता है। घट आदि रूप कार्यों में विद्यमान वास्तव अंश कारणस्वरूप है। उस कारणस्वरूप से भिन्न स्थूल गोलाकारता घट का रूप मिथ्या है। ऐसे जो पुरुष जानते हैं उन को आश्चर्य मत हो पर इस ज्ञान से रहित जो पुरुष हैं उन को पैदा हुआ जो आश्चर्य। सो किसी से दूर नहीं हो सकता। विस्मय और चमत्कार इन दोनों शब्दों का अर्थ आश्चर्य है ॥ ५८ ॥

आरम्भी परिणामीच लौकिकश्चैककारणे ।
ज्ञाते सर्वमतिं श्रुत्वा प्राप्नुवन्त्येव विस्मयम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—आरम्भी जो आरम्भ के कहनेहारा है सो आश्चर्य को प्राप्त होता है। आरम्भ का अर्थ यह है। समवायिकारण और असमवायि कारण और निमित्तकारण इन से भिन्न कारण का उत्पत्ति। समवायिकारण नाम उपादानकारण का है । जैसे वस्त्र का तन्तु उपादानकारण हैं और समवायिकारणों का जो परस्पर संयोग है। जैसे तन्तुओं का तानाबानारूप से सो असमवायिकारण है और जुलाहा नाल, नली, तीरी पंख आदि निमित्तकारण हैं, वस्त्र के और परिणामी जो परिणाम के कहनेहारा है सो भी कारण ज्ञान से कार्य ज्ञान को सुन कर विस्मय को प्राप्त होताहै। परिणाम का अर्थ यह है—पूर्व रूप को त्याग कर और रूप की प्राप्ति। जैसे दुग्ध में मधुररूप को त्याग कर किञ्चित् तुरशरूप की प्राप्ति और इन आरम्भ परिणामरूप दोनों प्रक्रियाओं के न जाननेहारे हल वाहनेहारे और दूकानदार और राजाकी नौकरी करने हारे और स्त्री तथा बालक आदि सब जीव एक कारण के ज्ञान से अनेक कार्यों के ज्ञान को सुन कर आश्चर्य का प्राप्त होते हैं ॥५९॥

अद्वैतेभिमुखी कर्तुमेवात्रैकस्य बोधतः ।
सर्वबोधः श्रुतौ नैव नानात्वस्य विवक्षया ॥ ६० ॥

शंका—छान्दोग्य उपनिषद् की श्रुति के यथाश्रुत अर्थ को त्याग कर इस प्रकार की व्याख्या करने में क्या कारण है ?

उत्तर—श्रुति के यथा श्रुत अर्थ में तात्पर्य का अभाव इस प्रकार के व्याख्यान करने में कारण है, सो सुन। यथाश्रुत श्रुति का अर्थ यह है, एक कारण के ज्ञान से अनेक कार्यों का ज्ञान होता है, उस में श्रुति का तात्पर्य नहीं। जिस से श्रुति अद्वैत ज्ञान में शिष्य की बुद्धि स्थिर करने को प्रवृत्त हुई, और कार्यों की अनेकता के जानने को श्रुति प्रवृत्त नहीं हुई, तिस से श्रुति का यह तात्पर्य है अनेक कार्यों में एक कारण अंश सत्य है, और कार्य अंश मिथ्या है।

एकमृत्पिण्डविज्ञानात्सर्वमृण्मयधीर्यथा।
तथैक ब्रह्म बोधेन जगद्बुद्धिर्विभाव्यताम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—जैसे घटरूप कार्य में कारण रूप मृत्तिका अंश सत्य है, और कार्य रूप स्थूल गोला कारता अंश मिथ्या है, इस उपदेश से शिष्य की बुद्धि अद्वैत में स्थिरता को प्राप्त होती है, एक वस्तु के ज्ञान से सब का ज्ञान होता है, इस अर्थ में दृष्टान्त को दिखानेहारी छांदोग्य श्रुति के वचन के अर्थ को सुन। (सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वम् मृन्मयं विज्ञातं स्यात्) अर्थ—हे सौम्य! हे पुत्र! जैसे एक मृत्तिका के पिण्ड के जानने से सब मृत्तिका के कार्य जाने जाते हैं, अब दृष्टान्त दिखानेहारी श्रुति वचन के अर्थ को सुन। (उत तमादेश मप्राक्षो येनाश्रुतम् श्रुतम् भवत्यमतम् मत मविज्ञातम् विज्ञातम्) अर्थ—उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु गुरु के पास से विद्या पढ़ कर जब अपने घर में आया, तब पिता को थोड़ा पढ़ा हुआ जानकर पिता के चरणों में शिर धर कर नमस्कार न करता भया, और वाणी से भी नमस्कार न करता भया, तब उसका पिता ब्रह्मवेत्ता उद्दालक मुनि पुत्र को मूर्ख जान कर उसका अनादर न करता भया, किन्तु उस के आगे यह प्रश्न करता भया। हे पुत्र! जिस एक के सुनने से जो नहीं सुना सो भी सुना जाता है। और जिस एक के मनन करने पर जो नहीं मनन करा सो भी सब मनन करा जाता है, और जिस एक के जानने से जो नहीं जाना सो भी सब जाना जाता है, ऐसा भी उपदेश तैंने अपने गुरु से पूछा था नहीं, जैसे घट शराव आदि का उपादान एक मृत्तिका के पिंड के जानने से सब मृत्तिका के कार्य्य घट आदि जान लेते हैं। तैसे सब जगत के उपादान कारण एक ब्रह्म के जानने से ब्रह्म का कार्य सब जगत जाना जाता है, यह निश्चय कर ॥ ६१ ॥

सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्म नामरूपात्मकं जगत्।
तापनीये श्रुतं ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणम् ॥ ६२ ॥

शंका—ब्रह्म और जगत् के स्वरूप के न जानने पर ब्रह्म ज्ञान से जगत् का ज्ञान होता है, यह नहीं जान सक्ता, तिस से ब्रह्म और जगत् का स्वरूप कहो।

उत्तर—सच्चिदानन्द ब्रह्म है, नाम रूप जगत् है।

शंका—ब्रह्म सच्चिदानन्द है इस में क्या प्रमाण है।

उत्तर—नरसिंहतापनीय उपनिषद् से आदि लेकर उपनिषदों की श्रुति इस में प्रमाण हैं, अथर्वण वेद वेत्ता पुरुषोंने नरसिंह तापनीय उपनिषद् के उत्तर खण्ड में (ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्द मात्र मित्यादि) अर्थ—यह सब जगत् ब्रह्मरूप है, और ब्रह्म सच्चिदानन्द मात्र है, इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म की सच्चिदानन्द रूपता कही है ॥६२॥

सद्रूपमारुणिः प्राह प्रज्ञानं ब्रह्म बह्वृचः ।
सनत्कुमार आनन्दमेव मन्यत्र गम्यताम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—और सामवेद की छाँदोग्य उपनिषद् में अरुण मुनीश्वर के पुत्र उद्दालक मुनीश्वर ने ब्रह्म की सत्यरूपता कही है। (सदेव सौम्येदमग्र आसी दित्यादिना) अर्थ—हे सौम्य! यह जगत् उत्पत्ति से पूर्व सत्यरूप था, इत्यादि वचन कर के, औ ऋग्वेद वेत्ता पुरुषों ने ऐतरेय उपनिषद् में ब्रह्म चैतन्यरूप कहा है। (प्रज्ञा प्रतिष्ठ प्रज्ञानं ब्रह्म) अर्थ—चैतन्य जगत् का आधार है, चैतन्यरूप ब्रह्म है, छाँदोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार नारद का गुरु नारद के तांई भूमा नाम कर के कहा जो ब्रह्म, उस की आनन्द रूपता को कहा गया है, भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः) इत्युप क्रम योवै भूमा तत्सुखम्) अर्थ—हे नारद! भूमा जानने योग्य है, परिछिन्न वस्तु जानने योग्य नहीं, ऐसा आरम्भ कर, जो भूमा है सो सुख रूप है, और परिछिन्न वस्तु में सुख नहीं, इत्यादि वाक्यों से, और तैत्तिरीय उपनिषद् में (आनन्दो ब्रह्मेतिव्यजानात् दित्यादि) अर्थ—आनन्द ब्रह्म है, ऐसा जान, इत्यादि वाक्यों से, ब्रह्म की आनन्द रूपता कही है ॥ ६३ ॥

विचिंत्य सर्वरूपाणि कृत्वा नामानि तिष्ठति ।
अहं व्याकरवाणीमे नाम रूपे इति श्रुतेः ॥ ६४ ॥

अर्थ—जैसे ब्रह्म की सच्चिदानन्द रूपता में अनेक श्रुति प्रमाण हैं, तैसे जगत् नाम रूप है, इस में भी अनेक श्रुति प्रमाण हैं, सर्वाणि रूपाणि विचिंत्य धीरोनामानि कृत्वा भिवदन् यदास्ते) अर्थ—परमात्मा सब रूपों को चिंतन कर और उनके नाम कर उच्चारण करता हुआ स्थित है। (अनेन जीवेनात्मनानु प्रविश्य नाम रूपे

व्याकरवाणि) अर्थ—यह जो मेरा आत्मा जीव है, इस से संघात में प्रवेश कर नाम रूप को प्रकट करूंगा, इन दोनों वचनों से रचनेयोग्य जगत् में नाम रूप श्रुति ने दिखाये हैं ॥ ६४ ॥

अव्याकृतं पुरा सृष्टेरूर्ध्वं व्याक्रियते द्विधा ।
अचिंत्यशक्तिर्मायैषा ब्रह्मण्यव्याकृताभिधा ॥ ६५ ॥

अर्थ—बृहदारण्यक श्रुति में भी (तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौनामायमिदं रूपः) अर्थ—जगत् की उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् अव्याकृत था । उस को नाम रूप कर के प्रकट करता भया । अमुक का यह नाम है, यह रूप है, इस वाक्य से पैदा करे हुए जगत् को नाम रूप स्वरूप कहा है । जगत् की उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् अप्रकट नाम रूप वाला था, सृष्टि समय में उसको परमेश्वर ने नामरूप से प्रकट किया, अव्याकृत का अर्थ ब्रह्म में स्थित अचिंत्य शक्ति माया है ॥

अविक्रियब्रह्मनिष्ठा विकारं यात्यनेकधा ।
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—निर्विकार ब्रह्म में स्थित जो माया है, सो अनेक प्रकार के विकार को प्राप्त होती है, ब्रह्म में माया रहती है, इस में क्या प्रमाण है ? श्वेताश्वतर उपनिषद् की श्रुति प्रमाण है, उस का अर्थ यह है । माया जगत् का उपदान कारण जान, और उस माया का आश्रय होने से माया वाले परमात्मा को माया का प्रेरक महेश्वर जान माया और महेश्वर परस्पर विलक्षण स्वभाव वाले हैं, अर्थात् माया विकारिणी है और मिथ्या है, और परमात्मा निर्विकार सत्य है ॥ ६६ ॥

आद्यो विकार आकाशः सोस्ति भात्यपि च प्रियः ।
अवकाशस्तस्य रूपं तन्मिथ्या न तु तत्त्रयम् ॥ ६७ ॥

अर्थ—माया उपहित ब्रह्म का प्रथम कार्य आकाश है, आकाश में परमात्मा की सत्ता चेतनता आनन्द प्राप्त होता है, और आकाश का अवकाश अपना रूप है, सो मिथ्या है, और आकाश में जो सत्ता चेतनता आनन्द है, सो वास्तव है ॥ ६७ ॥

न व्यक्तेः पूर्वमस्त्येव न पश्चाच्चापि नाशतः ।
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ॥ ६८ ॥

अर्थ--आकाश का रूप जो अवकाश है सो मिथ्या क्यों है ? आकाश की उत्पत्ति से पूर्व अवकाश नहीं था, और उसके नाश से पीछे भी अवकाश न रहेगा। जो आदि अन्त में नहीं होता, सो मध्य में भी नहीं होता ॥ ६८ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येवेत्याह कृष्णोऽर्जुनं प्रति ॥ ६९ ॥

अर्थ--इस अर्थ में गीता का वचन भी प्रमाण है। दूसरे अध्याय में भगवान् ने कहा है। हे अर्जुन ! इन भूतों का आदि में भी आकार कुछ नहीं, और अन्त में भी आकार कुछ नहीं, मध्य में आकार वाले दीखते हैं, निस से मिथ्या हैं, इनकी चिन्ता न करनी चाहिये ॥ ६९ ॥

मृद्वत्ते सच्चिदानन्दा अनुगच्छन्ति सर्वदा ।
निराकाशे सदादीनामनुभूतिर्निजात्मनि ॥ ७० ॥

शंका--आकाश में सत्ता चेतनता आनन्द हैं, इस में क्या प्रमाण है।

उत्तर--इस में अनुभव प्रमाण है, जैसे घट आदि में मृत्तिका सदा स्थित है। तैसे आकाश में सत्ता चेतनता आनन्द सदा स्थित हैं।

शंका--आकाश का छोड़ कर सत्ता आदि जो कहीं स्थित प्रतीत होवें, तो यह जाना जाय कि परमात्मा की सत्ता आदि का आकाश में स्थित हैं, सो तो आकाश आदि से विना नहीं प्रतीत होते।

उत्तर--आकाशआदि से विना अपने स्वरूप में सत्ताआदि का अनुभव होता है ॥ ७० ॥

अवकाशे विस्मृतेऽथ तत्र किं भाति ते वद ॥
शून्यमेवेति चेदस्तु नाम तादृग्विभाति हि ॥ ७१ ॥

अर्थ--अवकाशरूप आकाश की विस्मृति के होने पर। तुझे क्या प्रतीत होता है, जो प्रतीत होता है सो कहो।

शंका--शून्य प्रतीत होता है।

उत्तर--उस का नाम तू शून्य ही धर, पर आकाशाभाव का आश्रय रूपता से कुछ पदार्थ प्रतीत होता है, यह तुझ को अवश्य मानना चाहिये ॥ ७१ ॥

तादृक्त्वादेवतत्सत्त्वमौदासीन्येन तत्सुखम् ॥
आनुकूल्यप्रातिकूल्यहीनं यत्तन्निजं सुखम् ॥ ७२ ॥

शंका—हो ऐसे ही पर प्रसंग में क्या आया।

उत्तर—आकाशाभाव का अधिष्ठान रूप जो प्रतीत हुआ है, सो सत्य है, यह तुझ को अंगीकार करना चाहिये, जिस से अभाव का अधिष्ठान सत्य होता है, यह वार्ता सभी लोकों में प्रसिद्ध है, तिस से आकाश का अभाव है जिस आत्मा में, सो आत्मा तेरा स्वरूप सत्य है। यह निश्चय हुआ, और उदासीन होने से सुखरूप है।

शंका—उदासीन नाम अनुकूलता और प्रतिकूलता से रहित का है। तिस से उस को सुखरूपता नहीं बनती, जिस से अनुकूलता वाले को सुख कहा है।

उत्तर—अनुकूलता और प्रतिकूलता से रहित जो सुख है, सो निजसुख है।

आनुकूल्ये हर्षधीः स्यात्प्रातिकूल्ये तु दुःखधीः।
द्वयाभावे निजानन्दो निजदुःखं न तु क्वचित् ॥ ७३ ॥

अर्थ—अनुकूलतावाली अनात्मवस्तु में हर्षबुद्धि होती है। और प्रतिकूलतावाली अनात्मवस्तु में दुःखबुद्धि होती है, और इन दोनों से रहित वस्तु में निजानन्द होत है, आत्मवस्तु न अनुकूल है, न प्रतिकूल है, तिस से आत्मा में जो आनन्द है। सो निजानन्द कहाता है।

शंका—जैसे निजानन्द है। तैसे निजदुःख भी क्यों न होवे।

उत्तर—दुःख में निजरूपता की सिद्धि नहीं होती, जिस से निजनाम अपने आपका है, और अपने आप में सब की परमप्रीति है। तिस से निजदुःख नहीं बनता ॥ ७३ ॥

निजानंदे स्थिरे हर्षशोकयोर्व्यत्ययः क्षणात् ॥
मनसः क्षणिकत्वेन तयोर्मानसतेष्यताम् ॥ ७४ ॥

शंका—निजानन्द को सदा आनन्दरूप होने से सदा हर्ष ही होना चाहिये। होना चाहिये शोक न।

उत्तर—निजानन्द की नित्यता होने पर भी, निजानन्द के ग्रहण करने हारे मन को क्षणिक होने से, मन की वृत्तिरूप हर्ष शोक को भी क्षणिकता है, निजानन्द की एकरस स्थिरता के रहते भी, हर्ष शोक का क्षण २ में उत्पत्ति विनाश होता है। मनको क्षणिक होने से, मन की वृत्तिरूप हर्ष शोक क्षणिक हैं, इस प्रकार निज आत्मा में आनन्द की सिद्धि हुई ॥ ७४ ॥

आकाशेऽप्येवमानन्दः सत्ताभाने तु संमते ॥
वाय्वादिदेहपर्यंतं वस्तुष्वेवं विभाव्यताम् ॥ ७५ ॥

से। आत्मा का आनन्द आकाश में प्राप्त होता है, सत्ता और भानता आकाश में तू भी मानता है, इस से इस में युक्ति कहने का कुछ प्रयोजन नहीं। जैसे आकाश में सत्ता चेतनता आनन्द हैं, तैसे पवन से आदि लेकर शरीर पर्यन्त सब पदार्थों में सत्ता चेतनता आनन्द हैं, सो पवन आदि में सत्ता आदि आत्मा के हैं॥ ७५॥

गतिस्पर्शौ वायुरूपं वन्हेर्दाहप्रकाशने॥
जलस्यद्रवता भूमेः काठिन्यं चेति निर्णयः॥ ७६॥

अर्थ—अब पवन आदि के धर्म सुन। चलना और स्पर्श पवन का रूप है, दाह और प्रकाश अग्निका रूप है। द्रवता जल का रूप है, कठिनता पृथिवी का रूप है।७६।

असाधारण आकार ओंपध्यन्नवपुष्वपि॥
एवं विभाव्यं मनसातत्तद्रूपं यथोचितम्॥ ७७॥

अर्थ—ओषधी और अन्न और शरीर इन में भी जैसा २ रूप योग्य है, तैसा २ रूप अपने आप मन में जान लेना॥ ७७॥

अनेकधा विभिन्नेषु नामरूपेषु चैकधा॥
तिष्ठंति सच्चिदानन्दाविसंवादो न कस्यचित्॥ ७८।

अर्थ—अनेक प्रकार से पदार्थों में नाम रूप का भेद होने पर भी सच्चिदानन्द सब पदार्थों में एकरस स्थित हैं, इन में किसी का विवाद नहीं, क्योंकि जैसी घट की सत्ता है, तैसी और पदार्थों की सत्ता है।और जैसे घट का भान है, तैसे और पदार्थों का भान है और जैसा घट में आनन्द है। तैसा और पदार्थों में आनन्द है॥७८॥

निस्तत्त्वे नामरूपे द्वे जन्मनाशयुते च ते।
बुद्ध्या ब्रह्मणि वीक्षस्व समुद्रे बुद्बुदादिवत्॥ ७९॥

शंका—जो पदार्थों में नामरूप भिन्न २ हैं, तो प्रतीत होते जो नाम रूप हैं, इन की क्या गति है।

उत्तर—नामरूप कल्पित हैं। यही इनकी गति है। जिस से जन्म नाशवाले हैं, तिस से बुद्धि करके ब्रह्म में नामरूप को ऐसे देख, जैसे समुद्र में बुलबुले आदि होते हैं॥ ७९॥

सच्चिदानंदरूपेऽस्मिन्पूर्णे ब्रह्मणि वीक्षिते।
स्वयमेवावजानानि नामरूपे शनैः शनैः॥ ८०॥

अर्थ—इस सच्चिदानन्द रूप पूर्ण ब्रह्म के अनुभव करने पर, पुरुष आप नाम रूप के अनादर को धीरे २ कर देता है॥ ८०॥

यावद्यावदवज्ञा स्यात्तावत्तावत्तदीक्षणम्
यावद्यावद्वीक्ष्यते तत्तावत्तावदुभे त्यजेत्॥ ८१॥

अर्थ—ब्रह्मज्ञान की दृढ़ता द्वैत के अनादर से पैदा होती है, तिस से श्रवण आदि की नाईं द्वैत का अनादर भी जिज्ञासु को करना चाहिये, जितना २ द्वैत का अनादर होता है तितना २ ब्रह्म का अनुभव होता है, और जितना २ ब्रह्म का अनुभव होता है, तितना २ नाम रूप का त्याग होता है ॥ ८१ ॥

तदभ्यासेन विद्यायां सुस्थितायामयं पुमान् ।
जीवन्नेव भवेन्मुक्तो वपुरस्तु यथा तथा ॥८२॥

अर्थ—नाम रूप के त्याग के अभ्यास से और ब्रह्म अनुभव के अभ्यास से ब्रह्म विद्या की दृढ़ता के रहते, यह पुरुष जीवन्मुक्त होता है, जीवन्मुक्त को शरीर में अभिमान नहीं होता। जैसे प्रारब्ध है, तैसे शरीर रहो ॥ ८२ ॥

तच्चिंतनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥८३॥

अर्थ—अब ब्रह्म अभ्यास को सुन, ब्रह्म का चिंतन करना और ब्रह्म का कथन करना, और परस्पर ब्रह्मका बोधन करना, इसका नाम एकपरता है इसी को ज्ञानवान ब्रह्म अभ्यास कहते हैं। इस से द्वैत की निवृत्ति होती है ॥८३॥

वासनानेककालीना दीर्घकालं निरंतरम् ।
सादरं चाभ्यस्यमाने सर्वथैव निवर्तते ॥८४॥

शंका—अनादि काल से लेकर प्रतीत होता जो द्वैत है। उसकी कदाचित्
होने हारा जो ब्रह्म अभ्यास। उससे निवृत्ति कैसे होगी॥
उत्तर-बहुत काल और निरंतर और सत्कार इन तीनों से सेवन करा जो
ब्रह्म अभ्यास, उससे अनेक काल की भी द्वैत वासना निवृत्त हो जाती है ॥८४॥

मृच्छक्तिवद्ब्रह्मशक्तिरनेकाननृतान्सृजेत् ।
यद्वा जीवगता निद्रा स्वप्नश्चात्र निदर्शनम् ॥८५॥

शंका—एक रूप ब्रह्म को अनेक प्रकार के जगत् की कारणता नहीं बनती।
उत्तर—माया सहित ब्रह्म को अनेक प्रकार के जगत् की कारणता बन जाती
है। जैसे मृत्तिका की शक्ति मिथ्यारूप घट आदि अनेक पदार्थों को पैदा कर देती है।
तैसे ब्रह्म की मायाशक्ति मिथ्यारूप अनेक प्रकार के जगत् को रचती है

शंका—मृत्तिका की शक्ति सत्य है, इस से वह अनेक घट आदि का कारण है। और ब्रह्म की शक्ति माया तो मिथ्या है। तिसमें दृष्टान्त दार्ष्टान्त में विषम है।

उत्तर—जो यह दृष्टान्त विषम है तो और दृष्टान्त को, सुन, जैसे जीव की निद्रा मिथ्यारूप अनेक प्रकार के स्वप्न जगत् को रच लेती है ॥८५॥

निद्राशक्तिर्यथा जीवे दुर्घटस्वप्नकारिणी ।

ब्रह्मण्येषा स्थिता माया सृष्टिस्थित्यंतकारिणी ।८६॥

अर्थ—जैसे जीव में निद्रा शक्ति जो पदार्थ नहीं बन सकता उसको भी स्वप्ने में बनाय देती है। तैसे ब्रह्म में जो यह मायाशक्ति है। सो जगत् की उत्पत्ति स्थिति नाश का कारण है ॥८६॥

स्वप्ने वियद्गतिं पश्येत्स्वमूर्द्धच्छेदनं यथा ।

मुहूर्ते वत्सरौघं च मृतपुत्रादिकं पुनः ॥ ८७ ॥

शंका—निद्रा शक्ति जो बात न बन सके उसको कैसे बना देती है।

उत्तर—स्वप्ने में पुरुष आकाश में अपना उड़ना देखता है। और अपने शिर को कटा हुआ देखता है, दो घड़ी में अनेक वर्षों को देखता है, और मरे हुए पुत्र आदि को देखता है ॥ ८७ ॥

इदं युक्तमिदं नेति व्यवस्था तत्र दुर्लभा ।

यथा यथेक्ष्यते यद्यत्तत्तद्युक्तं तथा तथा ॥ ८८ ॥

अर्थ—यह युक्त है, यह नहीं युक्त, यह व्यवस्था स्वप्न में नहीं होती, जिस २ वस्तु को जैसे २ देखता है, तैसे २ सो २ वस्तु युक्त है ॥ ८८ ॥

ईदृशो महिमा दृष्टो निद्राशक्तेर्यदा तदा ।

मायाशक्तेरचिंत्योयं महिमेति किमद्भुतम् ॥ ८९ ॥

अर्थ—जो ऐसी महिमा निद्राशक्ति की दीखती है कि जो न बने उसको भी बनाय देना, तो मायाशक्ति की महिमा मन से चिन्तन नहीं करी जाती। तिस से मायाशक्ति जो न बने उसको बनाय देती है, इस में तुझ को क्या आश्चर्य है ॥ ८९ ॥

शयाने पुरुषे निद्रा स्वप्नं बहुविधं सृजेत् ।

ब्रह्मण्येवं निर्विकारे विकारान् कल्पयत्यसौ ॥ ९० ॥

अर्थ—यत्न से रहित निर्विकार ब्रह्म में माया अनेक प्रकार के विकारों को

कल्पती है। जैसे निर्विकार सोया हुआ जो पुरुष है, सो प्रयत्न से रहित है, उस में निद्रा अनेक प्रकार के स्वप्न प्रपञ्च को रचती है ॥ ९० ॥

खानिलाग्निजलोर्व्यंडलोकप्राणिशिलादिकाः।
विकाराः प्राणिधीष्वंतश्चिच्छया प्रतिविंविता ॥ ९१ ॥

अर्थ—माया ने ब्रह्म में रचे जो पदार्थ हैं, उन को सुन। आकाश पवन अग्नि जलपृथिवी, ब्रह्मांड चौदह लोक प्राणी, और शिला आदि विकार, ब्रह्म में माया ने रचे हैं।

शङ्का—जो सब माया के ही विकार हैं तो किसी का चेतनरूपता किसी क जड़रूपता किस कारण से है।

उत्तर—जिस में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, सो चेतनरूप कहाता है। और जिस में चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता सो जड़ कहाता है, जिस में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है ? प्राणियों के अन्तःकरण में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है ॥ ९१ ॥

चेतनाचेतनेष्वेषु सच्चिदानन्दलक्षणम्।
समानं ब्रह्म भिद्येते नामरूपे पृथक् पृथक् ॥ ९२ ॥

शंका—चेतन जड़ यह भेद चैतन्यरूप ब्रह्म ने किया हुआ क्यों न होवे।

उत्तर—ब्रह्म को सब का उपादान कारण होने से, सब पदार्थों में एक जैसा विद्यमान होने से, ब्रह्म से किया हुआ जड़ चेतन भेद नहीं, क्यों कि सच्चिदानन्द लक्षण ब्रह्म जड़ों में और चेतनों में समान है, और नाम रूप भिन्न २ हैं ॥ ९२ ॥

ब्रह्मण्येते नामरूपे पटे चित्रमिव स्थिते।
उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दधीर्भवेत् ॥ ९३ ॥

अर्थ—ब्रह्म में नाम रूप कल्पित हैं। जैसे वस्त्र में हाथी घोड़े आदि की मूर्ति कल्पित होती हैं। ब्रह्म सब कल्पना का अधिष्ठान होने से सर्वगत है। सो ब्रह्म कैसे जाना जाता है ? कल्पित नाम रूप के त्यागने पर। नाम रूप की कल्पना का अधिष्ठान सच्चिदानन्द ब्रह्म जाना जाता है ॥ ९३ ॥

जलस्थेऽधोमुखे स्वस्य देहे दृष्टेप्युपेक्ष्यतम्।
तीरस्थ एवं देहे स्वे तात्पर्यं स्याद्यथा तथा ॥ ९४ ॥

अर्थ—प्रतीत होने से जो नाम रूप हैं। सो सत्य नहीं। जैसे जल में उलटे

अपने शरीर के देखने पर भी । उसकी बुद्धिमानों ने उपेक्षा करी है । और जलके किनारे स्थित जो अपना देह है । उसमें ही सत्यबुद्धि करी है ॥ ९४ ॥

सहस्रशो मनोराज्ये वर्तमाने सदैव तत् ।
सर्वैरुपेक्ष्यते यद्वदुपेक्षा नामरूपयोः ॥ ९५ ॥

अर्थ—और जैसे हज़ारों प्रकार के मनोराज्य होने पर भी । उसकी बुद्धिमानों ने उपेक्षा करी है । अर्थात् उस में सत्यबुद्धि नहीं करी । तैसे जिज्ञासु ने नाम रूप की उपेक्षा करनी चाहिये ॥ ९५ ॥

क्षणे क्षणे मनोराज्यं भवत्येवान्यथाऽन्यथा ।
गतं गतं पुनर्नास्ति व्यवहारो बहिस्तथा ॥ ९६ ॥

अर्थ—जैसे क्षण २ में मनोराज्य और २ होते हैं । तैसे जगत् के पदार्थों का व्यवहार भी और २ पड़ा होता है जो २ बीत गया है । सो फिर नहीं आता ॥ ९६ ॥

न बाल्यं यौवने लभ्यं यौवनं स्थविरे तथा ।
मृतः पिता पुनर्नास्ति नायात्येव गतं दिनम् ॥ ९७ ॥

अर्थ—जुवानी में बालकपन नहीं नज़र आता । और युवावस्था बुढ़ापे में नहीं दीखती । और मरा हुआ पिता फिर नहीं जीवता । और गया हुआ दिन फिर कभी नहीं आता ॥ ९७ ॥

मनोराज्याद्विशेषः कःक्षणध्वंसिनि लौकिके ।
अतोऽस्मिन् भासमानेपि तत्सत्यत्वधियं त्यजेत् ॥ ९८ ॥

अर्थ—तिस से जैसे मनोराज्य है । तैसा जगत् है । जैसे क्षण २ में मनोराज्य नाश को प्राप्त होता है । तैसे क्षण २ में सर्व पदार्थ नाश को प्राप्त होते हैं । तिस से मनोराज्य का और जगत् का भेद नहीं । इससे जगत् के भासमान रहते भी जिज्ञासु जगत् में सत्यबुद्धि का त्याग करे ॥ ९८ ॥

उपेक्षिते लौकिके धीर्निर्विघ्ना ब्रह्मचिंतने ।
नटवत्कृत्रिमास्थायां निर्वहत्येव लौकिकम् ॥ ९९ ॥

शंका—नाम रूप के छोड़ने पर क्या लाभ होता है ।

उत्तर—नाम रूप के त्यागने पर ब्रह्म में बुद्धि स्थिरता को प्राप्त होती है । ब्रह्म की आत्मरूपता के चिंतन में विघ्न कोई नहीं होता ।

शंका—नाम रूप के त्यागने पर ज्ञानवान का व्यवहार कैसे होगा ।

उत्तर—जैसे नट कृत्रिम आस्थाको कर सब व्यवहार करता है, अर्थात् नट राजा का स्वाँग धारता है। उस को हृदय में यह दृढ़ निश्चय होता है कि मैं राजा नहीं। पर बाणी से राजाओं के लायक व्यवहार करता है। इस को फांसी देदो यह खूनी है। इस को अमुक मुल्क का हमने शिरोपाय दिया है। इत्यादि। तैसे ज्ञानवान् भी हृदय में नामरूप को मिथ्या जान कर व्यवहार को पड़ा करता है ॥ ९९ ॥

प्रवहत्यपि नीरेधः स्थिरा प्रौढ शिला यथा ॥
नामरूपान्यथा त्वेपि कूटस्थं ब्रह्म नान्यथा ॥ १००॥

शंका—जो ज्ञानी का व्यवहार मानोगे तो उस को रागद्वेष रूप विकार की प्राप्ति होगी।

उत्तर—बुद्धि के व्यवहार करने पर भी बुद्धि का साक्षी आत्मा निर्विकार है। सो मेरा स्वरूप है। यह निश्चय ज्ञानवान् का होता है तिस से उस को रागद्वेष रूप विकार की प्राप्ति नहीं होती। जैसे बड़े वेग से बहती हुई जो नदी है। उस के नीचे स्थित जो बड़ी भारी शिला है। सो चलायमान नहीं होती। तैसे नाम रूप के अन्यथा भाव को प्राप्त होने पर भी। कूटस्थ ब्रह्म अन्यथा भाव को नहीं प्राप्त होता ॥ १०० ॥

निश्छिद्रे दर्पणे भाति वस्तु गर्भं बृहद्वियत् ॥
सच्चिद्घने तथा नाना जगद्गर्भमिदं वियत् ॥ १०१ ॥

शंका—अखंड ब्रह्ममें ब्रह्म से भिन्न स्वभाव वाले जगत् की प्रतीति कैसे होती है।

उत्तर—जैसे छिद्र से रहित दर्पण में सावकाश वस्तु का भान होता है। अर्थात् बड़े अवकाश सहित जगत् प्रतीत होता है। तैसे सत्य चैतन्य घन रूप ब्रह्म में अनेक प्रकार के विस्तारो सहित आकाश रूप यह जगत प्रतीत होता है ॥ १०१ ॥

अदृष्ट्वा दर्पणं नैव तदन्तस्थेक्षणं तथा ।
अमत्वा सच्चिदानन्दं नामरूपमतिः कुतः ॥ १०२ ॥

शंका—अदृश्य ब्रह्म में कैसे जगत् की प्रतीति होती है।

उत्तर—सच्चिदानन्द की पहिले प्रतीति होती है। पीछे जगत् की प्रतीती होती है। जैसे दर्पण को देखने से बिना दर्पण में प्रतिबिंब नहीं प्रतीत होता। तैसे सच्चिदानन्द के ज्ञान से बिना नाम रूप का ज्ञान नहीं होता ॥ १०२ ॥

प्रथमं सच्चिदानन्दे भासमानेऽथ तावता ।
बुद्धिं नियम्य नैवोर्ध्वं धारयेन्नामरूपयोः ॥ १०३ ॥

शंका नाम रूप को भी भासमान होने से निर्विषय ब्रह्म की प्रतीत कैसे होती है ।

उत्तर—सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म में नाम रूप कल्पित हैं । उस में सच्चिदानन्द मात्र को प्रथम ग्रहण कर तितने मात्र से ही बुद्धि को रोक कर । नाम रूप में बुद्धि को न लगावे ॥ १०३ ॥

एवं च निर्जगद्ब्रह्मसच्चिदानन्दलक्षणम् ।
अद्वैतानन्द एतस्मिन्विश्राम्यन्तु जनाश्चिरम् ॥ १०४ ॥

अर्थ—ऐसे करने पर जगत् से रहित सच्चिदानन्दलक्षण ब्रह्म की प्रतीत होती है । इस अद्वैतानन्द में जन चिरकालपर्यन्त विश्राम करें ॥ १०४ ॥

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे तृतीयोध्याय ईरितः ।
अद्वैतानन्द एव स्याज्जगन्मिथ्यात्वचिन्तया ॥ १०५ ॥

अर्थ—ब्रह्मानन्द नाम ग्रंथ में तीसरा अध्याय कहा है । उस का नाम अद्वैतानंद है । जिस कारण से इस में जगत् की मिथ्या रूपता के विचार से अद्वैतब्रह्म जाना जाता है ॥ १०५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचिते ब्रह्मानंदे अद्वैतानन्दो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

श्रीः

* पंचदशी *

ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दप्रकरणम् १४

❀ श्रीगणेशायनमः ❀

योगेना मविवेकेन द्वैतमिथ्यात्वचिंतया ॥

ब्रह्मानंदं पश्यतोथ विद्यानंदो निरूप्यते ॥ १ ॥

श्रीगणेशायनमः ॥ अथ विद्यानंदव्याख्या ॥ अब विद्यानन्द नाम चौथे आनन्द का आरंभ करते हैं। सो पंचदशी का चौदवाँ प्रकरण है। योग से और आत्मविवेक से और द्वैत की मिथ्यारूपता के विचार से ब्रह्मानंद के अनुभव करने हारे पुरुष को प्राप्त होता जो विद्यानंद है। उस का अब निरूपण करते हैं ॥१॥

विषयानंदवद्विद्यानंदो धीवृत्तिरूपकः ॥

दुःखाभावादि रूपेण प्रोक्त एष चतुर्विधः ॥ २ ॥

अर्थ–विद्यानंद बुद्धि की वृत्तिरूप है। विषयानंद की नाईं। सो विद्यानंद चार प्रकार का है। दुःखा भावादिरूप से ॥ २ ॥

दुःखाभावश्च कामाप्तिः कृतकृत्योहमित्यसौ॥

प्राप्तप्राप्योहमित्येवं चातुर्विध्यमुदाहृतम् ॥ ३ ॥

अर्थ–दुःखाभाव १ सर्वकामावाप्तिः २ कृतकृत्योहम् ३ प्राप्तप्राप्योहम् ४ इसतरह चार प्रकारका कहा है ॥ ४ ॥

ऐहिकं चामुष्मिकं चेत्येवं दुःखं द्विधेरितम् ॥

निवृत्तिमैहिकस्याह बृहदारण्यकं वचः ॥४ ॥

अर्थ—दुःखाभाव दो प्रकार का है। दुःख को दो प्रकार का होने से। एक इस लोक में होने हारा दुःख। दूसरा परलोक में होने हारा दुःख। इस लोक के दुःख के अभाव को बृहदारण्यक उपनिषद् की श्रुति कहती भई है।

आत्मानं चे द्विजानीयादहमस्मीति पूरुषः ॥

किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ ५ ॥

अर्थ—जो अनेक जन्मों के पुण्य के प्रभाव से यह जीव आत्मा को असंग कूटस्थ मैं हूं ऐसे जाने तो किस की इच्छा करता हुआ और किस की कामना के लिये शरीर के तापों से ताप को प्राप्त होवे। अर्थात् फिर दुःख को नहीं प्राप्त होता ॥ ५ ॥

जीवात्मा परमात्मा चेत्यात्मा द्विविध ईरितः ॥
चित्तादात्म्यात्त्रिभिर्देहैर्जीवः सन् भोक्तृतां व्रजेत् ॥ ६ ॥

अर्थ—आत्मा दो प्रकार का है। जीवात्मा और परमात्मा। अब जीवात्मा का स्वरूप सुन। स्थूल सूक्ष्म कारण इन तीन शरीरों के साथ तादात्म्य भ्रम के रहते चैतन्य भोक्ता होता है। सो भोक्ता जीव कहाता है॥ ६ ॥

परात्मा सच्चिदानंदस्तादात्म्यं नामरूपयोः ॥
गत्वा भोग्यत्वमापन्नस्तद्विवेके तु नोभयम् ॥ ७ ॥

अर्थ—अब परमात्मा का स्वरूप सुन। परमात्मा सच्चिदानंदरूप है। सो नाम रूप की कल्पना का अधिष्ठान होने से नाम रूप के साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर भोग्यरूप हो जाता है। और जब उन तीन शरीरों से चैतन्य का विवेक करा जाता है। तब चैतन्य में भोक्तरूपता दूर हो जाती है। और जब चैतन्य का नामरूप से विवेक करा जाता है। तब चैतन्य में भोग्यरूपता दूर हो जाती है॥ ७ ॥

भोग्यमिच्छन् भोक्तुरर्थे शरीरमनुसंज्वरेत् ॥
ज्वरास्त्रिषु शरीरेषु स्थिता नत्वात्मनो ज्वराः ॥ ८ ॥

अर्थ—जब तक विवेक नहीं उत्पन्न होता। तब तक भोक्ता और भोग्य इन दोनों सत्यमान कर भोक्ता के लिये भोगों की इच्छा करता हुआ शरीरों के तापों से तापों को प्राप्त होता है। वास्तव से आत्मा में ताप कोई नहीं। तीन शरीरों में ताप हैं ॥८॥

व्याधयो धातुवैषम्ये स्थूल देहे स्थिता ज्वराः ॥
कामक्रोधादयः सूक्ष्मे द्वयोर्बीज तु कारणे ॥ ९ ॥

अर्थ—किस शरीर में कौन सा ज्वर है? प्रथम स्थूल शरीर में तापों को सुन। कफ वात पित्त इन तीन धातुओं के बढ़ने और घटने पर पैदा होते जो अनेक प्रकार के रोग हैं। सो स्थूल शरीर के ताप हैं। अब सूक्ष्म शरीर के ताप दर्शाते हैं। काम क्रोध आदि सूक्ष्म शरीर के ताप हैं। सूक्ष्म शरीर के तापों का और स्थूल शरीर के तापों का बीज कारण शरीर में ताप है ॥ ९ ॥

अद्वैतानद मार्गेण परमात्मनि विवेचिते ॥
अपश्यन्वास्तवं भोग्यं किं [illegible] ॥

अर्थ—अद्वैतानन्द नाम तीसरे अध्यायमें कहा जो प्रकार। उससे मायाके कार्य्य नाम रूप से भिन्न सच्चिदानंदरूप परमात्मा के जानने पर सब प्रपंच मिथ्या हो जाता है। ऐसे जानने हारा विवेकी किस भोग की इच्छा करे ॥ १० ॥

आत्मानन्दोक्तरीत्यास्मिन् जीवात्मन्यवधारिते।
भोक्ता नैवास्ति कोप्यत्र शरीरे तु ज्वरः कुतः ॥ ११ ॥

अर्थ—आत्मानन्द नाम दूसरे अध्याय में कहा जो प्रकार। उस में जीव आत्मा के स्वरूप को असंग कूटस्थ चैतन्यरूप निश्चय करने पर, कामना करनेहारे भोक्ता का अभाव निश्चय होता है। तिस से तापों का अभाव निश्चय होता है। तिस से तापों का अभाव निश्चय होता है। तिस से तापों का अभाव हो जाता है ॥ ११ ॥

पुण्यपापद्वये चिन्तां दुःखमामुष्मिक भवेत्।
प्रथमाध्याय एवोक्तं चिन्ता नैनं तपेदिति ॥ १२ ॥

अर्थ—अब परलोक में होने हारे तापों को दिखाते हैं। पुण्य पाप इन दोनों की चिन्ता परलोक का दुःख है। सो ज्ञानवान् को नहीं तपाती। यह बात प्रथम अध्याय में कह आये हैं ॥ १२ ॥

यथा पुष्करपर्णेऽस्मिन्नपामश्लेषणम् तथा।
वेदनादूर्ध्वमागामिकर्मणोऽश्लेषणम् बुधे ॥ १३ ॥

शंका—ज्ञानवान् को अपने प्रारब्ध कर्म की चिन्ता मत हो। पर आगामि कर्म की चिन्ता तो होती है ॥

उत्तर—जैसे कमल पत्र में जल का स्पर्श नहीं होता, तैसे ज्ञान की प्राप्ति से अनन्तर ज्ञानवान् में आगामिकर्मों का सम्बन्ध नहीं होता। अर्थात स्पर्श नहीं होता। तिस से उस को आगामि कर्मों की चिन्ता नहीं होती ॥ १३ ॥

इषीकातूलतूलस्य वह्निदाहः क्षणाद्यथा।
तथा संचितकर्मास्य दग्धं भवति वेदनात् ॥ १४ ॥

अर्थ—और ज्ञानवान् को संचित कर्मों की भी चिन्ता नहीं होती। क्योंकि श्रुति कहती है। (तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते)। अर्थ—जैसे रूई और तृण अग्नि में रक्खा हुआ दग्ध हो जाता है। तैसे ज्ञानवान् संचित कर्म सब क्षणमात्र में दग्ध हो जाते हैं ॥ १४ ॥

यथैधांसि समिद्धोग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ १५ ॥

अर्थ—इस अर्थ में गीता वचन भी प्रमाण है । जैसे प्रचण्ड अग्नि लकड़ियों को भस्म करदेती है । तैसे हे अर्जुन ! ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है ॥१५॥

यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्नहंति न निबध्यते ॥ १६ ॥

अर्थ—जिस पुरुष का आत्मा अहंकार के साथ तादात्म्याध्यास को नहीं प्राप्त हुआ । और जिसकी बुद्धि संशय विपर्यय को नहीं प्राप्त होती । सो पुरुष इन सब लोकों को मार देवे । तौ भी पाप को नहीं प्राप्त होता । क्यों कि उस को यह निश्चय होता है कि मैंने किस को नहीं मारा ॥ १६ ॥

मातापित्रोर्वधस्तेयं भ्रूणहत्यान्यदीदृशम् ।
न मुक्तिं नाशयेत्पापम् मुखकांतिर्न नश्यति ॥ १७ ॥

अर्थ—इस अर्थ में कौषीतकी उपनिषद् की श्रुति प्रमाण है । (न मातृवधेनन पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया नास्य पापम् च न चक्षुषो मुखान्नीलम् वेति) अर्थ—ज्ञानवान् को माता के मारने से पिता के मारने से स्वर्ण के चुराने से वेदवेत्ता ब्राह्मण के मारने से अथवा भ्रूण हत्या के करने से अर्थात् गर्भ के गिराने से पाप प्राप्त नहीं होता । क्यों कि उस को शरीर आदि में अहं बुद्धि नहीं होती । इसी से उस के मुख की कान्ति नहीं बिगड़ती । कोई भी पाप ज्ञानवान् की मोक्ष को नष्ट नहीं करता । इतने कर के दुःखाभावरूप विद्यानन्द कहा ॥ १७ ॥

दुःखाभाववदेवास्य सर्वकामाप्तिरीरिता ।
सर्वान्कामानसावाप्त्वाह्यमृतोभवदित्यतः ॥ १८ ॥

अर्थ—अब सर्वकामाप्तिरूप विद्यानन्द को सुन । जैसे ज्ञानवान् को दुःखाभाव होता है । तैसे उसको सर्वकामाप्ति होती है । ऐसा श्रुति ने कहा है । ज्ञानवान् को सर्व कामाप्ति में ऐतरेय श्रुति प्रमाण है । उसका अर्थ सुन । ज्ञानवान् सब कामना को प्राप्त होकर जन्म मरण से रहित हुआ ॥ १८ ॥

जक्षन्क्रीडन् रतिं प्राप्तः स्त्रीभिर्यानैस्तथेतरैः ।
शरीरं न स्मरेत्प्राणः कर्मणा जीवयेदमुम् ॥ १९ ॥

अर्थ—और छांदोग्य उपनिषद् की श्रुति में यह कहा है । (जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वाऽज्ञातिभिर्वा वयस्यैर्वा नोप जनं स्मरन्निदं शरीरम्) अर्थ—ज्ञानवा हंसता हुआ भोजन करता हुआ और ज्ञाति के सम्बन्धियों के साथ क्रीडा करता हुआ

और स्त्रियों के साथ रमण करता हुआ और हाथी घोड़े पिनस आदि सवारियों के साथ रमण करता हुआ अर्थात् उन पर चढ़ता हुआ। जनों के समीपवर्ति शरीर को अहंरूप से स्मरण नहीं करता। और प्रारब्ध कर्म से प्राण इसको जिवाता है ॥ १९ ॥

सर्वान्कामान्सहाप्नोति नान्यवज्जन्मकर्मभिः ॥
वर्तंते श्रोत्रिये भोगा युगपत्क्रमवर्जिताः ॥ २० ॥

अर्थ—तैत्तिरीय श्रुति भी इस में प्रमाण है। ज्ञानवान् सब कामनाओं को एकट्ठा ही प्राप्त हो जाता है।

शंका—ज्ञानवान् को कर्मों के फल का भोग मानने पर उसका जन्म भी होगा।

उत्तर—उसको कर्मोंसे जन्मकी प्राप्ति नहीं होती जिससे ज्ञान से संचित कर्मों का नाश हो गया है। तिस से वह अज्ञानी की नाईं जन्म को नहीं प्राप्त होता। तिस से वह एकट्ठा ही सब भोगों को प्राप्त होता है ॥ २० ॥

युवारूपी च विद्यावान्नीरोगी दृढचित्तवान् ॥
सैन्योपतः सर्वपृथ्वीं वित्तपूर्णां प्रपालयन् ॥ २१ ॥

अर्थ—चक्रवर्ती से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त सब भोगों को ज्ञानवान् एकट्ठा प्राप्त होता है। यह वार्ता तैत्तिरीय उपनिषद् में और बृहदारण्यक उपनिषद् में कही है। सो सुन। जुवान और सुन्दररूप वाला और सब विद्या वाला और सब रोगों से रहित दृढ़ चित्तवाला हाथी घोड़े रथ पैदल इस चार प्रकार की सेना वाला धन से और अन्न से पूर्ण सब पृथिवी का पालन करता हुआ ॥ २१ ॥

सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नस्तृप्तभूमिपः ॥
यमानंदमवाप्नोति ब्रह्मविच्च तमश्नुते ॥ २२ ॥

अर्थ—सब मनुष्यों के भोगों से युक्त तृप्ति को प्राप्त हुआ चक्रवर्ती राजा जिस आनन्द को प्राप्त होता है। उस आनन्द को ब्रह्मवेत्ता भोक्ता है। चक्रवर्ती राजा से लेकर हिरण्यगर्भपर्यन्त जीवों में स्थित जो आनन्द है। उस को ज्ञानवान् कैसे भोगता है? ज्ञानी ने जाना जो आत्मरूपता से ब्रह्म है। उस ब्रह्म का सब आनन्दों को लेश होने से ज्ञानी को सब आनन्दों की प्राप्ति बनती है ॥ २२ ॥

मर्त्यभोगे द्वयोर्नास्ति कामस्तृप्तिरतः समा ॥
भोगान्निष्कामतैकस्य परस्यापि विवेकतः ॥ २३ ॥

शंका—चक्रवर्ती और ब्रह्मवेत्ता इन दोनों को विषयप्राप्ति सम नहीं । इस से इन दोनों को आनन्दसम कैसे कहते हो ।

उत्तर—इन दोनों को मनुष्यों के भोगों में इच्छा नहीं होती । इस समता से आनन्द की समता है । परन्तु इतना भेद है कि चक्रवर्ती राजा को भोगों की प्राप्ति से भोगों की इच्छा नहीं होती । और ज्ञानी को विवेक से भोगों की इच्छा नहीं होती ॥२३॥

श्रोत्रियत्वाद्वेदशास्त्रैर्भोगदोषान्वेक्षते ॥
राजाबृहद्रथो दोषांस्तान् गाथाभिरुदाहरत् ॥ २४ ॥

अर्थ—ज्ञानी वेदवेत्ता होता है । तिस से वेदों मे और शास्त्रों मे भोगों के दोषों को देखता है । राजा बृहद्रथ भैत्रायणी में विषयों के दोषों को कथारूपता में कहता भया है ॥ २४ ॥

देहदोषांश्चित्तदोषान् भोग्यदोषाननेकशः ॥
शुनावांते पायसे नो कामस्तद्वद्विवेकिनः ॥ २५ ॥

अर्थ—अनेक प्रकार के देह दोषों को और अनेक प्रकार के चित्तदोषों को और अनेक प्रकार के भोगों के दोषों को कहता भया । उन दोषों के विवेक वाले पुरुष को भोगों की कामना नहीं होती । जैसे वेदवेत्ता ब्राह्मण को कुत्ते कर के वमन करी हुई खीर में कामना नहीं होती । तैसे विवेकी को भोगों की कामना नहीं होती ॥ २५ ॥

निष्कामत्वे समेऽप्यत्र राज्ञः साधनसंचये ॥
दुःखमासीद्राग्विनाशादतिभीरनुवर्तते ॥ २६ ॥

अर्थ— चक्रवर्ती राजा और ज्ञानी इन दोनों को मनुष्यों के भोगों में कामना नहीं होती । इस वार्ता के सम रहते भी । ज्ञानी की चक्रवर्ती राजा से कुछ एक अधिकता है । सो सुन । चक्रवर्ती राजा को अने प्रकार की राज सामग्रियों के संचय करने में दुःख है, और भावी उसके नाश से अतिभय होता है ॥ २६ ॥

नोभयं श्रोत्रिय स्यातस्तदानंदोऽधिकोऽन्यतः ॥
गंधर्वानंद आशास्ति राज्ञो नास्ति विवेकिनः ॥ २७ ॥

अर्थ—ये दो दोष चक्रवर्ती राजा के सुख में होते हैं और ज्ञानवान् के सुख में नहीं होते । तिस से ज्ञानवान् का सुख जो है । सो चक्रवर्ती राजा के सुख में अधिक है । और एक चक्रवर्ती राजा से ज्ञानी की अधिकता है । उसको भी सुन । चक्रवर्ती राजा को गंधर्वानन्द की इच्छा होती है । और

ज्ञानी को उस की इच्छा नहीं होती। तिस से ज्ञानी का आनन्द चक्रवर्ती राजा के आनन्द से अधिक है ॥ २७ ॥

अस्मिन्कल्पे मनुष्यः सन्पुण्यपाकविशेषतः।

गंधर्वत्वं समापन्नो मर्त्यगन्धर्व उच्यते ॥ २८ ॥

अर्थ—गन्धर्वानन्द दो प्रकार का है क्योंकि गंधर्व दो प्रकार के हैं। एक मनुष्य गंधर्व हैं। दूसरे देव गंधर्व हैं। मनुष्य गंधर्व किस को कहते हैं? और देव गंधर्व किस को कहते हैं? इस कल्प में प्रथम जो मनुष्य होवे। पीछे से पुण्यों के फल वश से गंधर्व रूपता को प्राप्त होवे। सो मनुष्य गंधर्व है ॥ २८ ॥

पूर्व कल्पे कृतात्पुण्यात्कल्पादावेव चेद्भवेत्।

गंधर्वत्वम् तादृशोत्र देवगंधर्व उच्यते ॥ २९ ॥

अर्थ—और जो पूर्व कल्प में करे हुए पुण्यों के प्रभाव से कल्प के आदि में ही गंधर्वरूपता को प्राप्त होवे। सो देवगंधर्व है ॥ २९ ॥

अग्निष्वात्तादयो लोके पितरश्चिरवासिनः।

कल्पादावेव देवत्वम् गता आजान देवताः ॥ ३० ॥

अर्थ—अग्निष्वात्तादि लोक में पितर हैं। सो पितृलोक में चिरकाल पर्यन्त वास करते हैं। और देवताओं का आनन्द तीन प्रकार का है। क्यों कि देवता तीन प्रकार के हैं। एक आजान देवता हैं। दूसरे कर्मदेवता हैं। तीसरे देवता हैं। कल्प के आदि में जो देवता हुए हैं। सो आजान देवता हैं ॥ ३० ॥

अस्मिन्कल्पेश्वमेधादि कर्म कृत्वा महत्पदम्।

अवाप्याजानदेवैर्याः पूज्यास्ताः कर्मदेवताः ॥ ३१ ॥

अर्थ—और इस कल्प में अश्वमेध आदि यज्ञरूप कर्मों को कर महत्पद को प्राप्त होकर। आजान देवताओं से जो पूजने योग्य हैं। सो कर्म देवता हैं ॥ ३१ ॥

यमाग्निमुख्या देवाः स्युर्ज्ञाताविंद्रबृहस्पती।

प्रजापतिर्विराट् प्रोक्तो ब्रह्मा सूत्रात्मनामकः ॥ ३२ ॥

अर्थ— यम और अग्नि से आदि लेकर जो देवता हैं। इन्द्र और बृहस्पति प्रसिद्ध हैं। और श्रुति में जो प्रजापति शब्द है। उसका अर्थ विराट् है। और ब्रह्मा शब्द का अर्थ हिरण्यगर्भ है ॥ ३२ ॥

सार्वभौमादिसूत्रांता उत्तरोत्तरकामिनः ।
अवाङ्मनसगम्योयमात्मानन्दस्ततः परः ॥ ३३ ॥

अर्थ—चक्रवर्ती १ मनुष्यगन्धर्व २ देवगंधर्व ३ पितर ४ आजानदेवता ५ कर्म देवता ६ देवता ७ इन्द्र ८ बृहस्पति ९ प्रजापति १० ब्रह्मा ११ इन ग्यारों के आनन्द सं ब्रह्मवेत्ता का आनन्द अधिक है क्योंकि इन ग्यारों को अगले २ आनन्द की कामना होती है। प्रथम २ के आनन्द से अगले २ का आनन्द सौ २ गुणा अधिक है और ब्रह्मवेत्ता का जो आनन्द है। सो मन वाणी से परे है। तिस सं चक्रवर्ती से लेकर हिरण्यगर्भपर्यन्तों के आनन्द से आत्मानन्द परे है ॥३३॥

तैस्तैः काम्येषु सर्वेषु सुखेषु श्रोत्रियोयतः ।
निःस्पृहस्तेन सर्वेषामानन्दाः संति तस्य ते ॥३४॥

अर्थ—चक्रवर्ती से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्तों के जो आनन्द हैं। सो सब ज्ञानवान् में वर्तते हैं। जिसमें उनको उन आनन्दों में इच्छा नहीं है ॥३४॥

सर्वकामाप्तिरेपोक्ता यद्वा साक्षिचिदात्मना ।
स्वदेहवत्सर्वदेहेष्वपि भोगानवेक्षते ॥३५॥

अर्थ—इसका नाम सर्व कामाप्ति है। अथवा जैसे अपने शरीर में आनन्दाकार बुद्धि की वृत्ति का साक्षी चैतन्यरूपता से भोगों को मैं अनुभव करता हूं। तैसे सर्व शरीरों में आनन्दाकार बुद्धि की वृत्ति का साक्षी चैतन्यरूपता से मैं भोगों का अनुभव करता हूं। यह निश्चय ज्ञानवान् को होता है। इससे उसको सर्व कामाप्ति होतीहै॥३५

अज्ञस्याप्येतदस्त्येव न तु तृप्तिरबोधतः ।
यो वेद सोऽश्नुते सर्वान्कामानित्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥३६॥

शंका—कहे हुए प्रकार से अज्ञानी को भी सब आनंदों की प्राप्ति है। क्योंकि वह भी साक्षी चैतन्यरूपता से सब देहों में आनन्द के अनुभव को करता है।

उत्तर—अज्ञानी को सब आनंद प्राप्त नहीं होते। क्योंकि सब शरीरों में सब बुद्धियों का साक्षी मैं हूं यह ज्ञान उसको नहीं होता। इसी कारण से तैत्तिरीय उपनिषद् की श्रुति यह कहतीहै। गुहायाँ निहित ब्रह्म यो वेद सोऽश्नुते) अर्थ—जो पुरुष यह जानता है कि सब शरीरों में सब बुद्धियों का साक्षी चिदात्मा मैं हूं। सो सब कामनाओं को प्राप्त होता है ॥३६॥

यद्वा सर्वात्मतां स्वस्य साम्ना गायति सर्वदा ।
अहमन्नं तथान्नादश्चेति सामह्यधीयते ॥३७॥

अर्थ—अथवा ज्ञानवान् अपनी सर्वात्मता को सदा साम से गाता है। उस साम का अर्थ यह है कि मैं ही अन्न हूं। और मैं ही सब शरीरों में स्थित होकर अन्न को भोक्ता हूं। इसका नाम सर्वकामाप्ति है ॥३७॥

दुःखाभावश्च कामाप्तिरुभे ह्येवं निरूपिते ॥
कृतकृत्यत्वमन्यच्च प्राप्तप्राप्यत्वमीक्षताम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—इतने ग्रन्थ से दुःखाभाव और सर्व कामाप्ति यह दो प्रकार का विद्यानंद निरूपण करा। तीसरा कृतकृत्यतारूप विद्यानन्द है। और चौथा प्राप्तप्राप्यता रूप विद्यानन्द है ॥३८॥

उभयं तृप्तिदीपे हि सम्यगस्माभिरीरितम् ।
त एवात्रानुसंधेयाः श्लोका बुद्धिविशुद्धये ॥३९॥

अर्थ—सो दोनों तृप्तिदीप में ही अच्छी तरह हमने कहे हैं। तिससे तृप्ति दीप के जो श्लोक हैं। सो यहाँ विचार लेने। ब्रह्मानन्द के अनुभव के फल के लिये तिस से उन श्लोकों को सुन ॥३९॥

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये ।
बहुकृत्यं पुरा स्यादभूत्तत्सर्वमधुना कृतम् ॥ ४० ॥

अर्थ—इस लोक के सुखों के समूह की सिद्धि के लिये। और परलोक के सुखों के समूह की सिद्धि के लिये। और मोक्ष की सिद्धि के लिये। अनेक प्रकार के कार्य करने योग्य खेती वणज यज्ञ दान व्रत श्रवण मनन निदिध्यासन रूप अज्ञान काल में इसको थे। सो सब अब ज्ञान की प्राप्ति के रहते करे गये। अर्थात् इस लोक के और परलोक के सुखों के लिये कर्तव्य तब तक था। जब तक उन की कामना थी। अब ज्ञान के रहते सब कामना नष्ट हो गई हैं। क्योंकि जगत् में सत्यबुद्धि नहीं रही और मोक्ष के लिये श्रवण आदि की कर्तव्यता तब तक थी। जब तक आपको बंधनों वाला जानता था। अब ज्ञान के रहते बंधन नहीं प्रतीत होता। तिस से ज्ञानवान को मोक्ष के लिये भी कर्तव्य नहीं है ॥ ४० ॥

तदेतत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ।
अनुसंदधदेवायं नृत्यति नित्यशः ॥ ४१ ॥

अर्थ—सो इस कृतकृत्यता को प्रतियोगियों के चिंतनसहित चिंतन करता हुआ ज्ञानवान् इस प्रकार से सदा तृप्ति को प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

दुःखिनोज्ञाः संसरंतु कामं पुत्राद्यपेक्षया ॥
परमानंदपूर्णोहं संसरामि किमिच्छया ॥ ४२ ॥

अर्थ—अज्ञानी जो दुखी हैं । सो पुत्र आदि की इच्छा से जन्म मरण को प्राप्त होवें । परमानंद जो पूर्ण मैं हूं । सो किस की इच्छासे जन्म मरण को प्राप्त होऊं ॥४॥

अनुतिष्ठंतु कर्माणि परलोकयियासवः ।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—और परलोक के जानने की इच्छा वाले यज्ञ आदि कर्मों को करें । सर्व लोकों का आत्मा जो मैं हूं । सो किस कारण से किस प्रकार किस कर्म को करूं ॥४३॥

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्याय यंतुवा ।
येत्राधिकारिणो मेतु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥ ४४ ॥

अर्थ—और जो अपने को क्रिया वाला मानते हैं । सो वेद और शास्त्रों का उपदेश करें । और पढ़ावें । और मेरा जो उपदेश करने में और पढ़ावने में अधिकार है। नहीं । क्योंकि मैं क्रिया से रहित हूं ॥ ४४ ॥

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ।
द्रष्टारश्चेत्कल्पयंति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥ ४५ ॥

अर्थ—शयन और भोजन स्नान और शौच इनको न मैं इच्छा करता हूं । और न करता हूं । शरीर में शयन आदि को देखने हारे जीव जो मेरे में शयन आदि की कल्पना करें हैं । तो उनकी कल्पना से मेरे को हानि लाभ कुछ नहीं ॥ ४५ ॥

गुंजापुंजादि दह्येत नान्यारोपितवन्हिना ॥
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥ ४६ ॥

अर्थ—जैसे चोंटलियों के समूह में बालकों ने अग्नि की कल्पना करी । तो उस में चोंटली जल नहीं जाती । तैसे और जीवों से मेरे में कल्पे हुए जो संसार के धर्म हैं । उन से मैं संसारी नहीं हो जाता ॥ ४६ ॥

शृण्वंत्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम् ॥
मन्यंतां संशयापन्ना न मन्येहमसंशयः ॥ ४७ ॥

अर्थ—और जो तत्त्व के ये जानने हारे हैं। ते श्रवण करें। पर तत्त्व के जानने हारा मैं श्रवण किस कारण से करूं। संशय युक्त पुरुष मनन करें। और संशयों से रहित मैं मनन किस लिये करूं ॥ ४७ ॥

विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानमविपर्यये ॥
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—और विपर्यय को प्राप्त हुआ है। सो निदिध्यासन करे। और विपर्यय से रहित होने पर फिर ध्यान करने योग्य नहीं। देह में आत्मबुद्धिरूप विपर्यय को मैं कदाचित् भी नहीं प्राप्त होता ॥ ४८ ॥

अहं मनुष्य इत्यादि व्यवहारो विनाप्यमुम् ॥
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोवकल्पते ॥ ४९ ॥

अर्थ—मैं मनुष्य हूं इत्यादि व्यवहार विपर्ययसे विना अनादि कालकी अभ्यास को प्राप्त हुई जो वासना है। उस से बन जाता है ॥ ४९ ॥

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ॥
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥ ५० ॥

अर्थ—उस व्यवहार का प्रारब्ध कर्म के नष्ट होने पर नाश हो जाता है। जब तक प्रारब्ध का नाश नहीं नहीं होता। तब तक मैं मनुष्य हूं। इत्यादि व्यवहार का नाश नहीं होता। हजारों ध्यानों से भी। एक ध्यान का क्या कहना है ॥ ५० ॥

विरलत्वं व्यवहतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते ॥
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन् ध्यायाम्यहं कुतः ॥५१॥

अर्थ—जिस को व्यवहार की विरलता वांछित है। सो तू ध्यान कर। और मैं तो व्यवहार को विरोधी नहीं देखता। तिस से मैं ध्यान किस कारण से करूं ॥ ५१ ॥

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ॥
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥ ५२ ॥

अर्थ—जिस कारण से मेरे को विक्षेप नहीं है तिस कारण से मेरे को समाधि भी नहीं है। विक्षेप अथवा समाधि विकारी मन में होती है ॥ ५२ ॥

नित्यानुभवरूपस्य कोमेऽत्रानुभवः पृथक् ॥
कृतंकृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ॥ ५३ ॥

अर्थ—नित्यानुभवरूप जो मैं हूं । उस मुझ में अनुभव भिन्न नहीं । जो करने योग्य था सो मैंने कर लिया । और जो प्राप्त होने योग्य था सो मुझ को मिल गया । यह निश्चय है ॥ ५३ ॥

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयोवाऽन्यथापि वा ॥
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—अकर्ता अलेप जो मैं हूँ । उसका प्रारब्ध कर्म के वश में व्यवहार चाहे लोकों के अनुसार होवे । चाहे शास्त्र के अनुसार होवे । चाहे लोक शास्त्र से विरुद्ध होवे ॥ ५४ ॥

अथवा कृतकृत्योपिलोकानुग्रहकाम्यया ।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेहं का ममक्षतिः ॥ ५५ ॥

अर्थ—अथवा कृतकृत्य जो मैं हूँ । सो लोकों के कल्याण की कामना से शास्त्र कथित मार्ग कर के वर्तूं । उस में मेरी क्या हानि है ॥ ५५ ॥

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक् तद्वत्पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—देवताओं का पूजन स्नान शौच भोजन आदि में शरीर वर्तो । और वाणी ओंकार का जप करो । चाहे उपनिषदों को पढ़े ॥ ५६ ॥

विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥ ५७ ॥

अर्थ—और बुद्धि विष्णु का ध्यान करो । चाहे ब्रह्मानन्द में लीन होवे । मैं साक्षी रूप हूं । न कुछ करता हूं । न कराता हूँ ॥ ५७ ॥

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यते सौनिरंतरम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—कृतकृत्यता से तृप्त हुआ । और प्राप्तप्राप्यता से तृप्त हुआ, ज्ञानवान् अपने मन से सदा ऐसे मानता है ॥ ५८ ॥

धन्योहं धन्योहं नित्यं स्वात्मानमंजसा वेद्मि ।
धन्योहं धन्योहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—मैं धन्य हूँ । मैं धन्य हूं नित्य ही मैं अपने स्वरूप को बे यत्न के अनुभव करता हूं । मैं धन्य हूं । मैं धन्य हूँ । क्यों कि ब्रह्मानन्द मेरे को स्पष्ट भासता है ॥ ५९ ॥

धन्योहं धन्योहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेघ ।
धन्योहं धन्योहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥ ६० ॥

अर्थ--मैं धन्य हूं । मैं धन्य हूँ । क्यों कि संसार दुःख को मैं अब नहीं देखता । मैं धन्य हूँ । मैं धन्य हूं । जिस से मेरा अज्ञान कहाँ भाग गया है ॥ ६० ॥

धन्योहं धन्योहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित् ॥
धन्योहं धन्योहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य सम्पन्नम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—मैं धन्य हूँ । मैं धन्य हूं । क्यों कि मेरे को करने योग्य कुछ नहीं रहा । मैं धन्य हूँ । मैं धन्य हूं । क्यों कि मिलने योग्य सब कुछ मुझ को अब मिल गया है ॥६५

धन्योहं धन्योहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।
धन्योहं धन्योहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥ ६२ ॥

अर्थ--मैं धन्य हूं । मैं धन्य हूं । क्यों कि मेरी तृप्ति का कोई जगत् में दृष्टान्त नहीं है । मैं धन्य हूं । मैं धन्य हूं । धन्य हूँ । धन्य हूं । बारंबार धन्य हूं ॥ ६ ॥

अहो पुण्यमहो पुण्यफलितं फलितं दृढम् ।
अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ॥ ६२ ॥

अर्थ--बड़े पुण्य हैं । बड़े पुण्य हैं जो फल मिलना था मुझ को सो अच्छी तरह मिलगया है । इस पुण्य की प्राप्तिसे हमभी आश्चर्यरूप हैं,हम भी आश्चर्यरूप हैं ॥६३॥

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ॥
अहो ज्ञानमहोज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—शास्त्र आश्चर्य रूप है । शास्त्र आश्चर्य रूप है । गुरु आश्चर्यरूप हैं । गुरु आश्चर्यरूप ह । ज्ञान आश्चर्यरूप हैं । ज्ञान आश्चर्य रूप है ज्ञान से मिला जो सुख सो आश्चर्यरूप है आश्चर्यरूप है॥ ६४ ॥

ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे चतुर्थोध्याय ईरितः ।
विद्यानंदस्तदुत्पत्तिपर्यंतोभ्यास इष्यताम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—ब्रह्मानंद नाम ग्रन्थ में चौथा अध्याय कहा । उस का नाम विद्यानन्द है उसकी उत्पत्ति पर्यन्त अभ्यास करना ॥ ६५ ॥

इति श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीविद्यारण्य स्वामिविरचितायां पंचदश्यां ब्रह्मानंदे विद्यानन्दो नाम चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

॥ श्रीः ॥

। पञ्चदशी ।

ब्रह्मानन्दे विषयानन्दप्रकरणम्

श्रीगणेशाय नमः ।

अथात्र विषयानन्दो ब्रह्मानन्दांशरूपभाक् ।
निरूप्यते द्वारभूतस्तदंशत्वं श्रुतिर्जगौ ॥ १ ॥

अर्थ—श्रीगणेशाय नमः । अब ब्रह्मानन्द में विषयानन्द नाम पांचवाँ प्रकरण-निरूपण करते हैं सो पञ्चदशी का पन्द्रहवां प्रकरण है । विषयानन्द ब्रह्मानन्द का अंश है ।

शङ्का—विषयानन्दनिरूपण करना मोक्षशास्त्र में अयुक्त है क्योंकि विषयानन्द सब लोकों में प्रसिद्ध है ।

उत्तर—विषयानन्द को लोकप्रसिद्ध होने पर भी ब्रह्मानन्द का एक अंश होने से ब्रह्मानन्दज्ञान में सहायक है । तिस से मोक्षशास्त्र में उस का निरूपण करना चाहिये । ब्रह्मानन्द की प्राप्ति में विषयानन्द द्वार है । जैसे राजा के मिलाप में मन्त्री का मिलाप द्वार है ।

शङ्का—विषयानन्द ब्रह्मानन्द का एकदेश है । इस में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—इस में तैत्तिरीय-उपनिषद् की श्रुति प्रमाण है । जिससे उसका अर्थ सुन

एषोऽस्य परमानन्दो योऽखण्डैकरसात्मकः ।
अन्यानि भूतान्येतस्य मात्रामेवोपभुञ्जते ॥ २ ॥

अर्थ—आत्मा का स्वरूप जो परमानन्द है, अखण्ड एक रस रूप, उस के लेश को ग्रहण कर और ब्रह्मा से लेकर सब भूत जीवते हैं ॥ २ ॥

शांताघोरास्तथा मूढा मनसो वृत्तयस्त्रिधा ॥
वैराग्यं क्षांतिरौदार्यमित्याद्याः शांतवृत्तयः ॥३॥
तृष्णास्नेहो रागलोभावित्याद्या घोरवृत्तयः ॥
संमोहो भयमित्याद्याः कथिता मूढवृत्तयः ॥४॥

अर्थ—अब विषयानन्द ब्रह्मानन्द का लेश है । इस अर्थ के दिखलाने को विषयानंद का उपाधिरूप जो अन्तःकरण की वृत्ति हैं । उनके भेद कहते हैं । मन की वृत्ति तीन प्रकार की हैं । शान्त १ घोर २ मूढ ३ शान्त वृत्तियाँ सत्वगुण का कार्य्य हैं ।

घोर वृत्तियाँ रजोगुण का कार्य हैं । और मूढ़ वृत्तियाँ तमोगुण का कार्य्य हैं । वैराग्य क्षमा उदारता इत्यादि शान्त वृत्ति हैं । तृष्णा स्नेह राग लोभ इत्यादि घोरवृत्ति हैं । मोह भय इत्यादि मूढ़वृत्ति हैं ॥४॥

वृत्तिष्वेतासु सर्वासु ब्रह्मणश्चित्स्वभावता ॥

प्रतिबिंबति शांतासु सुखं च प्रतिबिंबति ॥ ५ ॥

अर्थ—इन तीन प्रकार की वृत्तियों में ब्रह्म की चैतन्य स्वभावता प्रतिबिम्ब को प्राप्त होती है । और शान्तवृत्तियों में ब्रह्म का सत्ता चेतनता आनन्द ये तीनों प्रतिबिंबभाव को प्राप्त होते हैं ॥५॥

रूपं रूपं बभूवासौ प्रतिरूप इति श्रुतिः ॥

उपमा सूर्यके यादि सूत्रयामास सूत्रकृत् ॥ ६ ॥

अर्थ—इसमें श्रुति प्रमाण है, जैसा २ वृत्ति का रूप होता है, तैसे २ ब्रह्म प्रतिबिंब भाव को प्राप्त होता है, अर्थात् राजसी तामसी वृत्तियों में ब्रह्म का चैतन्य स्वभाव प्रतिबिंब भाव को प्राप्त होता है, और शांत वृत्तियों में आनन्द भी प्रतिबिंब भाव को प्राप्त होता है । और व्यास जीने भी सूत्र में यह कहा है आत्मा को सूर्यआदि की उपमा है, अर्थात् जैसे जल के कांपने से सूर्य्य कांपता प्रतीत होता है और जल को स्थिर होने से सूर्य स्थिर प्रतीत होता है तैसे वृत्तियों के सात्विक होने से आत्मा सात्विक प्रतीत होता है, और वृत्तियों की मलिनता से आत्मा मलिन प्रतीत होता है ॥ ६ ॥

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ॥

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचंद्रवत् ॥ ७ ॥

अर्थ—एक ही सब भूतों का आत्मा एकरूप से भूत भूत में स्थित हुआ बहुत रूप से प्रतीत होता है जैसे जल में चंद्रमा ॥७॥

जले प्रविष्टश्चंद्रोऽयमस्पष्टः कलुषेजले ॥

विस्पष्टो निर्मले तद्वद् द्वेधा ब्रह्मापि वृत्तिषु ॥ ८ ॥

अर्थ—तात्पर्य यह है कि शुद्ध जल में प्रतिबिंब को प्राप्त हुआ चंद्रमा स्पष्ट प्रतीत होता है और मलिन जल में प्रतिबिंब को प्राप्त हुआ चंद्रमा स्पष्ट नहीं प्रतीत होता तैसे सात्विक वृत्तियों में प्रतिबिंब भाव को प्राप्त हुआ ब्रह्म स्पष्ट प्रतीत होता

है और रजोरूप तमोरूप मलिन वृत्तियों में प्रतिबिंब भाव को प्राप्त हुआ ब्रह्म स्पष्ट नहीं प्रतीत होता ॥८॥

घोरमूढासु मालिन्यात्सुखांशश्च तिरोहितः ।
ईषन्नैर्मल्यतस्तत्र चिदंशप्रतिबिम्बनम् ॥ ९ ॥

अर्थ—घोर मूढ़ वृत्तियों की मलिनता से घोर मूढ़ वृत्तियों में ब्रह्म का आनंद रूपता नहीं प्रतीत होती। और घोर मूढ़ वृत्तियों में काष्ठ पाषाण आदि की अपेक्षा से कुछ एक निर्मलता है। तिस से उनमें ब्रह्म का चैतन्यरूपता प्रतिबिंब भाव को प्राप्त होती है ॥ ९ ॥

यद्वापि निर्मले नीरे वन्हे रौष्ण्यस्य संक्रमः ।
न प्रकाशस्य तद्वत्स्याच्चिन्मात्रोद्भूतिरेव च ॥ १० ॥

शंका—चन्द्रमा के प्रतिबिंब की उपाधि जो जल है। उस को दो प्रकार का होने से अंश की प्रतीति बन जाती है। और ब्रह्म के प्रतिबिंब की उपाधि जो अन्तःकरण है। उस को एक रूप होनेसे उसमें ब्रह्म के एक अंशका भान यह वार्ता अयुक्त है।

उत्तर—जो इस दृष्टांत में तेरा मन संतोष को नहीं प्राप्त होता तो और दृष्टांत सुन। जैसे निर्मल जलमें अग्नि,की उष्णता प्राप्तहोती है। और प्रकाश नहीं प्राप्त होता। तैसे घोर मूढ़ वृत्तियों में ब्रह्म की चैतन्यता प्रतीत होती है। और आनंद नहीं प्रतीत होता ॥ १० ॥

काष्ठेऽग्नेरौष्ण्यप्रकाशौ द्वावुद्भवं गच्छतो यथा ।
शान्तासु सुखचैतन्ये तथैवोद्भूतिमाप्नुतः ॥ ११ ॥

अर्थ—और शांत वृत्तियों में ब्रह्म की चैतन्यरूपता और आनंद दोनों प्रतीत होते हैं। इस में दृष्टांत सुन। जैसे काष्ठ में अग्नि की उष्णता और प्रकाश दोनों प्रकट होते हैं। तैसे शांत वृत्तियों में सुख और चैतन्य दोनों प्रकट होते हैं ॥ ११ ॥

वस्तु स्वभावमाश्रित्य व्यवस्था नूभयोः समा ।
अनुभूत्यनुसारेण कल्प्यते हि नियामकम् ॥ १२ ॥

शंका—घोर मूढ़ वृत्ति में चैतन्य की प्रकटता होती है। और शांत वृत्तियों में सुख और चैतन्य दोनों की प्रकटता होती है। यह व्यवस्था तुम ने किस से करी है।

उत्तर—वस्तुके स्वभावका सहारा लेकर हमने यह व्यवस्था करी है सो व्यवस्था अग्नि की उष्णता और प्रकाश में। और ब्रह्म की चेतनता और सुख में समान है।

अर्थात् अग्नि उष्णता का स्वभाव यही है कि जल में प्राप्त होना और प्रकाश में यह स्वभावन है कि जल में न प्राप्त होना और जल में यह स्वभाव है कि अग्नि की उष्णता को ग्रहण करना और प्रकाश को न ग्रहण करना और काष्ठ का यही स्वभाव है कि अग्नि की उष्णता और प्रकाश दोनों को ग्रहण करना। तैसे घोर मूढ़ वृत्तियों का यही स्वभाव है कि ब्रह्म की चेतनता को ग्रहण करना और आनन्द को न ग्रहण करना और शांत वृत्तियों का यही स्वभाव है कि ब्रह्म की चेतनता और आनन्द दोनों को ग्रहण करना इस वार्ता के निश्चय का कारण अनुभव है। अर्थात् अनुभव से जल में अग्नि की उष्णता ही प्रतीत होती है। प्रकाश नहीं प्रतीत होता। और काष्ठ में अनुभव से अग्नि की उष्णता और प्रकाश दोनों प्रतीत होते हैं॥ १२॥

न घोरासु न मूढासु सुखानुभव ईक्ष्यते॥
शांतास्वपि क्वचित्कश्चित्सुखातिशय ईक्ष्यताम्॥ १३॥

अर्थ—तैसे घोर और मूढ़ वृत्तियों में ब्रह्म की चैतन्यरूपता का अनुभव होता। और आनंद का अनुभव नहीं होता। और शांत वृत्तियों में ब्रह्म की चैतन्यरूपता और सुख दोनों का अनुभव होता है। शांत वृत्तियों में भी किसी एक वृत्ति में सुख अधिक दीखता है॥ १३॥

गृहक्षेत्रादिविषये यदा कामो भवेत्तदा॥
राजसस्यास्य कामस्य घोरत्वात्तत्र नो सुखम्॥ १४॥

अर्थ—और रजोगुण के कार्य्य गृहक्षेत्र आदि विषयों में जब कामनारूपवृत्ति होती है तब उस वृत्ति में सुख नहीं होता। क्योंकि कामना घोर रूप है, कामनाओं के होने पर सुखविरोधी दुःख होता है॥ १४॥

सिद्ध्येन्न वेत्यस्ति दुःखमसिद्धौ तद्विवर्धते॥
प्रतिबंधे भवेत् क्रोधो द्वेषो वा प्रतिकूलतः॥ १५॥

अर्थ—और सुख को कामनारूप वृत्ति में अनुभव नहीं करता। और कामना रूप वृत्ति में सुख रहता भी नहीं। और दुःख उस में रहता है। और सुख की सिद्धि के न रहते दुःख बढ़ जाता है। और सुख का प्रतिबंध होने पर क्रोध होता है। अथवा द्वेष सुख का प्रतिबंधक है॥ १५॥

अशक्यश्चेत्प्रतीकारो विषादः स्यात्स तामसः॥
क्रोधादिषु महद्दुःखं सुखशंकापि दूरतः॥ १६॥

है और रजोरूप तमोरूप मलिन वृत्तियों में प्रतिबिंब मात्र को प्राप्त हुआ ब्रह्म स्पष्ट नहीं प्रतीत होता ॥८॥

घोरमूढासु मालिन्यात्सुखांशश्च तिरोहितः ।
ईषन्नैर्मल्यतस्तत्र चिदंशप्रतिबिम्बनम् ॥ ९ ॥

अर्थ—घोर मूढ़ वृत्तियों की मलिनता से घोर मूढ़ वृत्तियों में ब्रह्म की आनंद रूपता नहीं प्रतीत होती। और घोर मूढ़ वृत्तियों में काष्ठ पाषाण आदि की अपेक्षा से कुछ एक निर्मलता है। तिस से उनमें ब्रह्म की चैतन्यरूपता प्रतिबिंब भाव को प्राप्त होती है ॥ ९ ॥

यद्वापि निर्मले नीरे वन्हेरौष्ण्यस्य संक्रमः ।
न प्रकाशस्य तद्वत्स्याच्चिन्मात्रोद्भूतिरेव च ॥ १० ॥

शंका—चन्द्रमा के प्रतिबिंब की उपाधि जो जल है। उस को दो प्रकार का होने से अंश की प्रतीति बन जाती है। और ब्रह्म के प्रतिबिंब की उपाधि जो अन्तःकरण है। उस को एक रूप होनेसे उसमें ब्रह्म के एक अंशका भान यह वार्ता अयुक्त है।

उत्तर—जो इस दृष्टांत में तेरा मन संतोष को नहीं प्राप्त होता तो और दृष्टांत सुन। जैसे निर्मल जलमें अग्नि,की उष्णता प्राप्तहोती है। और प्रकाश नहीं प्राप्त होता। तैसे घोर मूढ़ वृत्तियों में ब्रह्म की चैतन्यता प्रतीत होती है। और आनंद नहीं प्रतीत होता ॥ १० ॥

काष्ठेत्वौष्ण्यप्रकाशौ द्वावुद्भवं गच्छतो यथा ।
शान्तासु सुखचैतन्ये तथैवोद्भूतिमाप्नुतः ॥ ११ ॥

अर्थ—और शांत वृत्तियों में ब्रह्म की चैतन्यरूपता और आनंद दोनों प्रतीत होते हैं। इस में दृष्टांत सुन। जैसे काष्ठ में अग्नि की उष्णता और प्रकाश दोनों प्रकट होते हैं। तैसे शांत वृत्तियों में सुख और चैतन्य दोनों प्रकट होते हैं ॥ ११ ॥

वस्तु स्वभावमाश्रित्य व्यवस्था नूभयोः मधा ।
अनुभूत्यनुसारेण कल्प्यते हि नियामकम् ॥ १२ ॥

शंका—घोर मूढ़ वृत्ति में चैतन्य की प्रकटता होती है। और शांत वृत्तियों में सुख और चैतन्य दोनों की प्रकटता होती है। यह व्यवस्था तुम ने किस से करी है।

उत्तर—वस्तुके स्वभावका सहारा लेकर हमने यह व्यवस्था करी है सो व्यवस्था अग्नि की उष्णता और प्रकाश में। और ब्रह्म की चेतनता और सुख में समान है।

अर्थात् अग्नि उष्णता का स्वभाव यही है कि जल में प्राप्त होना और प्रकाश में यह स्वभावन है कि जल में न प्राप्त होना और जल में यह स्वभाव है कि अग्नि की उष्णता को ग्रहण करना और प्रकाश को न ग्रहण करना और काष्ठ का यही स्वभाव है कि अग्नि की उष्णता और प्रकाश दोनों को ग्रहण करना। तैसे घोर मूढ़ वृत्तियों का यही स्वभाव है कि ब्रह्म की चेतनता को ग्रहण करना और आनन्द को न ग्रहण करना और शांत वृत्तियों का यही स्वभाव है कि ब्रह्म की चेतनता और आनन्द दोनों को ग्रहण करना इस वार्ता के निश्चय का कारण अनुभव है। अर्थात् अनुभव से जल में अग्नि की उष्णता ही प्रतीत होती है। प्रकाश नहीं प्रतीत होता। और काष्ठ में अनुभव से अग्नि की उष्णता और प्रकाश दोनों प्रतीत होते हैं॥ १२॥

न घोरासु न मूढासु सखानुभव ईक्ष्यते ॥
शांतास्वपि नि त्कश्चित्सुखातिशय ईक्ष्यताम् ॥ १३ ॥

अर्थ—तैसे घोर और मूढ़ वृत्तियों में ब्रह्म की चैतन्यरूपता का अनुभव होता। और आनंद का अनुभव नहीं होता। और शांत वृत्तियों में ब्रह्म की चैतन्यरूपता और सुख दोनों का अनुभव होता है। शांत वृत्तियों में भी किसी एक वृत्ति में सुख अधिक दीखता है॥ १३॥

गृहक्षेत्रादिविषये यदा कामो भवेत्तदा ॥
राजसस्यास्य कामस्य घोरत्वात्तत्र नो सुखम् ॥ १४ ॥

अर्थ—और रजोगुण के कार्य्य गृहक्षेत्र आदि विषयों में जब कामनारूपवृत्ति होती है तब उस वृत्ति में सुख नहीं होता। क्योंकि कामना घोर रूप है, कामनाओं के होने पर सुखविरोधी दुःख होता है॥ १४॥

सिद्ध्येन्न वेत्यस्ति दुःखमसिद्धौ तद्विवर्धते ॥
प्रतिबंधे भवेत् क्रोधो द्वेषो वा प्रतिकूलतः ॥ १५ ॥

अर्थ—और सुख को कामनारूप वृत्ति में अनुभव नहीं करता। और कामना रूप वृत्ति में सुख रहता भी नहीं। और दुःख उस में रहता है। और सुख की सिद्धि के न रहते दुःख बढ़ जाता है। और सुख का प्रतिबंध होने पर क्रोध होना है। अथवा द्वेष सुख का प्रतिबंधक है॥ १५॥

अशक्यश्चेत्प्रतीकारो विषादः स्यात्सतामसः ॥
क्रोधादिषु महद्दुःखं सुखशंकापि दूरतः ॥ १६ ॥

अर्थ—और उस प्रतिबंध के दूर करने में जो समर्थ न होवे। तब मन में चिंता होती है। तब सुख नहीं होता। चिंता को तमोगुण का कार्य होने से। क्रोध द्वेष चिंता इन के रहते बड़ा दुःख होता है। सुख की शंका भी नहीं होती ॥ १६ ॥

काम्यलाभे हर्षवृत्तिः शांता तत्र महत्सुखम् ॥
भोगे महत्तरं लाभ प्रसक्तावीषदेव हि ॥ १७ ॥

अर्थ—और जिस पदार्थ की पुरुष को कामना होती है। उस के मिलने पर हर्ष रूप वृत्ति उदय होती है। सो हर्षरूप वृत्ति शांतवृत्ति है। उस में महत्सुख होता है। और उस पदार्थ के भोगने से महत् से महत्सुख होता। और जिस पदार्थ की कामना है। उस की उम्मेदवारी में थोड़ा सुख होता है ॥ १७ ॥

महत्तमं विरक्तौ तु विद्यानंदे तदीरितम् ॥
एवं क्षांतौतथौदार्ये क्रोधलोभनिवारणात् ॥ १८ ॥

अर्थ—और उस पदार्थ में चित्त को वैराग्य होने पर अत्यन्त महत्सुख होता है। सो विद्यानंद में कहा है। इस प्रकार कामना की निवृत्ति के भेद से चार प्रकार का सुख होता है। और क्षमारूप शांतवृत्ति में सुख है। क्रोध के निवारण से। और लोभ के निवारण से उदारतारूप शांतवृत्ति में सुख है ॥ १८ ॥

यद्यत्सुखं भवेत्तत्तद्ब्रह्मैव प्रतिबिंबनात् ॥
वृत्तिष्वंतर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिबिंबनम् ॥ १९

अर्थ—तिस से जो २ सुख होता है। काम निवारण से। क्रोध निवारण से। लोभ निवारण से। सो सो सुख ब्रह्मरूप है। जिस से वृत्तियों में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ता है। प्रतिबिम्ब रूप होता है। तिस से वृत्तियों में ब्रह्म का प्रतिबिम्बरूप जो सुख है। सो ब्रह्मरूप है। अन्तर्मुखवृत्तियों में ब्रह्मसुख का प्रतिबिम्ब होता है। इस में विघ्न कोई नहीं ॥ १९ ॥

सत्ताचितिः सुखंचेति स्वभावा ब्रह्मणस्त्रयः ।
मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद्वयम् ॥ २० ॥

अर्थ—अब सब पदार्थों में ब्रह्मस्वरूप के अनुभव करने के लिये गुरु शिष्य को ब्रह्मस्वरूप याद कराते हैं। सत्ता चैतन्य सुख ये तीन ब्रह्म के स्वभाव हैं। मृत्तिका शिला आदि में ब्रह्म की सत्ता प्रतीत होती है। चैतन्य और आनन्द ये दोनों नहीं प्रतीत होते ॥ २० ॥

सत्ताचितिद्वयं व्यक्तं धीवृत्त्योर्घोरमूढयोः ।
शांतवृत्तौ त्रयं व्यक्तं मिश्रं ब्रह्मेत्थमीरितम् ॥२१ ॥

अर्थ—और घोर मूढ अन्तः करण की वृत्तियों में सत्ता चैतन्य ये दोनों प्रतीत होते हैं। और शान्तरूप अन्तः करण की वृत्तियों में सत्ता चेतनता आनन्द ये तीनों प्रतीत होते हैं। इस प्रकार प्रपंच सहित ब्रह्म का कथन करा ॥ २१ ॥

अमिश्रं ज्ञानयोगाभ्यां तौ च पूर्वमुदीरितौ।
आद्येऽध्याये योगचिन्ता ज्ञानमध्याययोर्द्वयोः ॥ २२ ॥

अर्थ—और प्रपंच से रहित ब्रह्मज्ञान से और योग से जाना जाता है। सो ज्ञान योग पूर्व कहे हैं। ब्रह्मानन्द के पहिले अध्याय में योग कहा है। और दूसरे और तीसरे अध्याय में ज्ञान कहा है ॥ २२ ॥

असत्ता जाड्यदुःखे द्वे मायारूपं त्रयं त्विदम्।
असत्ता नरशृंगादौ जाड्यं काष्ठशिलादिषु ॥ २३ ॥

शंका—ब्रह्म जो सच्चिदानन्दरूप है। तो माया का क्या रूप है।

उत्तर—असत्ता जड़ता दुःख ये तीनों माया के रूप हैं। माया की असत्ता नरशृंग आदि में रहती है। और माया की जड़ता काष्ठ शिला आदि में रहती है ॥ २३ ॥

घोरमूढधियोर्दुःखमेवं माया विजृंभिता।
शांतादिबुद्धिवृत्त्यैक्यान्मिश्रं ब्रह्मेति कीर्तितम् ॥ २४ ॥

अर्थ—और माया की दुःखरूपता घोर मूढ़ वृत्तियों में प्रतीत होती है। इस प्रकार सब पदार्थों में माया विस्तार को प्राप्त हो रही है। शांत आदिरूप वृत्तियों में ब्रह्म सहित प्रपंच के प्रतीत होता है। इस में क्या कारण है? शांत आदिरूप वृत्तियों में जड़ बुद्धि के साथ एकता को प्राप्त होने से ब्रह्म प्रपंच सहित कहा है। तिस से वृत्तियों में ब्रह्म की प्रपंच सहितता का कारण बुद्धि के साथ एकता है ॥ २४ ॥

एवं स्थितेऽत्र यो ब्रह्म ध्यातुमिच्छेत्पुमानसौ।
नृशृंगादिमुपेक्षेत शिष्टं ध्यायेद्यथायथम् ॥ २५ ॥

प्रश्न—यह प्रपंच सहित ब्रह्म का कथन किस लिये है।

उत्तर—ब्रह्म के ध्यान वास्ते प्रपंच सहित ब्रह्म को कथन करा है। ऐसे सिद्धांत के रहते पुरुष तीन प्रकार के ब्रह्म के ध्यान करने की इच्छा करे। नरशृंग आदि की उपेक्षा कर बाक़ी के पदार्थों का यथायोग्य ध्यान करे ॥ २५ ॥

शिलादौ नामरूपे द्वे त्यक्त्वा सन्मात्रचिंतनम्।
त्यक्त्वादुःख घोरमूढधियोः सच्चिद्विचिन्तनम् ॥ २६ ॥

अर्थ--शिला आदि में नाम और रूप दोनों को त्याग कर सत्ता मात्र ब्रह्म का चिन्तन करे। और घोर मूढ़ वृत्तियों में दुःख को त्याग कर सच्चिद्रूप ब्रह्म का चिन्तन करे ॥ २६ ॥

शांता सु सच्चिदानन्दांस्त्रीनप्येव विचिन्तयेत् ।
कनिष्ठमध्यमोत्कृष्टास्तिस्रश्चिन्ताः क्रमादिमाः ॥ २७ ॥

अर्थ--और शान्तवृत्तियों में सच्चिदानन्द तीनों का ही चिन्तन करे। सो इस तीन प्रकार के ध्यान में सत्तामात्र का जो काष्ठ शिला आदि में ध्यान है । सो कनिष्ठ ध्यान है। और घोर मूढ़ वृत्तियों में जो सत्ता चेतन दोनों का ध्यान है। सो मध्यम ध्यान है और शांतवृत्तियों में जो सच्चिदानन्द तीनों का ध्यान है। सो उत्तम ध्यान है। इस प्रकार तीन ध्यान कहे ॥ २७ ॥

मंदस्य व्यवहारेपि मिश्रब्रह्मणि चिन्तनम् ।
उत्कृष्टं वक्तुमेवात्र विषयानन्द ईरितः ॥ २८ ॥

अर्थ--जिस पुरुष को निर्गुण ब्रह्म के ध्यान में सामर्थ्य नहीं। उसको अपने अधिकार के अनुसार शिलाआदि के साथ मिले हुए सत्यरूप आदि ब्रह्म के ध्यान का अधिकार है। मन्द बुद्धि वाला जो पुरुष है। उस को व्यवहार में भी शिला आदि युक्त ब्रह्म का ध्यान करना उत्तम है। इस अर्थ के कहने को ही यहाँ विषयानंद कहा है ॥२८॥

औदासीन्ये तु धीवृत्तेः शैथिल्यादुत्तमोत्तमम् ।
चिन्तनं वासनानंदे ध्यानमुक्तम् चतुर्विधम् ॥ २९ ॥

अर्थ--इस प्रकार वृत्ति सहित तीन प्रकार का ब्रह्मध्यान कहा। अब वृत्ति से रहित ब्रह्मध्यान सुन। उदासीन अवस्था में बुद्धि की वृत्तियों को शिथिलता होने से वासनानंद का जो चिंतन है। सो उत्तम से उत्तम ध्यान है। इस प्रकार से चार प्रकार का ध्यान कहा ॥ २९ ॥

न ध्यानं ज्ञानयोगाभ्यां ब्रह्मविद्यैव सा खलु ।
ध्यानेनैकाग्र्यमापन्ने चित्ते विद्या स्थिरी भवेत् ॥ ३० ॥

अर्थ--बुद्धि की वृत्तियों की शिथिलता के रहते वासनानंद का जो चिंतन है। सो वास्तव में ध्यान नहीं। किंतु सो ज्ञान और योग से उत्पन्न हुई ब्रह्मविद्या है।

शंका--यह ब्रह्मविद्या किस प्रकार पैदा होती है। सो कहो।

उत्तर--ध्यान से एकाग्रता को प्राप्त हुए चित्त में विद्या उत्पन्न होती है और पैदा हुई स्थिरता को प्राप्त होती है ॥ ३० ॥

विद्यायां सच्चिदानंद अखण्डैकरसात्मताम् ॥
प्राप्य भांति न भेदेन भेदकोपाधिवर्जनात् ॥ ३१ ॥

अर्थ—विद्या में सच्चिदानन्द ये तीनों अखंड एक रस रूपता को प्राप्त होकर प्रतीत होते हैं। भिन्न २ होकर नहीं प्रतीत होते। भेद प्रतीति का कारण उपाधियों का अभाव होने से ॥ ३१ ॥

शांताघोराः शिलाद्याश्च भेदकोपाश्रयोमताः ॥
योगाद्विवेकतो वैपामुपाधीनामपाकृतिः ॥ ३२ ॥

अर्थ—शांतवृत्तियां और घोरवृत्तियां और मूढ़वृत्तियां और शिला आदि ये भेद का कारण उपाधियां हैं।

शंका—इन उपाधियों का अभाव किस साधन से होता है।

उत्तर—योग से और विवेक से भेद का कारण उपाधियों का अभाव होता है ॥ ३२ ॥

निरुपाधिब्रह्मतत्त्वे भासमाने स्वयंप्रभे ॥
अद्वैते त्रिपुटी नास्ति भूमानंदोत उच्यते ॥ ३३ ॥

अर्थ—उपाधियों का अभाव होने पर। उपाधियों से रहित स्वयं प्रकाश ब्रह्म तत्त्व भासता है। उस स्वयं प्रकाश अद्वैत ब्रह्म में त्रिपुटी नहीं है। इससे यह भूमानंद कहाता है ॥ ३३ ॥

ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे पंचमोध्याय ईरितः ।
विषयानंद एतेन द्वारेणांतः प्रविश्यताम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—ब्रह्मानंद नाम ग्रन्थ में पांचवां अध्याय कहा। उसका नाम विषयानंद है। इस विषयानन्द द्वारा अन्तर शुद्ध ब्रह्मानंद में प्रवेश करना। अर्थात् शुद्ध परमानंद रूप ब्रह्म को जानना ॥ ३४ ॥

प्रीयाद्धरिहरोऽनेन ब्रह्मानंदेन सर्वदा ।
पायाच्च प्राणिनः सर्वान्स्वाश्रितांश्छुद्धमानसान् ॥ ३५ ॥

अर्थ—यह जो पंचदशी का ब्रह्मानंद नाम ग्रन्थ है। इस से विष्णु भगवान और शिवजी सदा ही प्रसन्न होवें। और प्रसन्न होते हुए अपने में स्थित जो शुद्ध चित्त वाले सब प्राणी हैं। उनको जन्म मरण से रहित करें ॥ ३५ ॥

शून्यबाणांकचन्द्रेऽब्दे पराषाढासिते दले।
अमायां गुरुवारे च दीपिका पूर्णतां गता॥ १॥

अर्थ—सम्वत् १९५० दूसरे आषाढ़ कृष्णपक्ष में अमावस्या गुरुवार में यह तात्पर्य दीपिका पूर्णता को प्राप्त हुई॥ १॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितायां पंचदश्यां ब्रह्मानंदे विषयानंदप्रकरणम् समाप्तम्।

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीभारतीतीर्थ विद्यारण्य मुनिवर्यकिंकर श्रीरामकृष्णविरचितपंचदशीव्याख्यानुसारेण तात्पर्यदीपिका श्रीयुत विहारीलालाख्यविदुषा कृता समाप्ता।

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णास्त्रिभुवनमुपकारश्रेणीभिः प्रीणयंतः॥
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विकसंतः संति संतः कियंतः॥ १॥

इति श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीविद्यारण्यस्वामि
विरचितायां पञ्चदश्यां ब्रह्मानन्दे विषयानन्दो नाम
चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः

॥ पंचदशी समाप्ता॥

शोधिता बाबुरामेण पिलखुवा जन्मभूमिना।
अद्य मेरठे शहरे वसता वैद्यवृत्तिना॥

८२ सैली
[illegible]